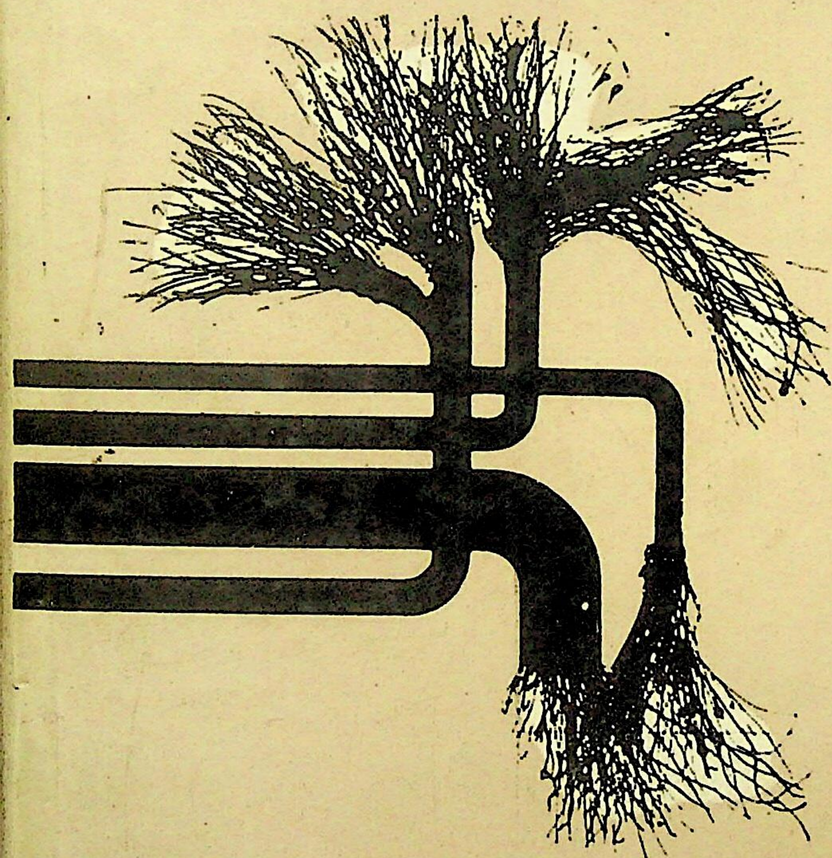
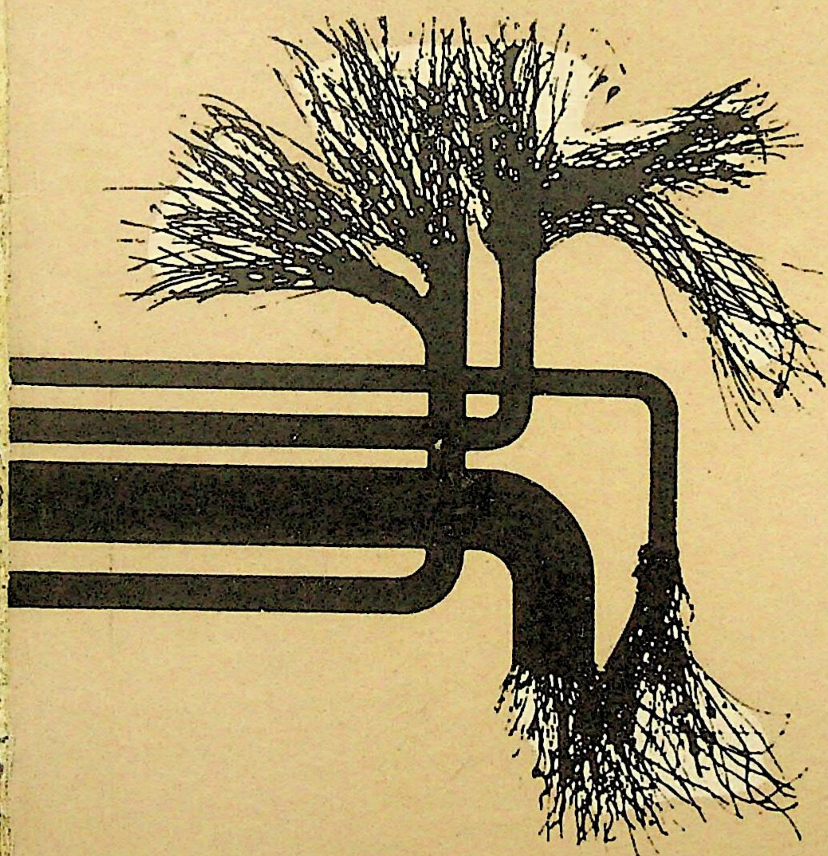
मध्यकालीन भक्तिकाव्य की धार्मिक पृष्ठभूमि



डॉ. रामनाथ घूरेलाल शर्मा

मध्यकालीन भक्तिकाव्य की धार्मिक पृष्ठभूमि



डॉ. रामनाथ घूरेलाल शर्मा

मध्यकालीन भक्तिकाव्य की
धार्मिक पृष्ठभूमि

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग :
महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय, बड़ौदा
के सहयोग से प्रकाशित ।

मध्यकालीन भक्तिकाव्य
की
धार्मिक पृष्ठभूमि–1

[वैदिक-धर्म और अवैदिक मत-पंथों का वैचारिक इतिहास]

डॉ० रामनाथ घूरेलाल शर्मा



राधाकृष्ण

मध्यकालीन भक्तिकाव्य की धार्मिक पृष्ठभूमि-1 (आलोचना)

प्रथम संस्करण : 1996
मूल्य : 300.00 रुपये
प्रकाशक
राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड
2/38, अंसारी मार्ग, दरियागंज
नई दिल्ली-110002
आवरण : गोविन्द प्रसाद
मुद्रक
अशोक कम्पोज़िंग एजेंसी द्वारा
पारासर प्रिंटर्स, सीलमपुर, दिल्ली-110032
MADHYAKALIN BHAKTIKAVYA KI DHARMIK PRISHTHI BHOOMI
(Criticism) by Dr. Ramnath Ghoorelal Sharma

इदं नमः ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः
पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः ।।

ऋग्वेद 10/14/15

गुरुवर
प्रो० मदनगोपाल गुप्त
को
सादर

प्रस्तावना

'हिंदी-साहित्य' के इतिहास में स्वीकृत मध्यकाल का पूर्वार्द्ध 'भक्तिकाल' के नाम से अभिहित है। 'भक्तिकाल' को हिंदी काव्य का 'स्वर्ण युग' होने का गौरव प्राप्त है । 'भक्ति' के देशव्यापी प्रभाव के फलस्वरूप अन्य क्षेत्रीय भाषाओं में भी, इस युग में, भक्तिकाव्य प्रचुर मात्रा में लिखा गया । इस भक्तिकाव्य का मात्र साहित्यिक ही नहीं, अपितु सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक महत्त्व आज प्रायः सर्वस्वीकृत है । इसके इस असाधारण महत्त्व के कारण ही सम्प्रति इसके विविध पक्षों या आयामों को लेकर शोधकार्य किए जा रहे हैं । मध्यकालीन भक्तिकाव्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि, भक्तिकाव्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, सगुण भक्ति की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, निर्गुण भक्ति की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, भक्ति आंदोलन, वैष्णव भक्ति आंदोलन, जैन हिंदी काव्य में भक्ति, भक्तिमार्गी बौद्ध धर्म, काश्मीरी शैव दर्शन और निर्गुण भक्ति, तमिल प्रबंधम् और कृष्ण-भक्ति और भक्ति के आचार्यों में से किसी एक के दार्शनिक सिद्धांतों के परिप्रेक्ष्य में किसी विशेष भक्त कवि का अध्ययन, दो क्षेत्रीय भाषाओं के भक्त-कवियों के तुलनात्मक अध्ययन आदि विषयों से सम्बद्ध जो शोधकार्य प्रकाश में आए हैं, उनका यद्यपि अपना-अपना महत्त्व है, तथापि उनमें जिस महत्त्वपूर्ण विषय की उपेक्षा की गई है, वह है—तत्कालीन धार्मिक पृष्ठभूमि का सम्यक् विवेचन । प्रस्तुत अनुशीलन का उद्देश्य इसी अभाव की क्षतिपूर्ति करना है ।

मध्यकालीन भक्तिकाव्य के आधारभूत धर्म-दर्शन विषयक किसी भी साहित्य के निष्ठावान अध्येता से यह बात देर तक छिपी नहीं रहती कि इस धर्म-प्राण देश के प्राचीन इतिहास का स्वरूप राजनीतिक न होकर सांस्कृतिक है । उसके इस सांस्कृतिक इतिहास के अवलोकन से जो एक महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रकाश में आता है, वह यह कि यहाँ परस्पर विरोधी अनेक सांस्कृतिक धाराएँ अपने दीर्घकालीन सह-अस्तित्व और पारस्परिक आदान-प्रदान की निर्णायक-प्रक्रिया के

फलस्वरूप अपनी विरोधी प्रकृति को खोकर, कतिपय लाक्षणिकताओं के साथ, अपनी समीपवर्ती प्रवलधारा में अंतर्लीन होती गईं। उनके वैविध्य के सामंजस्य से निष्पन्न एकता ही भारतीय संस्कृति की विशेषता है। अर्थात भारतीय संस्कृति की प्रकृति सामासिक है। उसकी यह सामासिक प्रकृति ही उसे युग-सापेक्ष परिवर्तनों को आत्मसात् करते रहकर निजत्व को सुरक्षित रखने और प्रबल झंझावातों में अडिग रहकर दीर्घजीवी बनने की शक्ति प्रदान करती आई है—अस्तु।

भारतीय संस्कृति की उक्त सामासिक प्रकृति एवं उसके महत्त्व आदि से सम्बन्धित विद्वानों के विचारों से हमारा तात्त्विक विरोध नहीं है। किंतु इसी को एकमात्र या प्रमुख आधार मानकर भारतीय संस्कृति के स्वरूप का निश्चय अथवा उसका मूल्यांकन करना हमारे विचार से न्यायोचित नहीं है। वस्तु-स्थिति यह है कि इस देश के सांस्कृतिक इतिहास में दो धाराएँ ऐसी हैं, जो अपने दीर्घकालीन सह-अस्तित्व एवं पारस्परिक आदान-प्रदान के बावजूद अपनी विरोधी प्रकृतियों का परित्याग न कर सकीं, और सतत संघर्षरत रहकर अपना-अपना विकास साधती रहीं।

सतत संघर्षरत रहकर अपना-अपना विकास साधनेवाली उक्त सांस्कृतिक धाराओं को प्राचीन साहित्य में आर्य-अनार्य (दस्यु), वैदिक-अवैदिक एवं ब्राह्मण-श्रमण आदि दो परस्पर विरोधी शब्दों से निर्मित शब्द-युग्मों द्वारा अभिहित किया गया है—जो इनके शाश्वत विरोध का भी द्योतक है। इनके पारस्परिक संघर्ष का इतिहास लगभग उतना ही पुराना है, जितना कि इस देश का इतिहास। मध्यकाल भी इस द्वंद्वात्मक स्थिति का अपवाद नहीं है।

संक्षेप में—'सिंधु घाटी की सभ्यता' के विनाश का एक कारण आगन्तुक आर्यों द्वारा वहाँ के मूल निवासियों (अनार्यों) पर किया गया बर्बर आक्रमण बताया जाता है। ऋग्वेदोक्त इंद्र-शम्बर-युद्ध, इंद्र-वृत्र-युद्ध, दिवोदास-दाशराज्ञ-युद्ध आदि में विद्वानों के अनुसार आर्य एवं अनार्य प्रजातियों का संघर्ष निरूपित हुआ है। ब्राह्मण युग में (दे० ऐतरेय ब्राह्मण—6/4/18-20; 7/3/16-18) लक्षित ब्रह्मर्षि वसिष्ठ और राजर्षि विश्वामित्र का द्वंद (दे० वाल्मीकि-रामायण), पुराणों का देवासुर संग्राम, ब्राह्मण-क्षत्रिय संघर्ष और तत्पश्चात् ब्राह्मण (सवर्ण) और शूद्र (अवर्ण) संघर्ष आदि के मूल में प्रस्तुत लेखक के अनुसार उक्त सांस्कृतिक धाराओं का संघर्ष उपलक्षित है। इसके उपर्युक्त नामांतर इसकी व्याप्ति के क्षेत्रों, युगों, रूपों एवं वर्गों आदि से सम्बन्धित हैं। अर्थात् युग-भेद से जिस क्षेत्र में, जिस रूप में और जिन वर्गों के मध्य यह संघर्ष अपने प्रखर रूप में देखा गया तदनुसार उसका नामकरण होता गया। अर्थात् सदैव उसका स्वरूप एक ही नहीं रहा इसलिए सर्वत्र उसे एक ही नाम नहीं दिया गया।

दूसरे शब्दों में, इस देश के इतिहास में राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, दार्शनिक, भाषा-साहित्य आदि जीवन के सभी महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों में परस्पर विरोधी

धारणाओं को लेकर चलने वाला जो वैचारिक द्वंद्व पाया जाता है, वह मूलतः ब्राह्मण और श्रमण नामक दो संस्कृतियों का द्वंद्व है । राजनीति के क्षेत्र में हुए इनके सशस्त्र युद्धों को युगभेद से इंद्र-वृत्र, इंद्र-कृष्ण, सुर-असुर, ब्राह्मण-राजन्य आदि के संघर्षों के रूप में प्रस्तुत किया गया है । राजतंत्र और गणतंत्र के व्यवस्था-भेद को भी इसी संदर्भ में देखा जा सकता है । सामाजिक क्षेत्र में यह द्वंद्व मुख्यतः सवर्ण और अवर्ण अथवा वर्ण और जाति पर आधारित समाज-व्यवस्थाओं के भेद में निहित है । वर्ण-व्यवस्था मूलतः आर्यों की है, जाति-व्यवस्था अनार्यों की । पितृवंश-परम्परा एवं मातृवंश-परम्परा और ब्रह्म विवाह तथा गंधर्व, राक्षस, असुर विवाह-पद्धतियों को भी इसी संदर्भ में देखा जा सकता है । धर्मक्षेत्र में इस द्वंद्व के एक पक्ष को यदि ऋषियों अथवा ब्रह्मर्षियों की 'कर्मनिष्ठा' और तदनुसार उनके द्वारा समर्थित चातुराश्रमिक जीवन-पद्धति में देखा जा सकता है, तो द्वितीय पक्ष को मुनियों, यतियों एवं तापसों की 'ज्ञाननिष्ठा' और तदनुसार उनकी अत्याश्रमी या अनाश्रमी जीवन-पद्धति में । दर्शन के क्षेत्र में यह द्वंद्व देवतावाद और ब्रह्मवाद (या आत्मवाद) के रूप में है । भाषा के क्षेत्र में संस्कृत और प्राकृत में से एक की स्वीकृति द्वितीय की अस्वीकृति के विवाद के रूप में और साहित्य के क्षेत्र में नैगम-परम्परा व आगम-परम्परा के मूल में यह सांस्कृतिक द्वंद्व अंतर्निहित है ।

मध्यकालीन भक्तिकाव्य में परिव्याप्त सगुण और निर्गुण का तीव्र विवाद वस्तुतः इसी पारम्परिक सांस्कृतिक द्वंद्व का युग-सापेक्ष रूपांतर है ।

इस प्रकार युगभेद, क्षेत्रभेद, वर्गभेद और उनसे निष्पन्न हुए स्वरूप भेद के वैविध्य में दो संस्कृतियों के वैचारिक द्वंद्व की अंतर्वर्ती धारावाहिक एकता सरलता से लक्षित नहीं होती, जिसके फलस्वरूप उक्त समस्त द्वंद्व पृथक एवं असम्बद्ध प्रतीत होते हैं । दूसरे, अपने दीर्घकालीन सह-अस्तित्व के फलस्वरूप उक्त दो संस्कृतियों में हुआ पारस्परिक आदान-प्रदान भी कुछ ऐसे ढंग का है कि उससे उनके बाह्य संघर्ष एवं मतभेद कम होते दिखाई देते हैं, किंतु अंतर्वर्ती संघर्ष एवं मतभेद यथा-वत् बने रहते हैं । सम्भवतः इन्हीं कारणों से, भारतीय संस्कृति के द्वंद्वात्मक स्वरूप में निहित आर्य एवं अनार्य मान्यताओं को कतिपय अधिकारी विद्वानों द्वारा यत्र-तत्र रेखांकित किए जाने के बावजूद दोनों संस्कृतियों की परस्पर विरोधी विचारधाराओं के साङ्गोपांग पृथक्करण और इस आधार पर किए गए दोनों संस्कृतियों के आद्योपांत पृथक्करण तथा उनके पारस्परिक आदान-प्रदान के स्वरूप के निश्चयादि का कार्य अद्यापि सम्पन्न नहीं हुआ है । इस स्थिति का एक प्रमुख कारण यह भी रहा प्रतीत होता है कि 1922-23 ई० से पूर्व, अर्थात् 'सैंधव सभ्यता' के प्रकाश में आने से पूर्व, इस देश के धर्म, दर्शन, साहित्य एवं कला का इतिहास ऋग्वेद से प्रारम्भ किया जाता था, और एक ही प्रजाति—आर्य-प्रजाति—के उद्भव एवं विकास से सम्बद्ध माना जाता था । 'सैंधव सभ्यता' के नए अध्याय के जुड़ जाने से न केवल इस देश का सांस्कृतिक इतिहास एक

सहस्राब्दि पीछे से प्रारम्भ होने लगा है, अपितु आर्य-पूर्व (अथवा अनार्य) ऐसी संस्कृति का पता चला है जो आर्यों की अपेक्षा कहीं अधिक समुन्नत थी। कहना अनावश्यक होगा कि इस नई सामग्री के परिप्रेक्ष्य में, सम्प्रति परम्परागत मान्यताओं के पुनर्मूल्यांकन का मार्ग प्रशस्त हुआ है।

जैसा ऊपर संकेत किया गया है, प्रत्येक संस्कृति के मूल में प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष, विकसित अथवा अल्पविकसित, आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक—एक निश्चित 'जीवन-दृष्टि' रहती है। इस 'जीवन-दृष्टि' द्वारा निर्धारित जीवन आदर्श अथवा समुन्नत जीवन-स्थिति को प्राप्त करने में उपकारक एक निश्चित प्रकार की 'आचार-संहिता' सम्बन्धित व्यक्ति तथा समाज द्वारा स्वीकृत बनती है। एक निश्चित जीवन-दृष्टि और तदनुरूप अपनाई गई 'आचार-संहिता' को धर्म कहते हैं। इस प्रकार प्रत्येक संस्कृति की लाक्षणिकता तथा उसकी स्वतंत्र अस्मिता की निर्णायक और उसके भावी विकास का मूलाधार उसकी अपनी धार्मिक पृष्ठभूमि होती है।

मेरी धारणानुसार उपर्युक्त ब्राह्मण एवं श्रमण संस्कृतियों की धार्मिक मान्यताओं से सम्बन्धित वैचारिक द्वंद्व का आंशिक निरूपण, निगमागम के प्राचीन वाङ्मय में—पितृयान-देवयान, धूम्रमार्ग-अर्चिमार्ग, कृष्णपक्ष-शुक्लपक्ष, दक्षिणायण-उत्तरायण, प्रेय-श्रेय, अविद्या-विद्या, कर्मकांड-ज्ञानकांड आदि विरोध-मूलक शब्द-युग्मों के अंतर्गत व्यक्त हुए विचारों में हुआ है। प्रस्तुत अनुशीलन में इसी वैचारिक द्वंद्व के आधार पर दोनों संस्कृतियों की धार्मिक अवधारणाओं का पृथक्करण किया गया है और इस पृथक्करण के आधार पर दोनों संस्कृतियों की समानांतर परम्पराओं का आद्योपांत निर्धारण एवं निरूपण किया गया है।

कतिपय विचारशील विद्वानों ने यह प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया है कि इस देश की समग्र प्रजा मूलतः एक है, उसमें आर्य एवं अनार्य का भेद करना विदेशियों की 'फूट डालो और राज करो' की राजनीति का एक भाग है। अर्थात् पहले तो यहाँ की प्रजा में आर्य और अनार्य जैसा कोई भेद था ही नहीं, यदि था भी तो सम्प्रति उसकी चर्चा करना, येन-केन स्थापित हुई देश की भावात्मक एकता के लिए उतना ही घातक है जितना एक पटी हुई खाई को पुनः खोदना।

ऐसे विद्वानों की सदाशय-प्रेरित सद्भावनाओं एवं विचारों को मैं समादृत करता हूँ, किंतु साथ ही यह अनुभव करता हूँ कि आँखें बंद कर लेने मात्र से कोई संकट नहीं टलता—अज्ञानता ऐसी किसी समस्या का समाधान नहीं हो सकती। भारतीय इतिहास का समूचा मध्यकाल तो है ही साम्प्रदायिकता का युग; आज बीसवीं सदी के अंतिम चरण में भी यही (कटु) सत्य है कि विविधता में एकता देखने का ढिंढोरा पीटने वाला हर व्यक्ति अपना जीवन तो वैविध्य में ही जी रहा है। इतना ही नहीं, आज भी देश के प्रत्येक भाग में छोटे-मोटे भगवान अवतरित हो रहे हैं, और अपना-अपना मायाजाल फैलाकर धर्मभीरु जनता को अपने-अपने बाड़े में बाँधने में लगे हुए हैं। इसी वस्तुस्थिति को लक्ष्य में रखकर

इस अनुशीलन में न केवल आर्य और अनार्य परम्पराओं का पृथक्करण किया गया है, अपितु उनके मूलभूत धार्मिक एवं दार्शनिक आचार-विचारों की सामाजिक दृष्टि से समालोचना भी की गई है। इससे न केवल दोनों परम्पराओं की परस्पर विरोधी प्रकृति प्रकाशित हुई है, अपितु विवेकी जनों के लिए गुण-दोष के आधार पर उनमें से किसको ग्राह्य और किसको अग्राह्य करार देने का मार्ग भी प्रशस्त हुआ है—अस्तु।

इस अध्ययन की प्रारम्भिक रूप-रेखा तैयार करते समय मैं इस विषय में आश्वस्त था कि मध्यकालीन भक्तिकाव्य की धार्मिक पृष्ठभूमि मुख्यतः द्विविध है—पुराणेतिहास के आख्यानों को लेकर काव्य लिखने वाले कवि—विष्णुदास, तुलसीदास प्रभृति—प्रवृत्ति लक्षण धर्म के उन्नायक हैं, शेष सभी एक या दूसरे रूप में निवृत्ति लक्षण धर्म के। इन दोनों धार्मिक परम्पराओं की परस्पर विरोधी प्रकृति एवं उनकी दीर्घकालीन परम्पराओं से भी मैं अवगत था। इस पूर्व-ज्ञान के साथ भारतीय संस्कृति के इतिहास विषयक, किंतु विशेष रूप से सैंधव सभ्यता के निरूपण से सम्बन्धित, ग्रंथों के अवलोकन से यह धारणा बद्धमूल हुई कि न केवल प्रवृत्ति व निवृत्ति का इतिहास उतना ही पुराना है, जितना इस देश का इतिहास है, अपितु इनका मूलस्रोत क्रमशः आर्य एवं अनार्य प्रजातियों की धार्मिक अवधारणाओं में निहित है। तब मैं इन दोनों परम्पराओं के पृथक्करण एवं ऐतिह्य-क्रम में उनके निरूपण के लोभ को न रोक सका, जिसके फलस्वरूप इस शोध कार्य की प्रारम्भिक रूप-रेखा में आवश्यक परिवर्तन करना आवश्यक हो गया, और यह एक बृहदाकार ग्रंथ बन गया।

सम्प्रति इस शोधकार्य के प्रथम भाग की जो रूप-रेखा है उसके अनुसार इसकी विषय-वस्तु का संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित है—

इस अनुशीलन का **प्रथम अध्याय** 'आर्य पूर्व' अर्थात् आर्येतर प्रजातियों के संक्षिप्त परिचय एवं उनके धार्मिक विश्वासों के निरूपण से सम्बन्धित है। इसमें सर्वप्रथम—सैंधव सभ्यता के निर्माता, सैंधव सभ्यता की समय-मर्यादा, उसके विनाश के कारण और उसके विनाश से तात्पर्य का संक्षिप्त परिचय देकर सिंधु घाटी की सभ्यता के धार्मिक विश्वासों का निरूपण किया गया है। तत्पश्चात् ऋग्वेद में असुर, व्रात्य, दस्यु, दास, शूद्र एवं पणि नामक प्रजातियों एवं उनके धार्मिक विश्वासों का जो परिचय मिलता है उसे परवर्ती वैदिक-वाङ्मय एवं ऐतिह्य संदर्भों के परिप्रेक्ष्य में प्रामाणित ढंग से प्रस्तुत किया गया है। साथ ही नृवंशशास्त्रियों को मान्य नेग्रिटो, आग्नेय, भूमध्यसागरीय, पश्चिमी वृत्त कपाल, नार्डिक एवं मंगोल प्रजातियों का परिचय देकर उनके भी धार्मिक विश्वासों का निरूपण किया गया है। ऋग्वेदोक्त एवं नृवंशशास्त्रियों को मान्य अनार्य प्रजाओं के धार्मिक विश्वासों के साम्य एवं अनार्यत्व को भी प्रकट किया गया है। अंत में अनार्य प्रजाओं के आवास-क्षेत्रों का सप्रमाण निर्देश करके 'अथर्ववेद' के, विशेष रूप से उसके व्रात्य-कांड के, धार्मिक विश्वासों का निरूपण

किया गया है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अनार्य प्रजाओं के धार्मिक विश्वासों का लिखित विवेचन सर्वप्रथम अथर्ववेद में हुआ है। यह अनार्य धर्म द्विविध है—(1) वैयक्तिक स्तर पर यह तप-त्यागमयी योग-साधना है, जिसमें वाममार्ग सम्मिलित है। (2) लोकधर्म के रूप में यह पशु, पक्षी, वृक्ष, यक्ष, नाग, नदी तथा विकृत आकार के देवी-देवताओं की पार्थिव-पूजा और तंत्र-मंत्र, जादू-टोना आदि से युक्त है।

द्वितीय अध्याय का विषय है—आर्य प्रजाति और उसके धार्मिक विश्वास। इस अध्याय में सर्वप्रथम वैदिक-वाङ्मय, नृवंशशास्त्र एवं इतिहास में उपलब्ध संदर्भों के आधार पर आर्य-प्रजाति, आर्यों के आदिदेश, उनके आगमन एवं भारत में उनके तत्कालीन आवास-क्षेत्रों का परिचय जुटाया गया है। तत्पश्चात् ऋग्वेद को विशेष आधार बनाकर वैदिक आर्यों के धार्मिक विश्वासों का आवश्यक विस्तार के साथ विवेचन किया गया है। वैदिक आर्यों के सामाजिक जीवन का निरूपण भी यहाँ किया गया है। आर्यों के सामाजिक जीवन की महत्त्वपूर्ण संस्था 'कुटुम्ब' का भी परिचय दिया गया है। आर्यों के सामाजिक संघटन की आधारभूत 'वर्ण-व्यवस्था' और वैयक्तिक जीवन को समायोजित करने वाली 'आश्रम-व्यवस्था' की पूर्वभूमिका को भी यहाँ लक्षित किया गया है। संक्षेप में वैदिक-आर्यों का धर्म इहलोक और परलोक में जीवन को सुखी एवं समृद्ध बनाने के उद्देश्य से किया गया धर्म, अर्थ एवं काम के त्रिवर्ग का समायोजन है, जिसमें पितृपूजा, देवपूजा एवं यज्ञ का कर्मकांड स्वीकृत है।

तृतीय अध्याय में आर्येतर धर्म-परम्परा का निरूपण किया गया है। दो-सौ से भी अधिक पृष्ठों का यह अध्याय इस अध्ययन का सबसे बड़ा अध्याय है। जिसकी विषयानुक्रमणिका विशद एवं वैविध्यपूर्ण है। यहाँ संक्षेप में इतना निर्देश पर्याप्त होगा कि इसमें आर्येतर धर्म-परम्परा के अंतर्गत अथर्ववेद, आरण्यक, उपनिषद्, सांख्य, पातंजलयोग, चार्वाक, आजीवकमत, जैन, बौद्धादि का समावेश किया गया है, और इसी क्रम में उनका विवरण दिया गया है। अतः प्रारम्भ में अथर्ववेद के तत्त्वचिंतन, साधना मार्ग और आर्य-धर्म-विरोधी ऐसी मान्यताओं का निरूपण किया गया है, जिनका प्रभाव आरण्यकों, किंतु विशेष रूप से उपनिषदों, पर पड़ा दिखाई देता है। उपर्युक्त में से प्रत्येक परवर्ती धार्मिक इकाई पर उसकी पूर्ववर्ती इकाई अथवा इकाइयों के प्रभाव का निरूपण करके उनके पारम्परिक ऐक्य को लक्षित किया गया है। उपनिषदों के प्रमुख ब्रह्मवेत्ताओं का परिचय देकर औपनिषदिक् 'धर्म-दर्शन' का विवेचन किया गया है। परवर्ती धार्मिक सम्प्रदायों के प्रवर्तक आचार्यों का संक्षिप्त जीवन वृत्त देकर उनके धार्मिक एवं दार्शनिक विचारों का निरूपण किया गया है। यथास्थान उनके धार्मिक विचारों की समीक्षा भी की गई है। इस परम्परा की प्रत्येक धार्मिक इकाई अथवा सम्प्रदाय में वेद, ब्राह्मण, यज्ञ, वैदिक देवता, याज्ञिक हिंसा, वर्ण-व्यवस्थादि की जो भर्त्सना की गई है, उसे भी लक्षित किया गया है। इससे इनकी

आर्य-धर्म-विरोधी प्रकृति अथवा अनार्यत्व प्रकट होता है। प्रत्येक सम्प्रदाय के परिचय के अंतिम भाग में धार्मिक सम्प्रदायवाद का मार्ग प्रशस्त करनेवाली उसकी मान्यताओं एवं प्रवृत्तियों का निरूपण किया गया है। इस समूची परम्परा में ज्ञाननिष्ठा-मूलक निवृत्तिपरायण धर्म को प्राथमिकता दी गई है।

इस देश की धार्मिक मान्यताओं का जैसा सूक्ष्म विश्लेषण इस ग्रंथ में है, अन्यत्र (किसी एक ग्रंथ में) सुलभ नहीं है। इस अध्ययन के निष्कर्षों से समूचे भक्तिकाल और उसके काव्य के पुनर्मूल्यांकन का मार्ग प्रशस्त होता है। इतना ही नहीं, इस देश के धार्मिक इतिहास का जो परिष्कृत चित्र इस अध्ययन से उभरकर सामने आया है, उसमें इसके न केवल धार्मिक एवं दार्शनिक अपितु राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, साहित्यिक आदि सभी क्षेत्रों के अतीत की अस्फुट सम्भावनाओं का रेखांकन हुआ है। धर्म और दर्शन के तात्त्विक स्वरूप, उनके अन्योन्याश्रित सम्बन्ध और व्यावहारिक जीवन में उनके उपयोग विषयक प्रचलित भ्रान्तियों के निवारण का सन्निष्ठ प्रयास इस अध्ययन में किया गया है। अस्तु।

जिन विद्वानों के श्रम से मैं प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से लाभान्ति हुआ हूँ। उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

इस पुस्तक के प्रकाशन हेतु महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय, बड़ौदा की ओर से सहायता-राशि के रूप में सात हजार पाँच सौ रुपये प्राप्त हुए हैं, एतदर्थ लेखक उक्त संस्था का आभारी है।

इस पुस्तक के प्रकाशन-कार्य को तत्परता से स्वीकारने और सुरुचिपूर्ण ढंग से पूर्ण करने के लिए लेखक राधाकृष्ण प्रकाशन, प्राइवेट लिमिटेड के श्री अशोक कुमार महेश्वरी के प्रति आभार प्रकट करता हूँ।

रामनाथ घूरेलाल शर्मा

अनुक्रम

प्रथम अध्याय

आर्येतर प्रजातियाँ और उनके धार्मिक विश्वास

विषय-प्रवेश

किसी देश, धर्म, जाति आदि विषयक ऐतिह्य शोध में आधुनिक इतिहासकार लिखित सामग्री के अतिरिक्त भाषा-विज्ञान, अर्थ-विज्ञान (Semasiology), प्रजाति-भेद अथवा नृवंशशास्त्र और पुरातत्त्व[1] आदि का भी उपयोग करते हैं; तथापि एक बात निश्चित है कि लिखित सामग्री के आधार पर लिखा गया इतिहास ही, फिर चाहे वह अपूर्ण ही क्यों न हो, सम्बन्धित देश, धर्म व जाति का वास्तविक इतिहास माना जाता है; अर्थात् सम्बन्धित देश में जिस समय से लिखित सामग्री मिलती है, उसी समय से उसके इतिहास का प्रारम्भ माना जाता है। पुरातत्त्व विभाग के प्रयत्नों के फलस्वरूप प्राप्त हुए प्राचीन युग के आधार पर विशेषज्ञों द्वारा निकाले गए निष्कर्ष कितने ही महत्त्वपूर्ण क्यों न हों, यदि उनसे सम्बन्धित लिखित सामग्री उपलब्ध नहीं है तो उन्हें सम्बन्धित देश के प्रागैतिहासिक युग से सम्बद्ध माना जाता है।

भारतीय वाङ्मय का प्राचीनतम ग्रंथ ऋग्वेद है। अतः 1922-23 ई० से पूर्व अर्थात् सिंधु घाटी के खँडहरों और अवशेषों के प्रकाश में जाने से पूर्व; इस देश के धर्म, दर्शन, साहित्य, कला एवं विज्ञान का इतिहास ऋग्वेद से ही प्रारम्भ किया जाता था। सिंधु घाटी के मुख्यरूप से दो स्थानों मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई के फलस्वरूप जो प्राचीन खँडहर एवं अवशेष मिले हैं उनके आधार पर इस देश के सांस्कृतिक इतिहास में एक नया अध्याय जुड़ गया है। जो वैदिक युग से कम से कम एक सहस्राब्दि पीछे के समय से सम्बन्धित है; अर्थात् प्राग्वैदिक है। मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा से पत्थर और पकी हुई मिट्टी की लगभग 500 मुहरें मिली हैं, जिन पर चित्रात्मक लिपि से मिलते-जुलते 396 अक्षर खुदे हुए हैं। दुर्भाग्य से अभी तक इन्हें पढ़ा नहीं जा सका है। अतः यहाँ के खँडहरों एवं

अवशेषों के आधार पर इस क्षेत्र की तत्कालीन सभ्यता व संस्कृति के विषय में विशेषज्ञों के जो भी निष्कर्ष हों, उन्हें प्रागैतिहासिक ही कहा जा सकता है। यहाँ के अवशेषों से व्यक्त होने वाली सभ्यता को विद्वानों ने ताम्रयुग की सभ्यता माना है और उसे 'सैंधव सभ्यता' का अभिधान दिया है।

सिंधु घाटी की सभ्यता के प्रकाश में आने से इस देश के प्रागैतिहासिक या आर्यपूर्व युग के इतिहास का ज्ञान तो होता ही है, साथ ही क्रीट, एलम, बिलोचिस्तान, मैसोपोटामिया; सीरिया, असीरिया, मिस्र आदि के क्षेत्रों में जो पुरातात्त्विक अवशेष मिले हैं और उनमें तथा सैंधव सभ्यता के अवशेषों में जो साम्य पाया गया है उससे पश्चिमी एशिया एवं भारतीय—दोनों संस्कृतियों के प्रागैतिहासिक काल के सम्बन्ध भी प्रकाश में आते हैं। इतना ही नहीं, इतिहासकाल की भारतीय धर्म, दर्शन, संस्कृति और कला आदि से सम्बन्धित परम्पराओं की टूटती कड़ियों को जोड़ने, प्रवर्तमान असंगतियों एवं अस्पष्टताओं के निवारण और उनके पारस्परिक सम्बन्धों के उद्घाटन में उपयोगी सामग्री भी प्रकाश में आई है। अतः इस अनुशीलन का प्रारम्भ सिंधु घाटी की सभ्यता के निर्माताओं और उनके धार्मिक विश्वासों के संक्षिप्त परिचय से ही करना होगा।

सिंधु सभ्यता के निर्माता

सिंधु संस्कृति के निर्माता कौन थे? इस प्रश्न के समाधान रूप एकाधिक मंतव्य प्राप्त होते हैं। सर जान मार्शल के अनुसार इस सभ्यता के निर्माता द्रविड़ लोग थे। कुछ विद्वानों का विचार है कि इस सभ्यता के निर्माता आर्य थे, और यह ऋग्वैदिक सभ्यता की परवर्ती है। एक तीसरा मन्तव्य यह भी पाया जाता है कि इस सभ्यता के निर्माता न तो आर्य थे, न द्रविड़। इसके निर्माता इन दोनों से भिन्न कोई और थे, जिनका पता लगा पाना आज कठिन है। डॉ० राजबली पाण्डेय के अनुसार यह सभ्यता आर्य असुर मिश्र सभ्यता थी। आर्यों और असुरों में घनिष्ठ जातीय सम्बन्ध थे, किंतु, राजनैतिक और धार्मिक संघर्ष था। इस संघर्ष में अंतिम रूप से असुर पराजित होकर पश्चिम की ओर पलायन कर गए। इनमें से अधिकांश ईरान, सुमेरिया, बाबुल, असीरिया और पश्चिमी एशिया के विविध प्रदेशों में बस गए।[2]

एक ओर स्थिति यह है कि मातृमूलक वंश-परंपरा जो इंगलाइट लोगों में भी थी; सर्प-पूजा, देवी-पूजा, देवदासी-प्रथा एवं वृषभारूढ़ देव की उपासना इत्यादि अनेक बातों में सुमेरियन सभ्यता और द्रविड़ सभ्यता में साम्य पाया जाता है। बलूचिस्तान (या बिलोचिस्तान) की ब्रहुई भाषा और बिहार में ओराँव जाति की भाषा, दक्षिण भारत में परिव्याप्त द्राविड़ भाषा समूह से पर्याप्त साम्य रखती हैं। संस्कृत भाषा की दंत्य एवं मूर्धन्य ध्वनियाँ अन्य किसी आर्यभाषा में नहीं हैं, अतः वे द्रविड़ भाषा की देन हैं—इत्यादि। अतः इस स्थिति के परिप्रेक्ष्य में पाश्चात्यों का विचार है कि सिंधु सभ्यता उस सुमेरियन सभ्यता का ही एक अंग है जो ईसा

से तीन हजार वर्ष पूर्व भूमध्यसागर से लेकर सिंधु तक फैली हुई थी। और इस सभ्यता के निर्माता द्रविड़ रहे होंगे, जो पश्चिम एशिया से आए थे, जहाँ यह सभ्यता प्रवर्तित थी। संभवत: ये द्रविड़ लोग बलूचिस्तान होकर भारत आए। इन्हीं की एक शाखा के लोग बलूचिस्तान के ब्राहुई क्षेत्र में बस गए होंगे। ब्रहुई बोली और ब्रहुई जाति इन्हीं लोगों की यादगार हैं। किंतु याद रहे कि आज की ब्रहुई जाति प्रजातीय दृष्टि से द्रविड़ों की अपेक्षा मंगोल प्रजाति के अधिक निकट है, जिसे परवर्ती सम्मिश्रण का परिणाम माना गया है।

चिंतन की इसी धारा का एक पूरक विचार यह है कि द्रविड़ वस्तुत: भूमध्यसागर के किनारे रहने वाले लोग हैं। जो 3500 ई० पू० भारत की ओर चले। मार्ग में इन्हीं की शाखाएँ इराक, ईरान आदि में रह गई, जिन्होंने वहाँ सुमेरियन सभ्यता की, और भारत में आकर सैंधव सभ्यता की नींव डाली। मोहेंजोदड़ो व हड़प्पा की सभ्यता इन्हीं की सभ्यता है। और सैंधव तथा सुमेर सभ्यता के मध्य प्रवर्तमान साम्य का कारण यही प्रजातीय एकता है।

यह मान्यता निरापद नहीं है। क्योंकि उन दिनों इस प्रकार के युद्धों की सम्भावना स्वीकार नहीं की जा सकती कि जिसके द्वारा एक विशाल भू भाग की समूची जनता को खदेड़ कर धुर दक्षिण में पहुँचा दिया गया हो, और इतने पर भी जिन आर्यों ने ऐसा पराक्रम किया हो उनके स्वयं के साहित्य में दक्षिण भारत का कोई उल्लेख तक न पाया जाए।

स्वयं द्रविड़ों के इतिहास लेखकों में भी इस विषय में मतैक्य नहीं है। कुछ विद्वान भारत में द्रविड़ों का आगमन 500 ई० पू० और समुद्री मार्ग से मानते हैं। 'हिस्ट्री ऑफ तमिल्स' के विद्वान लेखक पी० टी० श्रीनिवास आयंगर के अनुसार यह मान्यता सही नहीं है कि उत्तर भारत के आर्यों को दक्षिण भारत का ज्ञान न था, क्योंकि वेदों में माती का उल्लेख है, जो सम्भवत: दक्षिण से ही जाते होंगे और संस्कृत 'मुक्ता' शब्द तमिल शब्द 'मुक्तम्' का रूपांतर हो सकता है। दूसरे बौद्धों के ग्रंथ 'सुत्तनिपात' के अनुसार गोदावरी तट पर रहनेवाले बावरी ब्राह्मण ने अपने सोलह शिष्यों को बुद्ध की अभ्यर्थना हेतु उत्तर में भेजा था।

श्री रामचंद्र दीक्षितर[3] का विचार है कि द्रविड़ दक्षिण भारत में अत्यंत प्राचीन काल—भूगर्भ शास्त्रीय युग—से रह रहे हैं। समुद्र के तटवर्ती क्षेत्र में रहने के कारण वे पानी के जहाज बनाने व समुद्री यात्रा करने में निपुण रहे हैं। पश्चिमी देशों के साथ भारतीयों का व्यापार इन्हीं के द्वारा होता था। अत: सम्भव है कि समुद्री एवं भूमि मार्गों से भी ये ही लोग क्रेटोन और एजियन तक पहुँचे होंगे। इन्हीं प्रजातियों में से कुछ लोग बलूचिस्तान की ओर भी गए होंगे—जिनका प्रभाव मोहेंजोदड़ो एवं हड़प्पा पर भी पड़ा होगा। श्री दीक्षितर के विचार का समर्थन हर्बर्ट रिजली ने भी किया है।[4] किंतु यह विचार भी विद्वानों को ग्राह्य नहीं हुआ है, क्योंकि दक्षिण भारत में इस सभ्यता के अवशेष अभी तक नहीं मिल सके हैं, और वेदोक्त देवासुर-संग्राम आदि का भी संतोषप्रद समाधान

इससे नहीं होता ।

उल्लेख्य होगा कि मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा से प्राप्त हुए अवशेषों में कुछ नरकंकाल एवं खोपड़ियाँ भी हैं। मोहेंजोदड़ों से इक्कीस नर-कंकाल सर्वांगपूर्ण स्थिति में मिले हैं, जिनमें से सात सार्वजनिक आवागमन के स्थानों से और शेष एक कमरे से । जैसाकि डॉ० राजवली पांडेय ने लिखा है, कर्नल स्यूअल और डॉ० गुह ने यहाँ से प्राप्त अस्थि-पिंजरों का अध्ययन करके, यहाँ के निवासियों को चार प्रजातियों के बताये हैं, जो इस प्रकार हैं – (1) प्रोटो-आस्ट्रोलॉयड (आदि निषाद); (2) मंगोलियन (किरात); (3) मेडीटरेनियन (भूमध्यसागरीय द्रविड़) और (4) अलपाइन (आर्य) । नृवंशशास्त्रियों के मतों के आधार पर इन प्रजातियों के रंग-रूप एवं सूरत-शकल का निरूपण हमने आगे किया हैं, अत: यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि यहाँ पर प्राप्त हुई खोपड़ियों में मंगोलियन और अल्पाइन प्रजाति के लोगों की केवल एक-एक खोपड़ी प्राप्त होने से यह अनुमान लगाया गया है कि यहाँ के निवासियों में इन दो प्रजातियों का मिश्रण न्यूनतम था । विद्वानों का अनुमान है कि यहाँ की आबादी में भूमध्यसागरीय लोगों का प्राधान्य था । अन्य विद्वानों की भी मान्यता है कि भारत में जिसे द्रविड़ कहा जाता है, वह भूमध्यसागरीय (कुछ विद्वानों के अनुसार आइबीरियन) प्रजाति ही सिंधु सभ्यता की निर्माता है ।[5]

पुराणों के अनुसार, जिसका विवरण आगे आएगा, आर्यपूर्व जनता 'असुर' नाम से अभिहित थी, जो महाभारत के अनुसार भवन-निर्माण कला में प्रवीण थी । असुर, देवों के दायाद-बांधव थे, जो पारस्परिक युद्ध में पराजित या जाति से बहिष्कृत होने पर ईरान, अक्काद, सुमेर, असीरिया आदि में जाकर बस गए ।[6] अंत: संभाव्य है कि ये ही लोग सिंधु घाटी की नागरिक सभ्यता के निर्माता भी रहे हों ।

इतिहासकार भी सैंधव सभ्यता के निर्माताओ के विषय में कोई निश्चित मत व्यक्त नहीं करते । सैन्धव और सुमेर सभ्यताओं के मध्य साम्यमूलक सम्बन्ध प्राय: सभी को ग्राह्य हैं, किंतु यह सभ्यता पूर्व से पश्चिम को गई या पश्चिम से पूर्व आई— इस विषय में मतैक्य नहीं है । उक्त समस्त अनिश्चितता के बावजूद एक सामान्य मत वह बनता जा रहा है कि द्रविड़ जाति प्राचीन विश्व की अत्यन्त सुसभ्य जाति थी; और भारत में भी सभ्यता का वास्तविक आरम्भ इसी जाति ने किया था ।[7]

समय-मर्यादा

जैसा ऊपर कहा गया है सैंधव सभ्यता को विद्वानों ने ताम्रयुग की सभ्यता माना है । सिंधु उपत्यका की खुदाई में सात स्तर पाए गए हैं, जिनमें से प्रथम कुषाण-कालीन अर्थात् प्रथम शती ईसवी का है । प्रत्येक स्तर के निर्माण व विनाश के लिए 500 वर्ष का समय मानकर इस सभ्यता को चार हजार ईसा पूर्व अथवा

3500 ई० पू० का माना गया है। फिर भी इस विषय में मतैक्य प्रायः नहीं है। कतिपय विद्वान इसका समय 2500 ई० पू० से 1500 ई० पू० का भी मानते हैं।[8] एक सूचना के अनुसार अब वैज्ञानिक तरीकों से परीक्षण करके इस सभ्यता के विकसित रूप की तिथि लगभग 2300 ई० पू० से 1750 ई० पू० निर्धारित की गई है।[9]

विनाश के कारण और तात्पर्य

सैंधव संस्कृति के ध्वस्त होने के कारणों के विषय में भी मतैक्य नहीं है। कतिपय विद्वान मानते हैं कि आर्यों के बर्बर आक्रमण के फलस्वरूप इस संस्कृति का विनाश हो गया। किंतु इस मत के पक्ष में वैदिक वाङ्मय में निरूपित इंद्र के पराक्रमों के अतिरिक्त कोई प्रमाण नहीं दिया जाता। अन्य कारणों में- भूकम्प, बाढ़, सिंधु की धारा का परिवर्तन, जलवायु का परिवर्तित हो जाना आदि—प्राकृतिक प्रकोप हो सकते हैं।

मेरे विचार से जो विद्वान सैंधव सभ्यता के विनाश के लिए आर्यों को उत्तरदायी मानते हैं और इसलिए उन्हें असभ्य, बर्बर, असहिष्णु, आक्रामक के रूप में चित्रित करते हैं, उनके अपने निश्चित उद्देश्य हैं। जहाँ तक ऐतिह्य स्थिति का सम्बन्ध है, वह यही प्रतीत होती है कि सैंधव सभ्यता केवल मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा के क्षेत्र तक ही परिसीमित नहीं थी। सिंधु; बिलोचिस्तान, दिल्ली, उत्तरप्रदेश, राजस्थान तथा नर्मदा नदी की घाटी तक इसके अवशेष मिले हैं। दक्षिण में काठियावाड के रंगपुर, लोथल एवं सोमनाथपुर के क्षेत्रों के अतिरिक्त हालार जिले में भी सिंधु-सभ्यता के अवशेष मिले हैं। श्री ओमप्रकाश के मतानुसार लोथल में हड़प्पा के अनुरूप संस्कृति लगभग 1860 ई० पू० में समाप्त हो गई। "किंतु इसका यह अर्थ है कि इस प्रदेश में अब कुछ अंश में हड़प्पा के शासकों का अधिकार नहीं रहा।"[10] अन्यथा, 'रंगपुर और लोथल में सिंधु सभ्यता मोहेंजोदड़ो के नष्ट होने के बहुत दिन पीछे तक रही।"[11] उन्होंने आगे लिखा है कि, "इस प्रकार सौराष्ट्र, राजस्थान और मालवा में हड़प्पा संस्कृति का अन्त सबसे पहले विदेशी संस्कृतियों से समन्वय हुआ। इसके बाद इस संस्कृति का दक्षिणी पथ में वहाँ की नव.पाषाण कालीन संस्कृतियों से समन्वय हुआ। पूर्व की ओर यह संस्कृति बंगाल से आंध्र तक फैली। दूसरी ओर यह नर्मदा की घाटी में होकर मध्यभारत के पर्वतीय क्षेत्रों में फैली। तीसरी ओर इस संस्कृति का प्रसार आर्यों की बस्तियों के साथ उत्तरी राजस्थान और पंजाब में गंगा की घाटी के उत्तरी भाग में और वहाँ से गंगा की घाटी के मध्यभाग में हुआ। यह विस्तार का क्रम लौहयुग में पूरा हुआ।[12] वे आगे लिखते हैं, "आर्य लोगों ने इस सभ्यता का विनाश किया इस मत के पक्ष में कोई स्पष्ट पुरातात्त्विक प्रमाण नहीं है।" ए० एस० अल्तेकर तथा सुधाकर चट्टोपाध्याय इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि एक लम्बे समय तक आर्य और सिंधु सभ्यता के बनानेवाले अनार्य साथ-साथ रहे। रंगपुर, लोथल, रोपड़ और

आलमगीरपुर के सबसे ऊपर की सतह पर मिले अवशेषों से यह बात स्पष्ट हो गई है कि इस सभ्यता का सहसा नाश नहीं हुआ। राजस्थान, गुजरात, मालवा और दक्षिण की अन्य सभ्यताओं के प्रभाव में आकर यह सभ्यता धीरे-धीरे लुप्त-प्राय हो गई।[13]

इस संस्कृति के जीवित और सतत संघर्षशील बने रहने के प्रमाण इस अनुशीलन के आगामी अध्यायों में मिल सकेंगे, प्रस्तुत प्रसंग में मेरा आशय इतना ही है कि मोहेंजोदड़ो, हड़प्पा इत्यादि के खँडहर, एशिया खंड के एक विशाल भूखंड में परिव्याप्त और विभिन्न प्रजातियों के लोगों द्वारा आचरित इस संस्कृति के विनाश के द्योतक न होकर इसकी कुछेक बस्तियों के ध्वस्त हो जाने के सूचक हैं। इसके कथित विनाश का तात्पर्य इसके अदृश्य हो जाने या समूल विनष्ट हो जाने से नहीं; अन्य संस्कृति के साथ सतत संघर्ष और समन्वय की प्रक्रिया के फलस्वरूप होते रहे इसके रूपांतर का पर्याय है।

सिंधु घाटी की सभ्यता के धार्मिक विकास

क—1. मोहेंजोदड़ो से प्राप्त एक मुहर में एक पुरुष का चित्र है, जो एक नीची चौकी पर पद्मासन लगाए बैठा है, जिसकी दृष्टि नासाग्र पर केंद्रित है, जिसका ऊर्ध्वमेंढ़ है, जिसे अलग भी किया जा सकता है। इस चित्रित पुरुष के तीन मुख हैं, तीन नेत्र हैं, इसके सिर पर दाएँ-बाएँ दो सींग हैं। उसके दाहिनी ओर हाथी और बाघ तथा बाईं ओर गैंडा एवं भैंसा चित्रित हैं। चौकी के नीचे के भाग में दो सींगोंवाला हिरण जैसा कोई जानवर चित्रित है। पुरुष अपने दोनों हाथों में चूड़े और गले में हार पहने हुए है।

इस विचित्र आकृति में लक्षित विशेषताओं के आधार पर विद्वानों ने इसे ऐतिहासिक युग के पाशुपत शिव, अथवा योगीश्वर शिव का प्रारूप बताया है। डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी के अनुसार चौकी के नीचे के भाग में चित्रित "मृग जंगल का सूचक है, जैसा कि बौद्धकला में मृगदाव के दृश्य में—जहाँ बुद्ध ने प्रथम बार धर्मोपदेश किया था—पाया जाता है।"[14] साथ ही इस चित्र के मस्तक पर जो दो सींग हैं, वे शैवों के त्रिशूल के पूर्व रूप कहे जा सकते हैं। इसी त्रिक् से संभवत: बौद्धों ने त्रिरत्न की कल्पना की[15] विद्वानों ने कुछ अन्य भी ऐसी मुहरों के उल्लेख किए हैं जो शिव के उक्त पशुपति रूप और योग साधना को सूचित करती हैं।

हड़प्पा से प्राप्त एक गहरे रंग के सलेटी पत्थर की नृत्यरत पुरुष की मूर्ति है। इसमें नर्तक पुरुष अपने दाहिने पैर पर खड़ा है और बायाँ पैर उठाए हुए है। डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी के अनुसार यह शिव नटराज का पूर्व रूप ज्ञात होता है (दे० : हिंदू सभ्यता, पृ० 38)

डॉ० यदुवंशी का विचार है कि "जब सिंधु घाटी के लोगों का वैदिक आर्यों के साथ संमिश्रण हुआ, तब इस देवता का वैदिक रुद्र के साथ आत्मसात् हुआ और उसके उपासक रुद्र के उपासक माने जाने लगे।"[16]

2. सिंधु उपत्यका में मिट्टी व पत्थर की जो मूर्तियाँ मिली हैं उनमें स्त्री-मूर्तियों का बाहुल्य है। हड़प्पा से एक ऐसी लम्बी मुहर मिली है, जिस पर एक नग्न स्त्री का चित्र है, जिसमें वह ऊपर टाँग किए हुए सिर के बल खड़ी है और उसकी योनि में से एक पौधा निकलता हुआ दिखाया गया है। इस मुहर के दूसरी ओर हाथ में हँसिया लिए हुए एक पुरुष का चित्र है, जिसके सामने एक स्त्री हाथ जोड़े हुए बैठी है।

विद्वानों ने इसे मातृदेवी, पृथ्वीदेवी अथवा महामातृदेवी की मूर्ति बताया है और अनुमान किया है कि इसे प्रसन्न करने के लिए नारी की बलि देने की प्रथा रही होगी।

जैसा ऊपर संकेत किया गया है, अन्य भी अनेक स्त्रीमूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं, जिनसे यहाँ के तत्कालीन समाज में देवी-पूजा के प्रचलन का समर्थन होता है। डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी प्रभृति विद्वानों के अनुसार—"सिंधु उपत्यका और बिलोचिस्तान से प्राप्त स्त्री मूर्तियों से मिलती-जुलती मूर्तियाँ पश्चिमी एशिया, भूमध्य सागर के इजियन तट; एलम, मेसोपोटामिया, कैस्पियन समुद्र के ऊपरले भाग, एशिया माइनर, सीरिया, फिलिस्तीन, साइप्रस और यूनान के किकलेट द्वीपसमूह, बालकन और मिस्र आदि देशों में बहु संख्या में पाई जाती हैं।"[17] इससे प्रकट है कि इस देश में शक्ति-पूजा का स्रोत विदेश, मुख्यरूप से पश्चिम एशिया है।

डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी के अनुसार सिंधु उपत्यका में उपलब्ध स्त्री मूर्तियाँ मातृ रूप में स्थित प्रकृति की मूर्तियाँ हैं "जिसे वेदों में पृथ्वी (ऋग्वेद 6-12-5, 10/187/2 या पृथिवी (ऋ० 5/85/15; 7/7/2-5) भी कहा गया हैं।"[18] मेरे विचार से डॉ० मुकर्जी की यह एक असंगत धारणा है, क्योंकि, जैसा आगे भी स्पष्ट होता रहेगा, उक्त देवी अथवा देवियों के रंग-ढंग परवर्ती वाममार्गी शाक्त साधना के अधिक सुसंगत हैं। वैदिक स्त्री-देवताओं में ऐसा एक भी नहीं है जिसकी तुलना उक्त स्त्री-देवता से की जा सके। जिन सूक्तों में धरणी का स्तवन है उनमें उसका रूप पृथ्वी के मानवीकरण से अधिक महत्त्व नहीं रखता। कोई देवी स्वतंत्र रूप से पूज्य नहीं है। ऋग्वेद का 'वाक्' भी तांत्रिक वाक् का पर्यायरूप नहीं है। अतः उपर्युक्त देवी को अवैदिक मानना ही युक्तियुक्त होगा। सिंधु उपत्यका की स्त्री-मूर्तियों और देवी-पूजा को बेबीलोन की देवी 'इश्तर' (Ishtar) के ऐतिह्य संदर्भों में देखना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। यद्यपि उपर्युक्त पुरुष-देवता और स्त्री-देवता के मध्य परवर्ती—आगमोक्त—'शक्तिमान और शक्ति' जैसे सम्बन्ध प्रकट नहीं हैं, तथापि जैसा कि आगे के विवरण से स्पष्ट होता रहेगा, इनकी सम्भावना अवश्य की जा सकती है।

3. हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो से लिंग और योनि के आकार की कुछ पाषाण प्रतिमाएँ मिली हैं। आर्यसमाजी विचारधारा से प्रभावित कतिपय विद्वानों ने इन्हें गृहकार्य में प्रयुक्त मूसल और खरल होने की सम्भावना व्यक्त की है, किंतु ये मूर्तियाँ (या प्रतीक) इतनी यथार्थपरक है; कि इनके अन्यथा होने की सम्भावना

नहीं वत् है। सिंधु उपत्यका बिलोचिस्तान आदि क्षेत्रों में लिग-प्रतीकों के साथ-साथ पत्थर के कुछ छल्ले भी मिले हैं जो सम्भवतः 'लिगांगयोग' के संयुक्त प्रतीक में योनि के प्रतीक रहे हों।

नर-नारी की जननेंद्रियों की, अथवा उनके प्रतीकों की, पूजा-उपासना को लेकर क्लिफर्ड हाउवर्ड (सेक्स वरशिपः); होडर एस० वेस्ट्रोप (फैलिज्म इन एंसिएंट वरशिपः) प्रभृति जो शोधकार्य और एंसाइक्लो पीडिया ऑफ रिलीजन एंड एथिक्स जैसे ज्ञानकोशों में जो शोधपरक लेख प्रकाशित हुए हैं उनसे इस परम्परा की प्रचीनता और व्यापकता पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। ग्रीक इतिहासकार हेरोडोटस के कथनानुसार मिस्र में लिग-योनि की उपासना का प्रचलन था। विशालाकार लिग-प्रतीकों के साथ वहाँ आम जलूस भी निकाले जाते थे।[19] जापान में लिंग की प्रतिमाओं को पृथक् करके पूजा के लिए सड़कों के किनारे रख दिया जाता था।[20] फिर भी लिंगोपासना का प्रमुख केंद्र पश्चिमी एशिया का वह क्षेत्र माना जाता है जहाँ बेबीलोन और असीरियन सभ्यता का विकास हुआ। ध्यातव्य होगा कि इन असीरियन लोगों को संस्कृत वाङ्मय में असुर कहा गया है। असीरिया में 'अशेरह' की उपासना होती थी; जो देवता 'वाअल' (Baal) और देवी 'अश्तोरेथ' (Ashtoreth) के संयोग का प्रतीक था। इसका रूप विलकुल स्त्री-योनि का-सा था।[21] बेबीलोन की पूर्वोक्त देवी 'इश्तर' और उसके पति (तम्मुज या दुम्मुजी) देवता की उपासना में भी लिंगोपासना के इसी प्रकार के प्रतीक मिलते हैं। अरब-ईरान, ग्रीक आदि विश्व के अन्य क्षेत्रों की पुरातत्त्व-शोधों में इसके एक या दूसरे रूप में, प्रचलित होने के प्रमाण मिले हैं।

मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा के अतिरिक्त भारत में पश्चिम में मकरान; दक्षिण में काठियावाड़ और उत्तर में हिमालय की शिवालक पर्वतमाला के त्रिभुजाकार क्षेत्र में तथा पश्चिम एशिया के बेबीलोन, सीरिया, ईरान, एलम, सुमेर मिस्र आदि के व्यापक क्षेत्र में जो पुरातात्त्विक शोधकार्य हुए हैं उनके फलस्वरूप पश्चिम एशिया एवं सिंधु घाटी की सभ्यता के मध्य के घनिष्ठ सम्बन्ध प्रकाश में आते जा रहे हैं। सर आरेल स्टाइन द्वारा वजीरिस्तान और उसके आस-पास के क्षेत्र में आयोजित खोज यात्राओं के फलस्वरूप पकी मिट्टी की देवी की मूर्तियाँ, वृषभ-मूर्तियाँ, लिंग और योनि के प्रतीक इत्यादि ऐसे अनेक पुरातात्त्विक अवशेष प्राप्त हुए हैं जिनसे पश्चिम एशिया और सैंधव सभ्यता का तारतम्य स्थापित होता है।"[22]

उपर्युक्त समस्त क्षेत्रों में, जैसा ऊपर संकेत किया गया है, देवी की उपासना तो विद्यमान थी ही अतः लिंगोपासना और देवी की उपासना को परस्पर सम्बद्ध माना जा सकता है। कुल मिलाकर प्रस्तुत लेखक को डॉ० यदुवंशी का यह अनुमान समीचीन प्रतीत होता है कि, "सिंधु घाटी की लिंगोपासना उन लिंगोपासना का एक अंगमात्र थी, जो समस्त पश्चिम एशिया में फैली हुई थी।" और देवी उपासना के साथ-साथ यह भी पश्चिम एशिया से भारत में आई।[23]

उपर्युक्त विवरण के आधार पर नर-नारीमूलक देवताओं के दो प्रकार के रूप हुए—प्रथम हुए वैचित्र्य लिए हुए साकार रूप, और द्वितीय उनकी जननेंद्रियों से सम्बन्धित प्रतीक रूप।

4. मोहेंजोदड़ो की एक मुहर में एक पेड़ की दो शाखाओं के मध्य में खड़ा हुआ एक (नग्न पुरुष) देव दिखाया गया है, जिसकी सात स्त्रियाँ पूजा कर रही हैं। विद्वानों के अनुसार यह वृक्ष सम्भवतः पीपल का वृक्ष है जो भगवान बुद्ध के बोधिवृक्ष का प्रारूप है। डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी के अनुसार यह वृक्ष-पूजा दो रूपों में प्रतीत होती है—एक तो वृक्ष के अधिदेवता के रूप में, जैसा कि उपर्युक्त मुहर में लक्षित है, और दूसरे वृक्ष के वास्तविक रूप में जैसा कि हड़प्पा की कुछ मुहरों पर अंकित है। (दे० हिंदू सभ्यता, पृ० 40)

5. डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी के अनुसार हड़प्पा में प्राप्त मिट्टी की एक तख्ती पर साँप प्रदर्शित है। इसमें एक देवता के पास फन फैलाए नाग बैठा है और घुटनों के बल बैठे हुए लोग उसकी पूजा कर रहे हैं। मिट्टी की एक तावीज पर एक चित्र है जिसमें साँप को पूजा के तौर पर दूध पिलाया जा रहा है।[24] इससे प्रकट है कि सैंधव सभ्यता में नागपूजा का भी स्थान था। डॉ० मुकर्जी ने हड़प्पा, एलम एवं बेबिलोनिया में नाग-सम्प्रदाय के अस्तित्व का भी उल्लेख किया है।

6. मोहेंजोदड़ो की मुहरों पर बनी हुई आकृतियों के रूप में तथा सोफियानी मिट्टी या पत्थर की मूर्तियों के रूप में पशुओं की अनेक मूर्तियाँ मिली हैं। इनमे से कुछ के पूज्य होने की सम्भावना है, शेष खिलौने भी हो सकते हैं! डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी ने इन्हें आकृति-भेद से तीन कोटियों में विभक्त किया है। प्रथम कोटि में ऐसी कल्पनाजन्य मूर्तियाँ हैं, जिनके रुंड और मुंड में संगति का अभाव है, अर्थात् जो एकाधिक पशुओं के अंगों के मिश्रण से युक्त हैं। यथा—मानव मस्तक से युक्त अज-मूर्ति; मेढ़ा, हाथी और बैल के अंगों के संयोजन से बनी मूर्ति—(तीन सिरवाला दानव त्रिशिरा); अथवा अर्धनर-अर्धवृष आकृति का एक जंतु जो एकशृंग बाघ पर आक्रमण कर रहा है। (डॉ० मुकर्जी के अनुसार यह चौथी सहस्राब्दी के सुमेर के देवता 'इअबनी' या 'इउकिटु' से मिलता है); अथवा देवता व नागों की सींगों से अलंकृत मूर्तियाँ। दूसरी कोटि में एक शृंग या दो शृंग वाले ऐसे जंतु हैं, जिनके सामने धूपदानी जैसी कोई वस्तु है, अथवा किसी प्रकार की पूजा करते हुए पशु। और तीसरी कोटि में साँड़, भैंसा, गेंडा, बाघ, हाथी इत्यादि सामान्य कोटि के पशु-चित्र या मूर्तियाँ हैं।[25] इनमें से प्रथम कोटि और द्वितीय कोटि के पशुओं के पूज्य माने जाने की सम्भावना अधिक है।

7. श्री रमाप्रसाद चंदा (दे० मॉडर्न रिव्यू, 1935 ई०) ने सिंधु घाटी की लिपि के चिह्न क्रमांक 383 को खड़े हुए चतुर्भुजी देवता का प्रतिरूप माना है, जो उनके विचार से परवर्ती हिंदू देवताओं—ब्रह्मा, विष्णु, महेश—का पूर्वरूप हो सकता है।[26] इसी प्रकार की सम्भावना कुछ अन्य विद्वानों ने भी व्यक्त की है।[27]

नहीं वत् है । सिंधु उपत्यका बिलोचिस्तान आदि क्षेत्रों में लिंग-प्रतीकों के साथ-साथ पत्थर के कुछ छल्ले भी मिले हैं जो सम्भवतः 'लिगांगयोग' के संयुक्त प्रतीक में योनि के प्रतीक रहें हों ।

नर-नारी की जननेंद्रियों की, अथवा उनके प्रतीकों की, पूजा-उपासना को लेकर क्लिफर्ड हाउवर्ड (सेक्स वरशिप:); होडर एस० वेस्ट्रोप (फैलिज्म इन एंसिएंट वरशिप:) प्रभृति जो शोधकार्य और एंसाइक्लो पीडिया ऑफ रिलीजन एंड एथिक्स जैसे ज्ञानकोशों में जो शोधपरक लेख प्रकाशित हुए हैं उनसे इस परम्परा की प्रचीनता और व्यापकता पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। ग्रीक इतिहासकार हेरोडोटस के कथनानुसार मिस्र में लिंग-योनि की उपासना का प्रचलन था। विशालाकार लिंग-प्रतीकों के साथ वहाँ आम जलूस भी निकाले जाते थे ।[19] जापान में लिंग की प्रतिमाओं को पृथक् करके पूजा के लिए सड़कों के किनारे रख दिया जाता था ।[20] फिर भी लिंगोपासना का प्रमुख केंद्र पश्चिमी एशिया का वह क्षेत्र माना जाता है जहाँ बेबीलोन और असीरियन सभ्यता का विकास हुआ। ध्यातव्य होगा कि इन असीरियन लोगों को संस्कृत वाङ्मय में असुर कहा गया है । असीरिया में 'अशेरह' की उपासना होती थी; जो देवता 'बाअल' (Baal) और देवी 'अष्तोरेथ' (Ashtoreth) के संयोग का प्रतीक था । इसका रूप बिलकुल स्त्री-योनि का-सा था ।[21] बेबीलोन की पूर्वोक्त देवी 'इश्तर' और उसके पति (तम्मुज या दुम्मुजी) देवता की उपासना में भी लिंगोपासना के इसी प्रकार के प्रतीक मिलते हैं। अरब-ईरान, ग्रीक आदि विश्व के अन्य क्षेत्रों की पुरातत्त्व-शोधों में इसके एक या दूसरे रूप में, प्रचलित होने के प्रमाण मिले हैं ।

मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा के अतिरिक्त भारत में पश्चिम में मकरान; दक्षिण में काठियावाड़ और उत्तर में हिमालय की शिवालक पर्वतमाला के त्रिभुजाकार क्षेत्र में तथा पश्चिम एशिया के बेबीलोन, सीरिया, ईरान, एलम, सुमेर मिस्र आदि के व्यापक क्षेत्र में जो पुरातात्त्विक शोधकार्य हुए हैं उनके फलस्वरूप पश्चिम एशिया एवं सिंधु घाटी की सभ्यता के मध्य के घनिष्ठ सम्बन्ध प्रकाश में आते जा रहे हैं । सर आरेल स्टाइन द्वारा वजीरिस्तान और उसके आस-पास के क्षेत्र में आयोजित खोज यात्राओं के फलस्वरूप पकी मिट्टी की देवी की मूर्तियाँ, वृषभ-मूर्तियाँ, लिंग और योनि के प्रतीक इत्यादि ऐसे अनेक पुरातात्त्विक अवशेष प्राप्त हुए हैं जिनसे पश्चिम एशिया और सैंधव सभ्यता का तारतम्य स्थापित होता है ।"[22]

उपर्युक्त समस्त क्षेत्रों में, जैसा ऊपर संकेत किया गया है, देवी की उपासना तो विद्यमान थी ही अतः लिंगोपासना और देवी की उपासना को परस्पर सम्बद्ध माना जा सकता है । कुल मिलाकर प्रस्तुत लेखक को डॉ० यदुवंशी का यह अनुमान समीचीन प्रतीत होता है कि, "सिंधु घाटी की लिंगोपासना उन लिंगोपासना का एक अंगमात्र थी, जो समस्त पश्चिम एशिया में फैली हुई थी ।" और देवी उपासना के साथ-साथ यह भी पश्चिम एशिया से भारत में आई ।[23]

उपर्युक्त विवरण के आधार पर नर-नारीमूलक देवताओं के दो प्रकार के रूप हुए—प्रथम हुए वैचित्र्य लिए हुए साकार रूप, और द्वितीय उनकी जननेंद्रियों से सम्बन्धित प्रतीक रूप।

4. मोहेंजोदड़ो की एक मुहर में एक पेड़ की दो शाखाओं के मध्य में खड़ा हुआ एक (नग्न पुरुष) देव दिखाया गया है, जिसकी सात स्त्रियाँ पूजा कर रहीं हैं। विद्वानों के अनुसार यह वृक्ष सम्भवतः पीपल का वृक्ष है जो भगवान बुद्ध के बोधिवृक्ष का प्रारूप है। डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी के अनुसार यह वृक्ष-पूजा दो रूपों में प्रतीत होती हैं—एक तो वृक्ष के अधिदेवता के रूप में, जैसा कि उपर्युक्त मुहर में लक्षित है, और दूसरे वृक्ष के वास्तविक रूप में जैसा कि हड़प्पा की कुछ मुहरों पर अंकित है। (दे० हिंदू सभ्यता, पृ० 40)

5. डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी के अनुसार हड़प्पा में प्राप्त मिट्टी की एक तख्ती पर साँप प्रदर्शित है। इसमें एक देवता के पास फन फैलाए नाग बैठा है और घुटनों के बल बैठे हुए लोग उसकी पूजा कर रहे हैं। मिट्टी की एक तावीज पर एक चित्र है जिसमें साँप को पूजा के तौर पर दूध पिलाया जा रहा है।[24] इससे प्रकट है कि सैंधव सभ्यता में नागपूजा का भी स्थान था। डॉ० मुकर्जी ने हड़प्पा, एलम एवं बेबिलोनिया में नाग-सम्प्रदाय के अस्तित्व का भी उल्लेख किया है।

6. मोहेंजोदड़ों की मुहरों पर बनी हुई आकृतियों के रूप में तथा सोफियानी मिट्टी या पत्थर की मूर्तियों के रूप में पशुओं की अनेक मूर्तियाँ मिली हैं। इनमे से कुछ के पूज्य होने की सम्भावना है, शेष खिलौने भी हो सकते हैं! डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी ने इन्हें आकृति-भेद से तीन कोटियों में विभक्त किया है। प्रथम कोटि में ऐसी कल्पनाजन्य मूर्तियाँ हैं, जिनके रुंड और मुंड में संगति का अभाव है, अर्थात् जो एकाधिक पशुओं के अंगों के मिश्रण से युक्त हैं। यथा—मानव मस्तक से युक्त अज-मूर्ति; मेढ़ा, हाथी और बैल के अंगों के संयोजन से बनी मूर्ति—(तीन सिरवाला दानव त्रिशिरा); अथवा अर्धनर-अर्धवृष आकृति का एक जंतु जो एकशृंग बाघ पर आक्रमण कर रहा है। (डॉ० मुकर्जी के अनुसार यह चौथी सहस्राब्दी के सुमेर के देवता 'इअबनी' या 'इउकिटु' से मिलता है); अथवा देवता व नागों की सींगों से अलंकृत मूर्तियाँ। दूसरी कोटि में एक शृंग या दो शृंग वाले ऐसे जंतु हैं, जिनके सामने धूपदानी जैसी कोई वस्तु है, अथवा किसी प्रकार की पूजा करते हुए पशु। और तीसरी कोटि में साँड़, भैंसा, गेंडा, बाघ, हाथी इत्यादि सामान्य कोटि के पशु-चित्र या मूर्तियाँ हैं।[25] इनमें से प्रथम कोटि और द्वितीय कोटि के पशुओं के पूज्य माने जाने की सम्भावना अधिक है।

7. श्री रमाप्रसाद चंदा (दे० मॉडर्न रिव्यू, 1935 ई०) ने सिंधु घाटी की लिपि के चिह्न क्रमांक 383 को खड़े हुए चतुर्भुजी देवता का प्रतिरूप माना है, जो उनके विचार से परवर्ती हिंदू देवताओं—ब्रह्मा, विष्णु, महेश—का पूर्वरूप हो सकता है।[26] इसी प्रकार की सम्भावना कुछ अन्य विद्वानों ने भी व्यक्त की है।[27]

8. हरिदत्त वेदालंकार के अनुसार सिंधु उपत्यका के अवशेषों में सूर्य-पूजा तथा स्वस्तिक के भी चिह्न पाए गए है।[28]

9. एक चित्र में एक पुरुष खड़ा है, जिसने अपने दोनों ओर दो बाघों की गर्दनें पकड़कर उन्हें इतना उठाया है कि उनके आगे के दोनों पैर अधर हो गए हैं। विद्वानों के अनुसार यह पुरुष-चित्र सुमेर के प्रसिद्ध वीर 'गिलगमेश' से तुलनीय है।

10. डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी के अनुसार यहाँ पर उपलब्ध पूजा के पत्थरों में सर्वाधिक संख्या रक्षा-वीटिका (रक्षा-सूत्र या तावीज) के रूप में धारण करने योग्य छोटी-छोटी मूर्तियों की है।[29]

मोहेंजोदड़ों के खँडहरों में जो भव्य व विशाल स्नानागार का अवशेष मिला है और जो 'स्नान-महाद्रोणी' मिली है, उनके आधार पर विद्वानों का अनुमान है कि जलस्नान द्वारा शुद्धि-लाभ धार्मिक विधि का अंग माना गया होगा। दूसरे यह कि जल की पवित्रता में भी इन लोगों की आस्था रही होगी।

यहाँ के उक्त स्नानागार में तीन और शायद कपड़े बदलने के लिए कोठरियाँ हैं। डॉ० धर्मानंद कौसाम्बीं के अनुसार "यह व्यवस्था उस संस्कार की अंग थी जिसमें पुरुष न केवल कुंड के पवित्र जल में स्नान करते थे बल्कि मातृदेवी का प्रतिनिधित्व करने वाली उन देवदासियों के साथ सम्भोग भी करते थे (जो अविवाहित रहती थीं)। ये देवदासियाँ दुर्ग के भवन-समूह में रहती थीं। सुमेर-बेबीलोन के इश्तर (देवी) के मंदिरों में ऐसी ही प्रथाएँ थीं, जिनमें बड़े परिवार की लड़कियों को भी भाग लेना पड़ता था।"[30]

पूजा-विधि

ख—1. सिंधु उपत्यका के मोहेंजोदड़ो तथा हड़प्पा—दोनों क्षेत्रों से अर्धनग्न नारियों की मिट्टी की अनेक मूर्तियाँ मिली हैं जिनके शरीर पर कटि-प्रदेश की मेखला से बँधा एक छोटा लहँगा, गले में हार और पंखे के आकार की कोई शिरोभूषा है। इनमें से कुछ मूर्तियों पर लगे धूएँ के दागों से अनुमान किया गया है कि इनकी पूजा में (इनके आगे) तेल का दीपक अथवा धूप जलाया जाता होगा।

मिट्टी के एक तावीज पर एक व्यक्ति ढोल बजाता हुआ और दूसरा व्यक्ति नाचता हुआ दिखाया गया है। इससे प्रतीत होता है कि तत्कालीन देवपूजा में संगीत और नृत्य का स्थान रहा होगा। तदुपरांत मोहेंजोदड़ो की प्रसिद्ध कांस्य-प्रतिमा; एक नर्तकी की प्रतिमा है जिसके आधार पर अनुमान किया गया है कि उस समय देवता के आगे नाचने-गानेवाली नर्तकियाँ या देवदासियाँ रहती होंगी।[31]

देवदासी प्रथा से सम्बन्धित डॉ० धर्मानंद कौसाम्बी का मंतव्य हम ऊपर उद्धृत कर चुके हैं। अन्य स्रोतों से भी इस धारणा को समर्थन मिलता है कि

देवदासी प्रथा का प्रादुर्भाव सर्वप्रथम बेबीलोन से हुआ; क्योंकि ऐसी नारियों के अस्तित्व का प्राचीनतम उल्लेख बेबीलोन के लेखों में हुआ है।[32] 'ईश्तर' देवी की उपासना के लिए समर्पित नारी को 'उखातु' कहा जाता था और उसे परम-पवित्र तथा समाज के लिए उपकारक मानकर बड़ा सम्मान दिया जाता था। वास्तव में बेबीलोनियन और यहूदी लोगों में तो वेश्या का साधारण नाम 'कदिस्तु' अथवा 'कदेसु' था जिसका अर्थ है 'पवित्र'। माता-पिता बड़ी खुशी से अपनी बेटियों को मंदिरों में सेवार्थ समर्पण कर देते थे, और इसमें अपना गौरव समझते थे।[33] वहाँ से धार्मिक वेश्यावृत्ति की यह प्रथा समस्त पश्चिम एशिया में फैल गई, यहाँ तक कि यूनान के कारिन्थ नगर की देवी—'एफ्रोडाइटे'—की उपासना में भी इसका समावेश हो गया।[34] अत: कहा जा सकता है कि सिंधु घाटी के निवासियों में इस प्रथा का प्रचलन रहा होगा, और उसका मूलस्रोत बेबीलोनिया व असीरिया की उक्त प्रथा ही रही होगी। ऐतिहासिक युग के बौद्ध-वाङ्मय में उल्लिखित 'नगरवधू' और 'जनपद-कल्याणी' तथा दक्षिण भारत के मंदिरों की 'देवदासी प्रथा' प्रस्तुत संदर्भ में अवलोक्य हैं।

योग साधना

सिंधु उपत्यका के अवशेषों में योग साधना के प्रचलन की ओर संकेत करने वाली मिट्टी और पत्थर की बनीं अनेक मूर्तियाँ हैं। मोहेंजोदड़ों से प्राप्त पद्मासन-आसीन योगीश्वर (या पशुपति) शिव की जैसी मूर्ति का विवरण हम दे चुके हैं। एक ऐसी मुहर भी है जिस पर अंकित मानव-मस्तक की दृष्टि नासाग्र पर केंद्रित है। सम्भव है यह किसी ध्यानस्थ योगमुद्रा का सूचक हो। मोहेंजोदड़ो से प्राप्त सोफयानी मिट्टी की एक मुहर पर योगासन-आसीन एक देवता की मूर्ति है, जिसके दोनों ओर दो नाग अंजलि मुद्रा में स्तुति कर रहे हैं। श्री रमाप्रसाद चंदा (दे० मॉडर्न रिव्यू, 1935 ई०) ने (मार्शलकृत मोहेंजोदड़ो के) फलक 12 और 118; आकृति 7 में निर्दिष्ट ऐसी छ: अन्य मुहरों की ओर ध्यानाकर्षित किया है जो "कायोत्सर्ग नामक योगासन में खड़े हुए देवताओं (अथवा साधकों) को सूचित करती हैं। यह मुद्रा, जैन योगियों की तपश्चर्या में विशेष रूप से मिलती है। जैसे—मथुरा संग्रहालय में स्थापित तीर्थंकर श्री ऋषभ देवता की मूर्ति में। मुहर संख्या एफ० जी० एच०, फलक दो पर अंकित देवमूर्ति में एक बैल ही बना है; सम्भव है यह ऋषभ (जिसका अर्थ बैल है और जो आदिनाथ का लक्षण है) का ही पूर्वरूप हो। यदि ऐसा हो तो शैवधर्म की तरह जैनधर्म का मूल भी ताम्रयुगीन सिंधु सभ्यता तक चला जाया है।[35]

परलोक में विश्वास

सिंधु उपत्यका के अवशेषों में कुछ 'अस्थि-कलश' भी हैं, जिनमें शव के अग्नि-दाह के बाद अवशिष्ट भस्म व अस्थि-अवशेषों के साथ मृत व्यक्ति को "दी हुई

बलि सहित छोटे-मोटे पात्र, या परलोक में पितरों के काम आने वाली कुछ सामग्री रखी हुई मिली है। ऐसे घड़े भी मिले हैं, जिनमें बलि देने की कुल्हिया, हँड़िया और मृतकोपयोगी अन्य वस्तुएँ (रखी) मिली हैं।" इस सबसे सिंधु घाटी के निवासियों के परलोक में विश्वास के संकेत मिलते हैं।

उल्लेख्य होगा कि सिंधु घाटी की सभ्यता के उपर्युक्त धार्मिक विश्वासों में उन तीनों दृष्टियों के बीज अथवा 'पूर्वरूप' विद्यमान हैं, जिन्हें परवर्ती विचारकों ने आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक अभिधान दिए हैं। यथा—सिंधु उपत्यका के अवशेषों-मूर्तियों में लक्षित योग साधना का सम्बन्ध आत्मदृष्टि से ही हो सकता है; कद्रूप या विचित्र आकृतियाँ अलौकिक होने से देवों की ही हो सकती हैं; इसलिए उन्हें आधिदैविक दृष्टि से पृथक नहीं किया जा सकता, और पेड़, पशु-पक्षियों की पूजा, मूर्ति-पूजा तथा भौतिक लाभ या स्वास्थ्य-लाभ हेतु स्वीकृत जादू-टोना, अभिचार आदि का सम्बन्ध आधिभौतिक दृष्टि से ही हो सकता है। फिर भी जैसा हम कह चुके हैं कि जब तक सिंधु घाटी में उपलब्ध लिपिबद्ध सामग्री को पढ़ा नहीं जा सकता, तब तक तत्कालीन धार्मिक विश्वासों से सम्बन्धित निष्कर्ष—चाहे वे कितने ही महत्त्वपूर्ण व तथ्यपरक क्यों न हों—रहेंगे अनुमान की कोटि में ही।

अनार्यत्व

जैसा हम देख चुके हैं, कुछ विद्वान सैंधव सभ्यता को आर्यों की ही सभ्यता मानने के पक्ष में हैं। किंतु मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा से प्राप्त अवशेषों के आधार पर, पुरातत्त्व विशेषज्ञों द्वारा, वहाँ के तत्कालीन निवासियों के धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक जीवन के विषय में जो आनुमानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है, उसे ऋग्वैदिक आर्यों की सभ्यता एवं संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि—आर्यों का जीवन ग्रामीण जीवन था; जबकि सैंधव सभ्यता का जीवन नागरिक जीवन था; आर्य ऊनी वस्त्र पहनते थे, जबकि सैंधव सभ्यता के लोग सूती वस्त्रों का भी उपयोग करते थे; आर्य लोहे के उपयोग से परिचित थे, जबकि सैंधव जन तांबा और काँसा का ही उपयोग जानते थे; आर्यों द्वारा प्रयुक्त शिरस्त्राण एवं कवच से सैंधव जन अपरिचित थे; आर्यों के भोजन में गेहूँ का स्थान प्रतीत नहीं होता, जबकि सैंधव जन इसका उपयोग करते थे; आर्यों के साहित्य में बाघ का उल्लेख नहीं है, हाथी का उल्लेख मात्र है; जबकि सैंध वजन इन दोनों से सुपरिचित थे, आर्यों के जीवन-साथी पशुओं में श्वान और अश्व अग्रगण्य थे, जबकि सिंधु घाटी के अवशेषों में इन दो पशुओं के अस्थि-पिंजर नहीं मिलते—(जो एकाध मिले भी हैं वे ऊपरी सतहों के हैं अतः उनका सम्बन्ध सिंधु सभ्यता के निर्माताओं से नहीं, संहर्ताओं (आर्यों) से जोड़ा गया है); आर्यों का धर्म मुख्य रूप से यज्ञ-धर्म था, सैंधव सभ्मता के खँडहरों में अग्निकुंड सूचक अवशेष नहीं मिले हैं। आर्य जिन 'शिश्नदेवा' से घृणा करते थे

उस शिश्न-पूजा के अवशेष सैंधव सभ्यता के अवशेषों में मिले हैं, आर्यजन योग से अपरिचित थे जबकि सैंधव जन उससे सुपरिचित थे, आर्यों की ब्राह्मी लिपि सिंधु सभ्यता की चित्र लिपि से भिन्न और प्राचीन है इत्यादि।

इससे विद्वानों का मंतव्य है कि सैंधव सभ्यता आर्येतर लोगों की सभ्यता थी और वह प्राग्वैदिक थी।

वैदिक वाङ्मय में भी कतिपय ऐसी प्रजाओं का निरूपण हुआ है जो धर्म-कर्म, आचार-विचार, रूप-रंग, भाषा-बोली आदि की दृष्टियों से वैदिकों से भिन्न थी और जिनके साथ उनके सतत संघर्ष भी होते रहे। आगे हम उन्हीं पर विचार करेंगे।

वैदिक वाङ्मय में वर्णित अनार्य-प्रजाएँ

एक महत्त्वपूर्ण वैदिक वाक्यांश इस प्रकार है—

विजानीह्यार्यान ये च दस्यवः × × ×॥[36]

अर्थात् 'आर्य और दस्यु को भली भाँति पृथक्-पृथक् जानो।' इस 'वेद वाक्य' से स्पष्ट है कि आर्य और दस्यु के मध्य समुचित भेद किए बिना अथवा उनके मध्य प्रवर्तमान पार्थक्य को भली भाँति समझे बिना वस्तुस्थिति के हार्द को नहीं पाया जा सकता। आर्यों के विषय में हम आगे विचार करेंगे, यहाँ दस्यु अर्थात् अनार्यों से भली भाँति परिचित हो लेना प्रासंगिक होगा। वैदिक वाङ्मय में अनार्य प्रजाओं का वर्णन किसी एक ही अभिधान के अंतर्गत न होकर असुर, व्रात्य, दस्यु, दास, पणि, पिशाच, शूद्र आदि अनेक नामों के अंतर्गत किया गया है। वैदिक परम्परा के ही परवर्ती साहित्य में ऐसी ही अथवा इन्हीं अथवा इनकी वंशज प्रजाओं का वर्णन म्लेच्छ, वृषल, शूद्र, दास, सात्वत, व्रात्य इत्यादि पचासों नामों के अंतर्गत किया गया है। यहाँ सभी का परिचय दिया जाना न तो सम्भव है न आवश्यक ही। अतः कतिपय मुख्य-मुख्य जातियों का परिचय ही पर्याप्त होगा।

क—1. असुर

नवीनतम शोधों के आधार पर 'असुर' शब्द 'अवेस्ता' के 'अहुर' शब्द का पर्यायरूप या रूपांतर मात्र है। 'अवेस्ता' में सर्वशक्तिमान देवतां के लिए 'अहुरमज़्द' शब्द प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद की अनेक उक्तियों में वरुण, मित्रा-वरुण, पूषन्, मरुत्, रुद्र, सोम, सवितृ एवं इन्द्रादि को भी 'असूर' कहा गया है। अर्थात् अनेक स्थानों पर 'असुर' शब्द का प्रयोग 'देवता' के अर्थ में हुआ है।[37]

संक्षेप में, 'ऋग्वेद' में (विशेषतः उसके प्रारम्भिक एवं मध्यवर्ती मंडलों में); 'असुर' शब्द का प्रयोग 'असुविशिष्ट' अर्थात् 'असुयुक्त' (प्राणवान्), बलवान्, शक्तिमान, दिव्य, महान् आदि अर्थों में हुआ है। एक समूचे सूक्त (ऋ०

3/55) में समस्त देवताओं का 'असुरत्व' अर्थात् बल, सामर्थ्य एक ही बताया गया है--'महद् देवानामसुरत्वमेकम्'। एक उक्ति, 7/65/2 में मित्रा-वरुण को 'ताहि देवानामसुरा' अर्थात् 'आप देवों के असुर-शिरोमणि—हैं' कहा गया है।

इसके विपरीत ऋग्वेद (8/85/9) में असुरों को 'अदेवा' (देवता-रहित) कहा गया है।[38] देवताओं और असुरों के विरोध को व्यक्त करते हुए अन्य उक्तियों में कहा गया है कि--देवों ने असुरों को विदीर्ण किया—(10/157/4); इंद्र ने मायावी असुर विप्रु के दुर्गों को ध्वस्त कर दिया—(10/138/3); इंद्र-विष्णु ने असुर वर्चिन् के एक लाख योद्धाओं को मार डाला—(7/99/5)। ऋग्वेद (10/53/4) में अग्निदेव एक ऐसे सूक्त की रचना करने का वचन देते हैं, जिसकी सहायता से देवता असुरों को विदीर्ण कर सकेंगे। एक अन्य उक्ति (2/30/4) में असुर योद्धाओं को जलते हुए पत्थरों से मार डालने के लिए बृहस्पति का स्तवन किया गया है। इंद्र (6/22/4), अग्नि (7/13/1) तथा सूर्य (10/170/2) को 'असुरहन्' कहा गया है।[39]

प्रथम कोटि की उक्तियों के 'असुर' और द्वितीय कोटि की उक्तियों के असुरों का पार्थक्य सुस्पष्ट है। परवर्ती उक्तियों में निर्दिष्ट असुरों की संख्या, समृद्धि एवं सैन्यबल उन्हें एक देव-विरोधी; आर्य-विरोधी प्रजाति सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं। ध्यातव्य यह है कि देवों और असुरों का विरोध ऋग्वेद के दसवें मंडल—जिसे परवर्ती रचना माना जाता है— में विशेष रूप से निरूपित हुआ है; और अथर्ववेद में तो 'असुर' शब्द का केवल एक ही अर्थ रह जाता है, और वह है— 'दानव'। अथर्ववेद के पृथ्वी सूक्त में कहा गया है कि – "यस्या पूर्वे पूर्व-जना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानम्यवर्तयन्॥ (अथर्व 12/1/5)। अर्थात् 'जिस पृथ्वी पर पुराने लोगों ने विभिन्न प्रकार के कार्य किए और जिस पर देवताओं ने असुरों पर आक्रमण किए थे।' अर्थात् असुर जन देवताओं से पहले यहाँ विद्यमान थे। अथर्ववेद की अन्य अनेक उक्तियाँ भी यही निर्दिष्ट करती हैं कि असुर पूर्व-जन हैं और देवता उत्तरजन है—

> यद्दो देवा असुरांस्त्वयाग्रे निरकुर्वत॥ अथर्व० 4/19/4
> येन देवा असुरान् प्राणुदंत॥ अथर्व० 9/2/17
> असुराणां दुहितासि सा देवानामसि स्वसा॥ वही० 6/100/3

बृहदारण्यकोपनिषद् (1/3/1) में भी कहा गया है कि—प्रजापति के दो पुत्र थे – देव और असुर। उनमें देव कम और असुर अधिक थे। इन लोकों में वे परस्पर द्वेष करने लगे। यज्ञ में उद्गीथ द्वारा देवों ने असुरों का अतिक्रमण करने का निश्चय किया।" अमरकोश (1/1/12) में 'असुर' शब्द के पर्यायवाची शब्दों की सूची में 'पूर्व देवाः' तथा 'सुरद्विप' शब्द सम्मिलित हैं। इन समस्त उल्लेखों से देवताओं की अपेक्षा असुरों का यहाँ पूर्ववर्ती होना, संख्या में अधिक

और देव-विरोधी होना आदि प्रकट है ।[40]

उल्लेख्य होगा कि ऋग्वेद के इंद्र-विष्णु ने वर्चिन और विप्रु प्रभृति असुरों को चाहे कितनी ही बार परास्त क्यों न किया हो, उनके धन और जन की चाहे जितनी हानि क्यों न की हो, परवर्तीकाल में ये न केवल सतत संघर्षशील दिखाई देते हैं अपितु अधिकाधिक शक्तिशाली बनते हुए दृष्टिगोचर होते हैं । तैत्तिरीय संहिता (2/3/7/1) में कहा गया है कि — ते देवा पराजिग्या असुराणां वैश्यमुपायन् ॥ अर्थात् जब देवता लोग पराजित हुए तो वे असुरों के विश, (अधीनस्थ जनसामान्य) हो गए । पुराणों में निरूपित देवासुर-संग्राम से इनके सतत संघर्षरत रहने की स्थिति तो प्रकट है ही, लक्ष्ययोग्य यह भी है कि इन संग्रामों में प्राथमिक विजय प्रायः असुरों की ही होती है । तत्पश्चात् किसी युक्ति द्वारा ही देवतागण उन्हें परास्त करने में सफल हो पाते हैं । अतः स्पष्ट है कि ये नामशेष नहीं हुए । पाणिनि ने जो 33 आयुधजीवी (लड़कर या लूट-मार कर जीविकोपार्जन करने वाले) संघ गिनाए हैं उनमें 'असुर' भी एक है ।[41]

असुरों से सम्बन्धित विशद और ऐतिहय महत्त्व की जानकारी तो हमें इस विषय को लेकर सम्पन्न हुए शोध-कार्यों से ही मिल सकती है ।[42] मेरा आशय यहाँ कुछ प्राथमिक सूचनाओं से ही परिपूर्ण हो जाएगा । एक तो यह कि डॉ० डी० आर० भंडारकर के कथनानुसार 'शतपथ ब्राह्मण' की एक उक्ति में असुरों की एक शाखा को 'प्राच्य' अभिधान दिया गया है, जो न केवल म्लेच्छ-भाषा-भाषी है, अपितु उसके अपने 'ब्राह्मण' (गुरु या धर्मोपदेशक) भी हैं ।[43] और इतना तो हमें ज्ञात ही है कि 'प्राच्य' मगध अथवा दणिक्ष बिहार का ही दूसरा नाम है ।[44] पुराण एवं महाभारत के अनुसार अंग, वंग, पुंड्र, सुह्न और कलिंग— असुर बालि के उन पाँच पुत्रों के नाम हैं, जिनके आधार पर पूर्वी भारत के क्षेत्रों का नामकरण हुआ था । इन समस्त प्रदेशों से निर्मित पूर्वी भारत को इसीलिए बालेय क्षेत्र और वहाँ के ब्राह्मणों को बालेय ब्राह्मण कहा जाता था ।[15] साथ ही शतपथ ब्राह्मण में जलप्लावन के बाद मनु द्वारा सम्पन्न यज्ञ के लिए असुर ब्राह्मणों के बुलाए जाने का उल्लेख हैं । दूसरे; जो अधिक महत्त्वपूर्ण भी है वह यह कि कालिकापुराण के अध्याय 36 से 41 तक में नरकासुर की जो कथा दी गई है उसके अनुसार त्रेतायुग में वाराह (विष्णु का अवतार) और पृथ्वी के संसर्ग से 'नरक' नामक बालक का जन्म हुआ । सोलह साल की अवस्था तक मिथिला-नरेश 'जनक' ने उसका पालन-पोषण किया । इसके बाद नारायण ने उसे 'कामरूप' का राजा बना दिया । ध्यान रहे कि महाभारत काल में इस 'कामरूप' का नाम 'प्राग्ज्योतिषपुर' था । अस्तु । कुछ समय तक 'नरक' ने अपने पिता नारायण के उपदेशानुसार कामाख्यादेवी की भक्ति करते हुए और ब्राह्मणों का सम्मान करते हुए ठीक ढंग से शासन किया, किंतु बाद में बाणासुर की संगति के प्रभाव से वह देव-द्वेषी और द्विज-द्वेषी हो गया । अतः 'असुर' कहलाया । कृष्णावतार लेकर नारायण ने उसका वध किया । उसके द्वारा बंदी

बनाई गई सोलह हजार कन्याओं को अपनी पत्नी बना लिया, और शासन उसके पुत्र भगदत्त को सौंप दिया। उसका पुत्र वज्रदत्त हुआ—ये दोनों महाभारत में युधिष्ठिर के सम-सामयिक बताए गए हैं। कहा गया है कि चार हजार वर्ष तक इनका वंशानुक्रम चलता रहा। ध्यातव्य होगा कि महाभारत के अनुसार भगदत्त पूर्वी भारत के योद्धा थे और उनकी सेना म्लेच्छों और किरातों से बनी हुई थी।

इस कथा में निर्दिष्ट जनक व नरक के सम्बन्ध के विषय में प्रो० डी० आर० मांकड़ ने एक विचारने योग्य टिप्पणी दी है। उनका कथन है कि जैसे 'जनक' एक राजवंश है, वैसे ही 'नरक' भी एक राजवंश है। वस्तुत: 'जनक' और 'नरक' एक ही शब्द के दो रूप हैं। जनक=जन+क; और नरक=नर+क। स्पष्ट है कि 'नरक' में 'जनक' शब्द के 'जन' का अनुवाद 'नर' कर लिया गया है। 'जन' और 'नर' का अर्थ एक ही है। अत: 'नरक' शब्द 'जनक' का पर्यायवाची (या रूपांतर मात्र) है। 'नरक' शब्द की यह व्युत्पत्ति (उपर्युक्त कथा के साक्ष्य में) डॉ० मांकड़ के अनुसार यह प्रमाणित करती है कि नरक राजा मूलत: 'जनक' राजवंश से सम्बद्ध था। 'जनक' राजवंश से पृथक् होने पर उसने 'नरक' नाम अपनाया। डॉ० मांकड़ के कथनानुसार 'हरगौरी सम्वाद' नामक पुस्तक की निम्नांकित उक्ति में, तांत्रिक शैली में, इस वंश के 24-25 राजाओं के नामों के प्रथमाक्षरों का उल्लेख है—

जसनागभरतामरजहायपञ्चिलाः।
अससोम्याम भुगोया सुरेशि नरकान्वये ॥[46]

अवलोक्य है कि सातवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी (ईसवी ?) के अंतराल में हुए ऐसे सात राजाओं के ताम्रपत्र मिले हैं, जिन्होंने इन ताम्रलेखों में स्वयं को उपर्युक्त कथा के नरक, भगदत्त एवं वज्रदत्त का वंशज बताया है। इन राजाओं के नाम व समय इस प्रकार हैं—(1) भास्कर वर्मा (सप्तम शताब्दी पूर्वार्द्ध), (2) हर्जर वर्मा—(नवम शताब्दी मध्यभाग), (3) वनमाल (हर्जर का पुत्र—नवम शताब्दी का मध्यभाग), (4) बलवर्मा (वनमाल का पौत्र—दशम शताब्दी का प्रथमांश), (5) रत्नपाल (एकादश शताब्दी का प्रथमांश)। (6) इन्द्रपाल—(रत्नपाल का पौत्र—एकादश शताब्दी का मध्यभाग), और (7) धर्मपाल (इंद्रपाल का पौत्र, द्वादश शताब्दी का प्रथमांश)।

वनमाल के ताम्रपत्र में भगदत्त के विषय में लिखा है कि—

सम्प्राप्तो भगदत्तः श्रीमत्प्राग्ज्योतिषाधिनाथस्वम्।
विनय भरेण ददेस्य प्राराधयदीश्वरं तपसा ॥ श्लोक 5 ॥

अर्थात्—भगदत्त ने श्रीसम्पन्न प्राग्ज्योतिष का आधिपत्य प्राप्त कर, वहाँ से आकर अत्यंत विनयपूर्वक तपश्चरण के द्वारा भगवान् महादेव की आराधना की थी। वज्रदत्त के सम्बन्ध में वनमाल के पौत्र बलवर्मा के ताम्रपत्र में लिखा है—

उपगतवति सुरलोकं तस्मिंस्तस्यानुजोऽभवद् भूमेः।
पतिरमलभक्तिरीशे यं प्राहुर्वज्रदत्त इति कवयः।।

अर्थात्—उनके (भगदत्त के) सुरलोक चले जाने पर उनका अनुज (उपर्युक्त कथा के अनुसार पुत्र) महादेव में विमल भक्ति रखने वाला राजा हुआ हैं; कवि लोग उसे वज्रदत्त के नाम से पुकारते है।"[47]

अवलोक्य है कि इन राजाओं ने अपने पूर्वजों के शिवभक्त होने की बात कही है, किंतु इससे, जैसा आगे स्पष्ट हो जाएगा, वस्तुस्थिति में कोई फर्क नहीं पड़ता।[48] इतना स्पष्ट है कि असुर, मात्र पौराणिक (या काल्पनिक) सृष्टि के प्राणी न होकर भारत भूमि पर बसने वाले मनुष्य थे जिनके अस्तित्व के प्रमाण प्रागैतिहासिक काल से आधुनिक युग तक मिल सकते हैं।

असुरों के धर्म-दर्शन एवं आचार-विचारों का परिचय आगामी पृष्ठों में प्रासंगिकता के अनुसार दिया जाएगा। यहाँ इतना उल्लेख्य होगा कि वैदिक वाङ्मय में 'असुर' शब्द के उपर्युक्त अर्थांतर के कारण पर विचार करते हुए, प्रो० मैकडोनल ने लिखा है कि जहाँ तक वैदिक देवताओं का सम्बन्ध है, इस (असुर) शब्द का सर्वाधिक, और विशेष रूप में, प्रयोग 'मित्र' अथवा 'मित्रा-वरुण' के लिए हुआ है और इस प्रयोग में 'असुर' शब्द द्वारा उनकी (मित्रा-वरुण की) 'माया' अथवा 'गुह्यशक्ति' को लक्ष्य (या निर्दिष्ट) किया गया है। अर्थात् 'असुर' शब्द का लक्षित अर्थ 'माया' है, जो गुह्यशक्ति का द्योतक है। निश्चय ही अपने हितू की 'माया' (गुह्यशक्ति) उपकारक सिद्ध होगी; और अहितू की अपकारक। 'असुर' (जिसका 'रहस्यमय व्यक्ति' अर्थ किया जा सकता है) की भाँति 'माया' का श्रेष्ठ आशय प्रमुखतः वरुण और मित्र से संयुक्त है, जबकि बुरा आशय दैत्यों के लिए सुरक्षित किया गया है।[49] 'असुर' शब्द की तरह ही 'मायिन्' शब्द भी प्रमुखरूप से 'वरुण' के लिए प्रयुक्त हुआ है। कहना न होगा कि किसी की 'माया' को शुभ या अशुभ आशययुक्त मानना एक सापेक्ष्य भाव है। 'असुर' शब्द का मूलभूत तात्पर्य होगा—ऐसा व्यक्ति जो रहस्यमय है, गुह्यशक्तियों से युक्त है अथवा जिसके आचार-विचार (अस्पष्ट या रहस्यात्मक हैं। जो असुर है, वह 'मायिन्' अथवा मायावी भी है और विशेषण रूप में असुर, आसुरी, मायावी आदि शब्दों का प्रयोग रहस्यमार्गी, धर्म-दर्शन के उपदेशकों एवं अनुयायियों के लिए हो सकता है।

छान्दोग्योपनिषद् की एक उक्ति (8/8/5) के अनुसार असुर दान नहीं देते थे, उसमें उनकी श्रद्धा नहीं थी, यज्ञ नहीं करते थे, यही उनका उपनिषद् (रहस्य अथवा रहस्यमय उपदेश) था। अर्थात् वे देवता (=वैदिक देवता), यज्ञ और ब्राह्मण में श्रद्धा नहीं रखते थे। कहना न होगा कि यदि देवता, यज्ञ, ब्राह्मण आदि में श्रद्धा न रखना ही असुरों का मुख्य उपनिषद् है, तो स्वयं उपनिषदकारों द्वारा उपदिष्ट परा, मधु, आदित्यादि विषयक समस्त विद्याएँ आसुरी विद्याएँ

सिद्ध होंगी; और उपनिषदों के आचार्य आसुरी विद्याओं के प्रचारक— इस पर हम आगे यथास्थान विचार करेंगे।

प्रासंगिक होने से उल्लेख्य होगा, 'सोरेंसन' कृत 'महाभारत कोश' में 'सुपार्श्व, चंद्र और सुमति'—तीन नाम ऐसे हैं जो जैन तीर्थंकरों के नामों से साम्य रखते हैं। महाभारत में 'सुपार्श्व' को 'कुपथ' नामक असुर का अंशावतार बताया गया है। 'चंद्र' को भी एक ऐसा ही अंशावतार बताया गया है। सुमति नामक असुर के विषय में कहा गया है कि वरुण प्रासाद में उसका स्थान दैत्यों और दानवों में था। इतना तो सर्वविदित ही है कि हिंदू पुराणों के अनुसार अर्हतों ने जैन धर्म का उपदेश असुर-प्रजा के लिए किया था।[50] जैनों के ब्राह्मण, यज्ञ एवं देवविरोधी होने में तो कोई संदेह है ही नहीं। इस प्रकार जैन धर्म के उपदेशक एवं अनुयायी पुराणों में प्रत्यक्ष अथवा परोक्षरूप से असुर कहे गए हैं।

बुद्ध भगवान के विषय में भागवत (1/3/24) में कहा गया कि—

ततः कलौ संप्रवृत्ते सम्मोहाय सुरद्विषाम्।
बुद्धो नाम्नो जिनसुतः कीकटे सु भविष्यति॥

अर्थात्—कलिकाल में देव द्वेषियों को सम्मोहित करने के हेतु से बुद्ध नाम के जिनसुत का जन्म कीकट देश (मगध) में होगा।

'गरुड़ पुराण' (1/2/34) में यही श्लोक अक्षरशः दिया गया है, और कहा गया है कि—वासुदेवः पुनर्बुद्ध सम्मोहाय सुरद्विषाम्॥ 'भागवत पुराण' की एक उक्ति में कहा गया है कि 'वादैर्विमोहयति यज्ञकृतोऽतदहीन।' अर्थात् वेद के अनधिकारियों को यज्ञ से दूर रखने के लिए आप उन्हें 'वाद' द्वारा मोहित करते हैं। महाभारत के 'भीष्मस्तवराज' में बुद्ध को 'मोहात्मा' बताकर नमस्कार किया गया है—

बुद्धरूपं समास्थाय बहुरूपं परायणः।
मोहयन् सर्वभूतानि तस्मै मोहात्मने नमः॥

यह हम आगे देखेंगे कि आर्य लोग स्वयं को देव-पुत्र और अपने ऋत्विजों को भू-सुर मानते हैं। उपर्युक्त उक्तियों में 'सुरद्विषाम्' का लक्षित अर्थ सुर-द्वेषी; अर्थात् अ-सुर ही है। 'मोहात्मने' का तात्पर्य भी 'मायिन्' या 'मायावी' होने से असुर ही होगा। अतः उपनिषत्कार, जैन एवं बौद्ध ब्राह्मण-पुराणों के अनुसार असुर-संस्कृति के अनुयायी कहे जा सकते हैं।

2. व्रात्य

ऋग्वेद (1/163/8) तथा अथर्ववेद (2/9/2) और तैति॰ संहिता (1/8/10/2) आदि में 'व्रात' शब्द का प्रयोग 'समूह' अथवा 'संघ' के अर्थ में

हुआ है, किंतु यह इसका एकमात्र अर्थ नहीं है। ऋग्वेद (6/75/9) में आर्य-योद्धाओं को 'व्रातसाह' कहा गया है, और यजुर्वेद (वाजसनेयि संहिता 30/8) तथा तैत्ति० ब्रा० (3/4/5/1) में दी गई, पुरुषमेध यज्ञ के उपयुक्त बलिप्राणियों की तालिका में 'व्रात' का समावेश हुआ है। स्पष्ट है कि आर्यों को उनका वध तक इष्ट था, अतः वे उनके विरोधी ही होंगे, सहधर्मी नहीं।

'व्रात्यों' का विशेष परिचय हमें अथर्ववेद, पंचविंश ब्राह्मण श्रौत सूत्रों और महाभारत तथा स्मृतियों में मिलता है। अथर्ववेद के पंद्रहवें मंडल में व्रात्य या 'एकव्रात्य' का जो वर्णन है, वह मुख्य रूप से इनकी विचारधारा एवं साधना-पद्धति से सम्बन्धित है। अतः उसका अवलोकन इनके सामान्य परिचय के बाद करना ही उचित होगा।

कात्यायन, आश्वलायन, शांख्यायन, आपस्तम्ब, बौधायन एवं लाट्यायन श्रौतसूत्रों में इनकी वेश-भूषा एवं रहन-सहन विषयक जो सूचनाएँ हैं उनमें से कुछ का उल्लेख यहाँ आवश्यक है। ये लोग ऊबड़-खाबड़ मार्ग पर भी चल सकें —ऐसा एक छोटा वाहन रखते थे जिसे 'विपथ' कहा जाता था। बिना डोरी और बाण का इनका धनुष होता था, जिसे 'जाह्लोड़ :' (गुलेल) कहते थे— (लाट्या० (8/6/7); सिर पर टेढ़ी पगड़ी (उष्णीष) बाँधते थे; काले अथवा लाल रंग के विशेष करके धारियों वाले कपड़े पहनते थे; इनके ऋत्विज लाल पगड़ी (लोहितोष्णीषः)[51] बाँधते थे। हाथ में एक 'प्रतोद' (दंड या चाबुक) रखते थे; चमड़े के जूते (उपानह) और चाँदी के आभूषण (निष्क) भी पहनते थे इत्यादि।[52]

इनकी आजीविका के विषय में पंचविंश ब्राह्मण (17/1-4) में कहा गया है कि ये लोग न खेती करते थे न व्यापार। पाणिनि ने (अष्टाध्यायी: 5/2/21) इन्हें 'उत्सेधजीवी' संघ बताया है। जिसके भाष्य में पंतजलि का विधान इस प्रकार है—

नाना जातीया अनियत वृत्तय उत्सेधजीविनः संघाव्राताः।
तेषां कर्म व्रातम्। व्रातेन कर्मणा जीवति व्रातीनः॥

तात्पर्य स्पष्ट है कि ये अनेक जातियों के थे, इनकी वृत्ति (जीविका) अनियत थी, मुख्य रूप से लोक-उत्पीड़न या लूट-मार करना ही इनकी वृत्ति थी अतः 'व्रातीन' (लुटेरे) थे।

'बोधायन श्रौत सूत्र' के अनुसार व्रात्य लोग भूत, प्रेत, डायन, जादू, टोना, आदि द्वारा जीविकोपार्जन करते थे।

वृत्ति-विषयक उक्त उल्लेखों से स्पष्ट होता है कि इनके समुदायों में वैश्य-वर्ग (कृषक एवं व्यापारी) या तो था ही नहीं, या फिर नगण्य रहा होगा। अतः वृत्ति के आधार पर गण्यमान्य वर्ग दो ही रहे होंगे जिन्हें 'अर्हंत' और 'योद्धा' कहा जाता था।[53] जो क्रमशः ब्राह्मण व क्षत्रियवत् रहे होंगे।

उल्लेखनीय यह है कि 'व्रात्यस्तोम' नामक याज्ञिक विधि द्वारा इन्हें शुद्ध या संस्कारित करके वर्ण-व्यवस्था में अपना लेने की विशेष व्यवस्था श्रौतसूत्रों में पाई जाती है। 'कात्यायन श्रौतसूत्र' में चार प्रकार के 'व्रात्यस्तोम' यज्ञों की विधि वर्णित है। प्रत्येक विधि एक-एक प्रकार के व्रात्यों के लिए है। इससे प्रकट है कि "व्रात्यों के समूह में कम से कम चार प्रकार की टोलियाँ होती थीं। पहला 'व्रात्यस्तोम' ऐसे लोगों के शुद्धिकरण के लिए है जो व्रात्यगणों में पूजा-पाठ जैसे धार्मिक कृत्य सम्पन्न कराते हों—(व्रात्यगणस्य ये सम्पादयेयु:—का० श्रौ० सू० 22/4/31)। दूसरा उनके लिए जिन्हें कात्यायन ने 'निंदित और नृशंस' कहा है—(वही: 22/4/8); तीसरा उनके लिए जिन्हें कात्यायन ने 'कनिष्ठ' कहा है—(वही: 22/4/5); और चौथा उनके लिए जिन्हें कात्यायन 'ज्येष्ठ' या 'स्थविर' कहते हैं - (वही: 22/ 4/6-7)।[54] कहना न होगा कि व्रात्यों के इस वर्गीकरण में उनकी अनियत वृत्ति और वर्णव्यवस्था जैसी किसी व्यवस्था का अभाव स्पष्टत: लक्षित है। 'वात्यस्तोम' विधि के बाद इनके क्षत्रियों (जिन्हें 'वृषल' कहा जाता था), को आर्यवर्ण के क्षत्रियों और इनके ब्राह्मणों (जिन्हं 'मागध' अथवा 'ब्रह्मबंधु' कहा जाता था) को आर्यवर्ण के ब्राह्मणों में समाहित कर लिया जाता था, शेष को वैश्य एवं शूद्रों में ले लिया जाता था, और तब इनसे अपेक्षा की जाती थी कि वे 'त्रैविद्यवृत्ति' को अपनाएँ।[55]

'पंचविंश ब्राह्मण' में भी 'व्रात्यों' का एक चतुर्विध वर्गीकरण दिया गया है जिसके अनुसार व्राति-व्यवस्था में रहने से पतित हुए ऐसे व्रात्यों को जो न ब्रह्मचर्य (ब्राह्मणों के आचार) का पालन करते हैं, न खेती या व्यापार करते है, उन्हें 'हीन' अथवा 'कनिष्ठ' कहते हैं। इनके दो उपभेद है - 'अर्हंत' एवं 'योद्धा'।[56] वस्तुतः यही इनका प्रमुख वर्ग है।

व्रात्यों के दूसरे वर्ग को 'गर-गिर' कहा गया है। इसके लक्षणों के विषय में मतभेद पाया जाता है। एक मत के अनुसार ये किसी पाप-कर्म के फलस्वरूप जाति से च्युत हुए लोग थे; तो दूसरे के अनुसार ये 'विष-पान' या मादक द्रव्यों का सेवन करने वाले होते थे। हो सकता है कि परवर्ती शैव योगसाधकों की तरह मादक द्रव्यों का सेवन इनकी साधना-पद्धति या धार्मिक आस्था से सम्बद्ध रहा हो। 'पंचविंश ब्राह्मण' (17/1/9) में कहा गया है कि ये लोग 'अ-दीक्षित होकर भी दीक्षितवाच' (संस्कृत) बोल लेते थे। "ये लोग उच्चारण में सरल को उच्चारण में कठिन कहते थे।" संस्कृत भाषा से इनके अभिज्ञ होने से सम्बन्धित इस विधान के आधार पर कुछ विद्वान इन्हें अनार्य मानने के पक्ष में नहीं हैं, किंतु दूसरे विद्वानों के अनुसार यह विधान उनकी उस अवस्था का द्योतक है, जब वे संस्कृत सीख ही रहे थे; और इसलिए उसके संयुक्ताक्षरों के उच्चारण में कठिनाई का अनुभव करते थे। मुझे दूसरा विचार वस्तुस्थिति के अधिक सुसंगत प्रतीत होता है।

'व्रात्यों' के तृतीय वग को 'शम-नीच-मेंढ्' अभिधान दिया गया है। लाट्या-

यन श्रौत सूत्र' (8/6/4) के अनुसार "स्थाविरादिपेतप्रजनना ये ते शम-नीचा-मेढ्र ।।" अर्थात् वृद्धावस्था के कारण जिनकी प्रजनन-शक्ति समाप्त हो गई हो वे (नपुंसक) 'शम-नीच-मेढ्र' हैं । किंतु यह व्याख्या उपयुक्त प्रतीत नहीं होती, क्योंकि यह योगसाधना द्वारा सिद्ध ऐसी अवस्था भी है, जो युवावस्था में भी सम्भव है । कात्यायन ने सम्भवतः इन्हीं को 'ज्येष्ठ' एवं 'स्थविर' कहा है ।

अब यदि प्रथम वर्ग के दो उपभेदों को पृथक्-पृथक् न मानें, तो इस वर्गीकरण में तीन ही वर्ग हुए, न कि चार—जैसा कि ग्रंथकार का कथन है । अतः डॉ० डी० आर० भंडारकर का अनुमान है कि इनके साधक वर्ग में 'ऊर्ध्वमेढ्र' साधकों का भी एक वर्ग रहा होगा । परवर्ती शैव योगियों के—कड़ालिंग और ऊर्ध्वलिंग नामक दो भेद इसी प्रकार के हैं । तान्त्रिकों के दक्षिणाचार एवं वामाचार का भेद भी इस संदर्भ में उल्लेख्य है । अतः समग्र स्थिति को देखते हुए डॉ० भंडारकर का अनुमान असंगत नहीं प्रतीत होता ।

'सायण' ने व्रात्यों को उपनयनादि संस्कारों से रहित यज्ञादि वैदिक कृत्यों के लिए अनधिकारी और सामान्यतः पतित बताया है ।[57] महाभारत (उद्योगपर्व 35/46/48) में इन्हें (व्रात्यों को) आग लगानेवाले, विष देनेवाले, मदिरा बेचने वाले, सूदखोर (कुसीद), मित्रघाती, भ्रूणहा, व्यभिचारी इत्यादि कहा गया है । 'बौधायन धर्मसूत्र' (1/9/15) में इन्हें वर्णसंकर कहा गया है ।[58] मनु (10/20) ने इन्हें सावित्री परिभ्रष्ट और उपनयनादि संस्कारों से रहित द्विज (त्रैवर्णिक) कहा है । इसका तात्पर्य यह हुआ कि इस परवर्ती अवस्था में 'व्रात्य' का प्रमुख लक्षण अनार्यजाति न रहकर आर्यसंस्कारों से विहीन होना हो गया है । अर्थात् आर्य व अनार्य का भेद यहाँ लुप्तप्राय हो गया है; अब जो भेद है वह संस्कारी व असंस्कारी होने का है ।

जैसा हम आगे देखेंगे अथर्ववेद के 'व्रात्य सूक्त' में (वैदिक देवता) 'मित्र' को 'एकव्रात्य' (इस नाम का सर्वोपरि देवता, या ब्रह्म या साधक) का, 'पूर्व दिशा' का 'मागध' कहा गया है । अधिकांश विद्वान 'मागध' शब्द का अर्थ 'मागध ब्राह्मण' या 'मागध देशीय ब्रह्मबंधु' करते हैं; और मगध प्रदेश के रहनेवालों को 'एकव्रात्य' के उपासक होने से व्रात्य मानते हैं । अर्थात् वे व्रात्यों का सम्बन्ध पूर्वी प्रदेशों से जोड़ते हैं । किंतु डॉ० डी० आर० भंडारकर ने शंका की है कि ऋग्वैदिक काल में मगध को कीकट देश और ब्राह्मणकाल में प्राच्य कहते थे । 'मगध' नाम उक्त दोनों का परवर्ती है; अतः निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि अथर्ववेद का 'मागध' शब्द मागध का ही अर्थबोध कराता हो । उल्लेख्य होगा कि अथर्ववेद की एक अन्य उक्ति (5/12/4) में 'तक्म' नामक ज्वर को गंधार, मूजवन, अंग और मगध की ओर भेजे जाने का स्पष्ट उल्लेख है । इस उक्ति में 'अंग' के साथ हुआ 'मगध' का उल्लेख उसकी दिशा और क्षेत्र का स्पष्ट निर्देश कर देता है । एतद्देशीय निवासियों के प्रति ब्राह्मणों का द्वेषभाव, उनके अनार्यत्व की सूचना भी दे देता है । अतः 'एकव्रात्य' के साधक 'मागध' का मागध प्रदेश से सम्बद्ध होना अप्रासंगिक

प्रतीत नहीं होता। अन्य (परवर्ती) स्रोतों से भी कुछ ऐसे ही संकेत मिलते हैं। 'महाभारत' (द्रोण पर्व 93/44) में दरद और दार्वाभिसार के निवासियों को 'व्रात्य' कहा गया है। सम्भव है यह उत्तर-पश्चिम दिशा में उनकी प्राचीनतम स्थिति से सम्बन्धित कथन हो, और आर्यों से पराजित होकर ये कबाइली जातियाँ देश के पूर्वी भू भाग में पुनः संगठित हुई हों।

जैसा हम देख चुके है, 'मनु' ने 'व्रात्य' का अर्थ उपनयनादि संस्काररहित द्विजवर्ण किया है, और कहा है कि (मनुस्मृति 10/22) उपनयनरहित व्रात्य क्षत्रिय और सवर्णा स्त्री से उत्पन्न संतान 'झल्ल' कहलाती है, जो भिन्न-भिन्न स्थानों पर, अर्थात्, स्थान-भेदों से, झल्ल, मल्ल, निच्छिवि (या लिच्छिवि), नट, करण, खश एवं द्रविड़ नामों से जानी जाती है। सूत, वैदेह, मागध, चांडाल, आयोगव, क्षत्रा आदि को वर्णसंकर कहा गया है — (मनु० 10/26,30)। 'महाभारत' में विहार के अंग-क्षेत्र के निवासी 'अधिरथ' को 'सूत' और उसके पुत्र कर्ण को 'सुत-पुत्र' कहा गया है। लिच्छिवि वैशाली के निवासी हैं, वैदेह मिथिला-निवासी हैं, मागध मगध के निवासी हैं, और मल्ल उत्तर प्रदेश के गाजीपुर, बलिया तथा गोरखपुर के निवासी हैं। इस प्रकार मनुस्मृति के अनुसार पूर्वी प्रदेशों की मुख्य-मुख्य सभी प्रजाएँ 'व्रात्य' कही जा सकती हैं। प्रो० मैकडोनल के अनुसार इनका खानावदोश जीवन कुछ ऐसा संकेत करता है कि ये सरस्वती के उस पार स्थित पश्चिमी जाति के लोग थे। किंतु इनका पूर्व में होना भी उतना ही सम्भव है। यह सम्भावना इस तथ्य द्वारा पुष्ट होती है कि सूत्रों में एक ब्राह्मण द्वारा (व्रात्य स्तोम विधि के अनुसार) मगध के निवासी 'व्रात्य' के व्यक्तिगत उपकरणों का दान ग्रहण करने का संदर्भ है।[59]

डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य का सुचिंतित मंतव्य है कि व्रात्यस्तोम विधि द्वारा आर्यों ने व्रात्यों को इतनी अधिक संख्या में अपनाया कि वे स्वयं अल्पसंख्यक हो गये। ये व्रात्य देश के पूर्वीप्रदेशों में संघीयरूप में संगठित हुए, और इन्होंने एक ऐसी बौद्धिक चेतना को जन्म दिया जिसने अब तक प्रस्थापित समस्त परम्पराओं का विरोध किया। बुद्ध, महावीर तथा छोटे-मोटे अन्य अनेक रूढ़ि-विरोधी विचारक इसी बौद्धिक उत्तेजना की फलश्रुति थे—इसी के संदेशवाहक थे।

बुद्ध की जन्मभूमि 'कपिलवस्तु' रूढ़िग्रस्त धर्म (वर्णाश्रमी धर्म) के प्रभाव क्षेत्र से बाहर तो थी ही; चतुर्दिक ऐसी बस्तियों से घिरी हुई थी जिन्हें व्रात्यों की विविध जातियों ने बसाया था। यह साक्ष्य हमें यह सोचने को प्रेरित करता है कि जिस परिवार में बुद्ध का जन्म हुआ था, वह वस्तुतः व्रात्य परिवार था, प्राचीन साहित्य में भ्रांति से ही उसे क्षत्रिय कहा गया है। परम्परागत अर्थ में एक 'द्विज' के दश संस्कारों का होना आवश्यक है। बुद्ध के उपलब्ध जीवन-चरित्र में हमें न कवल इन दश-संस्कारों का उल्लेख नहीं मिलता, अपितु व्रात्य और द्विज का अंतर स्पष्ट करने वाले 'उपनयन' जैसे एक महत्त्वपूर्ण संस्कार का भी कोई उल्लेख

नहीं मिलता। इस विमर्श से इसी तथ्य का संकेत मिलता है, कि बुद्ध के एक-संघीय-व्रात्य होने की ही सर्वाधिक सम्भावना है, यद्यपि पश्चात्कालीन लेखकों ने उन्हें क्षत्रिय समझ लिया है।[60]

डॉ॰ भट्टाचार्य आगे लिखते हैं कि "यह तथ्य, कि बुद्ध, एक संघीय व्रात्य थे, उनके उपदेश, सिद्धांत (या मत) और उनके जीवन-चरित्र को समझने में बड़ा महत्वपूर्ण है; यहाँ तक कि उनका चिंतन और व्रात्य-दर्शन उनके समस्त आचार-विचार में खोजा जा सकता है।"[61]

इस विषय में, जैसा हम आगे देखेंगे, कोई संदेह नहीं हैं कि वर्ण-व्यवस्था विरोधी जातियाँ देश के पूर्वी प्रांतों में संसृष्ट हुई और उन्होंने संघर्ष का मार्ग अपनाया। महाभारत (सभापर्व 13/55) में अंधक-वृष्णि संघ के विषय में कृष्ण का कथन है कि – अष्टादश सहस्राणि व्रातानां संति न : कुले ।। अर्थात् हमारे कुल संगठन में अभी तक अट्ठारह हजार व्रात्य हैं। इससे स्पष्ट है कि 'संघीय व्यवस्था' अपना लेने पर भी ऐसे अनेक कबीले रहे, जिन्होंने अपनी व्रात्यस्थिति (आयुधजीवी, धुमंत् कबीलाई जीवन-पद्धति) अथवा 'व्राति-व्यवस्था' का परित्याग नहीं किया था। दूसरे यह कि 'व्रात्यस्तोम' विधि द्वारा व्रात्यों को अपनाने, त्रैविद्य वृत्ति—व्यवस्था में सुस्थिर जीवन व्यतीत करने का उन्हें अवसर प्रदान करने से सम्बन्धित ब्राह्मणों के रचनात्मक प्रयत्नों को आंशिक सफलता ही मिल सकी।

3. दस्यु

ऋग्वेद (1/51/5 आदि) में इंद्र को 'दस्यु-हत्य' और (ऋ॰ 1/100/12 आदि में) 'दस्यु-हन्' के विरुद दिए गए हैं। 'दस्यु' शब्द अनेकार्थी शब्द है। स्वामी दयानंद सरस्वती, पं॰ रघुनंदन शर्मा प्रभृति अनेक भारतीय विद्वान् 'दस्यु' शब्द का अर्थ 'मेघ' करते हैं। कुछ रूपकात्मक उक्तियों में इसकी संगति भी ठीक-ठीक बैठ जाती है। किंतु कुछ उक्तियाँ ऐसी भी हैं जहाँ खींच-तान किए बिना यह अर्थ नहीं लिया जा सकता। यथा—

विजानीह्यार्यान्ये च दस्यवो बर्हिष्मते रंधया शासदव्रतान ।।[62]

इस उक्ति में आर्य और दस्यु को पृथक्-पृथक् जानने और पवित्र कर्मों से रहित (दस्युओं) को दंडित करके याज्ञिकों को सौंप देने का स्पष्ट विधान है। ऋग्वेद (3/38/9) में कहा गया है कि इंद्र ने दस्युओं को मारकर आर्य वर्ण की रक्षा की—"हत्वी दस्यून् प्रार्यं वर्णभावत्।" ऋग्वेद (6/18/3) में कहा गया है कि हे इंद्र, दस्युओं का शीघ्र ही दमन करके तुमने (उनके) पुत्र दासादिकों को आर्यों को सौंप दिया है। इंद्र और अग्नि द्वारा दस्युओं के वध से सम्बन्धित ऐसी अनेक उक्तियाँ उदधृत की जा सकती हैं, जिनसे लक्षित होता है कि दस्यु आर्यों के शत्रु थे। यथा—

ऋग्वेद (6/31/4) में कहा गया है कि हे इंद्र ! तुम दस्यु शम्बर के सैकड़ों नगरों को नष्ट कर दो—'त्वंशतान्यव शम्बरस्य पुरो जधन्या प्रतीनि दस्योः ॥' एक अन्य उक्ति (1/103/3) में इंद्र को दस्युओं के नगरों 'दासीः पुरः'—को नष्ट करने वाला और आर्यों की शक्ति तथा यश को बढ़ानेवाला कहा गया है।[63] ऋग्वेद (2/20/8) में इंद्र द्वारा करगत वज्र से दस्युओं के वध और उनके 'अयोमय' नगरों को नष्ट करनेवाला कहा गया है। 'अयोमय' शब्द का अर्थ 'लोह-निर्मित' अथवा 'सुदृढ़' किया गया है। एक अन्य उक्ति (ऋ० 1/33/4) में कहा गया है कि इंद्र ने 'वृत्त' नामक अत्यन्त धनी दस्यु को उसके अनुचरों सहित अकेले ही मार डाला, ये यज्ञ-विरोधी थे, और लड़ने के लिए आए थे। इन उक्तियों से दस्युओं का सशक्त, धनी और सुरक्षित नागरिक होना प्रकट होता है। साथ ही यह कि वे यज्ञ-विरोधी थे, और लड़ने-मरने को तत्पर रहते थे।

ऋग्वेद की एक उक्ति (4/16/9) में दस्यु को मायावान् एवं अब्रह्मा कहा गया है—मायावान् अब्रह्मा दस्युः।' दूसरी उक्ति (1/117/3) में दस्यु और उसकी माया को 'अशिव' (या अहितकर) बताया गया है—'मिनंता दास्योर-शिवस्य माया।' इससे प्रकट है कि इन लोगों के पास कुछ रहस्यात्मक शक्तियाँ भी रही होंगी, अथवा ये लोग छल-कपट में कुछ अधिक प्रवीण रहे होंगे। ये लोग न तो यज्ञ को मानते थे न वेद को। ऋग्वेद (5/7/10) में 'दस्यून्' को 'अपृणतः' विशेषण दिया गया है— आदग्ने अपृणतोऽत्रिः सासत् सद्दस्यून।' सायणाचार्य ने 'अपृणतः' का अर्थ 'अददतः'—अर्थात्—'दान न देनेवाला' किया है। व्रात्यों के लिए प्रयुक्त कुछ अन्य विशेषण इस प्रकार हैं—'अन्य-व्रत' (अवैदिक व्रतों का पालन करने वाले); अमानुषः (मनु-प्रोक्त आदर्शों, धर्मों को न मानने वाले), अयज्वान (यज्ञ न करनेवाले); अदेवयु (वैदिक देवों को न पूजनेवाले);[64] अकर्मन् (कर्मकांड वा कर्मानुष्ठान से रहित), अमंतु (मननरहित, विवेक-शून्य),[65] अनास (चपटीनाक, या बिना नाक वाले) मृध्रवाच (अस्पष्ट अथवा हिंसक भाषा बोलने वाले);[66] अव्रत—(वैदिक व्रतों को न मानने वाले ऋ० 1/51/8); अब्रह्मन (वैदिक यज्ञों व ऋत्विजों को न माननेवाले—ऋ० 4/16/9); देव-पीयु (देव-निंदक अथर्व० 12/1/37); अक्रतुन (निर्बुद्धि); ग्रथिनः—(अज्ञान से बँधे); अ-यज्ञान् (यज्ञानुष्ठानरहित); अश्रद्धान् —(श्रद्धा-शून्य); अवृधान (हानिकारक)[67] कृष्णामपत्वचाम् (श्याम रंग - ऋ० 9/41/1-2)—इत्यादि।

उक्त निषेधात्मक एवं निंदा-सूचक विशेषणों की शृंखला से आर्यों और दस्युओं के मध्य शारीरिक रचना, रंग-रूप, बोली-भाषा एवं धार्मिक आचार-विचार, विषयक पार्थक्य भलीभाँति रेखांकित हो जाता है।

ऐतरेय ब्राह्मण (7/13-18) एवं शाखायन श्रौतसूत्र (15/20/1) में, दस्युओं की उत्पत्ति-विषयक एक रोचक, किंतु महत्त्वपूर्ण आख्यान पाया जाता है जिसके अनुसार हरिश्चंद्र ने अपने पुत्र रोहित की बलि वरुण को देने का

वचन दे दिया था। रोहित ने शुनःशेप (कुत्ते की पुंछ) नामक व्यक्ति—जिसका पैतृक नाम आजगर्ति था—को बलि-प्राणी के रूप में क्रय किया। यथासमय उसे बलिस्तम्भ से बाँध दिया गया, किंतु उसने विश्वामित्र द्वारा सुझाए गए सूक्तों (दे० ऋग्वेद 1/24) में देवों से प्रार्थना की, और वह बच गया। विश्वामित्र ने उसे 'देवरात' नाम देकर अपना पुत्र (शिष्य) बना लिया, और अपने अन्य सौ पुत्रों में उसे सबसे मुख्य करार दिया। उनकी इस आज्ञा को पचास पुत्रों (शिष्यों ?) ने नहीं माना; जिन्हें शाप देकर विश्वामित्र ने दक्षिण के जंगलों में निर्वासित कर दिया। ये ही आंध्र, पुंड्र, शबर, पुलिंद, मूतिब आदि (जातियों) के रूप में दस्यु हो गए।[68]

'विश्वामित्रा दस्यूनां भूमिष्ठा' का तात्पर्य यह हुआ कि दस्युओं में विश्वामित्र के अनुयायियों का बाहुल्य है। दूसरे, यहाँ अवलोक्य यह होगा कि इस कथन में 'दस्यु' शब्द स्वयं किसी विशेष 'जाति' का नहीं अपितु कुछ सामान्य लक्षणों वाली अनेक जातियों के समूह का बोधक है।

'निघंटु' के अनुसार 'दस्यु' शब्द क्षयार्थक 'दस' धातु से बना है और उसकी निरुक्ति -- 'दस्युर्दस्यतेः क्षयार्थादुपदस्यत्यस्मिन् रसा उपदासयति कर्माणि' है। अर्थात् जो रसों का क्षय करता है, और यज्ञों को (कर्मों को) नष्ट करता है वही दस्यु है। 'दस्यु' शब्द की व्युत्पत्ति एवं अर्थ के सम्बन्ध में यास्काचार्य का मंतव्य भी इसी प्रकार का है दस्युः दस्यतेः क्षयार्थात् उपदस्यन्त्यस्मिन् रसाः; उपदासयति कर्माणि।' अर्थात् दस्यु वह है जिसमें रसों का क्षय होता है, और जो (यज्ञादि) उत्तम कर्मों का नाश कर डालता है।' कहना न होगा उक्त निरुक्ति और निर्वचन के अनुसार किया गया तात्पर्य-निर्णय पश्चात्कालीन है, किंतु पश्चात्कालीन साहित्य में 'दस्यु' शब्द का प्रयोग मुख्यतः इसी अर्थ में हुआ देखा जाता है।

मनु० (10/45) के अनुसार चार वर्णों से बाहर की जातियाँ – फिर चाहे वे म्लेच्छ भाषा-भाषी हों या आर्य-भाषा-भाषी 'दस्यु' कही जाती हैं। अर्थात् आर्य और 'दस्यु' का अंतर अब प्रजातीय न रहकर चातुवर्ण और अवर्ण होने का रह गया। तदुपरांत मनु का कथन है कि पौण्ड्र, औण्ड्र, द्रविड़, काम्बोज, यवन, शक, पारद, पह्लव, चीन, किरात, दरद और खश—ये सब मूलतः क्षत्रिय जातियाँ हैं, किंतु वैदिक क्रियाओं (संस्कारादि) और ब्राह्मणों के सम्पर्क के त्याग के कारण वे शनैः-शनैः 'वृषलत्व' को प्राप्त हो गई हैं (मनु० 10/43-45)। यद्यपि वृषलत्व का प्रमुख लक्षण इन उक्तियों में समाहित है, तथापि पृथक् रूप से 'वृषल' शब्द का निर्वचन देते हुए मनु का कथन है कि—'वृष' का अर्थ समस्त मनोकामनाओं को पूर्ण करने वाला भगवान 'धर्म' है; और जो उसका अतिक्रमण (ह्यलम्) करता है -- (अथवा जिसमें से उसका लोप हो जाता है); उसे 'वृषल' कहते हैं। (मनु० 8/16)

कुल मिलाकर देखने पर मनु के कथन का तात्पर्य यही निकलता है कि

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य; ये तीन वर्ण द्विज हैं, चौथा (वर्ण) शूद्र है; जो एकज है । पाँचवाँ कोई वर्ण (ब्राह्मण धर्म की वर्ण-व्यवस्था के अंतर्गत) नहीं हैं । (मनु० 10/4) जो भी कोई इस व्यवस्था से बाहर है, वह आर्य भाषा बोले या म्लेच्छ-भाषा, वस्तुतः दस्यु है । (मनु० 10/45) और क्षात्र धर्म से विमुख हुए औण्ड्र, पौण्ड्र, शकादि की संज्ञा 'वृषल' है—जिसका अर्थ स्व-कर्म विमुख 'क्षत्रिय' है । किंतु मनुस्मृति (8/16) की अपनी टीका में मेधातिथि का कथन है कि मिथ्या-दर्शी (पाखंडी, नास्तिक) ब्राह्मण को भी 'वृषल' ही माना जाना चाहिए और उसे पितृ-श्राद्ध में भोजन के लिए आमंत्रित न करना चाहिए । कौटिल्य का विधान है कि जो (वर्णाश्रमी द्विज) शाक्य—(बौद्ध भिक्षुओं); आजीविकों आदि 'वृषल परिव्राजकों को यज्ञादि देव-कर्मों में और श्रद्धादि पितृकर्मों में भोजन कराए उसे सौपण का दंड दिया जाय ।' (अर्थशास्त्र 3/20) तदुपरांत बुद्ध के शिष्यों में अनेक ब्राह्मण भी थे, जो मुख्य रूप से पूर्वीप्रदेशों के ही थे । इससे प्रतीत होता है कि मनु द्वारा प्रस्तावित उपर्युक्त निर्वचन के आधार पर 'वृषल' शब्द मात्रधर्मभ्रष्ट क्षत्रिय वर्ग का द्योतक न रहकर उस 'दस्यु समाज' का भी द्योतक हो गया जिसमें उनके अपने ढंग के ब्राह्मणादि सभी वर्गों (या वर्णों) के लोग थे ।

इस प्रकार 'वृषल' शब्द एक ओर उन लोगों के लिए प्रयुक्त हुआ जिन्हें उनकी युद्ध कर सकने की क्षमता या लड़ाकू प्रकृति के आधार पर वर्ण-व्यवस्था के अनुसार राजन्य या क्षत्रिय कहा जा सकता था । विशाखदत्त के 'मुद्रा-राक्षस' नामक नाटक में चाणक्य ने चंद्रगुप्त मौर्य को इसी अर्थ में 'वृषल' कहा है । दूसरे, पतंजलि ने इन उक्तियों में ब्राह्मणों एवं वृषलों के पारस्परिक विरोध या विपरीत गुण-धर्मों को प्रकट किया है—

> ब्राह्मणा इमे वृषला इमे ।। महाभाष्य 1/252/17-18
> ब्राह्मणस्य शुक्लाः (दंताः); वृषलस्य कृष्णा (दंताः)।। 1/413/10
> ब्राह्मणस्य उच्चैः (आसनं); वृषलस्य नीचैरिति ।। 1/419/9

डॉ० डी० आर० भंडारकार[69] का मंतव्य है कि इन उक्तियों में वृषल और ब्राह्मण का विरोध दर्शाया गया है; अर्थात् वृषल को केवल ब्राह्मण का विरुद्ध-धर्मा बताया गया है, क्षत्रिय व वैश्यादि का नहीं । इससे ऐसा प्रतीत होता है कि ब्राह्मण शब्द यहाँ किसी विशेष जाति का द्योतक न होकर ब्राह्मणों के नेतृत्व में वैदिक कर्मों को सम्पन्न करने वाले समूचे समाज का द्योतक है, और जो इस व्यवस्था से बाहर हैं वे सब 'वृषल' हैं । अर्थात् 'वर्ण-व्यवस्था' से भिन्न समाज की संज्ञा 'वृषल' है । इससे एक ऐसे सामाजिक तथा धार्मिक संगठन का बोध होता है, जिसमें ब्राह्मणों की वर्ण-व्यवस्था के समानांतर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र-चार वर्ग तो होते थे; किंतु वैदिक क्रियाओं को न करने के कारण वे ब्राह्मण-धर्मियों में समाहित नहीं थे । उपर्युक्त संदर्भों के परिप्रेक्ष्य में डॉ० भंडारकर का

मंतव्य सत्य से बहुत दूर प्रतीत नहीं होता । यहाँ स्मरणीय होगा कि व्रात्यों की धुमंतू कबीलाई जीवन-पद्धति को 'व्राति' कहा गया था, दस्युओं ने जो व्यवस्था अपनाई उसे सम्भवत: राजनैतिक दृष्टि से संघीय व्यवस्था और सामाजिक एवं धार्मिक दृष्टि से 'वृषल' संज्ञा दी गई हो ।

ध्यातव्य होगा कि 'वसल सुत्त' (सुत्त निपात 1/7) में बुद्ध भगवान को अग्नि-भारद्वाज नामक ब्राह्मण ने निरादरपूर्ण ढंग से मुँडक, श्रमण एवं 'वृषल' कहकर सम्बोधित किया है। अर्थशास्त्र (कौटिल्य) के उपर्युक्त कथन में भी शाक्यों 'बौद्ध भिक्षुओं' को 'वृषल परिव्राजक' कहा गया है । इससे सिद्ध है कि बुद्ध और उनके अनुयायी 'वृषल' कहे गए । भगवान् महावीर की स्थिति भगवान् बुद्ध की स्थिति से किसी प्रकार भिन्न नहीं है । डॉ० डी० आर० भंडारकर ने कृष्ण के गुरु घोर आंगिरस (दे० छांदोग्य उप० 3/17/4-6) तथा अथर्ववेद के रचयिता आंगिरस की एकता, और प्रथम जैन तीर्थंकर वृषभदेव तथा घोर आंगिरस के सत्य, अहिंसा, मैत्री आदि विषयक उपदेश की समता तथा जैन तीर्थंकर नैमिनाथ और कृष्ण के मध्य पैतृकभाई के सम्बन्ध की मान्यता; और ऋग्वेद (8/85/13-15) और विविध पुराणों में निरूपित कृष्ण व इंद्र के वैमनस्य आदि संदर्भों के परिप्रेक्ष्य में यह प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया है कि - जिस संस्कृति से कृष्ण सम्बद्ध थे, उसे 'वैदिक' कहने की अपेक्षा 'वृषलक' कहना अधिक उपयुक्त होगा ।[70] हम यह देख चुके हैं कि महाभारत (सभापर्व 13/55) में कृष्ण ने अपने अंधक वृष्णि-संघ में अठारह हजार व्रात्यों के होने की बात कही है । जिस 'सात्वत' जाति से वैष्णव पांचरात्रों का सम्बन्ध जोड़ा जाता है, उसे पाणिनि ने अंधक-वृष्णि संघ के अंतर्गत एक छोटे आयुधजीवी संघ के रूप में दर्शाया है । मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रों में भी इस सात्वत जाति की गणना वर्णसंकर अथवा शूद्रों के अंतर्गत ही की गई है । अत: अन्य स्रोतों से भी डॉ० भंडाकर के उपर्युक्त मंतव्य का समर्थन होता है ।

4. दास

'ऋग्वेद' की एक उक्ति (3/34/9) में कहा गया है कि इंद्र ने दासवर्ण को हटा दिया, 'यो दास वर्णमधरं गुहाक ।' एक अन्य उक्ति (2/20/7) में इंद्र को 'वृत्रहा' एवं 'पुरंदर' बताते हुए कहा गया है कि उसने 'कृष्णयोनीः दासीः' प्रजा को नष्ट कर दिया—'स वृत्रहा इंद्रः कृष्णयोनीः पुरंदरो दासी रैरयद्धि ॥' एक अन्य उक्ति (2/11/4) में 'दासीविशः' पद प्रयुक्त हुआ है जिसका तात्पर्य 'दास' नामक 'विश' (वंश, कबीला या गण) प्रजाति लिया गया है । इन उक्तियों के आधार पर विद्वानों का अनुमान है कि 'दास' श्याम वर्ण (रंग) की किसी आर्येतर जाति के लोग थे ।

ऋग्वेद (1/103/3) में दासों के नगरों (दासीः पुरः) का वर्णन है ।[71] एक अन्य उक्ति (6/20/10) में इनके पुरों (नगरों या दुर्गों) को 'शारदीः' कहा गया

है।[72] एक उक्ति के अनुसार इंद्र ने शम्बर नामक दास के निन्यानवे (ऋग्वेद 22/9 5); तो दूसरी उक्ति (2/14/6) के अनुसार सौ पुरों को नष्ट किया और 'पुरंदर' (पुर-भंजक) उपाधि पाई। एक उक्ति में कहा गया है कि नमुचि नामक दास ने स्त्रियों से युद्ध करवाया किंतु ऐसी दुर्बल सेना मेरा (इंद्र का) क्या कर सकती थी - स्त्रियोहि दास आयुधानि चक्रे किमाकरन्नबला अस्य सेनाः ॥ (ऋग्वेद 5/30/9)। एक अन्य उक्ति के अनुसार अग्नि ने शत्रुओं की मैदानी और पर्वतीय -- दोनों क्षेत्रों की सम्पत्ति को जीत लिया और दास तथा आर्य (दासों की संगति से पतित हुए आर्य) दोनों के द्वारा किए जाने वाले उपद्रवों को शांत कर दिया - 'समज्जया पर्वत्या वसूनि दासा वृत्राण्यार्य जिगेथ ॥' इन उक्तियों से फलित होता है कि दास धन-धान्य सम्पन्न, लड़ाकू और सुरक्षित दुर्गों में रहनेवाले नागरिक थे।

ऋग्वेद (6/25/2) में कहा गया है कि कर्मों को नष्ट करनेवाली प्रजा (दासी) को यज्ञ करनेवाले यजमानों के लिए नष्ट कर दो - 'विषूचीरार्याय विशोऽव तारीर्दासीः ॥' एक अन्य उक्ति (ऋग्वेद 10/102/3) में कहा गया है कि हमारे यज्ञादि शुभ कार्यों में बाधा डालने वालों -- फिर चाहे वे दास हों अथवा आर्य -- का नाश कर दो—'दासस्य व मघवन्नार्यस्य वा सनुतर्यवया वधम् ॥' प्रकारांतर से अन्य भी अनेक उक्तियों में यही बात कही गई है।[73] ऋग्वेद (6/22/10) में कहा गया है कि एक राजा के रूप में हे इंद्र ! तुम धार्मिक कार्यों में विघ्न डालने वाले दासों को भी कर्म-परायण -- आर्य बना देते हो— 'वृत्रादासानि नाहुषणि आर्याणि अकरो।' तात्पर्य यह है कि ऋग्वेद की अनेक उक्तियों में 'दास' का प्रमुख लक्षण, यज्ञादि क्रिया विरोधी, धर्म-कर्म नाशक, धर्म-कर्म हीन - इत्यदि होना है। इस प्रकार की उक्तियों के भाष्य में सायण ने भी दास एवं 'दासीः' आदि शब्दों का अर्थ - उपक्षपयितुः, कर्मणामुपक्षपयित्रीः शत्रु प्रजाः; कर्महीनानि मनुष्य जातानि, कर्मविरोधिनी एवं असुर या आसुरी प्रजा - किया है। त्सिमर एवं मेयर के अनुसार 'दास' शब्द का प्रारम्भिक अर्थ 'शत्रु' था। निरुक्तकार (2/17) ने भी 'दास' शब्द की व्युत्पत्ति (दस्यु शब्द की ही तरह) उस 'दस्' धातु से मानी है जिसके अर्थ-- पृथक् करना, हानि पहुँचाना आदि हैं, और इसका निर्वचन-- 'दासः दस्यते। उपदासयति कर्माणि ॥' --- के रूप में किया है।

दूसरी ओर ऋग्वेद (1/92/8) में कहा गया है कि हे ऊषः देवते ! मैं उस धन को कैसे प्राप्त करूँ जो 'दास प्रगर्व' अर्थात्—भृत्यों के समूह से युक्त है। 'ऋग्वेद' की एक अन्य उक्ति (7/86/7) में कहा गया है कि जिस प्रकार दास अपने स्वामी की परिचर्या करता है, उसी प्रकार मैं दानादि गुणों से युक्त 'वरुण' की निष्पाप होकर सेवा करता हूँ।[74] अतः विद्वानों का अनुमान है कि युद्ध में बंदी बनाए गए दासों को भृत्य (नौकर या गुलाम) के रूप में रख लिया जाता होगा। अथर्ववेद तथा वैदिकेतर संस्कृत साहित्य में दास, दासी, दासीपुत्र आदि

शब्दों से यही तात्पर्य निकलता है।

प्रमुख दासों के रूप में नमुचि, शम्बर, शुष्ण, चुमुरि, धुनि, पिप्रु तथा इलीबिश के नाम उल्लेख्य हैं। इनमें से शुष्ण एवं इलीबिश नाम आर्येतर माने गए हैं। शम्बर और पिप्रु को दास भी कहा गया है, दस्यु भी। अतः जहाँ तक इंद्र और अश्विनों के प्रति वैर-भाव और यज्ञादि कर्मों के विरोध का प्रश्न है दास और दस्यु दोनों की प्रवृत्ति में साम्य है, किंतु दोनों सर्वथा एक या पर्यायवाची नहीं हैं। संगति-दोष से कर्म-पथ-विमुख हुए आर्य और दास प्रायः एक ही प्रकार के शत्रु माने गए हैं। ऋग्वेद (4/30/17-18) के अनुसार तुर्वश एवं यदु— दोनों दास थे; फिर भी इंद्र ने उनकी सहायता की, इसके विपरीत 'अर्ण' और 'चित्ररथ्'— दोनों आर्य थे किंतु इंद्र ने उन्हें सरयू[75] के उस पार मार डाला। एक राजा के रूप में इंद्र का एक प्रमुख कार्य दासों को आर्य बनाना बताया गया है। कहा जाता है कि दाशराज्ञ-युद्ध (युद्धों) में आर्यों का नेतृत्व करनेवाले दिवोदास और (उसका पौत्र) सुदास[76] मूलतः दास थे, जिन्हें आर्यों ने अपना लिया था। ऋग्वेद के अनेक सूक्तों के प्रणेता के रूप में उल्लिखित 'कवष' (ऋषि) को एत० ब्रा० (2/19/1) में 'कवष एलूष' नाम देकर दासी-पुत्र (दास्याः पुत्रः) कहा गया है। ऋग्वेद (10/86/19) में दास और आर्य के भेद को इंद्रकृत कहा गया है। 'दासवर्ण' एवं 'दासविश' के समानान्तर 'दस्युवर्ण' एवं 'दस्युविश' शब्द नहीं मिलते, तथा इंद्र को 'दस्युहत्य', 'दस्युघ्ना' जैसी उपाधियाँ अनेक बार दी गई हैं, 'दासहत्य' जैसी कोई उपाधि नहीं दी गई। इन समस्त उल्लेखों से एक तो दास और दस्यु का पार्थक्य प्रकट होता है, दूसरी ओर यह कि दस्युओं की अपेक्षा 'दास' आर्यों के अधिक निकट रहे होंगे।

5. शूद्र

इस (शूद्र) शब्द का प्रयोग, ऋग्वेद में, मात्र एक बार 'पुरुष सूक्त' में हुआ है। जिसमें कहा गया है कि— ब्राह्मण उसका (पुरुष का) मुख हैं; क्षत्रिय भुजाएँ हैं; वैश्य उसके उरू हैं और 'शूद्र' उसके पैरों से उत्पन्न हुए हैं।[77] सामान्य रूप से यह माना जाता है ऋग्वेद की इस उक्ति में आर्यों की समाज-व्यवस्था के चार वर्णों का क्रमागत उल्लेख है। किंतु ध्यातव्य यह है कि एक तो ऋग्वेद का दशवाँ मंडल परवर्ती काल की रचना माना गया है। दूसरे, आर्यों की तत्कालीन समाज-व्यवस्था की द्योतक ऋग्वेद की अन्य उक्तियों में दो वर्गों (या वर्णों) का ही उल्लेख प्रमुख रूप से हुआ है-- (1) ब्राह्मण और (2) राजन्य (या क्षत्रिय)। शेष आर्य प्रजा को 'विश्' कहा गया है। इस प्रकार आर्यों की तत्कालीन समाज-व्यवस्था में कुल तीन ही वर्ण—ब्राह्मण, राजन्य और विश्— रहे होंगे। सम्भवतः इसीलिए तत्कालीन आर्य प्रजा को 'त्रैवर्णिक' कहा जाता था। अतः आर्यों की तत्कालीन समाज-व्यवस्था में 'शूद्र' नामक चतुर्थ वर्ण या तो था ही नहीं, यदि रहा भी हो तो उसका अंतर्भाव 'विश्' के अंतर्गत हो जाता था। उसका पृथक्

अस्तित्व प्रामाणित नहीं होता। अतएव 'शूद्र' से सम्बन्धित किसी निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए ऋग्वेद का मात्र एक बार का यह उल्लेख अपर्याप्त है।

'ऋग्वेद' के 'पुरुष सूक्त' में उल्लिखित उक्त चार वर्णों के नामों के विषय में डॉ॰ डी॰ आर॰ भंडारकर का मंतव्य है कि—'पुरुष सूक्त' का वर्ण्य विषय समाज-व्यवस्था न होकर 'विराट् पुरुष'— अर्थात् 'जो कुछ भूत में था और भविष्य में होगा' वह सब हैं। 'पुरुष' समूचे विश्व का पर्याय है। मानव समुदाय इस विश्वरूप पुरुष का एक अंग है, जो ब्राह्मणादि चार अंगों में विभाजित है। इनमें से ब्राह्मण, राजन्य एवं वैश्य आर्यप्रजा के संयोजक अथवा द्योतक हैं, और चतुर्थ शूद्रवर्ग शेष मानव जाति का द्योतक है। इस सूक्त में 'पुरुष' के केवल मुख, बाहु, उरू एवं पैरों का ही रूपात्मक वर्णन नहीं है, उसके अन्य शारीरिक अंगों का निरूपण भी इसी प्रकार किया गया है। यथा—चन्द्र उसके (पुरुष के) मनस् से उत्पन्न हुआ, सूर्य उसके नेत्र से, वायु उसके श्वास से इत्यादि। इससे प्रकट है कि ऋग्वेद के रचना-काल तक, यह सिद्ध करने के लिए हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है कि 'शूद्र' आर्यों की समाज-व्यवस्था के आंतरिक भाग के रूप में मान्य थे।

तदुपरांत ऋग्वेद (8/35/16-18) में अश्विन से अपने ब्राह्मणों, क्षत्रियों एवं 'विश' को सशक्त एवं समृद्ध बनाने की प्रार्थना की गई है। 'शूद्र' का उल्लेख या समावेश उसमें नहीं है। इन समस्त संदर्भों से यही तात्पर्य निकलता है कि पुरुष सूक्त की उपर्युक्त उक्ति में शूद्र का समावेश समूचे मानव समुदाय के निरूपण के उद्देश्य से ही किया गया है, और ब्राह्मण, राजन्य एवं वैश्य आर्य-प्रजा के द्योतक हैं; 'शूद्र' अन् आर्य मानव—समुदाय का।[78]

प्रस्तुत लेखक के अनुसार डॉ॰ भंडारकर का उक्त मंतव्य सत्य के निकट है, जिसकी पुष्टि अन्य स्रोतों से भी होती है। अथर्ववेद एक वेद के रूप में भले बाद में मान्य हुआ; 'अथर्वांगिरसः' नाम से उसका अस्तित्व पर्याप्त प्राचीन है। 'शूद्र' के प्रजातीय रूप को प्रकट करने वाली अथर्ववेद की कुछ उक्तियाँ इस प्रकार हैं—

1. तयाहं सर्वं पश्यामि यश्च शूद्र : उत् आर्यः ।। 4/20/4
   अर्थात्—इससे मैं प्रत्येक को देख रहा हूँ— उसे जो शूद्र है, तथा उसे जो आर्य है।
2. तेनाहं सर्वंपश्यामि उत् शूद्रमुतार्यम् ।। 4/10/8
   अर्थात्—उसके साथ मैं प्रत्येक को देख रहा हूँ— चाहे शूद्र हो या आर्य हो।
3. प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजषु मा कृणु प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्रे उतार्ये ।। 19/62/1

   अर्थात्— मुझे आप देवों का प्रिय बनाएँ, राजाओं का प्रिय बनाएँ मैं ऐसे प्रत्येक का प्रिय बनूँ जो मेरी ओर देखे; फिर चाहे वह शूद्र हो या आर्य।

4. प्रियं मा दर्भ कृणु ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च ॥ 19/32/8

अर्थात्—हे दर्भ ! आप मुझे ब्राह्मण, राजन्य, शूद्र और आर्य - सभी का प्रिय बनाओ।

प्रकट है कि इन उक्तियों में 'शूद्र' की तुलना ब्राह्मण, राजन्य और वेश्य से न करके सीधे आर्यवर्ग (प्रजाति) से की गई है। अर्थात् इन उक्तियों में शूद्र और आर्य की समानांतर स्थिति का स्पष्ट संकेत मिलता है। डॉ० डी० आर० भंडारकर के अनुसार अथर्ववेद की इन उक्तियों में शूद्र और आर्य के मध्य वैसा ही विरोध दर्शाया गया है जैसा कि ऋग्वेद में दास (या दस्यु) और आर्य का। अर्थात् आर्यों के विरोध को लेकर ऋग्वेद में दास या दस्यु का जो स्थान या स्थिति है, अथर्ववेद में वही स्थान या स्थिति शूद्र की है। अर्थात् ऋग्वेद का दास या दस्यु और अथर्ववेद का शूद्र एकार्थी हैं। अतः इसमें कोई संदेह नहीं है कि शूद्र शब्द उन विदेशियों अथवा आदिवासियों का द्योतक है जो प्रजाति और धर्म की दृष्टि से आर्यों से भिन्न थे।[79]

उल्लेख्य होगा कि पाणिनि के एक सूत्र (1/2/72) की वार्तिक में कहा गया है कि सामान्य और विशेष का अर्थबोध कराने वाले दो शब्दों से द्वंद्व समास नहीं बनता। इस वार्तिक के प्रतिपाद्य के समर्थन में पंतजलि ने जो उदाहरण प्रस्तुत किए हैं; उनमें से एक है—'शूद्राभीरम्।' कहना न होगा कि इस असंगत द्वंद्व समास का 'शूद्र' शब्द उस 'सामान्य' अर्थ का द्योतक है जिसके 'विशेष' का निर्देश 'आभीर' से होता हो। अर्थात् 'आभीर' जिसका एक विशिष्ट रूप है 'शूद्र' उसी का सामान्य (विशाल, बृहद् या अंगी) रूप है; अत सामान्य (शूद्र) में विशेष (आभीर) का अंतर्भाव है। इसी संदर्भ में पंतजलि की एक उक्ति है—'आभीरा जात्यंतराणि' अर्थात् आभीर एक शूद्रेतर जाति है। पंतजलि के इन कथनों से स्पष्ट है कि शूद्र एक प्रजाति अथवा अनेक प्रजातियों का एक समूह था; जिसमें आभीरादि का भी समावेश होता था। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल का कथन है कि—'उत्तरी सिंध के पूर्वी भाग में शूद्र और उसके पास ही आभीरों का बड़ा राज्य था जिसके कारण 'शूद्राभीरं' यह नामों का जोड़ा प्रचलित हुआ।'[80]

स्वयं पाणिनि के एक सूत्र (1/4/10) में शूद्रों के दो भेद निर्दिष्ट हैं—

(1) अनिर्वसित और (2) निर्वसित।[81] पतंजलि ने इस सूत्र पर जो भाष्य लिखा है, उससे शुंगकालीन शूद्रों की स्थिति का परिचय मिलता है। जिसमें से यहाँ इतना ही प्रासंगिक होगा कि अनिर्वसित शूद्र वे हैं जो आर्यावर्त की भौगोलिक सीमाओं से बाहर रहते हैं—अर्थात्—वे जो उक्त व्यवस्था के अंतर्गत नहीं हैं। उल्लेख्य है कि इन निरवसित शूद्रों के उदाहरण के रूप में पतंजलि ने किष्किंध, गब्दिक (अथवा गंधिक), शक, यवन और शौर्य तथा क्रौंच का नामोल्लेख किया है। डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार पाणिनि के 'सिध्वादिगण' (4/3/93) में भी किष्किंधा और गब्दिका—दोनों का पाठ है, किष्किंधा गोरखपुर

जिले का खुखुंदो और गब्दिका चम्बा का गद्दी प्रदेश था। ये दोनों उस समय आर्यावर्त की सीमा से बाहर माने जाते थे।[82] 'शक' सिन्थियन थे और 'यवन' ग्रीक; शेष का ठीक-ठीक पता नहीं चलता। किंतु इस विषय में संदेह नहीं रहता कि सब आर्येतर प्रजातियों के लोग थे।

डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार पतंजलि के समय वस्तुतः आर्य और शूद्र की समस्या, आर्य एवं मुंडा, निषाद, शबर आदि जातियों को एक सामाजिक तंत्र के अंतर्गत लाने की समस्या थी। दूसरी ओर शक-यवन सदृश विदेशी शूद्रों को भी भारतीय समाज में स्थान देने की समस्या थी।··· एक तीसरे प्रकार के वे लोग थे जो लूट-मारकर जीविका चलानेवाले लगभग जंगली हालत में आर्यावर्त की सीमाओं पर प्राचीन काल से बसे थे। ऐसे उत्सेध-जीवी लोग पाणिनि के काल में व्रात (या व्रात्य) कहलाते थे।···चातुर्वर्ण्य संगठन के अनुसार व्रात्यों की स्थिति व्रात्यस्तोम करने तक शूद्रवत् मानी जाती थी।[83]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के शूद्र ही एक मात्र शूद्र नहीं रहे; आर्यावर्त की सीमाओं से बाहर बसनेवाली त्रैवार्णिकेतर - अनार्य प्रजातियों की भी एक संज्ञा शूद्र थी। अतः यह अनुमान असंगत न होगा कि वैदिकोत्तर वाङ्मय की जिन उक्तियों में शूद्रों के साथ सौहार्दपूर्ण व्यवहार करने, उनका सम्मान करने और उनके अभ्युदय की कामना अथवा प्रार्थना के विधान हैं, वे चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के शूद्रों से सम्बद्ध हैं; और जिन उक्तियों में उन्हें यथा कामवध्य, कहा गया, उनके स्वत्व को नकारा गया है, नरमेध यज्ञ के बलि-प्राणियों की तालिका में उनका समावेश किया गया है, त्रयीविद्या के उपदेश को सुन लेने पर जिनके कान में रांगा डाल देने का विधान किया गया है, वे उक्त आर्येतर प्रजातियों (के शूद्रों) से सम्बद्ध हैं। मेरा अनुमान है कि नारद, विदुर, व्यास, वाल्मीकि प्रभृति ऐसे ऋषि-मुनि, जिन्होंने अपने तपोबल से ब्राह्मणत्व अर्जित किया है; ऐसी लड़ाकू जातियाँ जिन्हें एक ओर क्षत्रिय और दूसरी ओर वृषल, म्लेच्छ, वर्णसंकर इत्यादि कहा गया है;[84] तथा नाग, नंद, मौर्य आदि ऐसे राजवंश जिन्हें शूद्र कहा गया है;[85] वस्तुतः उक्त त्रैवार्णिकेतर— अनार्य—प्रजातियों से सम्बद्ध रहे होंगे। ध्यातव्य यह भी होगा कि वृषल (धर्मद्विष); म्लेच्छ (प्राकृत भाषा-भाषी), वर्णसंकर (वर्णों का मिश्रण, अपृथग्भाव) एवं शूद्र (त्रैवार्णिकेतर) आदि शब्द उस समय उन गर्हित अर्थों में प्रयुक्त न होते होंगे, जिनमें बाद में होने लगे।

इससे प्रकट है कि जो 'शूद्र' ब्राह्मणों (त्रैवार्णिक प्रजा) के निकट (अथवा सहधर्मी) थे, वे उनके प्रीतिपात्र और उनके गुणीजन सम्मान पात्र बने, किंतु जो उनसे दूर (विधर्मी या अधर्मी) रहे, वे निन्द्यन और वध्य बने रहे।

पणि

'ऋग्वेद' की एक उक्ति (7/6/3) में 'पणियों को —'अक्रतून ग्रथिनः मृध्रवाचः

अश्रद्धान् पणीन् ।।' कहा गया है, और दस्युओं के रूप में सम्बोधित किया गया है। ऋग्वेद की (1/83/4 आदि) अन्य अनेक उक्तियों में देवों से पणिओं पर आक्रमण करने की प्रार्थना की गई है, और कहा गया है कि इनको मारकर पराजित किया गया था। एक उक्ति (6/51/14) में भेड़िया सदृश अतिभक्षक पणि को मार डालने के लिए सोम का आह्वान किया गया है। एक अन्य उक्ति (5/34/5-7) में पणियों को आर्यों का 'दास' कहा गया है, किंतु यहाँ 'दास' शब्द का अर्थ भर्त्य (या गुलाम) न होकर 'शत्रु' होता है। ऋग्वेद (6/53/5) में देवों से कहा गया है कि वे पणियों का हृदय विदीर्ण कर दें, और उन्हें हमारे वश में ला दें। ऋग्वेद (1/93/4) में कहा गया है कि इंद्र और अग्नि ने पणियों की गायों को छीन लिया। ऋषि गृत्समद (2/24/6) के कथननुसार अत्यंत गुह्य स्थान में छिपाए गए पणियों के धन को आर्य ज्ञानियों ने प्राप्त किया। ऋग्वेद (5/34/7) में कहा गया है कि इंद्र पणियों के अन्न को मुषने (चुराने) के लिए जाते हैं और उसे अपने यजमानों में बाँट देते हैं। एक अन्य उक्ति (ऋग्वेद 6/53/3) में पूषा से प्रार्थना की गई है कि वे अदित्सु (न देने की इच्छा-वाले) को दान देने के लिए प्रेरित करें; और पणि के मन को मृदु करें। एक उक्ति (ऋग्वेद 7/66/10) में उन्हें बेकनाट (सूदखोर ?) कहा गया है। कुछ अन्य उक्तियों में दस्युओं की तरह पणियों को भी आकाश की गायों एवं जलों को रोक रखने वाले कहा गया है— (ऋग्वेद 1/32/11 आदि)। ऋग्वेद (7/56/30) में इनके पराक्रम (या शौर्य) को इंद्र के पराक्रम से और (ऋग्वेद 1/151/9 में) मित्र-वरुण के पराक्रम से निम्नकोटि का कहा गया है। ऋग्वेद (7/45/31-33) में गंगा के कछार की ऊँची भूमि पर बसनेवाले, पणियों के प्रमुख बृबु का उल्लेख है, जिसने बृहस्पति के पुत्र शंयु को एक सहस्र गायें दान में दीं। यहाँ उसकी दानशीलता की प्रशस्ति भी की गई है। शांखायन श्रौतसूक्त (16/11/11) के अनुसार ऐसा दान भरद्वाज ने ग्रहण किया था।

उपर्युक्त उक्तियों से प्रकट है कि पणि धन-धान्यसम्पन्न थे, असंस्कृत भाषा बोलते थे; इंद्र, अग्नि व ब्राह्मण में उनकी श्रद्धा न थी, वे आक्रामक चाहे न रहे हों किंतु स्वरक्षाहेतु लड़ने के लिए तत्पर रहते थे। आर्यों की दृष्टि मुख्यरूप से उनके धनधान्य पर केंद्रित थी, जिसे वे उनसे छीनकर, चुराकर और दान लेकर येनकेन प्रकारेण प्राप्त करना चाहते थे।

'रौथ' के अनुसार 'पणि' शब्द की व्युत्पत्ति 'पण्' (विनिमय) धातु से हुई है। 'राजनिघंटु' में लिखा है कि - 'वैश्यस्तु व्यवहर्ता विट् वार्तिकः पणिको वणिक् ।।' अर्थात्—व्यवहर्ता, विट, वार्तिक, पणिक् और वणिक् वैश्य के ही भेद हैं। कहना न होगा कि 'पणिक्' शब्द ऋग्वेद के 'पणि' से अभिन्न है। अविनाशचंद्र दास[86] एवं राहुल सांकृत्यायन[87] प्रभृति के अनुसार परवर्ती 'वणिक्' शब्द की व्युत्पति ऋग्वैदिक 'पणि' और संस्कृत के 'पणिक्' शब्द से हुई है। संस्कृत शब्द 'पणय' (विक्रेय वस्तुएँ), आपण या विपणि (बाजार) और 'पणन' (बेचना) आदि का

स्रोत भी 'पणि' शब्द है। चंद्र चक्रवर्ती[88] के अनुसार 'तमिल' का 'पणम' (धन) शब्द 'पणि' का ही रूपांतर है। इस सबसे यह अनुमान किया जाता है कि ऋग्वैदिक 'पणि' ही परवर्ती वणिकों के अग्रज या पूर्वज हैं।

अविनाशचंद्र दास, पं० रघुनंदन शर्मा प्रभृति ऋग्वैदिक पणियों को मूलतः आर्य ही मानते हैं, किंतु पाश्चात्य विद्वान् और उनके मतों को ग्राह्य रखनेवाले भारतीय विद्वान् इन्हें आर्येतर प्रजाति मानते हैं। दिवोदास द्वारा पणियों, पारावतों और बृसय के विरुद्ध किए गए युद्ध का उल्लेख (ऋग्वेद 6/61/11) है। राहुल सांकृत्यायन के अनुसार 'पणि' आर्यों के पुराने तथा दक्षिण दिशा के शत्रुओं में से थे, जिनके साथ संघर्ष ऋग्वेद के समय से बहुत पूर्व ही समाप्त हो चुके थे।[89] इनसे आर्यों का वैरभाव मुख्य रूप से इनके कृपण स्वभाव के कारण था। ये न तो इंद्रादि देवों को हवि देते थे, न पुरोहितों को दक्षिणा। पौराणिक उल्लेखों के अनुसार ऋभुओं ने इनसे लकड़ी का काम सीखा था। इससे अनुमान किया जाता है कि ये लोग व्यापारी थे, पानी के जहाज बनाना भी जानते थे।

अविनाशचंद्र दास के अनुसार प्रारम्भ में ये लोग (पणि) सप्त सिंधु के पूर्वी भाग—राजपूताना—समुद्र के किनारे—रहते थे। राजपूताना समुद्र में लुप्त हो जाने पर ये लोग कुछ तो पूर्व की ओर गये, कुछ गुजरात के पश्चिमी समुद्री किनारों पर भी बसे, और वहाँ से दक्षिण में 'मलबार' क्षेत्र में जा बसे; वहाँ से भी ये लोग धुर दक्षिण में गए जहाँ 'पंड्य' या 'पांड्य' और 'चोल' आदिवासियों के सम्पर्क में आए। इन पांड्य और चोल आदिवासियों को इन्होंने (पणियों ने) सभ्य एवं सुसंस्कृत बनाया और अंततः ये उन्हीं में अन्तर्लीन हो गए। श्री दास ने यह सम्भावना भी व्यक्त की है कि ऋग्वैदिक 'पणि' शब्द का सही उच्चारण 'पंडि' होता था, यही आगे चलकर 'पांडु' एवं 'पांड्य हो गया अतः 'पणि' ही सम्भवतः पांड्यों के पूर्वज हैं।[90] पं० रघुनाथ शर्मा के अनुसार दक्षिण भारत के 'पांड्य' और 'चोल' दोनों के पूर्वज 'पणि' हैं।[91] इनके द्वारा बताया गया 'पण्य' (बाजार) ही 'पांड्य' कहलाने लगा और बाद में पांड्य प्रदेश के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

वैदिक वाङ्मय में उपर्युक्त प्रमुख जातियों के अतिरिक्त कुछ अन्य जातियों के भी उल्लेख हैं। यह हम देख चुके हैं कि ऋग्वेद (6/61/1) के अनुसार दिवोदास ने पणि, पारावत और बृसय को एक ही युद्ध में पराजित किया था। रौथ के अनुसार 'पारावत' का अर्थ 'दूर से आनेवाला' होता है।[92] कुछ विद्वान् पारावतों को एक पर्वतीय जाति मानते हैं। पंचविंश ब्राह्मण (9/4/11) में 'पारावत गण' को पूर्व में यमुना के निकट स्थित बताया भी गया है। 'बृसय' को भी कतिपय विद्वान् पणि एवं पारावत की तरह की एक प्रजाति मानते हैं।[93] तदुपरांत ऋग्वेद की एक उक्ति (1/133/5) में 'पिशाचि' का उल्लेख हुआ है। अथर्ववेद में मुख्य रूप से तो इन्हें प्रेतात्मा या बैताल के रूप में ही चित्रित

किया गया है; किंतु एक उक्ति (अथर्ववेद 4/46/8) में इन्हें मानव-आवासों और ग्रामों में बसनेवाला तथा एक अन्य उक्ति (5/29/9) में इन्हें 'क्रव्याद्' (कच्चा मांस खानेवाला) कहा गया है। 'तैत्तिरीय संहिता' (2/4/1/1) में असुरों, राक्षसों और पिशाचों के तीन आक्रामक वर्गों को क्रमशः देवों, मनुष्यों और पितरों का विरोधी बताया गया है।[94] इनके दो उपभेद प्रतीत होते हैं—(1) पिशाच और (2) किमीदन्। 'गोपथ ब्राह्मण' (1/1/10) में 'पिशाचवेद' का और आश्वलायन श्रौतसूत्र (10/7/6) में 'पिशाच विद्या' का उल्लेख है। ग्रियर्सन के अनुसार उत्तर-पश्चिमी सीमांत प्रदेश में दरदिस्तान-चित्तराल के लोगों का व्यापक जातीय नाम पिशाच था, क्योंकि उनमें किसी समय कच्चा मांस खाने का रिवाज था। पैशाची प्राकृत की अनुश्रुति और धर्मशास्त्रों में पिशाच विवाह की स्वीकृति आदि से इनके अस्तित्व में संदेह नहीं रहता।

मानव-शत्रुओं, पार्थिव दैत्यों अथवा राक्षसों के लिए ऋग्वेद में सामान्यतः 'रक्षस्' शब्द प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद के जिन दो सूक्तों (7/104 और 10/87) में रक्षसों का वर्णन है; 'यातु' (ऐंद्रजालिक) शब्द का प्रयोग या तो रक्षस् के साथ (विशेषण के रूप) में अथवा लगभग उसी (रक्षस्) अर्थ में स्वतंत्र रूप से प्रयुक्त हुआ है। अतः विद्वानों का अनुमान है कि इनके भी दो भेद थे—(1) रक्षस् और (2) यातुधान। वैदिक साहित्य में रक्षसों का निरूपण मुख्य रूप से तो दो मुख, तीन सिर, चार नेत्र आदि से युक्त विद्रूप मानवाकर वाले दैत्यों या प्रेतात्माओं के रूप में ही हुआ है; किंतु अथर्ववेद की एक उक्ति (5/22/12) में इनके स्त्री, पुरुष, परिवार और राजा तक का विवरण है। एक अन्य उक्ति (6/22/2) में इन्हें मरणधर्मा भी कहा गया है। ऋग्वेद (7/104, 18-21) में रक्षसों एवं यातुधानों के यज्ञ-विरोधी कृत्यों का वर्णन है। 'ऋग्वेद' की कुछ अन्य उक्तियों (10/87/16-17) में यातुधानों को मनुष्य व अश्वों का मांस भक्षण करनेवाला तथा गायों का दूध पी जानेवाला कहा गया है। अथर्ववेद (7/70/2) में ऐसे मंत्र का उल्लेख है जिससे ये अपनी माया से शत्रुओं के यज्ञों को निष्फल बना सकते थे। ऋग्वेद (1/76/4 तथा 10/87/3-6) में अग्नि से इन्हें भस्म कर डालने की प्रार्थना की गई है।

वैदिकोत्तर साहित्य में राक्षसों का वर्णन मुख्य रूप से यज्ञ-विरोधी, धर्म-विरोधी, मानव-भक्षी आदि रूपों में पाया जाता है। 'धर्मशास्त्रों' में राक्षस-विधि के विवाह की स्वीकृति है। पाणिनि ने रक्षस् को आयुधजीवी जातियों में गिनाया है। अतः इनका भी अस्तित्व अवश्य रहा होगा।

तदुपरांत कीकट, पर्शु, पार्थव, मूजवंत, श्रृञ्जय, महावृष, गंधारि, बहलिक, द्रुह, अराय, किरात, चांडाल, पर्णक शियु, पक्थ इत्यादि छोटे-मोटे ऐसे अनेक मानव समुदायों के उल्लेख वैदिक वाङ्मय में मिलते हैं जिन्हें वैदिकों ने एक या दूसरे रूप में अपना शत्रु माना है।

उल्लेखनीय है कि वैदिक वाङ्मय की कुछ उक्तियों में असुर, दस्यु आदि

शब्दों का प्रयोग विशेषणों के रूप में भी हुआ है अथवा यों कहिए कि परवर्ती-काल में उनकी ऐसी व्याख्याएँ की गई हैं। यथा—यदि आर्य 'ईश्वर पुत्राः' होने से अथवा उनके ब्राह्मण 'भूदेव' होने से 'सुर' हैं, तो जो ऐसे नहीं है वे असुर हैं—'न सुराः इति असुराः।' जिनका वृष (धर्म) लुप्त हो गया है वे 'वृषल' हैं; जिनकी वृत्ति अनियत है वे व्रात्य अथवा व्रातीन हैं; जो कर्म-क्षयी हैं वे 'दस्यु' हैं; जो आर्यवर्ण न होने से अ-वर्ण हैं वे दास वर्ण हैं; जो दीक्षित वाच्रहित हैं वे मृध्रवाच हैं, जो अपक्व मांसभक्षी हैं वे पिशाच हैं इत्यादि। इस आधार पर कुछ विद्वान् यह सिद्ध करते हैं कि असुर, दस्यु आदि प्रजातियाँ न होकर कुछ भ्रष्ट हुए आर्यों के ही लिए प्रयुक्त विशेषण मात्र हैं। इन विद्वानों की भावना स्तुत्य हो सकती है, किंतु उनके मंतव्य अग्राह्य ही हैं।

(ख) ऐतिह्य संदर्भ

पूर्वोक्त मानव समुदायों (या प्रजातियों) के अस्तित्व के विषय में प्रायः संदेह नहीं किया जाता, किंतु इनका सम्बन्ध मुख्य रूप से प्रागैतिहासिक काल से है—अर्थात् इनका ब्यौरेवार लिखित इतिहास आज उपलब्ध नहीं है। इनसे सम्बन्धित ऐतिह्य महत्त्व के यत्किंचित् जो उल्लेख मिलते हैं; उनमें से कुछ का उल्लेख हम इनके परिचय के अंतर्गत कर चुके हैं; कुछ का यहाँ किया जा रहा है।

(1) जैसा हम कह चुके हैं ऋग्वेदोक्त असुर आधुनिक विद्वानों द्वारा असीरिया के निवासी माने गए हैं। बहिस्तू के एक शिलालेख में इन्हें 'अथुरा' (प्राचीन ईरानी) और 'अश्शुर' (शुषा की भाषा में) कहा गया है।[95] पाणिनि ने 'असुर' एक आयुध-जीवी संघ बताया है। हॉल साहब के अनुसार—अस्सुर या असुर एक असाधारण शक्तिशाली जाति थी, जिसकी राजधानी 'असुर' थी और देवता का नाम अस्सुर था। विक्रमपूर्व दूसरी सहस्राब्दी से विक्रमपूर्व 555 तक इस जाति ने[96] पश्चिमी एशिया पर अपना प्रभुत्व रखा और हजारों पट्टिकाओं एवं स्तम्भों पर अपनी प्रशस्तियाँ खुदवाई। उनकी अंतिम राजधानी निनवे विक्रमपूर्व 555 में बाबुल के खल्दी नरेश नाबोपोलस्सर और मीडी आर्य उवक्षयार्ष के सम्मिलित प्रहार से नष्ट हो गई।[97] असुरों के शक्तिशाली राजा तिगलाथ पिलेजर सारगोन, सेनाखरिब, एसरहद्दन, असुर नजीरपाल, असुर बलिपाल आदि थे। जैसा कालिदास (दे० रघुवंश 4/43) के टीकाकार का कथन है, असुर विजित राजा के राज्य को पुनः उसे न लौटाकर अपने हस्तगत कर लेते थे और विजित राजा को समूल नष्ट कर देते थे। असुर नजीरपाल ने जीवित बंदियों की खाल उतरवाने और विजित जनता को एक सूबे से उजाड़कर दूसरे सूबे में बसाने की नीति चलाई[8] जिसका पालन उसके वंशधर भी करते रहे।

'गिलगमेश' नामक महाकाव्य, जिसका नायक गिलगमेश है और जिसमें 'जलप्लावन' की कथा का समावेश है, उक्त असुर बनिपाल एवं उसके पूर्वजों द्वारा संगृहीत यह लिखी, पकी ईंटों के रूप में मिला है जिसे ऋग्वेद से भी प्राचीन

माना जा रहा है ।

(2) व्रात्य सरस्वती नदी के उस पार स्थित पश्चिमी जाति के लोग माने गए । महाभारत के द्रोणपर्व (93/44) में दार्वाभिसार और दरद जनपद के निवासियों को व्रात्य बताया गया है । पाणिनि ने इन्हें आयुधजीवी संघों में गिनाया है । कुछ विद्वान् बिहार प्रदेश के छोटा नागपुर क्षेत्र के आदिवासियों को इसी परम्परा से सम्बद्ध बताते हैं ।

(3) 'दस्यु' शब्द ईरानी 'दन्हु', 'दक्यु' के समान है; ······ त्सिमर के अनुसार इसका मूल अर्थ 'शत्रु' था जिसे भारतीयों ने सुरक्षित रखा और इसमें दानव शत्रुओं का आशय भी सम्मिलित कर लिया । ·······लासन ने दक्यु और दस्यु के अंतर को 'दएव' (देव) के साथ सम्बद्ध करने तथा इनमें उस धार्मिक अंतर का ही परिणाम देखने का प्रयास किया है, जिसने हॉग के सिद्धांतानुसार ईरानियों और भारतीयों को पृथक् कर दिया था ।[99] दस्युओं के लिए प्रयुक्त 'अनास' शब्द द्रविड़ों के सर्वथा उपयुक्त बताया जाता है । बलूचिस्तान के ब्रहुई क्षेत्र में आज तक प्रचलित 'ब्राहुई' भाषा द्रविड़ भाषा है; तथा कतिपय ध्वनियों; शब्दों एवं वाक्य-रचना के स्वरूप आदि से सम्बन्धित द्रविड़ भाषाओं के लक्षण वैदिक संस्कृत, क्लासिकल संस्कृत, प्राकृत या प्राचीन प्रसिद्ध बोलियों और उनसे उत्पन्न हुई आधुनिक भाषाओं में समान रूप से खोजे जा चुके हैं ।[100] इससे प्रागैतिहासिक काल में देश के उत्तर-पश्चिम में द्रविड़ों का अस्तित्व सिद्ध होता है । विश्वामित्र के 'दस्यूनां भूमिष्ठा' अनुयायियों में परिगणित 'आंध्र' वर्तमान के तेलगू लोग हैं ।"[101]

(4) 'दास'—त्सिमर एवं मेयर के अनुसार इश शब्द का मूल अर्थ सामान्य रूप से 'शत्रु' था जो बाद में ईरान के केस्पियन क्षेत्र के घास के मैदानों में रहनेवाले 'दहाए' के नाम के रूप में विकसित हुआ । भारत में यह (दास) आदिवासियों का द्योतक बना । हिलेब्रांट ने वैदिक दासों को इन्हीं 'दहाए' के साथ समीकृत किया है ।[102]

(5) शूद्र—प्रसिद्ध है कि उत्तर पश्चिम के भारतीय प्रदेश की विजय के समय सिकंदर पंजाब से लौटते समय सिंधु नदी द्वारा ऐसे क्षेत्र में पहुँचा था, जहाँ के निवासी अरियन के अनुसार 'सोग्दि' और डायोडोरस के अनुसार 'सोड्राए' कहे जाते थे । डॉ० डी० आर० भंडारकर का मंतव्य है कि 'सोग्दि' वस्तुतः 'सोड्राए' का ही अशुद्ध उच्चारण या भ्रांत स्वरूप हो सकता है; और इस 'सोड्राए' का 'शूद्र' में रूपांतर सरलता से हो सकता है । टॉलमी ने भी उत्तरी आर्कोसिया में बसने वाली 'सोड्राए' नामक जाति का उल्लेख किया है । जिससे उनका तात्पर्य 'ब्राहुई' से हो सकता है । पंतजलि ने आर्यावर्त से बाहर बसनेवाली अनेक विदेशी प्रजातियों को शूद्र बताया है । डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार उत्तरी सिंध के पूर्वी भाग में शूद्रों का एक राज्य था ।

(6) पणि—हिलेब्रांट का विचार है कि 'पणि' स्ट्राबो के पर्नियनों जैसी एक

जाति थी और ये लोग दासों तथा पारावतों से निकट का सम्बन्ध रखते थे। वैदिक इंडेक्स के लेखक इस मत से इसलिए असहमत हैं कि 'पण्' धातु—जो यूनानी शब्द 'पेर्नेमी' में भी है—इसकी व्युत्पत्ति संतोषपूर्ण ढंग से व्यक्त कर देती है।

(7) रक्षस् (या राक्षस) : उत्तरी बलूचिस्तान के चगाई प्रदेश में 'रक्षानी' एक बड़ा कबीला है—(इम्पी० गजेटियर 10/117)। पाणिनि ने 'रक्षस्' को आयुधजीवी संघो में गिनाया है। सम्भव है उक्त 'रक्षानी' और 'रक्षस्' का सम्बन्ध रहा हो।

(8) पिशाच—ग्रियर्सन के विचार से उत्तर-पश्चिम सीमांत प्रदेश में दरदिस्तान, चितराल के लोगों का व्यापक जातीय नाम 'पिशाच' था; क्योंकि कच्चा मांस खाने का किसी समय उनमें बहुत रिवाज था। काफिरिस्तान के दक्षिण—आधुनिक लमगान (प्राचीन 'लम्पाक'—के पड़ौसी 'पशाई' काफिरों की पहचान हर्नली ने 'पिशाचों' से की थी, जिसे ग्रियर्सन ने ध्वनिशास्त्र की दृष्टि से समीचीन माना था।[103] हिंदुकुश और पंजाब के मध्यवर्ती क्षेत्र अर्थात् काबुल घाटी, चितराल और गिलगिट में विद्यमान भाषाएँ पैशाची भाषाओं के रूप में जानी जाती हैं।

संक्षेप में, विलेब्रांट ने पारावतों को टॉलमी के 'परउटइ' (अथवा पारूपेताइ), और वृसय (या वृषय) को अरियन के 'वर्सकूट' (अथवा बारस।येटेस) के साथ समीकृत किया है। अथर्ववेद के 'वल्हिक' को आधुनिक 'बलख' से सम्बद्ध किया जाता है। लुडविग और वेबर ने 'पर्शु' की पहचान ईरानी पारसीकों से की है, जो अपने देश में पार्स कहे जाते हैं। त्सिमर ने 'पक्थ' की पहचान हिरोडोटस द्वारा उल्लिखित भारत के उत्तर-पश्चिम में बसी 'पक्ट्यूस' जाति तथा पूर्वी अफगनिस्तान की आधुनिक 'पख्तून' जाति के साथ ही है। फॉन श्रोडर के अनुसार निषादों को उन 'न्यसायेननों' के साथ समीकृत किया जा सकता है, जिन्होंने यूनानी विवरणों के अनुसार सिकंदर के पास उस समय एक दूत भेजा था जब वह अश्वकों के क्षेत्र में था।[104]

(ग) नृवंशशास्त्रीय मंतव्य

यह हम कह चुके हैं कि आधुनिक इतिहासकार प्रागैतिहासिक युग के अध्ययन में जिन साधनों को अपनाते हैं उनमें से एक नृवंशशास्त्र भी है; और यह भी कि कर्नल स्यूअल और डॉ० गुह ने सिंधु उपत्यका से उपलब्ध नर-कंकालों एवं मानवखोपड़ियों का अध्ययन करके उन्हें—आदि निषाद, द्रविड़ एवं मंगोलियन और आर्य—इन चार नस्लों से सम्बद्ध बताया है।

सर हर्बर्ट रिजली ने इस देश की वर्तमान जनता को सात प्रजातीय क्षेत्रों में विभक्त करके देखा है। उन्होंने द्रविड़ों को भारत के आर्य-पूर्व अथवा मूल निबासी माना है। उनके मतानुसार "छोटा अथवा सामान्य से कुछ कम लम्बा

कद, गहरा काला अथवा काला जैसा रंग, घने बाल, जो यदा-कदा घुंघराले जैसे हो सकते हैं, काले नेत्र, लम्बा सिर, नाक चौड़ी—जो कभी-कभी मूल में दबी हुई किंतु इतनी नहीं कि चेहरा सपाट लगने लगे।"—ये यहाँ के मूल निवासी या द्रविड़ नस्ल के लोगों के प्रमुख लक्षण हैं। किंतु बाद में आनेवाले आर्य, शक और मंगोलों के संमिश्रण से आज भिन्न दिखाई देने की सीमा तक बदल गए हैं। रिजली ने द्रविड़ वर्ग को केंद्र में रखकर अर्थात् उन्हें ही यहाँ के मूल निवासी मानकर देश की समग्र जनता को सात नस्लों में विभक्त किया है—(1) द्रविड़, (2) हिंदू-आर्य वर्ग, (3) तुर्क-ईरानी वर्ग, (4) शक-द्रविड़ वर्ग, (5) आर्य-द्रविड़ वर्ग, (6) मंगोल और (7) मंगोल-द्रविड़ वर्ग।[105]

थर्सटन साहब ने द्रविड़ों के दो भेद माने हैं · (1) पुरा-द्रविड़ और (2) द्रविड़। पुरा-द्रविड़ (Pre-Dravidians) उनके अनुसार यहाँ के मूलनिवासी हैं, जो अपने नाटे कद और चौड़ी-दबी (Platyrhine) नाक के कारण (सभ्य या बाद के) 'द्रविड़ों' से भिन्न, और जो प्रजातिगत रूप में लंका के वेद्द, सिलिव के टोअल और सुमात्रा के बातिन से और सम्भवतः आस्ट्रेलियनों से भी सम्बद्ध प्रतीत होते हैं।[106] किंतु डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी[107] एवं अन्य नृवंश-शास्त्रियों के अनुसार इस देश में आनेवाली प्रजातियों के नाम क्रमानुसार इस प्रकार हैं : (1) नेग्रिटो (Negrito), (2) आग्नेय (Austric), (3) भूमध्य-सागरीय (Mediterranean) (द्रविड़), (4) पश्चिमी वृत्त कपाल जाति, (5) नार्डिक (Nordic) (आर्य), और (6) मंगोल (Mangol) (किरात)। यहाँ इसी क्रम से इनका संक्षिप्त परिचय दिया जाएगा।

(1) नेग्रिटो

नीग्रो वंश की यह शाखा भारत में बसनेवाली प्रथम प्रजाति मानी जाती है, जो यहाँ अफ्रीका से आई, और आगे बढ़कर इंडोनेशिया तक फैल गई। एकदम नाटा कद, गहरा काला रंग, मोटे होंठ, काले घने ऊनी बाल इस प्रजाति के प्रमुख लक्षण हैं। यह प्रजाति सभ्यता की आदिम अवस्था – पुराश्मीयदशा – में थी। नवागंतुक अपेक्षाकृत सभ्य जातियों ने इन लोगों को या तो लड़ाई में मार डाला या भगा दिया। आजकल इनकी मुख्य बस्ती अंडमान टापू में है; दक्षिण भारत में कोचीन और ट्रावनकोर पर्वतों की कडर व पलयन जातियों, आसाम के अंगमी नागों और राजमहल (बिहार) में बसी जातियों में इनके कुछ अवशेष पाए जाते हैं।

(2) आग्नेय

इस प्रजाति के लोग आजकल विश्व के आग्नेय कोण (दक्षिण-पूर्व) में पाए जाते हैं, इसलिए इन्हें आग्नेय कहते हैं। प्रागैतिहासिक युग में इस प्रजाति की जो शाखा भारत में आई थी वह इस आग्नेय जाति का पूर्वरूप थी; अतः उसे आद्याग्नेयाम (Proto-Australoid) कहा जाता है। अनुमान है कि ये भी चपटी नाक और

नाटे कद के लोग थे । एक प्रजाति की विशेषताएँ इन्हें यहीं प्राप्त हुई और यहीं से इनकी एक शाखा दक्षिण-पूर्व (एशिया) की ओर चली गई । ये नवाश्मकालीन संस्कृति के लोग थे । ऐसा प्रतीत होता है कि एक समय ये लोग उत्तरी भारत के विशाल मैदानी क्षेत्र में बसे हुए थे । बाद में आनेवाली जातियों ने इन्हें हिमाचल के दुर्गम प्रदेशों एवं विंध्यपर्वतमाला के गहन जंगलों में खदेड़ दिया । इस समय आग्नेय भाषा बोलने वाली - संथाल, मुंडा, भूमिज बिरहोर, असुर, अगर कोरवा आदि जातियाँ विंध्याचल के पूर्वी भाग में राजमहल (बिहार) की पहाड़ियों में बसी हुई हैं । मध्यभारत के कुरकू, उड़ीसा के जुआंग, शबर तथा गदव भी आग्नेय बोलियों का प्रयोग करते हैं ।[108] उड़ीसा राज्य के झारखंड क्षेत्र में बसी इन जातियों को कोल कहा जाता है, शायद इन्हीं का प्राचीन नाम 'निषाद' है ।

(3) भूमध्यसागरीय

कुछ वर्ष पहले इन्हें द्रविड़ कहा जाता था । आजकल ये लोग मुख्य रूप से दक्षिणी भारत में पाए जाते हैं, किंतु प्राचीन काल में इनके उत्तरी भारत में होने के प्रमाण मिलते हैं, जिनका उल्लेख पूर्ववर्ती पृष्ठों में किया जा चुका है । तदुपरांत यह कि लघु एशिया की एक प्राक्-हिंदयोरोपीय भूमध्यसागरीय लिसियन जाति स्वयं को 'त्रिम्मिली' कहती थी । हिरोडोटस के कथनानुसार यह जाति वहाँ 'क्रीट' टापू से आई थी । इस टापू के यूनानियों से पूर्व बसनेवाले लोगों को 'तर्मिलाई' कहा जाता था । यह शब्द तमिल, ट्रमिल या द्रविड़ से सम्बद्ध बताया जाता है । ये लोग पूर्ववर्ती जातियों की अपेक्षा अधिक सुसंस्कृत एवं नागर सभ्यता के लोग थे । इनके तीन उपभेद माने गए हैं—(1) काला रंग और नाटे कदवाले पुरा-भूमध्यसागरीय जो मुख्य रूप से मलयालम, तमिल एवं कन्नड़ भाषा-भाषी क्षेत्रों में हैं । (2) पुराभूमध्यसागरीयों की अपेक्षा कुछ ऊँचे कद और साफ रंग के---असली भूमध्यसागरीय; जो पंजाब और गंगा की ऊपरली घाटी में मिलते हैं । समझा जाता है कि उत्तर भारत में बसने वाली यही आर्यपूर्व जाति थी; और (3) गोरा रंग तथा लम्बी नाक वाले—प्राच्यभूमध्यसागरीय, जो सिंध, पंजाब, राजपूताना एवं पश्चिमी उत्तर प्रदेश में पाए जाते हैं । ये सभी जातियाँ लम्बे सिर वाली हैं ।[109] भारतीय धर्म-दर्शन एवं साधना पद्धति पर सर्वाधिक प्रभाव इन्हीं का पड़ा है ।

(4) पश्चिमी वृत्त कपाल जाति

मध्य एशिया की पर्वतमाला में मूल रूप में विकसित इस प्रजाति के तीन उपभेद पाए जाते हैं – आल्पाइनी (गुजरात में), दीनारी (बंगाल, उड़ीसा, काठिया-वाड़, कन्नड़ एवं तमिल प्रदेशों में), और आर्मीनियन (बम्बई के पारसियों में) ।[110]

(5) नार्डिक

ये ही आर्य हैं—जिनका वर्णन आगे के अध्याय का विषय है।

(6) मंगोल

इस नस्ल के लोगों के प्रमुख लक्षण हैं—पीतवर्ण, चपटा चेहरा, गालों की हड्डियाँ उभरी हुई, दाढ़ी-मूंछ न के बराबर और नाक की जड़ कुछ चपटी होना। भारत में इनके मुख्य दो भेद मिलते हैं—(1) लम्बे सिर वाले जिन्हें पुरा-किरात भी कहते हैं; ये आसाम तथा भारत व बर्मा के सीमा-क्षेत्रों में रहते हैं। (2) गोल-सिरवाले, जिन्हें तिब्बती किरात भी कहते हैं, ये चटगाँव की पहाड़ियों और बर्मा में रहते हैं। मूलतः ये तिब्बत एवं भूटान के निवासी हैं, जो वहाँ से बहुत बाद में भारत में आए हैं। पुरा-किरात की अपेक्षा अधिक विकसित है।[11]

ध्यातव्य होगा कि उपर्युक्त प्रजातियों में से नेग्रिटो एक तो आदिम सभ्यता के लोग थे, दूसरे आग्नेय जाति (निषाद) के लोगों ने उन्हें दुर्गम स्थानों में खदेड़ दिया; अतः वे अधिक प्रभावशाली होने की स्थिति में न थे। मंगोल इतने बाद में आए कि तब तक भारतीय संस्कृति एक निश्चित आकार ले चुकी थी, अतः उनका भी विशेष प्रभाव न पड़ा। आर्य लोग विपक्षी हैं ही। पश्चिमी वृत्त कपाल जाति भी धार्मिक प्रभाव की दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं रखती। इस प्रकार पूर्व-आर्य जातियों के रूप में सर्वाधिक प्रभावशाली दो ही प्रजातियाँ रहती हैं—(1) आग्नेय और (2) भूमध्यसागरीय। ये ही आर्यों के मुख्य प्रतिपक्षी रहे प्रतीत होते हैं; जो न केवल बाहु-बल से, अपितु अपने बुद्धिबल से भी, शताब्दियों तक संघर्षशील रहते आये हैं।

जैसा हम देख चुके हैं वैदिकों ने इनके लिए मृध्रवाच, अकर्मन्, अदेवयु, अब्रह्मन्, अयज्ज्वन्, अव्रत, अन्यव्रत, देवपीयु, शिश्नदेवाः, अनास, कृष्णयोनि, अमंतु, अमानुष आदि विशेषणों का प्रयोग किया है। कहना न होगा कि कृष्ण-योनि, दासवर्ण आदि शब्दों से आर्यों से इनके रंग-रूप का; अनास शब्द से आर्यों से इनकी शक्ल-सूरत का और मृध्रवाच (तथा दीक्षितवाच) आदि शब्दों से आर्यों से इनकी बोली-भाषा का अंतर स्पष्ट रूप से प्रकट हो जाता है। यह अंतर आर्य और अनार्य के प्रजातिगत भेद को प्रमाणित करता है। जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, पुरातत्त्व, भाषाविज्ञान एवं नृवंशशास्त्र आदि की दृष्टि से तथा पौराणिक उल्लेखों एवं ऐतिह्य संदर्भों से इस विषय में जो निष्कर्ष निकलते हैं, उनमें से एक भी ऐसा नहीं है, जिससे वैदिकों के उपर्युक्त विधानों का समर्थन न होता हो। वैदिकों द्वारा इनके लिए प्रयुक्त अकर्मन्, अव्रत आदि विशेषणों तथा व्रात्य, दस्यु एवं दास आदि अभिधानों से इनकी अनियत वृत्ति एवं अवर्ण समाज रचना संकेतित हैं। अदेवयु, अब्रह्मन्, अयज्ज्वन, अन्यव्रत, देवपीयु आदि विशेषणों से इनके आर्येतर धार्मिक विश्वासों

का पता चलता है। हमारे इस अनुशीलन में इनके धार्मिक विश्वासों का ही विशेष महत्त्व है, जिनका सांक्षिप्त परिचय आगे यथास्थान दिया गया है। यहाँ उल्लेख्य होगा कि महाभारत (शांतिपर्व 59/95-97) के अनुसार मंत्रोच्चार सहित ऋषियों द्वारा राजा वेन की दाहिनी जङ्घा का मंथन करने पर उससे एक बेडोल आकृति के नाटे कद के व्यक्ति का जन्म हुआ, जो जले हुए खम्भे के समान (स्याह काला) जान पड़ता था। उसकी आँखें लाल और बाल काले थे। ऋषियों ने उससे कहा 'निषीद' अर्थात् 'बैठ जाओ'। उसी से पर्वतों और बनों में रहनेवाले क्रूर निषादों की उत्पत्ति हुई। दूसरे जो विंध्यगिरि के निवासी लाखों म्लेच्छ थे, उनका भी प्रादुर्भाव हुआ। कहना न होगा कि इस कथन में आग्नेय और भूमध्यसागरीय—दोनों प्रजातियों का निर्देश है। डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी के अनुसार आर्यो ने द्रविड़ों को दास, आग्नेयजातिवालों को कोल, भील और निषाद तथा मंगोल जाति के लोगों को किरात कहा है।[112]

आवासक्षेत्र

उपर्युक्त अनार्य प्रजाओं के आवासक्षेत्रों के विषय में, प्रासंगिकता के आधार पर, कुछ संकेत हम इनके परिचय में ही कर चुके हैं; फिर भी वस्तुस्थिति की आवश्यक स्पष्टता की दृष्टि से यहाँ संक्षेप में कुछ विवरण प्रासंगिक है। ऋग्वेद (3/53/14) में कहा गया है कि—

> किन्ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावो नाशिरं दुह्रे न तपन्ति धर्मम्।
> आ नो भर प्रमगन्दस्य वेदो नैचाशाख मधवन् रन्धयान॥

अर्थात - 'कीकट देश की गायें किस काम की हैं? जिनका दूध न तो यज्ञ में काम आता है, न सोमरस में मिलकर यज्ञपात्रों को ही तप्त करता है। अतः हे इंद्र! उन नैचाशाख प्रमगंदों का धन आप मुझे दिला दो।' स्पष्ट है कि कीकट देश की प्रजा, आर्यों की दृष्टि से निम्न स्तर की और याज्ञिक कर्म न करनेवाली प्रजा थी। भागवत पुराण में कीकट देश को भगवान बुद्ध की जन्मभूमि बताया गया है। अतः विद्वानों का विचार है कि 'कीकट' शब्द 'मगध' के लिए प्रयुक्त हुआ है और अंग, वंग एवं मगध आदि शब्द 'प्रमगंद' शब्द से ही बने हैं।

'अथर्ववेद' में कहा गया है कि—

> गंधारिभ्यो मूजवद्भ्योऽङ्गेभ्यो मगधेभ्यः।
> प्रेष्यन् जनमिव शेवधिं तक्मानं परिद्दमसि॥

अर्थात्— 'जिस प्रकार मनुष्य और उपभोग की सामग्री एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजी जाती है, उसी प्रकार हम 'तक्म' नामक ज्वर को गंधार, मूजवान, अंग और मगध में भेज देते हैं।' स्पष्ट है कि इस कथन में देश के पूर्वी क्षेत्रो के निवासियों के अशुभ की कामना उनके साथ अपने मतभेद के कारण की गई है।

ऐतरेय आरण्यक (2/1/1) में वङ्ग, वगधं और चेरों को पक्षी, अर्थात् अनार्य, कहा गया है। और कहा गया है कि वे ऐसी भाषा का प्रयोग करते हैं जो आर्यों के लिए दुर्बोध थी। डॉ० राधामुनुद मुकर्जी के अनुसार हो सकता है कि वगधं मगध का अपपाठ हो। चेर विंध्य की एक जंगली जाति थी।[113]

शतपथ ब्राह्मण[114] के एक आख्यान के अनुसार अपने पुरोहित गौतम राहुगण के नेतृत्व में विदेध माथव (जिसे विदेह माधव भी कहा गया है) ने वैश्वानर अग्नि को अपने मुख में लेकर सरस्वती के पूर्ववर्ती क्षेत्र में प्रवेश किया था, और वे सदानीरा (गंडक) के उस पार के पूर्वी क्षेत्र में स्थायी हुए। कहा जाता है कि विदेह माधव का समय 900 ई० पू० रहा होगा और उन्हीं के नाम पर इस क्षेत्र का नाम विदेह रखा गया।

विदेह माथव के प्रवेश से पूर्व सदानीरा के पूर्ववर्ती क्षेत्र में वैश्वानर अग्नि प्रज्वलित नहीं होता था। अर्थात् —याज्ञिक कर्म का अनुष्ठान वहाँ नहीं होता था और यह क्षेत्र आर्यसंस्कृति से बाहर था। 'विदेह' का शाब्दिक अर्थ निर्जन प्रदेश होता है; और उपेंद्र ठाकुर के अनुसार 'मिथिलादश्य च' इस पाणिनि सूत्र में प्रयुक्त 'मिथिला' शब्द का निर्वचन 'मध्यन्तेऽत्र मिथिला नगरी' है। अर्थात्—जहाँ शत्रु को मथ दिया जाता है—मार डाला जाता है—वह नगरी मिथिला नगरी है।[115] कहना न होगा कि मिथिला विदेह की राजधानी थी। और जनक 'विदेह' यहाँ का प्रसिद्ध राजवंश था।

बौधायन धर्मसूत्र (1/1/31) के अनुसार अवन्ति, अंग, मगध, सुराष्ट्र, दक्षिणापथ, अपावृत्, सिंधु एवं सौवीर प्रदेशों के लोग शुद्ध आर्य नहीं थे। साथ ही यह कि जो व्यक्ति आरट्टक, कारस्कर, पुंड्र, सौवीर, अंग, बंग, कलिंग एवं प्रानून (?) आदि प्रदेशों में जाता है उसे प्रायश्चित्तस्वरूप सर्वपृष्ठ नामक यज्ञ करना पड़ता है, और कलिंग जानेवाले को तो वैश्वानर अग्नि में हवन भी करना पड़ता है। 'याज्ञवल्क्य स्मृति' के मिताक्षरा भाष्य में देवल का एक ऐसा उद्धरण दिया गया है, जिसके अनुसार सिंध, सौवीर, सौराष्ट्र, म्लेच्छ, अंग, वंग, कलिंग एवं आंध्र प्रदेश में जाने वाले को प्रायश्चित्तस्वरूप उपनयन संस्कार कराना पड़ता था।[116]

अंगबंग कलिंगेषु सौराष्ट्र मगधेपु च।
तीर्थ यात्रा विना गत्वा पुनः संस्कारमर्हति ॥

'महाभारत' (कर्ण पर्व 43/5-8) में गांधार, मद्रक और वाह्लिक के निवासियों को 'धर्मसंकरकारकाः' कहा गया है, और इन्हें वर्णव्यवस्था की मर्यादा से रहित बताया गया है। 'महाभारत' की ही एक अन्य उक्ति में कहा गया है कि वसिष्ठ की नंदिनी गाय की कथा के पूर्व ही म्लेच्छ जातियों ने द्रविड देश को आबाद कर लिया था।[117] ऐत० ब्रा० (7/4/18) की उक्ति को हम ऊपर उद्धृत कर चुके हैं, जिसमें आंध्र, पुंड्र, शबर, पुलिंद आदि को विश्वामित्र के

शापित पुत्र कहा गया है। मनु० (10/44) की उस उक्ति का भी हम उल्लेख कर चुके हैं, जिसमें पौंड्रक, औंड्र, द्रविड़, काम्बोज, यवन, शक, पारद, पह्लव, चीन, किरात, दरद और खश को संस्कार के लोप के कारण नीचत्व को प्राप्त हुआ कहा गया है इत्यादि। महाभारत, पुराण, रामायण, स्मृतियों आदि से ऐसी ही अन्य पचासों उक्तियाँ जुटाई जा सकती हैं।

उपर्युक्त प्रकार की उक्तियों से जो निष्कर्ष निकलता है, वह यह कि आर्य-धर्म-विरोधी जातियाँ, कबीले या समुदाय यद्यपि देश की चारों दिशाओं में, न्यूनाधिक मात्रा में थे, किंतु उनके प्रमुख क्षेत्र दो ही बने - (1) पूर्वी भारत का प्राच्य प्रदेश जिसमें कीकट, विदेह, अंग, बंग, पुंड्र, सुह्म, वृज्जि एवं कलिंग मुख्य थे; और (2) दक्षिण क्षेत्र जिसमें आंध्र, शबर, मुतिब, चेर, चोल, पांड्य मुख्य थे। वाल्मीकि रामायण (4/41) में उत्तर की आर्य संस्कृति और दक्षिण की अनार्य संस्कृति के मध्य दंडक वन बताया गया है। पूर्व की अनार्य संस्कृति और उत्तर की आर्य संस्कृति के मध्य विभाजक रेखा के रूप में प्रायः सदानीरा नदी रही है, मध्यकाल की 'कर्मनाशा' नदी शायद इसी का अपरनाम है।

धार्मिक विश्वास

1. जैसा हम पूर्ववर्ती विवरण में संकेत कर चुके हैं, ऋग्वेद में, आर्येतर प्रजाओं के धार्मिक विश्वासों के विषय में, इनके 'शिश्नदेवाः' होने की बात को छोड़कर, शेष जो कुछ कहा गया है वह वैदिक धर्म से उनके धर्म की विपरीत प्रकृति को लक्ष्य करनेवाले नकारात्मक शब्दों में कहा गया है। यहाँ इस स्थिति के विश्लेषण द्वारा इनके धार्मिक विश्वासों का अवलोकन प्रस्तुत किया जाएगा।

ऋग्वेद (7/21/5) में कहा गया है कि—

न यातव इंद्र जुजुवनो न वंदना शविष्ठ वेद्याभिः।
स शर्धदर्यो विषुणस्य जंतोर्मा शिश्नदेवा अपि गुर्ऋतंनः॥

इस मंत्र के 'मा शिश्नदेवा अपि गुर्ऋतंनः' अंश की व्याख्या में यास्काचार्य ने (दे० निरुक्त—नैगामकांड 4/3/45) में कहा है कि—'मा शिश्नदेवाः—अब्रह्मचर्याः शिश्नम्‌श्नथतेः। अपिगुः ऋतं न सत्यर्ष वा यज्ञं वा।' अर्थात् कामीजन हमारे यज्ञों में न आएँ। शिश्न से क्रीड़ा करने वाले ही 'शिश्नदेवः' हैं।

सायणाचार्य के अनुसार भी—अथच शिश्नदेवाः शिश्नेन दीव्यन्ति क्रीड़ंत इति शिश्नदेवाः अब्रह्मचर्या इत्यर्थः।' अर्थात् जो लिंग से क्रीड़ा करते हैं, वे अब्रह्मचारी ही 'शिश्नदेवः' हैं।

ऋग्वेद का एक दूसरा मंत्र (10/99/3) इस प्रकार है -

स वाज यातापदुष्पदा यंत्स्वर्षाता परिषदत्स निष्यन्।
अनर्वा यच्छततुरस्य वेदो घ्नञ्छिश्नदेवा अभिवर्पसा भूत्॥

यह भी सायण का कथन है कि —'शिश्नदेवान् अब्रह्मचर्यान् शत्रुपुर सम्बन्धिषु …रमानाश्नन् हिंसन्।' तात्पर्य यह है कि शिश्नपूजक अब्रह्मचारी, अपनी लिंग …क कामनाओं का दमन करके शांतिलाभ करता है।

इस बात का निर्देश हम व्रात्यों के परिचय में कर चुके हैं कि शिश्न-पूजा वस्तुतः योगसाधना से सम्बद्ध है। लिंग-पूजा का मूल विदेशी है। एक समय यह मिस्र, यूनान, बेबीलोन, इटली, फ्रांस, अमेरिका, अफ्रीका आदि विशाल भूखंड में प्रचलित थी। आर्यजन इसे घृणास्पद समझते थे।

भारत में इसका सम्बन्ध मुख्य रूप से वाममार्गी तांत्रिक योग साधनाओं से है, जिसमें शैव योग अग्रगण्य है। ध्यातव्य होगा कि गुजरात में उपलब्ध हुई लकुलीश की एकमात्र 'ऊर्ध्वमेंढ़' मूर्ति को छोड़कर मध्य प्रदेश में इसका कोई चिह्न नहीं मिला; इसके समस्त प्राचीनतम अवशेष एवं मूर्तियाँ आसाम (कामरूप क्षेत्र) एवं दक्षिण भारत (मद्रास प्रांत) में मिलते हैं। शैव परम्परा को छोड़ शेष समस्त वैदिक परम्परा के साहित्य में इसे ऐसे शूद्रों या अनार्यों को पवित्र करने वाली साधना या उपासना कहा गया है जिनका वैदिक कर्मकांड में अधिकार मान्य नहीं है। अथर्ववेद, उपनिषद् एवं तांत्रिक साधनाओं पर इसका सीधा प्रभाव पाया जाता है।

तदुपरांत जैसा हम देख चुके हैं आर्येतर प्रजाओं को अनिद्राः, अयज्जवः, अदेवयु एवं देवपीयु इत्यादि कहा गया है। इससे प्रकट है कि ये लोग आर्यों के इंद्र एवं अग्नि आदि देवों की निंदा करते थे, आर्यों के याज्ञिक क्रियाकांड के नितांत विरोधी थे। ये अव्रत, अन्यव्रत एवं अब्रह्मन् थे। इससे प्रकट है कि इन्हें आर्यों के आचार-विचार अमान्य थे, क्योंकि इनके अपने आचार-विचार थे। इन्हें 'अकर्मन्' तो कहा ही गया है, इनके असुर, दस्यु, दास एवं व्रात्य आदि अभिधान भी यही सूचित करते हैं कि ये लोग आर्यों की 'वृत्ति-नियमन' विषयक 'वर्ण व्यवस्था' से सर्वथा असहमत थे। अर्थात् ये लोग न केवल याज्ञिक कर्मों के विरोधी थे, वृत्तिविषयक कर्मों के नियमन से सम्बन्धित वर्ण-व्यवस्था के भी घोर विरोधी थे।

इनके अपने ब्राह्मण थे, जिन्हें अर्हत् अथवा मागध कहा जाता था। इनके अपने क्षत्रिय थे, जिन्हें योद्धा कहा जाता था। मागध ब्राह्मण यजमानों के घर पूजा-पाठ, जादू-टोना, मंत्र-पाठ आदि द्वारा वृत्ति उपार्जित करते थे। क्षत्रिय लोग या तो लूट-मार करते थे या कुछ आर्थिक लाभ लेकर किसी की भी ओर से युद्ध में अड़ने का व्यवसाय करते थे। अर्हत् एवं स्थविर एकांत साधक भिक्षु होते थे। ये ही योगसाधक होते थे। शेष प्रजा अपनी रुचि, योग्यता अथवा जन्म (जाति) के अनुसार अपनी वृत्ति उपार्जित करती थी।

अतः यह कहना समीचीन प्रतीत होता है कि 'अनार्य संस्कृति के इस ऋग्वैदिक वर्णन में ऐसी कोई बात नहीं है, जो सिंधु संस्कृति से उलटी पड़ती हो।[118] दूसरे शब्दों में —'ऋग्वेद की सामग्री के सम्यक् पर्यवलोकन से यह

ज्ञात होगा कि उसमें जो अनार्य लोगों और उनकी सभ्यता के उद्धरण हैं, वे सिंधु के निवासी जनों पर लागू हो सकते हैं ।[119]

2. जहाँ तक नृवंश शास्त्र के आधार पर निश्चित हुए नेग्रिटो, आग्नेय, मंगोल, भूमध्यसागरीय आदि प्रजातियों के धार्मिक विश्वासों का सम्बन्ध है, हम यह देख चुके हैं कि नेग्रिटो तो अत्यंत आदिम अवस्था में थे, मंगोल उस समय आये जब भारतीय धर्म एक निश्चित आकार ग्रहणा कर चुका था; अतः इन प्रजातियों का धार्मिक क्षेत्र में विशेष योगदान न रहा । धार्मिक विश्वासों की दृष्टि से आर्येतरों में दो ही मुख्य प्रजातियाँ रहीं—(1) आग्नेय और (2) भूमध्य-सागरीय । अतः यहाँ इन दो के ही धार्मिक विश्वासों का उल्लेख पर्याप्त होगा, किंतु उससे पूर्व इतना कह देना आवश्यक होगा कि संतान-प्राप्ति और मृतक की सद्गति के लिए बटवृक्ष की पूजा, नेग्रिटो प्रजाति का प्रदेय मानी गई है ।

आग्नेय जाति के धार्मिक विश्वास

जैसा हम देख चुके हैं आग्नेय सम्भवतः पुराणोक्त निषाद हैं, और संथाल, मुंडा, भूमिज, बिरहोर, असुर, शबर और कोल इन्हीं में परिगणित हैं । इनकी कुछ शाखाएँ प्रागैतिहासिक काल में ही यहाँ आ गई थीं । विद्वानों का मंतव्य है कि 'धार्मिक क्षेत्र में पुनर्जन्म का विचार, ब्रह्मांड तथा सृष्ट्युत्पति-सम्बन्धी अनेक दंत-कथाएँ, कच्छप अवतार की कल्पना, पाषाण-खंड में देवता की भावना; नाग, मगर, बंदर आदि विभिन्न प्राणियों की पूजा; भक्ष्याभक्ष्य, स्पृश्यास्पृश्य तथा वर्जन (Taboo) का विचार, बुरी नजर को निछावर द्वारा बचाना आदि अनेक बातें आग्नेय प्रभाव के कारण हैं ।[120] एक सामान्य धारणानुसार दामोदर नदी में अस्थि विसर्जित किए बिना संथाल की गति नहीं होती । अतः विद्वानों का विचार है कि नदियों की पवित्रता, पूजा, तीर्थ-स्नान एवं उनमें अस्थि-विसर्जन का कर्म मूलतः आग्नेय प्रजाति के धार्मिक विश्वासों में ही पाया जाता है । महाभारत एवं पुराणों में पाताल लोक के अधिपति वासुकि नाग, अंडे से सृष्टि की उत्पत्ति, मत्स्यगंधा और गणेश आदि से सम्बन्धित जो आख्यान हैं, उनका आदिस्रोत भी आग्नेय प्रजाति के धार्मिक विश्वास हैं ।[121]

भूमध्यसागरीय जाति के धार्मिक विश्वास

इन्हीं का एक सर्वाधिक प्रचलित अभिधान द्रविड़ है ।' पत्थर की देवमूर्ति अथवा किसी अन्य प्रकार के देव-प्रतीक की पूजा में उस पर पुष्प चढ़ाना, उस पर सिंदूर, चंदन आदि का लगाना, धूप-दीप जलाना, घंटा-घड़ियाल बजाना, संगीत-नृत्यादि का आयोजन करना, भोग लगाना और प्रसाद लेना आदि[122] अर्थात् तांत्रिक पूजा के षोडशोपचारों में से अधिकांश का सम्बन्ध द्रविड़ों की पूजा-विधि से है । सम्भवतः 'पूजा' शब्द ही द्रविड़ मूल का है जिसका अर्थ है—पू = फूल; और ज = करना; अर्थात् पुष्पकर्म या पुष्पार्पण ।

शिव-लिंग की उपासना द्रविड़मूलक है, दक्षिण में इसका विशेष प्रचार इतिहासप्रसिद्ध है। मातृ रूप में शक्ति की उपासना भी द्रविड़मूलक है। सुमेर-बेबीलोन की 'इश्तर' देवी की उपासना का उल्लेख हम कर चुके हैं। कहा गया है कि ईजियन सागर के टापुओं में, यूनान और लघु एशिया में 'मा' नामक जिस मातृ-देवता की उपासना होती थी, 'उमा' शब्द का 'मा' उसी से सम्बद्ध है। और 'दुर्गा' शब्द लिसियन जाति की 'त्रक्क' देवी से तुलनीय है।[123]

पौराणिक देवताओं में से शिव-उमा, विष्णु-लक्ष्मी; कृष्ण-राधा, कुमार, हनुमान, गणेश, शीतला—इत्यादि द्रविड़ मूल के माने गए हैं।

ऋग्वैदिक आर्यों के धार्मिक विश्वासों का निरूपण आगे के अध्याय का विषय है, यहाँ प्रासंगिकता के आधार पर इतना कहना पर्याप्त होगा कि उक्त दोनों ही प्रकार की धार्मिक मान्यताओं का वैदिक धर्म से दूर का भी नाता नहीं है। इन धार्मिक विश्वासों में—शिवलिंग की उपासना, मातृ देवी की उपासना, पूजाविधि योग साधना, पशु-पक्षी, वृक्ष, मूर्ति की पूजा, नृत्य-गीत आदि का आयोजन, जादू-टोना, नदियों के जल की पवित्रता आदि विषयक जो प्रमुख तत्त्व हैं— उनके आदि-स्रोत लिखित रूप में अथर्ववेद में और अलिखित चित्रित रूप में सैंधव सभ्यता में ही खोजे जा सकते हैं। सैंधव सभ्यता को हम देख चुके हैं, यहाँ अथर्ववेद के धार्मिक विश्वासों से भी परिचित हो लेते हैं।

अथर्ववेद के धार्मिक विश्वास

प्रासंगिकता के आधार पर अथर्ववेद के चिंतन एवं साधना विषयक विचारों का निरूपण आगे भी करना ही होगा, अतः यहाँ उसकी धार्मिक मान्यताओं का निरूपण कुछ चुने हुए प्रसंगों के आधार पर ही किया जाएगा।

यों तो याज्ञिक कर्म में अथर्ववेद का इतना अधिक महत्त्व बताया गया है कि ऋक्, यजु और साम की त्रयी द्वारा यज्ञ के केवल एक पक्ष का ही अनुष्ठान सम्पन्न होता है, उसके दूसरे अंश का अनुष्ठान तो अथर्ववेद द्वारा ही होता है—(दे॰गोपथ ब्राह्मण 3/2)। यज्ञकर्म में चार वेदों के ज्ञाता चार ऋत्विजों में अथर्ववेद का ज्ञाता ही सर्वोपरि होता है, अतः वही 'ब्रह्मा' है।[124] किंतु ऐसे विचार परवर्ती और एकपक्षीय प्रतीत होते हैं; तात्विक दृष्टि से मधुसूदन सरस्वती का यह कथन ही सत्य प्रतीत होता है कि 'अथर्ववेदस्तु यज्ञानुपयुक्तः शांतिपौष्टिकाभिचारादिकर्मप्रतिपादकत्वेनात्यन्त विलक्षण एव।' (प्रस्थानभेद)। और इस वेद में किन-किन विद्याओं का संकलन किया गया है इस विषय में यह कथन भी अविस्मरणीय है—स ······ ··· पंचवेदान् निरमिमीत सर्पवेदं पिशाचवेदमसुरवेदमितिहासवेदं पुराणवेदमिति॥—(गोपथ ब्राह्मण 1/1/10)। अर्थात् इसमें सर्पवेद, पिशाचवेद, असुरवेद; इतिहासवेद एवं पुराणवेद का समावेश हुआ है। ध्यातव्य है कि गोपथ ब्राह्मण अथर्ववेद से ही सम्बद्ध है; अतः उसका कथन द्वेष-प्रेरित नहीं माना जा सकता।

यों तो उक्त पंच-वेदों के नामों से ही अथर्ववेद की विषय-वस्तु, उसके प्रणेता एवं अधिकारी जनों का अनुमान सरलता से हो सकता है; किंतु उसके लक्ष्यीभूत अधिकारी जनों के सम्बन्ध में आपस्तम्ब धर्मसूत्र (2/29/11-12) की यह उक्ति भी विशेष महत्त्व रखती है—'सा निष्ठा या विद्या स्त्रीपु शूद्रेषु च। आथर्वणस्य वेदस्य शेष इत्युपदिशन्ति।'

उक्त संक्षिप्त दिशा निर्देश के बाद उल्लेख्य है कि 'अथर्ववेद' अपने वर्तमान अभिधान से पूर्व ब्रह्मवेद, अंगिरोवेद, भृग्वङ्गिरोवेद आदि नामों से भी जाना जाता था, किंतु इन पूर्ववर्ती नामों में भी उसका मुख्य अभिधान था—'अथर्वाङ्गिरसः'। उसके इस नामाभिधान के विषय में एक मान्यता तो यह है कि इसका 'अथर्वन' शब्द अवस्ता भाषा के 'आथवन' शब्द से सम्बद्ध है; और दोनों का सामान्य अर्थ—'अग्नि-पूजक' ऋत्विज है। निरुक्त (11/2/17) और गोपथ-ब्राह्मण (1/4) के अनुसार 'थर्व' धातु 'कौटिल्य' तथा 'हिंसा' वाची है। जिसमें निषेधार्थक 'अ' उपसर्ग लगने पर निष्पन्न हुए 'अथर्व' का अर्थ हुआ—अकुटिलता एवं अहिंसा द्वारा मन की स्थिरता प्राप्त करने वाला व्यक्ति। एक अन्य मान्यतानुसार इसके प्रणेताओं में अथर्वण एवं आंगिरस नामक ऋषियों के अग्रगण्य होने से उसे 'अथर्वांगिरसः' कहा गया—(दे० बलदेव उपाध्याय: वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ० 166)।

प्रो० विंटरनित्स का कथन है कि अथर्वन एवं आंगिरस नाम के प्रागैतिहासिक युग के अग्नि-पूजकों के दो वर्ग थे; जिनमें से प्रथम पवित्र जादू (Holy Magic) से सम्बद्ध था; और रोग-निवारक मंत्रोपचारों का प्रयोक्ता था। द्वितीय अर्थात् आंगिरस अपवित्र जादू (Black Magic) से सम्बद्ध था, और शत्रुओं, प्रतिद्वंदियों तथा दुष्ट जादूगरों आदि के प्रति अभिशाप आदि का प्रयोक्ता था।[125] तात्पर्य यह कि अथर्ववेद का प्रतिपाद्य जादूई प्रयोग या अभिचार है। रोग अथवा किसी अशुभ प्रभाव या संयोग से मुक्ति दिलाने के लिए प्रयुक्त होने वाले मंत्र एवं अभिचारों की संज्ञा 'अथर्वन' है; और मारण, मोहन, उच्चाटन जैसी क्रियाओं द्वारा शत्रु का अनिष्ट करने के लिए प्रयुक्त होने वाले मंत्रों एवं अभिचारों की संज्ञा आंगिरस है; और इनका एकत्र संकलन ही 'अथर्वांगिरसः' है।

इसमें संदेह नहीं है कि अथर्ववेद में यज्ञ, वैदिक देवता, ब्राह्मण आदि की प्रशस्ति होते हुए भी उसका मुख्य प्रतिपाद्य ऐंद्रजालिक अभिचार या यातुधान है। अतः फ्रांसीसी विद्वान् लेनोरमाँ का यह कथन है कि जहाँ आर्यजन प्रकृति के शुभ एवं हितकारक देवताओं को पूजते थे, वहाँ मंगोलियनों की शाखा से सम्बद्ध 'चाल्डियन' (या काल्डियन) लोग सदैव दुष्टात्माओं को संतुष्ट करने में प्रयत्नशील रहे। अतः जहाँ आर्यों के धर्म का प्रमुख लक्षण यज्ञ था, वहाँ प्राचीन चाल्डियनों के धर्म का प्रमुख लक्षण जादू एवं इंद्रजाल था। न केवल यहाँ (अथर्ववेद में) सविता के प्रति अनेक चाल्डियन मंत्र हैं, अपितु जादू के उद्देश्य से इनका प्रयोग भी किया जाता था।[126]

अथर्ववेद (5/13/6-8) में सर्पदंश के विष को उतारने का मंत्र इस प्रकार हैं—

असितस्य तैमातस्य ब्रभोरपोदकस्य च ।
सात्रासाहस्याहं मन्योख ज्यामिव धन्वनो विमुन्चामिरथां इव ।।6।।
आलिगी च विलिगी च पिता च माता च ।
विद्म व: सर्वतो बध्वरसा: किं करिष्यथ ।।7।।
उरुगूलाया दुहिता जाता दारयसि कन्या ।
प्रतंकं दद्रुषीणां सर्वासामरसं विषम ।।8।।

ब्लूमफील्ड के आधार पर म० म० बालगंगाधार तिलक ने इन मंत्रों का अर्थ इस प्रकार किया है—

1. जिस प्रकार धनुष से प्रत्यंचा ढीली की जाती है और अश्वों से रथ विलग किया जाता है, मैं तुम्हें काले-भूरे सर्प तैमात और सर्प-विजयी अपोदक के विष से मुक्त करता हूँ ।।6।।
2. आलिगी और विलिगी; पिता और माता, तुम्हारे सारे बंधुओं को हम जानते हैं। विष-विहीन भला तुम क्या कर सकोगे ? ।।7।।
3. करैत (काले) के साथ उत्पन्न हैं, यह उरुगूला की दुहिता, उन सबका विष शक्तिहीन हो गया है; जो अपने आश्रय को भाग गए हैं ।।8।।

म० म० बालगंगाधर तिलक[127] ने सर्वप्रथम विद्वानों का ध्यान इस ओर आकर्षित किया कि उक्त मंत्रों में प्रयुक्त 'तैमात' एवं 'उरुगूला' आदि शब्दों का तात्पर्य अक्कादियन भाषा और चाल्डियन (खल्दी) लोगों के पौराणिक विश्वासों के संदर्भ में ही बोधगम्य हो सकता है । वे लिखते हैं, " 'आलिगी और विलिगी' का मूल मैं स्थापित न कर सका : सम्भवत: ये अक्कादी शब्द हैं, क्योंकि एक असुरी देवता का नाम बिल और बिल-गी है । जो हो, इसमें संदेह नहीं कि तैमात और उरुगूला कुछ अंतर होते हुए भी वस्तुत: अक्कादी अनुश्रुतियों के 'तियामत' और उरुगल या उरुगूला हैं; और वैदिकों ने अपने खल्दी पड़ोसियों अथवा सौदागरों से इनको लिया है ।" 'तिलक' के अनुसार उरुगूला का व्युत्पत्तिक अर्थ उरु= नगर; गुल=विशाल, अर्थात् 'विशाल नगर' है : किंतु उसका प्रयोग 'पाताल-लोक' (अथवा मृतकों का निवास या नरक) के लिए होता आया है । इस प्रकार श्री 'तिलक' ने उक्त मंत्रों में 'प्रयुक्त विदेशी शब्दों' से 'तैमात' 'उरुगूला' आदि का अर्थ तो स्पष्ट किया; किंतु 'आलिगी, विलिगी' आदि के मूलस्रोत की ओर संकेत-भर किया ।

इधर सुमेर के उरु नगर की पुरातात्त्विक शोधों में एक पट्टिका मिली है, जिस पर 3000 ईसा-पूर्व के असुरी राजाओं की वंशतालिका दी गई है; और उसमें पिता-पुत्र के रूप में 'एलूलू' और 'बेलूलू' नाम अंकित हैं। डॉ० भगवतशरण उपाध्याय के अनुसार ये ही उक्त अथर्व-मंत्र के 'आलिगी-विलिगी हैं ।[128]

डॉ० बज के 'सुमेरी-बाबुली कोश' में 'गूल' का अर्थ 'सर्प-विष-भिषज' दिया गया है। अतः डॉ० उपाध्याय के अनुसार 'उरुगूलायाः दुहिता' का अर्थ 'उरु नगर के सर्प विष-विशेषज्ञ की कन्या' हुआ। 'अपोदक' एक प्रकार का जमीन पर रहने वाला सर्प है, और 'तिआमत' (या तियामत) चाल्डियन अनुश्रुतियों के अनुसार जल में (पाताल लोक में) रहने वाला नाग दैत्य है, जो कभी पुरुष, कभी नारी जाति का बताया जाता है। उसके सात सिर हैं। 'अप्सु' अथवा 'अब्जु' इस विशालकाय सातसिरों वाली तिआमत (तैमात) नामक नागिन का पति था, जिसे मर्दुक नामक देवता ने युद्ध में मार डाला, और बाद में 'तिआमत' को भी मार दिया। अतः 'मर्दुक' को 'अब्जुजित्' कहा गया। इधर वैदिक इंद्र को भी 'अप्सुजित्' या 'अप्सुक्षित' और 'संपृहन्' विशेषण दिए गए हैं। जो इस आख्यान के सुसंगत माने गए हैं, और इस प्रकार चाल्डियनों के 'मर्दुक' तथा 'तिआमत' वैदिकों के इंद्र तथा वृत्त (अहि) के समतुल्य हो जाते हैं।

अक्कादियन एवं सुमेरियन भाषाओं के शब्द ऋग्वेद में प्रयुक्त न हुए हों सो बात नहीं है। उपर्युक्त 'अप्सुजित्' ऋग्वेद 8/13/2 और उसी का दूसरा रूप 'अप्सुक्षित' ऋग्वेद 1/139/11 में प्रयुक्त हैं। तदुपरांत प्राचीन अक्कादियन में प्रेतों के अर्थ में प्रयुक्त 'एकिम्मु' और 'दिम्म' शब्दयुग्म ही सम्भवतः वैदिक 'किमीदिन' में रूपांतरित हो गया है। प्राचीन चाल्डियन भाषा में खुदा के लिए प्रयुक्त 'जेहोवा' का उच्चारण 'यह्वे' होता था। ऋग्वेद में अग्नि, सोम एवं इंद्र के लिए 'यह्व' और उससे सम्बन्धित यह्वे, यह्वत्, यह्वी, यहु, यह्वती आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं। 'असुर' शब्द भी ऐसा ही शब्द है। किंतु ऋग्वेद में इन शब्दों के साथ विदेशी भाव एवं घटना-चक्र ठीक उसी अर्थ एवं रूप में संश्लिष्ट नहीं है, जिस रूप में अथर्ववेद के उक्त तैमात, आलिगी, विलिगी, उरुगूला, अपोदक आदि शब्दों के साथ है। यथा—अप्सुजित् होकर भी ऋग्वैदिक इंद्र; चाल्डियन अब्जुजित्, मर्दुक का पूर्णपर्यायवाची नहीं है - दोनों का पार्थक्य स्पष्ट लक्षित हो जाता है; किंतु यही बात अथर्ववेद के उक्त मंत्रों में लक्षित कथन के विषय में हम नहीं कह सकते। वह स्पष्टतः पूर्णरूपेण चाल्डियन है। फिर अथर्ववेद में ऐसा मात्र यही प्रसंग नहीं है। ऐंद्रजालिक अभिचारों से परिपूर्ण उसका कलेवर ही इस प्रकार का है, जिसकी संगति ऋग्वैदिक आर्यों की सामान्य अवधारणाओं से नहीं बैठती। भैषज्य सूक्तानि, आयुष्याणि सूक्तानि, पौष्टिकानि, प्रायश्चित्तानि, स्त्रीकर्माणि, राजकर्माणि आदि समस्त विषयों के निरूपण में, एक या दूसरे रूप में; झाड़-फूंक, टोना-टोटका, मंत्र-तंत्र विषयक अभिचार भरे हुए हैं।

वस्तुस्थिति की सम्यक् स्पष्टता के लिए अब हम अपने पूर्व कथनानुसार अथर्ववेदोक्त 'एकव्रात्य' के वर्णन को लेते हैं। इस वेद का पंद्रहवाँ कांड — 'व्रात्यकांड' के नाम से भी अभिहित है; क्योंकि उसके समस्त — अठारहों सूक्तों में 'एकव्रात्य' का ही वर्णन दिया गया है। जिसके अनुसार 'व्रात्य' ने गतिमान होकर प्रजापति (हिरण्यगर्भ) को प्रेरित किया, जिसने (प्रजापति ने) अपने

अंदर "स्वर्ण देखा और उसे प्रकट किया। वह स्वर्ण विकासात्मक प्रक्रिया से 'ब्रह्मन्' हो गया। (ऐसी ही किसी युक्ति या प्रयत्न से) 'व्रात्य' महादेव बन गया; व्रात्य 'ईशान' बन गया; और वह 'एकव्रात्य' बन गया। उसने एक धनुष प्राप्त किया, वही इंद्रधनुष है। वह पूर्वदिशा में अग्रसर हुआ, बृहत् और रथंतर —दोनों ने उसका अनुगमन किया; आदित्य और समस्त देवताओं ने भी ऐसा ही किया।.........इसी प्रकार अन्य दिशाओं में भी उसने गमन किया और उनके सम्बन्धित देवताओं ने उसका अनुगमन किया। पूर्वदिशा में श्रद्धा उसकी 'पुंश्चली' (देवदासी, वेश्या) है, और 'मित्र' (ऋग्वैदिक देवता) उसका 'मागध' (परिव्राजक, ऋत्विज या साधक) है।........ दिनमान् उसका उष्णीष है, पीतवर्ण उसका प्रवर्त (कुंडल) है, कल्मली उसकी मणि है, मनस् उसका 'विपथ' (रथ) है, मातरिश्वन् और पवमान और विपथ को खींचने वाले दो घोड़े हैं, पवन सार्थवाह है; चक्रवात उसका प्रतोद (चाबुक) है। इसी प्रकार एक-एक करके वह चारों दिशाओं में गया और एतदनुरूप उसके सहायक, साधन सामग्री आदि बदलते रहे। अन्य देवताओं के रूप भी उसने धारण किए। सभी दिशाओं में उसकी यथेच्छगति होने से वह दिक्पाल हो गया। इतना ही नहीं—भव, शर्व, पशुपति, उग्र, रुद्र, महादेव एवं ईशान (अर्थात् वैदिक रुद्र के समस्त रूपों) को एक-एक करके उसके (एकव्रात्य के) अनुष्ठाता (परिचर) बताया गया है।

आगे कहा गया है कि जिस प्रकार ग्रह, नक्षत्र और ऋतुएँ संवत्सर के समीप रहती हैं, उसी प्रकार समस्त देव उस व्रात्य के चतुर्दिक् रहते हैं—(अथर्ववेद 15/1/17/8)। उस व्रात्य की दाहिनी आँख आदित्य है, बायीं आँख चंद्रमा है; उसका दाहिना कान अग्नि है, बायाँ कान पवन है; दिन-रात उसकी नासिका है; दिति-अदिति उसके सिर के दो कपाल है और संवत्सर ही उसका सिर है—(अथर्ववेद 15/1/18/2-4)। ऐसे विद्वान् व्रात्य के आगमन को राजा अपने लिए कल्याणप्रद माने (15/1/10/1-2)। यदि किसी अन्य के घर ऐसा विद्वान्, व्रात्य आए तो उसे व्रात्य की इच्छा अभिलाषा जानकर तदनुरूप उसका आतिथ्य-सत्कार करना चाहिए—'व्रात्य यथा ते प्रियं तथास्तु'—(अथर्ववेद 15/11/1-2)। यदि अग्निहोत्र प्रारम्भ हो जाने पर व्रात्य अतिथि आए, तो आसन से उठकर उसके समक्ष निवेदित करना चाहिए कि, 'व्रात्य आप, आज्ञा करें तो मैं यज्ञ करूँ?' यदि वह आज्ञा दे तो यज्ञ करे और न दे तो न करे— सचातिसृजेज्जुहुयान्न चातिसृजेन्न जुहुयात् ॥ (अथर्ववेद, 15/12/3)

व्रात्य के तप-त्याग के विषय में कहा गया है कि वह 'तपस्' से सम्बद्ध है (अथर्ववेद 15/1/3)। वह एक वर्ष सीधा खड़ा रहा; और उसने सात प्राण, सात अपान तथा सात व्यान का ग्रहण और त्याग किया। (अथर्ववेद 15/15/1-2)

एकव्रात्य के उपर्युक्त वर्णन में अनेक बातें विचारणीय हैं। सर्वप्रथम तो यह कि उसकी वेश-भूषा एवं साधन-सामग्री में—उष्णीष, प्रवर्त, विपथ एवं

प्रतोद आदि—उन समस्त वस्तुओं का समावेश है, जिनका प्रयोग; श्रौतसूत्रों के अनुसार, व्रात्यजन अपने सामान्य जीवन में भी करते थे। अत: अपने नाम और वेश-भूषा तथा अपनी – साधन सामग्री आदि समस्त वाह्य लक्षणों से यह देवता (या साधक) व्रात्यजनों का आराध्य सिद्ध होता है।

दूसरे पूर्वदिशा में पुंश्चली और मागध (के युगल) से उसका सम्बन्ध भी महत्त्वपूर्ण है। विद्वानों का विचार है कि यह पुंश्चली सिंधु घाटी की सभ्यता की देवदासी (नृत्यांगना) से अभिन्न है; अथवा उसका विकल्प है; और यह मागध सम्भवत: शकद्वीप से आए सूर्योपासक शक ब्राह्मणों में से कोई 'मागध' (परिव्राजक ब्राह्मण, या घुमंतू धर्मोपदेशक) है। डॉ० डी० आर० भंडारकर के अनुसार यह योगसाधक (या योगेश्वर) एकव्रात्य सिंधु घाटी के पशुपति देव और ऋग्वेद के शिश्नदेवा: के, पुंश्चली सिंधु घाटी-सभ्यता की नृत्यांगना या देवदासी के और मागध शकद्वीप से आए ब्राह्मण के अनुरूप है। विष्णुपुराण (2/4/69-70) में शकद्वीप की प्रजाओं का वर्णन करते हुए कहा गया है कि मगों में प्रमुख रूप से ब्राह्मण होते हैं और मागधों में क्षत्रिय। अर्थात् शकद्वीप की 'मागध प्रजा' में प्रमुख रूप से क्षत्रिय होते हैं। भविष्यपुराण (ब्रह्मपर्व 117/5/55) के एक आख्यान के अनुसार कृष्ण-पुत्र साम्ब द्वारा निर्मित सूर्य मंदिर में पूजा के लिए शकद्वीप से 'मागध' ब्राह्मण इसलिए लाए गए कि यहाँ के ब्राह्मणों ने इस कार्य जो 'पतितकर्म' बताकर अस्वीकार कर दिया था। विष्णुपुराण के अनुसार शकद्वीप में इक्षुनदी बहती है। आधुनिक विद्वानों के मत से यह वर्तमान ओक्सस (Oxus) है, जो कभी वैक्ट्रियन से सोग्दियन को पृथक् करती थी। इन संदर्भों के आधार पर डॉ० डी० आर० भंडारकर प्रभृति यह निष्कर्ष निकालते हैं, कि सम्भवत: सोग्दियन ही शकद्वीप है, जो आर्यावर्त की सीमाओं से बाहर था। एकव्रात्य से सम्बद्ध उक्त मागध इसी शकद्वीप से आए मागध कबीले का ब्राह्मण था।[129]

ध्यातव्य यह होगा कि यजुर्वेद (वाजसनेय संहिता 30/8) में पुरुषमेध यज्ञ के उपयुक्त बलि-प्राणियों की सूची में व्रात्य, पुंश्चली एवं मागध—तीनों का समावेश है। अत: इनके अनार्य होने में संदेह नहीं रहता।

तीसरे यह कि योगेश्वर एकव्रात्य यों तो अन्य वैदिक देवताओं को भी प्रभावित करता है किंतु विशेष रूप से वह ऋग्वैदिक रुद्र को आत्मसात् करता है। अर्थात् इंद्रधनुष को प्राप्त कर इंद्र को निहत्था कर देना, अन्य देवताओं के रूप धारण करके उन्हें अपने ही विविध रूप सिद्ध कर देना और उन्हें अपने अनुचर वताना आदि उसकी ऐसी चेष्टाएँ हैं जिनसे वैदिक देवता उसके समक्ष नगण्य हो जाते हैं; और वह स्वयं देवाधिदेव-दिक्पाल सिद्ध हो जाता है। साथ ही यह ऋग्वैदिक रुद्र के—भव, शर्व, पशुपति, उर्ग, रुद्र, महादेव एवं ईशान—समस्त रूपों को अपना अनुष्ठाता सिद्ध करता है। अर्थात् वे एक व्रात्य के ही विविध रूप दर्शाए गए हैं। जैसा हम देख चुके हैं, उपर्युक्त वर्णन में, न केवल

श्रद्धा उसकी पुंश्चली और मित्र उसका मागध है; अपितु दिनमान उसका उष्णीष है, पीतवर्ण उसका प्रतर्द है, मनस् उसका विपथ है और चक्रवात उसका प्रतोद है। इस आलंकारिक वर्णन में निश्चय ही अनार्य व्यक्तियों, वस्तुओं एवं अवधारणाओं को आर्य परम्परा के अभिधान देने का प्रयत्न किया गया है। डॉ० डी० आर० भंडारकर प्रभृति के अनुसार यह ऐसे लोगों का प्रयत्न है जिन्होंने (बाह्य रूप में) आर्यधर्म अपना लिया था, आर्यभाषा (वैदिक संस्कृत) भी सीख ली थी, किंतु अपने पूर्व संस्कारों से सर्वथा मुक्त न हुए थे।[130] जो न केवल "अपनी धार्मिक आस्थाओं को सुरक्षित रखना चाहते थे, अपितु उन्हें आर्यों की शब्दावली में अथवा आर्यों की आवधारणाओं के अनुरूप रूप-छद्मवेश में जीवित भी रखना चाहते थे।"

उपर्युक्त स्थिति की गवेषणात्मक समीक्षा के बाद डॉ० डी०आर० भंडारकर[131] (डॉ० यदुवंशी, म० म० हरप्रसाद शास्त्री एवं प्रो० हाएर प्रभृति) ने यह निष्कर्ष निकाला है कि सिंधु घाटी में व्रात्य सम्प्रदाय आर्यावर्त के बाहर से (सोग्दियन से) मागध प्रवासियों के साथ आया जो बाद में ऋग्वैदिक रुद्र के साथ तादात्म्य स्थापित करके शैव सम्प्रदाय के रूप में ब्राह्मण धर्म में प्रविष्ट हो गया।

शैव तांत्रिक योग और बौद्ध तांत्रिक योग में से पहला तांत्रिक योग कौन-सा है यह विवादास्पद है; किंतु अत्यंत प्राचीन काल से इन दोनों के प्रगाढ़ सम्बन्धों के विषय में आज विवाद नहीं है। ध्यातव्य होगा कि उक्त योगी-व्रात्यो के उपर्युक्त वर्णन में प्रयुक्त 'उष्णीष' शब्द का अर्थ पगड़ या पगड़ी लिया जाता है; बौद्धतंत्रों में 'उष्णीष' उस चक्र (कमल) को कहते हैं जो शैवतंत्रों के सहस्रार चक्र का पर्याय है। पुंश्चली (श्रद्धा) और मागध (मित्र) की उपर्युक्त जोड़ी बौद्धतंत्रों की 'प्रज्ञा' एवं 'उपाय' की जोड़ी के समतुल्य है; अन्य संदर्भों से भी शाक्यों, बौद्ध तांत्रिकों का व्रात्य परम्परा से सम्बन्ध जुड़ता है; जिसका संक्षिप्त उल्लेख हम पूर्ववर्ती पृष्ठों में कर चुके हैं, विशेष स्पष्टीकरण आगे के विश्लेषण से होता रहेगा।

चतुर्थ यह कि हठयोग साधना से उपर्युक्त एकव्रात्य का सीधा सम्बन्ध है। वस्तुतः वह पिंड में ब्रह्मांड का दर्शन करने वाला आत्मखोजी या आत्मसाधक है। अंतर्मुखी योग साधना का समर्थक एवं साधक होने के नाते अग्निहोत्र जैसी बाह्य क्रियाओं का वह विरोधी है।

उल्लेख्य होगा कि अथर्ववेद की पैप्पलाद शाखा में— 'व्रात्यों वा इदम् अग्र आसीत्' कह कर व्रात्य को औपनिषदिक् ब्रह्म का रूप दे डाला है। उसका विश्वरूप तो उपर्युक्त वर्णन में भी झलक रहा है। कुछ विद्वानों ने ब्रह्म के रूप में उक्त एकव्रात्य की व्याख्या की भी है। अस्तु, आगे हम अथर्ववेद की कतिपय अन्य विशेष प्रवृत्तियों को भी लेते हैं—

ऋग्वेद के याज्ञिक विधान को अथर्ववेद में भी स्थान दिया गया है, किंतु उसे बड़ी कुशलतापूर्वक अभिचारों के साथ संलग्न कर दिया गया है। यज्ञ

(अथर्ववेद में) एक प्रकार की मायाशक्ति का आश्रय माना जाने लगा और इस मायाशक्ति का नाम ही पड़ गया—'ब्रह्मन्'।[132] ध्यातव्य होगा कि ऋग्वेद में 'योग्यता एवं कला' के अर्थ में 'माया' वरुण-मित्र से सम्बद्ध है, तो 'छद्म क्रियाओं' के अर्थ में 'माया' असुरों से; और 'ब्रह्मन्' का अर्थ यज्ञ या मंत्र है। अत: अथर्ववेद में 'ब्रह्मन्' को माया का बोधक मानना ऋग्वैदिक मान्यता के विपरीत है। साथ ही 'द्रव्ययज्ञ' की अग्निहोत्रादि के बाह्य विधिविधान को मानसिक रूप देने का प्रयत्न किया गया है। अर्थात् अब यजमान बाह्यजगत् के भौतिक यज्ञ को त्याग कर मानसिक यज्ञ का अनुष्ठान करके ब्राह्मणों के वर्चस्व से मुक्त रहकर भी याज्ञिक हो सकता है। अथवा यों कहिए कि वह वैदिक ब्राह्मणों की अपेक्षा उच्चकोटि का ब्राह्मण भी बन सकता है।

यद्यपि ब्राह्मणों के हितों की रक्षा हेतु ब्रह्मभोज, ब्राह्मण-दक्षिणा आदि का महिमागान किया गया है, तथापि यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि ये ब्राह्मण ऋग्वेद के ऋत्विज एवं ऋषि ही हैं। क्योंकि शतपथ ब्राह्मण के अनुसार असुरों के अपने ब्राह्मण थे, व्रात्यों के पूर्वोक्त चार प्रकारों में से ज्येष्ठ एवं स्थविर भी इसी कोटि में आते हैं, अर्हत एवं उपर्युक्त मागध भी अपने-अपने ढंग के ब्राह्मण ही माने गए हैं, अत: संभव है कि अथर्ववेद में, एकाध स्थान के अपवाद को छोड़कर इन्हीं को ब्राह्मण कहा गया हो। साम्बपुराण (अध्याय 25) में शकद्वीप की प्रजा को मगा, मामगा, मानसा और मंदगा नामक चार भेदों में विभक्त, और इन्हें क्रमश: ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र बताया गया है।

अथर्ववेद में ऋग्वैदिक देवताओं की जो दुर्दशा की गई है उसकी एक झँकी तो हमें एकव्रात्य के उपर्युक्त वर्णन से भी मिल जाती है। इंद्र का धनुष (वज्र) एकव्रात्य ने हथिया लिया है; अत: अब वह शत्रुओं के किलों का भेदन तो करेगा कैसे ? अथर्ववेद (5/21/6) के अनुसार युद्धक्षेत्र में डटे हुए शत्रुओं को दुंदुभि या रणभेरी की ध्वनि से ही हतोत्साह एवं शक्तिरहित किया जा सकता है—

यथा श्येनात् पतित्रण: संविजन्ते अहर्दिविसिंहस्य स्तनयोर्यथा।
एवा त्वं दुन्दुभेऽमित्रानभिक्रन्द प्रत्रासयाथो चिन्तानि मोहाय॥

अर्थात् हे दुंदुभे ! जैसे बाज पक्षी अपनी उपस्थि से अन्य पक्षिओं को और सिंह अपनी गर्जना से अन्य पशुओं को उद्विग्न और त्रस्त कर देता है वैसे ही तू अपनी ध्वनि से हमारे शत्रुओं को मोहित और शक्तिहीन कर दे। इंद्र से तो यह प्रार्थना है कि वह शत्रु के अंडकोशों को भग्न करके उसे नपुंसक बना दे—

क्लीवं कृध्योपशिनमथो कुरीरिणं कृधि।
अथास्येन्द्रो ग्रावभ्यामुभे भिनत्वाण्ड्यौ॥ 6/138/2

इंद्र, वरुण, वायु, अग्नि आदि ऋग्वैदिक देवों से कुछ नारियों ने इस प्रकार की भी प्रार्थनाएँ की हैं कि वे या तो उनके पतियों में काम को प्रेरित करके उनके

प्रेम में उद्विग्न करें[133] या फिर उन्हें इसलिए पागल बना दें ताकि वे उनके वश में हो जाए ।[134] सौतन सदा (7/35) या तो बाँझ रहे, या फिर (1/14) पर्वत के समान अचल (अटल) होकर अपने मायके में बनी रहे । जब तक कि उसके बाल श्वेत होकर गिर न जाएँ - इत्यादि । इससे स्पष्ट हैं कि अथर्ववेद में देवताओं के नाम तो ऋग्वैदिक हैं, किंतु उनके कार्य और स्वरूप बदल दिए गए हैं । वे अब या तो एक सर्वशक्तिमान के अधीनस्थ कार्यवाहक हैं, 'उसी के विविध रूप मात्र हैं' या फिर साधकों के मंत्रों से प्रेरित होकर उनके लिए कुछ भी कर छूटनेवाले हैं । प्रो० विंटरनित्स[135] ने ठीक ही कहा है कि अब (अथर्ववेद में) ये देवता मुश्किल से ही अलग-अलग दिखते हैं; प्राकृतिक शक्तियों के रूप में उनकी एक मूलभूत अर्थवत्ता थी, वह अधिकांश में भुला दी गई है; और जैसा कि जादुई मत्रों का प्रयोग मुख्य रूप से भूत-प्रेतों के अपसारण एवं विनाश के लिए किया जाता है, देवताओं का आह्वान भी इसी उद्देश्य से किया जाता है । अब वे सब भूतों के मारक बन गए हैं ।

उल्लेख्य होगा कि अथर्ववेद में निरुपित यज्ञादिक क्रियाओं, देवताओं एवं स्वर्गादि लोकों का सम्बन्ध अधिदैवत दृष्टि से है/पृथ्वी-वंदना, रोगनिवारण, स्वास्थ्यलाभ, दीर्घायुलाभ, लौकिक स्तर पर शासन एवं समाज व्यवस्था आदि का सम्बन्ध अधिभूत दृष्टि से है और एकव्रात्य, ब्रह्म, स्कंध एवं उच्छिष्ट तथा योगसाधना का सम्बन्ध अध्यात्म दृष्टि से है । इस प्रकार इसमें यद्यपि तीनों दृष्टियाँ अपनाई गई हैं तथापि उसका मुख्य प्रतिपाद्य ऐंद्रजालिक अभिचार और अध्यात्म-दृष्टि तथा योग साधना है। और ये सभी बातें ऋग्वैदिक आर्यों को अज्ञात हैं ।

शाक्त सम्प्रदाय के विद्वान् लेखक शक्ति-उपासना का प्रारम्भ ऋग्वेद के 'अम्भृणि-वाक्सूक्त' (ऋग्वेद 10/26) से मानते हैं; और अदिति में शक्ति उपासना का मातृभाव, ऊषा में कुमारीभाव और सूर्या में पत्नीभाव का निर्देश करके उसे ऋग्वेद में ही सिद्ध कर देते है । किंतु शक्तितत्त्व की जो स्वाभाविक संगति ब्रह्मतत्त्व से बैठती है, वह ऋग्वैदक देवतावाद से नहीं; और शक्ति-उपासना या साधना में जो वाममार्ग है उसकी तो वहाँ कल्पना ही असंगत ठहरती है । इसके विपरीत अथर्ववेद में जिन वृक्ष-आत्माओं का निरूपण है उसकी संगति सिंध घाटी की संस्कृति में पेड़ों पर बैठी हुई सींगोंवाली स्त्री-आकृतियों और मौर्य तथा शुंगकालीन यक्षियों से भी बैठ जाती है। ....अथर्ववेद में उल्लिखित देवियों के वक्ष पर लम्बी-लम्बी ओढ़नियाँ डाली गई हैं । कुली जौब, हड़प्पा और सारी ढेरी तथा बाद के युगों में अहिच्छत्र, कौसाम्बी और मथुरा में प्राप्त मिट्टी की पकी हुई मूर्तियों में भी यही ओढ़नियाँ मौजूद हैं ।[136]

अथर्ववेद के एक मंत्र (19/4/3) में देवी को सुभगा कहा गया है—

आकूतिं सुभगा पुरो दधे चित्तस्य माता सुहवा नो अस्तु ।
यामाशामेभि केवली सामे अस्तु दिदेयमेनां मनसि प्रविष्टाम् ।

कहना न होगा कि इस 'सुभगा' में प्रयुक्त 'भग' ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य जैसे षड्ऐश्वर्यो का द्योतक बनकर आगे के शक्तिमानों—भगवानों – का विशेषण बना है। अथर्ववेद में शक्ति-उपासना विषयक अन्य भी अनेक मंत्र (दे० अथर्ववेद 10/8/26; 10/8/30) हैं।[137] अथर्ववेद का एक 'सौभाग्य-कांड' नामक ऐसा स्वतंत्र कांड भी बताया जाता है, जिसका प्रतिपाद्य ही शक्तितत्त्व है; इसके कुछ मंत्र यत्र-तत्र उपनिषदों में मिलते हैं। तदुपरांत अथर्व-शीर्ष उपनिषदों में 'देव्यथर्वशीर्षम्' भी है और वह आथर्वण शाखा से सम्बद्ध बताया जाता है। पुनः शक्ति शब्द की व्युत्पत्ति ही 'शक्' धातु से बताई गई है, जो एक इतिहास प्रसिद्ध जाति का भी नाम है।[138] और भी ऐसे अनेक प्रमाण हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि शक्ति-उपासना, विशेष रूप में योग मार्ग से सम्बद्ध वाममार्गीय साधना, अनार्य तत्त्व है। योग साधना से सम्बद्ध होने के कारण उसका इतिहास अथर्ववेद से ही प्रारम्भ हो सकता है; और इसका प्राग्वैदिक स्वरूप सिंधु घाटी सभ्यता की साधना पद्धति में निहित हो सकता है।

संदर्भ

1. वास्तुकला, मूर्तिकला आदि के अवशेष, अभिलेख-सिक्के, स्मारक आदि।
2. दे० प्राचीन भारत, पृ० अ
3. दे० ओरिजिन एंड स्प्रेड ऑफ तमिल्स तथा प्रीहिस्टोरिक साउथ इंडिया
4. दे० प्यूपिल्स आफ इंडिया
5. दे० डॉ० राजबली पांडेय : प्राचीन भारत, पृ० 37
6. दे० पं० रघुनंदन शर्मा : वैदिक-सम्पत्ति
7. दे० दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय, पृ० 37
8. सर मार्टियर ह्वीलर
9. दे० डॉ० डी०पी० अग्रवाल : रोबर्ट ब्रूस फूट मेमोरियल वॉल्यूम, पृ० 139 45 (कलकत्ता, 1966 ई०)
10. ओमप्रकाशः प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० 58
11. वही, पृ० 55
12. वही, पृ० 58
13. वही, पृ० 59
14. दे० हिंदू सभ्यता, पृ० 39
15. वही,
16. दे० शैवमत, पृ० 31

17. दे० हिंदू सभ्यता : डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी, पृ० 38
18. वही, पृ० 38
19. दे० हेरोडोटस : हिस्ट्री (आग्ल-अनुवाद : जी० रॉलिसन) 2/48
20. दे० एंसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एंड एथिक्स: वा० 9, पृ० 819
21. दे० क्लिफर्ड हाउवर्ड: सेक्स-वरशिप
22. दे० सर ए० स्टाइन: मैमुआर ऑफ दी आर्कियोलोजिकल सर्वे आफ इंडिया : न० 37, पृ० 42, 48 (यहाँ: शैवमत, पृ० 28-29 के आधार पर)
23. शैवमत, पृ० 28-29
24. दे० हिंदू सभ्यता, पृ० 40
25. वही, पृ० 40
26. वही, पृ० 39
27. दे० ओमप्रकाश: प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० 53
28. दे० भारत का सांस्कृतिक इतिहास, पृ० 15
29. दे० हिंदू सभ्यता, पृ० 39-40
30. प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता, पृ० 87
31. दे० हरिदत्त वेदालंकार : भारत का सांस्कृतिक इतिहास, पृ० 24-25
32. दे० जैस्ट्रो, एम० : रिलीजन ऑफ बेबीलोनिया एंड असीरिया, पृ० 475-76
33. दे० जैस्ट्रो, एम० : सिविलिजेशन ऑफ बेबीलोनिया एंड असीरिया (यहाँ : शैवमत, पृ० 34-35 से)
34. दे० डॉ० यदुवंशी : शैवमत, पृ० 35
35. राधाकुमुद मुकर्जी कृत और वासुदेवशरण अग्रवाल द्वारा अनूदित : हिंदू सभ्यता, पृ० 38-30 से साभार।
36. ऋग्वेद 1/151/8
37. तद्देवस्य सवितुः असुरस्य प्रचेतसः ॥ ऋग्वेद 4/53/1
महद् विष्णोः (इंद्रस्य) असुरस्य नामा ॥ ऋग्वेद 3/38/4
38. अनायुधासो असुरो अदेवाः
39. दे० वैदिक माइथोलॉजी : हिंदी अनुवाद, पृ० 297-98
40. और द्रष्टव्य हैं : पाणिनि सूत्र—देवासुर वैरं (4/3/125) पर पंतजलि : महाभाष्य तथा काशिकावृत्ति। महाभारत के शांतिपर्व के अध्याय 222-28 तथा वाल्मीकि रामायण : बालकांड : सर्ग 30, महाभारत : सभापर्व 61/65
41. दे० वासुदेव शरण अग्रवाल : पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० 459, 461
42. दे० बनर्जी, शास्त्री, ए० पी० : असुर इंडिया (1926, पटना)
43. दे० सेक्रेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट, वा० 49, पृ० 423-24 तथा वा० 12, पृ० 29

44. डॉ० डी०आर० भंडारकर : सम आस्पेक्ट्स् ऑफ ऐंशियंट इंडियन कल्चर, पृ० 35
45. उपरिवत्, पृ० 35, तथा दे० महाभारत, आदिपर्व (98/32)
46. विशेष के लिए द्रष्टव्य : पुरानिक क्रॉनोलॉजी, पृ० 225-232
47. 'कामरूप शासनावली' और 'कामरूप राजावली' आदि ऐतिह्य ग्रंथों के प्रमाण पर आधारित; और 'कल्याण' शिवांक (पृ० 601-606) में प्रकाशित पं० पद्मनाथ भट्टाचार्य के लेख से साभार।
48. पौराणिक आख्यानों में शिव प्रायः असुरों के पक्षधर बताए जाते हैं। अर्जुन से युद्ध करते समय शिव किरातवेशी ही थे।
49 दे० वैदिक माइथालॉजी (हिंदी अनुवाद), पृ० 43-44 तथा 298
50. दे० विष्णु पुराण 3/18/9-13
51. पाणिनि : अष्टाध्यायी, 1/1/27, 2/2/24, 6/1/1
52. दे० डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल : पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० 453
कीथ एंड मैकडोनल : वैदिक इंडेक्स 2, हिंदी अनुवाद, पृ० 383-84
53. दे० डॉ० डी० आर० भंडारकर : सम आस्पेक्टस् ऑफ ऐंशियंट इंडियन कल्चर, पृ० 40
54. द्रष्टव्य: डॉ० वा० श० अग्रवाल: पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० 455-56
55. व्रात्यस्तोमैरिष्ट्वा त्रैविद्यवृत्ति समातिष्ठेयुः ॥ लाट्या० 8/6/29
56. पंचविंश ब्राह्मण, 17/1/2, 17/3/2
57. व्रात्योनाम उपनयनादि संस्कार विहीनः पुरुषसोर्थाद्वेद्वविहिताः यज्ञादिक्रियाः कर्तुं नाधिकारी। न स व्यवहारयोग्यः ॥ (अथर्ववेद 15/1 का सायण भाष्य)।
58. वर्णसंकरादुत्पन्नान व्रात्यानाहुर्मनीषिणं इति व्रात्यानाहुर्मनीषिणं इति।
59. दे० वैदिक इंडेक्स 2 (हिंदी अनु०), पृ० 384
60. दे० एन इंट्रो० टू बुद्धिस्ट एसोटेरिज्म, पृ० 8-11
61. वही, पृ० 11
62. ऋग्वेद 1/51/8
63. विद्वान् वज्रिन् दस्यवे हेतिमस्याप्यं सहोवर्धया द्युम्नामिन्द्र ॥
64. अन्यव्रतममानुषमयज्वानमदेवयुम्।
अव स्वः सखा दुधवीत पर्वतः सुघ्नाय दस्यु पर्वतः ॥ऋक्० 8/70/1
65. अकर्मादस्युः अमिनो अमंतु अन्यव्रतो अमानुषः।
त्वं तस्य अमित्र हन वधोदासस्य दम्भये ॥ ऋ० 10/22/8
66. अनासो दस्यूरमृणो वधेन निदुर्योण आवृणङ्मृध्रवाचः ॥ ऋ० 5/29/10
67. न्यक्रतून् ग्रथिनो मृध्रवाचः पाणीरंश्रद्धाँ अवृधाँ अयज्ञान।
प्र प्रतान् दस्युरग्निर्विवाय पूर्वश्चकारापरो अयज्यून ॥ऋ० 7/6/3
68. तस्य ह विश्वामित्रस्यैकशतं पुत्रा आसुः। पंचासदेव ज्यायाँसो मधुच्छंदसः।

पंचाशतकनीयांसस्तद ये ज्यायांसोन ते कुशलं मेनिरे ।ताननु व्याजहार तान्वः प्रजाभक्षीप्टेति । त एतेऽन्ध्राः पुंड्राः शबराः पुलिंदाः मुतिवा इत्युदंत्या वहवो भवति । विश्वामित्रा दस्यूनां भूयिष्ठाः ।। ऐत० ब्रा० 7/4/18

69. दे० सम आस्पेक्ट्स ऑफ ऐंशियंट इंडियन कल्चर, पृ० 52
70. वही, पृ० 83
71. स जातधर्मा श्रद्धान् ओजः पुरो विभिन्दन्नचरिद्धि दासीः । विद्वान् वज्रिन् दस्यवे हेतिमस्यार्य सहो वर्धयाद्युम्नमिन्द्र ।।
72. सप्त यत्पुरः शर्मा शारदीर्दर्द्धन्दासीः पुरुकुत्साय शिशन ।।
73. त्व ताँ इंद्रोमयाँ अमित्रान् दासा वृत्राण्यार्या च शूर । ऋ० 6/33/3 दासाच वृत्रा हतमार्याणि च सुदासमिन्द्रावरुणावसावतम् ।। ऋ० 7/83/1
74. अरं दासो न मीड़हुषे कराण्यहं देवाय भूर्णयेऽनागाः । अचेतयदचितो देवो अर्यो गृत्सं रयि कवितरो जुनाति ।
75. यह 'सरयू' वर्तमान सरयू से भिन्न सप्त-सिंध क्षेत्र की कोई नदी थी ।
76. सुदास दिवोदास का पुत्र था या पौत्र, इस विषय में मतभेद पाया जाता है ।
77. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद बाहू राजन्य कृतः । उरुस्तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शुद्रोऽजायत् ।। ऋग्वेद 10/90/12
78. दे० सम आस्पेक्ट्स ऑफ ऐंशियंट इंडियन कल्चर, पृ० 14-15
79. वही, पृ० 9-10
80. दे० पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० 95
81. शूद्राणामनिरवसितानाम् ।।
82. दे० पाणिनिकार्लीन भारतवर्ष, पृ० 93
83. उपरिवत्, पृ० 94
84. दे० महाभारत : अनुशासन पर्व (32/23, 33/22-23) शांतिपर्व (65/13-14), मनु० (10/43-45), विष्णुपुराण (4/4/48)
85. दे० विष्णुपुराण 4/24/20-21 तथा भागवतपुराण 12/1/8-9
86. दे० ऋग्वैदिक इंडिया, पृ० 180-81
87. दे० ऋग्वैदिक आर्य, पृ० 77
88. दे० ए स्टडी इन हिंदू सोशल पॉलिटी, पृ० 63
89. दे० ऋग्वैदिक आर्य, पृ० 12
90. अविनाशचंद्र दास : ऋग्वेदिक इंडिया : पृ० 116-17, 133-34, 181-86
91. दे० वैदिक सम्पत्ति, पृ० 417-18
92. दे० वैदिक इंडेक्स : भाग 1, पृ० 590-91
93. उपरिवत् : भाग 2, पृ० 76
94. ए० ए० मैकडानल : वैदिक माइथोलॉजी (हिंदी), पृ० 312-13
95. दे० वासुदेवशरण अग्रवाल : पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० 461
96. दे० हाल : दि ऐंशियंट हिस्ट्री, पृ० 388, 444-617

97. उपरिवत् : 513
98. वही, पृ० 445
99. दे० वैदिक इंडेक्स : भाग 1 (हिंदी अनु०), पृ० 389-90
100. दे० कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया : वा० 1, पृ० 37 तथा आगे।
101. दे० डॉ० अविनाशचंद्र दास : ऋग्वैदिक इंडिया, पृ० 109
102. दे० वैदिक इंडेक्स : भाग-1, पृ० 400
103. दे० जे०आर०ए०एस०, 1950 ई०, पृ० 285-88, यहाँ : डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल : पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० 461 से साभार।
104. दे० वैदिक इंडेक्स : भाग 2
105. दे० रिजली : दी प्यूपिल ऑफ इंडिया, पृ० 31-33, इम्पीरियल गजेटियर : भाग 1, पृ० 292... कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया : भाग 1, पृ० 36-49
106. दे० दी मद्रास प्रेसीडेंसी, पृ० 124-25
107. दे० इंडो-एशियन कल्चर, अप्रैल, 1954 ई०
108. दे० हरिदत्त वेदालंकार : भारत का सांस्कृतिक इतिहास, पृ० 117
109. वही, पृ० 15, 19
110. वही।
111. वही, पृ० 16
112. दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय, पृ० 35 से साभार।
113. दे० हिंदू सभ्यता : पृ० 111
114. दे० शतपथ ब्राह्मण 1/4/3/14
115. दे० हिस्ट्री ऑफ मिथिला, पृ० 7
116. दे० पी० बी० काणे: धर्मशास्त्र का इतिहास : भाग 1, पृ० 117
117. नदिन्या गोस्तनात्पूर्वं जातैर्म्लेच्छैर्विनिर्मितः।
द्राविड़ाख्यो महादेशः स्ववासायति निश्चितम्॥
118. दे० राधाकुमुद मुकर्जी : हिंदू सभ्यता, पृ० 48
119. वही, पृ० 47
120. दे० डॉ० हरिदत्त वेदालंकार : भारत का सांस्कृतिक इतिहास, पृ० 18
121. वही।
122. वही, पृ० 18
123. वही, पृ० 18
124. 'ब्रह्मा' ऋत्विज का उल्लेख ऋग्वेद के अधिकांश में नहीं है, जहाँ है वहाँ भी वह अन्य की तरह ही एक ऋत्विज है। (दे० ऋ० 10/98)
125. दे० ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर : भाग-1, पृ० 120
126. डॉ० डी० आर० भंडारकर : सम आस्पेक्ट्स ऑफ ऐंशियण्ट इंडियन कल्चर, पृ० 30 एवं 37 से साभार।
127. दे० आर० जी० भंडारकर अभिनंदन ग्रंथ में 'चाल्डियन एंड इंडियन

वेदाज' लेख ।

128. दे० भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेपण, पृ० 49-53

129. दे० सम आस्पेक्ट्स ऑफ ऐंश्यिंट इंडियन कल्चर, पृ० 48

130. वही, पृ० 40-41

131. दे० उपरिवत्, पृ० 48

132. बलदेव उपा० : साहित्य और संस्कृति, पृ० 182

133. देवा : प्रहिणुत स्मरम् असौ मामनुशोचतु ।। (दे० अथर्ववेद 6/10, 138)

134. अग्न उन्मादया त्वमसौ मामनुशोचतु ।। (6/130/4)

135. दे० हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर : भाग 1, पृ० 124

136. डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी : भारत की संस्कृति और कला, पृ० 46

137. दे० नर्मदाशंकर महेता : शाक्त सम्प्रदाय, पृ० 16

138. यद्यपि यह एक परवर्ती घटना है । कुछ विद्वान् ऐतिहासिक उल्लेख से पूर्व भी शकों का आना मानते हैं ।

द्वितीय अध्याय

आर्य प्रजाति और उसके धार्मिक विश्वास

विषय-प्रवेश

असुरों का 'गिल्गमिश' नामक जो महाकाव्य प्राप्त हुआ है, उसे ऋग्वेद से भी प्राचीन माना जा रहा है। इस स्थिति में ऋग्वेद यदि दुनिया-भर के आर्यों का प्राचीनतम ग्रंथ न माना जाय, तो भी भारतीय आर्यों का प्राचीनतम ग्रंथ वह आज भी है। ऋग्वेद वस्तुतः आर्यों का ग्रंथ है, इस विषय में विवाद को स्थान नहीं है। अतः आर्यों के इतिहास का प्रारम्भ ऋग्वेद से होना स्वाभाविक है। तथ्य तो यह है, जैसा कि पूर्ववर्ती अध्याय से प्रकट है, कि आर्येतरों का लिखित इतिहास भी ऋग्वेद से ही प्रारम्भ होता है। अस्तु।

वेदों को अनादि एवं अपौरुषेय मानने वाले धर्मज्ञों का यह प्रयत्न रहा है कि ऋग्वेद में इंद्र का वृत्र, असुर, शम्बर, वर्चिन, दस्यु इत्यादि से जो विग्रह वर्णित है, वह लौकिक सत्ताओं से सम्बन्धित न होकर अंतरिक्ष स्थित विद्युत्, इंद्र, किरण, सूर्य, ग्रह और बादल अथवा अंधकार जैसी सत्ताओं से सम्बद्ध है। अर्थात् लोक-जीवन से सम्बन्धित घटना-चक्र या इतिहास का निरूपण उसमें नहीं है। यह ग्राह्य है कि वेद इतिहास के ग्रंथ नहीं हैं, इतिहास लिखना उनके द्रष्टाओं (ऋषियों) का उद्देश्य भी नहीं है। किंतु जब उनमें उनके प्रणेता आर्य द्रष्टा ऋषियों के नाम यथार्थपरक रूप में दिए गए हैं, तब उनके अपौरुषेय होने का तात्पर्य यही हो सकता है कि वे किसी व्यक्तिगत विचारधारा को लेकर नहीं रचे गए; अपितु समष्टि के हित-साधन हेतु तटस्थ व्यक्तियों के मंतव्यों के संग्रह हैं। उनमें सामाजिक जीवन-व्यवहार, नदियाँ; भौगोलिक क्षेत्र, राजा, गण, युद्ध इत्यादि के जो वर्णन एवं उल्लेख हैं, वे सब आलंकारिक रूपक या आकाशीय चक्र से सम्बद्ध नहीं हो सकते। फिर वेदों में विदेशियों ने ही इतिहास देखा हो सो बात भी नहीं है। गोपथ ब्राह्मण (2/6/12) में अथर्ववेद (20/127) 'राज्ञोविश्व-

जनीनस्य' मंत्र पर लिखा है कि 'अथौ खल्बाहुः गाथा एवैताः कारव्या राज्ञः परिक्षित इति।' अर्थात् कोई कहते हैं कि ये कारु शब्दवाली ऋचाएँ गाथा हैं, क्योंकि इनमें परीक्षित राजा का वर्णन है। इसी तरह से 'निरुक्त' में भी अनेक स्थलों में लिखा है कि 'इत्यैतिहासिकाः' अर्थात यह इतिकारों का मत है।[1] इससे प्रकट है कि वेदों में इतिहास का अस्तित्व माननेवालों का एक दल संस्कृतज्ञों में भी रहा था। अतः इन महनीय ग्रंथों से ऐतिह्य महत्त्व की सामग्री को इतिहास-लेखन में स्वीकारना इनके अवमूल्यन का द्योतक नहीं है। आज के वैज्ञानिक युग की आवश्यकता इनके प्रति पूज्य भाव तक ही परिसीमित न होकर इनके विधानों की सच्चाई को अन्य स्रोतों से भी प्रमाणित होने पर; ऐतिह्य तथ्य के रूप में स्वीकारने की है। यहाँ इसी दृष्टिकोण को अपनाकर आर्यों का संक्षिप्त परिचय और उनके धार्मिक विश्वासों का निरूपण किया जाएगा।

आर्य

जैसा हम देख चुके हैं ऋग्वेद (1/51/8) में आर्य और दस्यु नामों से प्रसिद्ध मनुष्यों को पृथक्-पृथक् जानने की आवश्यकता का प्रतिपादन किया गया है। एक अन्य उक्ति में कहा गया है—'हत्वी दस्यून प्रार्य वर्णमावत्।' अर्थात् इंद्र ने दस्यु को मारकर 'आर्यवर्ण' की रक्षा की। ऋग्वेद (8/103/8) में आया है कि 'उपोषु जातमार्यस्य वर्धनमग्नि नक्षन्त नो गिरः॥' अर्थात् हमारी स्तुतियाँ आर्यों को बढ़ाने वाले अग्नि के पास पहुँचती हैं। ऋग्वेद (4/26/2) में इंद्र कहता है कि मैंने आर्य (मनु) को भूमि प्रदान की है—'अहं भूमिमददामार्याय।' एक अन्य उक्ति (ऋ० 1/130/8) में कहा गया है कि इंद्र ने यजमान आर्य की रक्षा की, और मानवों के हित अनाचारियों (अव्रतान) को नष्ट कर दिया तथा कृष्ण नामक असुर की कृष्णवर्ग की त्वचा को काटकर उसे मार डाला।[2] ऋग्वेद (6/22/10) में कहा गया है कि—'यथा दासान्यार्याणि वृत्राकरोवज्रिन्सुनुका नाहुषाणि।' अर्थात् एक राजा होने के नाते इंद्र ने धर्म-कर्म के विरोधी एवं उनके विध्वंसक दासों को भी आर्य बनाया है। ऋग्वेद (10/65/11) में भी आर्यव्रतों के पृथ्वी पर प्रचारित करने की बात कही गई है।[3]

ऋग्वेद (10/22/8) में प्रार्थना के स्वर में कहा गया है कि—'हमें सब ओर से दस्यु घेरे हुए हैं, जो अकर्मन्, अमंतु, अन्यव्रत एवं अमानुष हैं। हे शत्रुहन्! तू उनका वध कर; तथा दासों को नष्ट कर' इत्यादि।

कहना न होगा कि परिस्थिति और प्रवृत्ति सापेक्ष उपर्युक्त कथनों तथा पूर्ववर्ती अध्याय में असुर, दस्यु, दासादि के परिचय में उद्धृत की गई उक्तियों से प्रकट है कि आर्य, असुरादि से भिन्न प्रजाति के लोग थे। आर्य और असुरादि के मध्य लक्षित, पूर्वोक्त, विग्रह से भी इनके पृथक्त्व के संकेत मिलते हैं।

तदुपरांत अवलोक्य है कि आर्यों ने आर्येतरों के प्रति—उनसे अपनी भिन्नता दर्शाने के लिए— जिन विशेषणों का प्रयोग किया है उनमें से 'शिश्नदेवस्,' 'कृष्ण-

योनि' एवं 'पिशंग' को छोड़, शेष सभी विशेषण नकारात्मक हैं। इससे प्रकट है कि इन नकारात्मक विशेषणों के सकारात्मक रूप आर्यों की अपनी विशेषताओं के बोधक होंगे। यथा—आर्येतरों को कृष्णयोनि; पिशंग (रतमुँहे) तथा अनास (चपटी नाक वाले), कहने का अर्थ यह होगा कि आर्य स्वयं काले या पीले रंग के न होकर गौर वर्ण के और उन्नत नासिका वाले थे। अनार्यजन 'मृध्रवाच' (अपभ्रंश बोलनेवाले) थे, क्योंकि एतद्विपरीत आर्य 'दीक्षित वाच' (संस्कृत बोलने वाले) थे। अनार्य इसलिए अनिंद्रा,[4] अयज्ज्वन अदेवयु एवं अमानुष कहे गए हैं कि आर्य स्वयं इंद्र के उपासक, यज्ञ करनेवाले; देवों में आस्थावान् और मनु द्वारा उपदिष्ट धर्मानुयायी होने से 'मनव': अथवा 'मानुष:' हैं इत्यादि। ध्यातव्य होगा कि अनार्य मात्र 'अव्रत' ही नहीं हैं, 'अन्यव्रत' भी कहे गए हैं। अर्थात् इन शिश्नदेवकों के, आर्यों से भिन्न प्रकार के निजी आचार-विचार हैं।

स्पष्ट है कि अनार्यों से आर्यों का रंग-रूप, शक्ल-सूरत; भाषा-बोली, धर्म-कर्म, आचार-विचार और रहन-सहन सब कुछ भिन्न प्रकार के हैं। अत: आर्यों से आर्येतरों का अंतर धार्मिक एवं सांस्कृतिक तो है ही प्रजातीय भी है। अतः प्रस्तुत लेखक इस कथन से सहमत है कि आर्यों तथा यहाँ के मूल निवासियों के रक्त और रंग में अंतर था, भाषा और बोलचाल में अंतर था, आचार-विचार और रहन-सहन में अंतर था। दोनों वर्गों में जन्मगत, रक्तगत, शरीरगत और संस्कारगत प्रजातीय भेद था। दोनों में कर्म भी अलग-अलग थे। अत: स्पष्ट रूप से 'आर्य' और 'दास' (आर्येतर) नामक दो वर्ण समाज में हो गए; जिनका वैदिक युग के प्रारम्भिक काल तक पृथक् अस्तित्व बराबर बना रहा।[5]

आर्यों का आगमन

संस्कृत भाषा के अर्वाचीन या प्राचीन किसी भी ग्रंथ में इस बात का कोई संकेत नहीं है कि आर्य कहीं बाहर से आकर यहाँ बस गए। जिन भूमध्यसागरीय या द्राविड़ प्रजातियों को यहाँ का मूल निवासी या आर्यपूर्व प्रजाएँ माना गया है उनकी भाषाओं में भी इस देश का नाम आर्यावर्त या भारतवर्ष ही माना गया है, जो निश्चय ही आर्यप्रदत्त है। अर्थात् जब उनके शब्दकोशों में इस देश के नाम का सूचक कोई शब्द ही नहीं है, जो हैं वे तो आर्यप्रदत्त हैं, तब उन्हें इस देश का मूल निवासी या आर्यपूर्व निवासी कैसे माना जाय? समस्त संस्कृत वाङ्मय में आर्यों ने इसे अपना देश; विवस्वान् अथवा मनु आदि अपने पूर्वजों का देश, इंद्र प्रभृति अपने देवताओं का देश, बताया है; और यहाँ के समस्त महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों, नदियों, नगरों आदि के नाम भी आर्य प्रदत्त हैं। आर्यों ने तो मनु को अपना आदिपुरुष बताकर समस्त सृष्टि का प्रादुर्भाव ही इस देश में हुआ बताया है। तदुपरांत 'आर्य' शब्द स्वयं संस्कृत भाषा का है, जिसका कोई विकार अथवा पर्याय किसी विदेशी भाषा में नहीं है। संस्कृत भाषा अपने शुद्ध रूप में इसी देश में सुरक्षित रह सकी है—इत्यादि कारणों को आगे रखकर भारतीय पंडित इस

विचार को कि—आर्य यहाँ बाहर से आकर बसे—एक विघटनकारी प्रचार बताकर तिरस्कृत कर देते हैं।

यह सच है कि संस्कृत वाङ्मय में आर्यों के बाहर से यहाँ आकर बसने का कोई संकेत नहीं है।[6] और यदि वर्तमान स्थिति को ही लक्ष्य किया जाय तो नैसफील्ड के इस कथन में भी सत्यांश है कि 'भारतीयों में आर्य विजेता और मूल निवासी जैसा कोई भेद नहीं है। ये विभाग आधुनिक हैं। समस्त भारतीय जातियों में मूलभूत एकता है। अधिकांश ब्राह्मण न तो गौर वर्ण हैं और न किसी अन्य रूप में किसी अन्य जाति से भिन्न व श्रेष्ठ। रंग, रूप और रक्त में वे सड़क झाड़नेवाले भंगियों से न भिन्न हैं न श्रेष्ठ।'[7] डॉ० सम्पूर्णानंद, श्री अविनाशचंद्र दास, पं० रघुनंदन शर्मा, पं० भगवदत्त, राजवली पांडेय, उमेशचंद्र विद्यारत्न एवं नाना पावगी प्रभृति भारतीय विद्वान् तो यह मानते ही हैं कि आर्य यहाँ कहीं बाहर से नहीं आए। न केवल वे यहाँ के मूल निवासी हैं; अपितु वे ही यहाँ से बाहर जाकर दुनिया के उन-उन भू-भागों में बस गए जहाँ उनके वंशज अथवा उनके बसने के प्रमाण मिलते हैं। ब्राह्मी लिपि का मूल उद्गम सिंधु लिपि को बताते हुए लेंडन ने भी यही निष्कर्ष निकाला था कि 'बहुत अधिक सम्भव यही है कि भारतीय आर्य ही इंडो-जर्मन जाति के सबसे प्राचीन प्रतिनिधि हैं।'[8]

राहुल सांकृत्यायन का विचार है कि 'आर्य भारत में बाहर से आए, यदि यह न माना जाय तो आर्यों की भाषा पश्चिम की जिन भाषा वालों से अपना एक पारिवारिक सम्बन्ध बतलाती है, उन्हें भी भारत से गया मानना होगा। इसके कारण और अनेक समस्याएँ उठ खड़ी होंगी, जिनका समाधान अति कठिन है।'[9] जहाँ तक संस्कृत और आर्य भाषा परिवार का सम्बन्ध है आधुनिक विद्वानों का एक वर्ग यह सिद्ध करने का प्रयत्न करता है कि भाषिकीय सम्बन्ध प्रजातीय सम्बन्धों के लिए प्रमाण नहीं भी हो सकते, क्योंकि व्यावहारिक, राजनैतिक एवं सामाजिक सम्बन्धों के आधार पर भी एक प्रजाति की भाषा को दूसरी जाति के लोग अपना लेते हैं। आज अफ्रीकी-एशियाई देशों के वे लोग जो अंग्रेजी को अपना चुके हैं मात्र इसी आधार पर अंग्रेज नहीं माने जा सकते। यह विचार यद्यपि तर्कसंगत है, किंतु ईसा-पूर्व दूसरी सहस्राब्दि की व्याख्या के लिए आधुनिक वैश्विक सम्बन्धों का प्रमाण एकदम असंगत न होने पर ही पर्याप्त नहीं है। कुल मिलाकर निम्नलिखित आपत्तियों के आधार पर भारत को आर्यों का आदिदेश नहीं माना जाता—

(1) एक सहज मान्य ऐतिहासिक तथ्य यह है कि प्राचीनकाल में अनेक जातियाँ कबीलों में खानाबदोश जीवन व्यतीत करती थीं। एक स्थान से भोजन और चरागाह की सुविधा समाप्त या अपर्याप्त हो जाने पर वे ऐसे क्षेत्र की शोध में स्थानांतर करती थीं जहाँ इन सुविधाओं की प्रचुरता हो। इन सुविधाओं से सम्पन्न प्रदेश को छोड़कर किसी असुविधा या कम सुविधावाले क्षेत्रों में

स्वेच्छावश जाने का प्रश्न नहीं उठता। भारत ऐसा ही सुख-सुविधासम्पन्न देश रहा है, इतिहास इसका प्रमाण है कि शक, हूण, कुषाण, मंगोल और मुगल आदि (अंग्रेजों को छोड़कर) जितनी जातियाँ यहाँ आईं, यहीं बस गईं, बाहर नहीं गईं। इस स्थिति में आर्य यहाँ से बाहर गए, यह धारणा व्यावहारिक नहीं है।

रामायण, महाभारत, पुराण आदि के कतिपय कथनों एवं आख्यानों के आधार पर आर्यों के यहाँ से दूरस्थ देशों में जाकर बसने से सम्बन्धित जो निष्कर्ष पंडितवर्ग ने निकाले हैं[10] वे अन्य स्रोतों से प्रमाणित न हो सकने के कारण संदिग्ध हैं।

(2) दूसरे यह कि सिंधु घाटी की सभ्यता अनार्य सभ्यता है; उसका 'ऊर्ध्व-मेंढ्र' पशुपति अपने समस्त लक्षणों से अनार्य देवता है। 'रुद्र' के साथ समीकृत होकर वह कालांतर में आर्यधर्म में घुस गया, किंतु अनेक पुराण उसके अनार्यत्व की घोषणा बराबर करते पाए जाते हैं। फिर यह आर्यपूर्व अथवा प्राग्वैदिक सभ्यता है। ऋग्वेद में 'शिश्नदेव' का और पुराणों में शिव का जो यज्ञ-धर्म-विरोधी स्वरूप निरूपित है वह शिव के अनार्यत्व का बोधक है। फिर एलाम, अक्काद, मेसोपोटामिया, सुमेर, असीरिया, सीरिया, मिस्र इत्यादि पश्चिमी एशियाई देशों में प्राप्त हुई पुरातात्त्विक सामग्री से सिंधुसभ्यता का जो सम्बन्ध प्रकाश में आता है उसकी अनदेखी नहीं की जा सकती। अतः जब तक यह प्राग्वैदिक अनार्य सभ्यता—सैंधव सभ्यता—आर्य सभ्यता सिद्ध नहीं हो जाती तब तक आर्यों को इस देश का मूलनिवासी या सर्वेसर्वा नहीं माना जा सकता।

(3) तीसरे, यदि भारत आर्यों का आदिदेश होता तो समग्र देश में आर्य भाषाओं का प्रचलन होता; किंतु तथ्य यह है कि दक्षिणी भारत में, उत्तर-पूर्व के कुछ पहाड़ी प्रदेशों में और बिलोचिस्तान के ब्राहुई क्षेत्र में अनार्य भाषाएँ बोली जाती हैं।

(4) चौथे, लिथुआनिया की प्राचीन भाषा के स्वरूप का प्राचीन संस्कृत से इतना अधिक नैकट्य या साम्य है, जितना भारतीय भाषाओं का भी नहीं है।

ये ही वे मुख्य आपत्तियाँ हैं जिनके तर्कसंगत समाधान के लिए, तुलनात्मक भाषाविज्ञान, पुरातात्त्विक शोध, कतिपय ऐतिह्य संदर्भों एवं नृवंशशास्त्र आदि के प्रमाणों के साक्ष्य पर, भारत में आर्यों का आगमन बाहर से हुआ माना जाता है।

आर्यों का आदिदेश

ऋग्वेदोत्तर काल से ही आर्य शब्द का प्रयोग त्रैवर्णिक, विद्वान्, कर्मनिष्ठ, उत्तम-वर्ण, भद्रजन, आचारवान, गुणवान आदि अर्थों में होने लगा था और द्रविड़ शब्द मुख्यतः स्थान वाचक हो गया था—पुराणकार द्रविड़, आंध्र, कर्णाटक, महाराष्ट्र और गुजरात को 'पंचद्रविड़ाः' कहा करते थे। अतः आर्य और द्रविड़ दो प्रजातियाँ हैं, और इस देश में दोनों बाहर से आई हैं—इस प्रकार का कोई

विचार अठारहवीं शताब्दी तक अस्तित्व में न था। सन् 1786 ई० में सर विलियम जोन्स ने यह स्थापना रखी कि यूनानी, लातीनी, गोथिक, केल्टिक, फारसी और संस्कृत किसी एक ही मूलभाषा से विकसित हुई हैं, तब तुलनात्मक भाषाविज्ञान का प्रारम्भ हुआ, और पाया गया कि उत्तर भारत की सभी भाषाएँ; पश्चिमी एशिया की जेंद, फारसी, पश्तो, बलूची, कुर्द और आरमीनियन भाषाएँ तथा यूरोप की इटालियन, फ्रेंच, स्पेनिश, यूनानी, केल्टिक, जर्मन, अंग्रेजी, ट्यूटानिक, स्लावेनिक, लिथुआनियन, लातीनी, अलवेनियन आदि भाषाएँ एक ही स्रोत से निकली हैं। इन सभी भाषाओं के बोलनेवालों को विद्वानों ने हिंद-जर्मन, हिंद-यूरोपीय, हिंद-ईरानी अथवा केवल 'आर्य' कहा है, और तब से आर्यों के 'आदिदेश' की शोध-खोज जोर-शोर से आरम्भ हुई।[11]

म० म० बालगंगाधर तिलक[12] का मंतव्य है कि आर्यों का 'आदिदेश' उत्तरीध्रुव होना चाहिए। क्योंकि उत्तरीध्रुव में छः महीने का दिन और छः महीने की रात होती है, वेदों के सूक्तों में भी छः महीने के दिन और छः महीने की (दीर्घतमा) रात्रि का वर्णन है।[13] उत्तरध्रुव में सप्तर्षि नक्षत्र शिर के ऊपर फिरते हैं; वेदों में भी इस घटना का वर्णन है। ऋग्वेद के ऊषा सूक्त में ऊषा का जो स्तवन है, वह, यहाँ की अल्पकालीन ऊषा का न होकर उत्तरीध्रुव की दीर्घजीवी ऊषा के सौंदर्य से सम्बद्ध है। उत्तरीध्रुव में सूर्य दक्षिण से उदय होता दिखाई देता है, ऋग्वेद में भी सूर्य को दक्षिण-पुत्र कहा गया है। ऋग्वेद के एक मंत्र में सौ हिम (वर्ष) जीने की अभिलाषा व्यक्त की गई है—"तरेम तरसा शतं हिमा" इत्यादि। तिलक के मंतव्य का खंडन अविनाशचंद्र दास उमेशचंद्र विद्यारत्न,[14] नाना पावगी[15] प्रभृति धुरंधर पंडितों द्वारा किया गया है।

डॉ० सम्पूर्णानंद[16] एवं अविनाशचंद्र दास[17] ने वैदिक संहिताओं के गहन अध्ययन एवं वैदिक भूगोल को लक्ष्य में रखकर जो विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है उसके अनुसार आर्यों का आदिदेश 'सप्तसिंधु' होना चाहिए। ऋग्वेद में विशेष उल्लेख सप्तसिंधु का ही हुआ है, और उसे ही 'देवकृत योनि' कहा गया है। यदि आर्य कहीं बाहर से आये होते तो उन्होंने इस बात का कहीं, किसी रूप में उल्लेख किया होता, किंतु ऐसा कोई उल्लेख नहीं किया है। 'आर्य' संस्कृत भाषा का शब्द है। संस्कृत भाषा के शब्द सर्वाधिक रूप में भारतीय भाषाओं में ही मिलते हैं इत्यादि। अतः सप्तसिंधु ही उनका आदिदेश था। सप्तसिंधु के आर्यों की ही एक शाखा 'अहुर मज्द' (असुर महत्) की उपासक हो गई थी, जो इंद्राग्नि आदि देवोपासक आर्यों से परास्त होकर ईरान आदि पश्चिमी एशिया के देशों एवं यूरोप में जाकर बस गई। देवासुर संग्राम आर्यों की दो शाखाओं का गृहयुद्ध है। एक पर्जिटर को छोड़कर, पश्चिमी विद्वानों को यह मत मान्य नहीं है।

डॉ० राजबली पांडेय के अनुसार आर्यों का आदि निवास स्थान मध्यदेश (वर्तमान उत्तर प्रदेश और बिहार) था। उनके मुख्यकेंद्र अयोध्या, प्रतिष्ठान

(प्रयाग के पास झूंसी) और गया थे। यहीं से वे लोग भारत के विभिन्न भागों में फैले और उनकी कुछ शाखाएँ पश्चिमोत्तर दर्रों के रास्ते मध्य और पश्चिमी एशिया तक पहुँचीं। ऋग्वेद का सप्तसिंधु आर्यों की आदि भूमि न होकर उनका नव विजित उपनिवेश था।[18]

पं० रघुनंदन शर्मा[19] ने पौराणिक मत को मान्य किया है, जिसके अनुसार सृष्टि का प्रारम्भ हिमालय के 'मेरु' स्थान पर हुआ, जिसे 'मानस' भी कहा गया है। 'मनु' ही इस सृष्टि के आदिपुरुष हैं। जगप्रसिद्ध 'जलप्लावन' की घटना का मेरु या मेर ही जेंद भाषाभाषी ईरानियों द्वारा 'मौरु', यूनानियों द्वारा 'मेरोस्, दक्षिणी तुर्किस्तानवालों द्वारा 'मेरुव', मिस्रियों द्वारा 'मेरई' और असीरियावालों द्वारा 'मोरुख' कहा गया है। विश्वामित्र द्वारा त्यक्त पचास पुत्र और मनु द्वारा उल्लिखित बहिष्कृत जातियाँ ही दुनिया के शेष भागों में जाकर बसीं। इनमें से कुछ जातियाँ नवीन संस्कारों के साथ पुनः आक्रामक के रूप में लौटकर आईं इत्यादि।

गाइल्स[20] के अनुसार प्रायः सभी प्राचीन आर्यभाषाओं में 'वीरस्' (वाइरोज-Wiros) शब्द का प्रयोग 'पुरुष' के अर्थ में हुआ है, अतः इन्हें पूर्वोक्त हिंद-जर्मन आर्य आदि नामों की अपेक्षा 'वाइरोज' नाम देना अधिक उचित होगा। क्योंकि इन लोगों की भाषा में 'समुद्र' के लिए कोई शब्द नहीं मिलता, और जिन वृक्षों, फलों, वनस्पतियों, पशु-पक्षियों के नाम इनके प्राचीन साहित्य में मिलते हैं, वे समशीतोष्ण प्रदेश के हैं।[21] अतः कोई मैदानीक्षेत्र ही इन जातियों का आदिदेश होना चाहिए। ऐसा प्रदेश यूरोप में हंगरी, आस्ट्रिया और बोहेमिया वाला प्रदेश या डैन्यूब नदी की घाटी थी। समशीतोष्ण कटिबंध प्रदेश की वनस्पतियों, पशु-पक्षियों से युक्त, समुद्र से दूर, कृषि और पशुपालन के उपयुक्त होने से यही प्रदेश आर्यों का आदिदेश हो सकता है। गाइल्स मत भी असंदिग्ध नहीं है, क्योंकि आज से चार हजार वर्ष पूर्व वहाँ आज की जैसी ही जलवायु थी यह नहीं कहा जा सकता। न यही कहा जा सकता है कि डैन्यूब नदी की घाटी ही एकमात्र ऐसा क्षेत्र है जहाँ कथित पशु-पक्षी एवं वनस्पति मिलती हैं।

मैक्समूलर के अनुसार आर्यों का आदिदेश मध्य एशिया था। यहीं से उनकी एक शाखा ईरान में आकर बस गई; और इसी शाखा के कुछ लोग भारत में आकर बसे। भारतीय वेद और ईरानियों की धर्मपुस्तक 'जेंद-अवेस्ता' में न केवल इंद्र, वायु, मित्र, नासत्य आदि देवताओं के नाम, यत्किंचित् हेर-फेर के साथ, समान हैं, कुछ धार्मिक विश्वास एवं अनुश्रुतियाँ भी एक जैसी हैं। 'अवेस्ता' और 'ऋग्वेद' की भाषा में साम्य भी इतना है कि कुछ थोड़े-से परिवर्तन से ही वेद मंत्रों को अवेस्ता की भाषा में बदला जा सकता है। इससे प्रकट है कि ईरानी और भारतीय आर्य कभी साथ-साथ रहे होंगे। इनके जीवन से सम्बन्धित पशुओं--गायों और घोड़ों—के रहने के उपयुक्त समशीतोष्ण और घास के मैदानों की भूमि मध्य एशिया ही इनका आदिदेश हो सकता है।

पुरातात्त्विक शोधों के साक्ष्य पर गार्डन चाइल्ड का मत है कि आर्य सभ्यता के अवशेष राइन नदी, स्विट्जरलैंड, उत्तरी आस्ट्रिया, इटली, हंगरी और दक्षिण रूस के घास के मैदान और एशिया माइनर के सभी क्षेत्रों में उपलब्ध होते हैं। अतः आर्यों का आदिदेश स्केंडिनेविया या दक्षिणी रूस होने की सम्भावना है। यहीं से वे लोग ईरान और इरान से भारत आए।

एशिया माइनर के 'बोगज़ कोई' या 'बोगाज कुई' नामक स्थान पर 1400 ई०पू० के कुछ अभिलेख मिले हैं जिनमें हित्तानी शासक सुबिल्यूलियूमा और मित्तानी शासक मन्तोवाजा के लगभग 1380 ई० पू० हुई संधि का अभिलेख भी है। जिनमें ऋग्वैदिक देवता मित्र, वरुण, इंद्र एवं नासत्य (अश्विनी द्वय) का साक्ष्य स्वीकार किया गया है।

सोलहवीं शती ईसा पूर्व के बेबीलोन के कसानी शासकों के नाम संस्कृत में हैं, यथा—शुरिअस (सूर्य), मर्यत (वैदिक मरुतस्) इत्यादि। बाद की शताब्दियों के मितानी राजाओं के नाम भी संस्कृत में हैं, यथा – आर्ततम, तुषरत्त, सुतत्तर्न (वैदिक सुत्राण)। तदुपरांत 'बोग़ज कोई' के अभिलेखों में एक घोड़े को साधने का एक प्रबंध है, जो शुद्ध संस्कृत में है। विद्वानों की मान्यता है कि घोड़ों का पालना सम्भवतः 2000 ई० पू० से पहले से ही प्रारम्भ हुआ था, और एलाम के रहने वाले केशी (जिन्होंने बेबीलोनिया पर अधिकार किया था) और भारत के आर्य इसे जानते थे। केशी राजाओं के उक्त नाम संस्कृत में हैं, किंतु उनकी भाषा स्वरूप आज ज्ञात नहीं है। ऋग्वेद की एक उक्ति (10/102/6) में केशी सारथी को रथ चलाने में प्रवीण कहा गया है—'अवावचीत्सारथिरस्य केशी।'

उक्त प्रमाणों का उपयोग आर्यों का आगमन और बहिर्गमन सिद्ध करने के लिए विद्वज्जन अपने-अपने ढंग से करते हैं। किंतु लक्ष्य योग्य यह भी है कि दंत्य एवं मूर्धन्य ध्वनियाँ संस्कृत के अतिरिक्त किसी आर्य भाषा में नहीं हैं, और संस्कृत में इनका आगमन प्राचीन द्रविड़ भाषा के प्रभावस्वरूप माना जाता है। अतः समग्र स्थिति के पर्यावलोचन से यही प्रतीत होता है कि "ईरान और भारत के आर्य पहले एक ही स्थान पर रहते थे, और उनके देवता भी एक थे। परस्पर झगड़ा होने पर एक शाखा ईरान में रहने लगी और दूसरी सप्तसिंधु के प्रदेश में आकर बस गई। सम्भवतः इन आर्यों के पूर्वज मध्य एशिया से दक्षिणी रूस तक फैले हुए थे। वहाँ से कुछ पश्चिम की ओर, यूरोप के देशों में जाकर बस गए और कुछ पूर्व में ईरान और भारत में।"[22]

भारत में आर्यों का आवासक्षेत्र

'ऋग्वेद' में जैसा पहले संकेत किया गया है, आर्यों के आवासक्षेत्र के रूप में सर्वाधिक उल्लेख 'सप्तसिंधु' या सिंधु का हुआ है। 'सप्तसिंधु' अर्थात् सात नदियों का क्षेत्र, और वैदिक भूगोल के अनुसार इन नदियों के नाम हैं—वितस्ता

(झेलम), असिक्नी (चंद्रभागा-चिनाव), परुष्णी (इरावती-रावी), विपाष (विपाट्-व्यास), शतुद्री (सतलज), सरस्वती (जो अब नहीं रही है), और दृषद्वती (सम्भवतः घग्घर)। स्पष्ट है कि इन नदियों द्वारा सिंचित क्षेत्र वर्तमान पंजाब प्रांत का क्षेत्र है।

विचारणीय होगा कि उक्त क्षेत्र में और भी छोटी-मोटी नदियाँ हैं, जैसा आगे स्पष्ट हो जाएगा। ऋग्वेद में अन्य भी अनेक नदियों के नाम हैं, फिर उपर्युक्त गणना में सिंध नदी को भी सम्मिलित नहीं किया, अर्थात् अनेक नदियों के होते हुए और उनसे परिचित होते हुए भी वैदिकों ने सप्तसिंधु नाम ही क्यों पसंद किया है? राहुल सांकृत्यायन का विचार है कि मध्य एशिया में भी एक सप्तसिंधु– इलि-चु आदि सात नदियों की उपत्यकाओं में था। यही रूसी भाषा में आज सेमि-रैच्ये (सात नदी) प्रदेश है। जान पड़ता है कि वैदिकों का सप्तसिंधु, प्राचीन काल से चले आते इसी नाम का अनुवाद है।[23] इस धारणा की पुष्टि इस ऐतिह्य तथ्य से भी होती है कि जब एक जाति एक क्षेत्र को छोड़कर दूसरे क्षेत्र में जाकर बसती है तो वहाँ के नदी, पर्वत एवं क्षेत्रों के नाम अपने मूल प्रदेश के नामों के आधार पर रखती है। सात नदियों का क्षेत्र ही उपयुक्त या पवित्र या अपना असली प्रदेश है, यह मान्यता पौराणिक परम्परा में भी पाई जाती है। आर्य संस्कृति के देशव्यापी विस्तार के बाद ये सात नदियाँ-- गंगा, यमुना, गोदावरी, सरस्वती, नर्मदा, सिंध और कावेरी मानी गई हैं। अस्तु।

उल्लेख्य होगा कि ऋग्वेद में अफगानिस्तान की चार नदियों के नाम मिलते हैं—कुभा (काबुल), सुवास्तु (स्वात), कुमु (कुर्रम) और गोमती (गोमल), तदुपरांत उत्तर-पश्चिम के कुछ सीमावर्ती क्षेत्रों के भी उल्लेख हैं, यथा आर्जीक-पक्थ (पख्तून), और गांधारि। इन उल्लेखों के आधार पर विद्वानों ने अनुमान लगाया है कि उस समय आर्य लोग पूर्वी अफगानिस्तान के बड़े भूभाग पर बसे हुए थे।

कतिपय विद्वानों का अनुमान है कि ऋग्वेद और बाद में पुराणों में उल्लिखित देवासुर-संग्राम उस समय घटित हुआ होगा जब आर्य भारत से बाहर ईरान अथवा उसके पूर्वी क्षेत्रों में बसते थे। हिलेब्राण्ट का विचार है कि पणिओं, दासों आदि के साथ दिवोदास का युद्ध आरकोसिया में हुआ था। उनके अनुसार पणि स्ट्रबो के पर्नियन थे, 'दास' दहए (सोग्दियन) लोग थे, पारावत टालमी के 'परुउतइ' (या परुपेताइ) लोग थे, और बृषय अरियन के ब र्सक्यूट (या बारसायेण्टेस) थे। जिस सरस्वती नदी के तट पर यह संघर्ष हुआ, वह पंजाब की सरस्वती न होकर आरकोसिया (ईरान) की 'हरह्वैती' थी। हिलेब्राण्ट का यह मंतव्य यद्यपि असंदिग्ध नहीं है, तथापि पूर्वोक्त चार नदियों के नाम तथा सृंजय, दूभीक, सृविंद, पर्शु, रिरिंदिर, आर्जीक और 'तितउ' ऐसे शब्द हैं जिनके ईरानी नाम होने की सम्भावना है, और ऋग्वेद (5/61/19) में उल्लिखित राजा रथवीथि दार्म्य, जो सम्भवतः उक्त गोमती के पर्वतीय क्षेत्रों का राजा था आदि

ऐसे उल्लेख हैं, "जिनसे प्रकट होता है कि ऋग्वेद के मंत्रद्रष्टा न केवल सप्तसिंधु में रह रहे थे, अपितु अफगानिस्तान; आरकोसिया, और यहाँ तक कि ईरान तक विस्तृत या सम्बद्ध थे।"[24] अर्थात् पश्चिमोत्तर भारत से लेकर इरान के पूर्वी क्षेत्रों तक का भू-भाग उस समय एक आर्यदेश था।

तदुपरांत ऋग्वेद में गंगा, यमुना एवं सरयू का भी उल्लेख है, किंतु तत्कालीन आर्य गंगा-यमुना से परिचित हो चुके थे - इससे अधिक इन उल्लेखों का महत्त्व नहीं है; और सरयू नदी आज (अयोध्या के निकट) की सरयू न होकर सप्तसिंधु क्षेत्र की ही कोई नदी थी। कुल मिलाकर देखने पर यही प्रतीत होता है कि ऋग्वेद के रचनाकाल के आसपास भारतीय आर्यों के पंचजनों—जिन पर आगे विचार किया जाएगा—में से अनु, द्रुह्य और तुर्वश-परुष्णी नदी के तट पर और पुरु तथा भारत सप्तसिंधु के पूर्व में (मध्यदेश में) बसे हुए थे।

अथर्ववेद, जो उत्तर वैदिक काल की रचना है, में, पूर्व में अंग और मगध तथा पश्चिम में बाहलीक (बलख) के क्षेत्रों के नाम मिलते हैं, जो इस प्रकार हैं—अंग, अंतदेश, गंधार, धन्व (मरुभूमि), पटूर, बहलीक, मगध, मध, मूजवंत, रूम (मरु), रूशत, विक्षर आदि। इन उल्लेखों से प्रकट होता है कि आर्य, जो कभी वितस्ता (झेलम) और असिक्नी (चिनाब) से भी पूर्व में रहते थे, क्रमशः पूर्व एवं दक्षिण की ओर आगे बढ़ते गए। ब्राह्मण उपनिषत्काल में वे और भी पूर्व की ओर बढ़कर पश्चिम उत्तर प्रदेश—कुरु-पांचाल—में पहुँचे; जहाँ वे बुद्ध से थोड़ा समय पहले, काशी, कौसल और उसके बाद मगध पहुँचकर हमारे ऐतिहासिक काल से मिल गये।[25] मेरे विचार से राहुलजी के इस कथन से ऐसा कोई अर्थ नहीं लिया जाना चाहिए कि महावीर और बुद्ध आर्य परम्परा में आते हैं, या उससे प्रभावित हुए होंगे।

उल्लेख्य होगा कि सप्तसिंधु क्षेत्र में भारतीय आर्यों की सांस्कृतिक प्रगति एवं विकास का मुख्य केंद्र सरस्वती और दृषद्वती नदियों का मध्यवर्ती क्षेत्र बना, उसे 'ब्रह्मावर्त' नाम दिया गया। मनु के अनुसार यही वह क्षेत्र है जहाँ के परम्परागत आचार 'सदाचार' की संज्ञा पाते हैं -- (मनु० 2/17/18) मनु के ही अनुसार दूसरा 'ब्रह्मर्षि देश' है जो पवित्रता की दृष्टि से ब्रह्मावर्त से कुछ कम महत्त्व का है, और जिसमें कुरुक्षेत्र, मत्स्य (वर्तमान राजस्थान), पंचाल और सूरसेन जनपद का समावेश है। तीसरा प्रदेश 'मध्यप्रदेश' है, जो हिमाचल एवं विंध्य पर्वतों के मध्य एवं विनशन (सरस्वती) के पूर्व तथा प्रयाग के पश्चिम का प्रदेश है; और चतुर्थ देश आर्यावर्त है—जो पूर्व और पश्चिम के समुद्रों तथा हिमालय एवं विंध्य का मध्यवर्ती क्षेत्र है; और यज्ञों के उपयुक्त है; शेष प्रदेश म्लेच्छ देश है (दे० मनुस्मृति 2/17-24)।

मनु के इस महत्त्वपूर्ण विवरण में प्रकट है कि प्रत्येक परवर्ती क्षेत्र की सीमाएँ अपने पूर्ववर्ती से पूर्व और दक्षिण की ओर बढ़ी हुई हैं। जो आर्य संस्कृति के क्रमिक क्षेत्रीय विकास की सूचक हैं।

यहाँ, आगामी विवरण को लक्ष्य में रखकर, हमें इतना स्मरण रखना होगा कि आर्यों के याज्ञिक कर्मकांड एवं धार्मिक विचारों का यत्किंचित् प्रचार देश के पूर्वी क्षेत्रों में भले हो गया हो, किंतु यह निश्चित है कि वह प्रभावशाली एवं स्थायी सिद्ध न हो सका। उपनिषत्काल से ही सांस्कृतिक दृष्टि से देश दो प्रमुख भागों में विभक्त था। एक ओर आर्य संस्कृति का केंद्र मध्यदेश था—जिसमें कुरु और पांचाल जनपद मुख्य थे, दूसरी ओर पूर्व एवं दक्षिण का क्षेत्र था, जिसमें काशी, कौसल, विदेह एवं मगध जनपद मुख्य थे।

आर्यों के पंचजन

ज्ञात होता है कि ऋग्वैदिक आर्य छोटे-छोटे समूहों में सप्तसिंधु क्षेत्र की नदियों की घाटियों में पृथक्-पृथक् बसे हुए थे। उनके इन समूहों में पाँच मुख्य थे, जिन्हें ऋग्वेद में पंचजनाः, पंचमानुषाः, पंचकृष्टयः, पंचक्षितयः एवं पंचचर्षणयः आदि कहा गया है। ऋग्वेद की एक उक्ति (6/61/12) में इनके सरस्वती के आसपास बसे होने का संकेत है। एक उक्ति (1/108/8) में पाँच जनों का उल्लेख हुआ है—

> यदीन्द्राग्नि यदुपतुर्वशेषु यद् द्रुह्यु ष्वनुषु पुरुषु, स्थः।
> अतः परि वृषणा वा हि यातमथा सोमस्य पिबतं सुतस्मस्य॥

अर्थात्—'मनोकामनाओं को पूर्ण करने वाले हे इंद्र और अग्नि, तुम दोनों यदुओं, तुर्वशों, द्रुह्युओं; अनुओं और पुरुओं में रहते हो; वहाँ से आकर (हमारे द्वारा तैयार किए गए सोम को पीओ।' इससे प्रकट है कि यदु, तुर्वश, द्रुह्यु, अनु और पुरु ही पंचजनाः हैं। किंतु स्थिति इतनी सरल नहीं है। एक तो सिंधु नदी के पश्चिम में भी पाँच जन अलिन (वर्तमान काफिरिस्तान), पक्थ (पख्तून), भलान (बोलन दर्रे के निवासी), शिव (सिंधु के निकटवर्ती), और विषाणिन बसे हुए थे। दूसरे ऐत० ब्रा० (3/31) में देवता, मनुष्य, गंधर्व, अप्सरा, सर्प और पितृगण को पंचजनाः कहा गया है; तथा सायणाचार्य ने चार वर्णों और निषाद को पंचजनाः कहा है इत्यादि।

इस स्थिति के पर्यावलोचन से यही प्रतीत होता है कि सिंध के पश्चिमी क्षेत्रों में बसे हुए अलिन आदि पंचजनों की अपेक्षा ब्रह्मावर्त में रहने वाले यदु आदि पंचजन अधिक महत्त्वपूर्ण रहे होंगे। ऐतरेय ब्राह्मण एवं सायणाचार्य की मान्यताएँ परवर्ती और युगसापेक्ष व्याख्या रूप हैं। अतः सम्भवतः यदु, तुर्वश, द्रुह्यु, अनु और पुरु ही आर्यों के पाँच प्रमुख जन रहे होंगे।

ध्यातव्य होगा कि इन पाँच जनों में भी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पुरु सिद्ध होते हैं। भरत, तृत्सु और कुशिक इनकी तीन उपशाखाएँ थीं; इनमें से प्रथम दो के नेता सुदास थे। आगे कुरु वंश का विकास भरतों और पुरुओं के मिल जाने पर हुआ बताया जाता है।

नृवंशशास्त्र

नृवंशशास्त्रियों के अनुसार आर्यभाषाभाषी लोगों की संज्ञा नार्डिक है। गोरा या गेहुआँ रंग, ऊँचा कद, उन्नत मस्तक, लम्बी नुकीली नाक, भरपूर दाढ़ी-मूँछ इनके प्रजातीय लक्षण हैं। इनके वंशज उत्तर-पश्चिम सीमा प्रांत, विशेष रूप से सिंधु नदी की ऊपरली घाटी तथा स्वात, पंचकोरा, कुनार, चित्राल नदियों की घाटियों और हिंदूकुश पर्वतों के दक्षिण में मिलते हैं। पंजाब, राजपूताना और गंगा की ऊपरली घाटी में भी यह प्रजाति अन्य प्रजातियों के साथ संमिश्रित रूप में पाई जाती है।

प्राचीन साहित्य[26] के उल्लेखों से ऐसा प्रतीत होता है कि ये लोग सुनहले बालों तथा नीली आँखों वाले थे। विद्वानों की मान्यता है कि भारतीय जलवायु के कारण उनके रंग-रूप में परिवर्तन आ गया है।

ऐतिह्य संदर्भ

जैसा हम कह चुके हैं, आर्यों के प्रजातिगत भेद की मान्यता का एक आधार आर्य भाषा परिवार है, जिसमें प्राचीन संस्कृत, लैटिन तथा यूनानी भाषाओं से व्युत्पन्न भाषाओं का समावेश होता है। कुछ विद्वानों का विचार है कि न केवल भाषा अपितु धार्मिक मान्यताएँ भी कृत्रिम या सीखे हुए आचार हैं, जिनका आदान-प्रदान, पारस्परिक सम्पर्क में आने वाली जातियों में अनिवार्यतः होता रहता है। जबकि प्रजातिगत भेद प्राकृतिक है। अतः प्रथम के आधार पर द्वितीय का निश्चय नहीं किया जा सकता।

उक्त विचार न केवल तर्कसंगत है, आधुनिक स्थिति-परिस्थिति से स्वतः-सिद्ध और प्रत्यक्ष है कि एक देश या व्यापारिक केंद्र या शिक्षाकेंद्र में बसने वाली प्रजाएँ वहाँ की भाषा आदि को अपना लेने पर भी एक प्रजाति की नहीं होतीं। दूसरी ओर वैदिकोत्तर भारतीय साहित्य में 'आर्य' शब्द का प्रयोग उत्तम वर्ण, त्रैवर्णिक, कर्मनिष्ठ, शिष्ट, भद्र, विद्वान् आदि अर्थों में एक विशेषण के रूप में होने लगा था। सायणाचार्य ने अपने भाष्यों में 'आर्य' 'आर्यान्' आदि शब्दों की व्याख्या—विदुषः, साधुवृत्तान्ः, यागपरान्, त्रैवर्णिक, विद्वांसः, कर्म-शीलस्य, उत्तमवर्णस्य आदि के रूप में की है। तब एक प्रजाति के रूप में आर्यों के अस्तित्व पर एक प्रश्नचिह्न लग जाता है, जिसके निराकरण के लिए ऐतिह्य प्रमाण की आवश्यकता होती है।

इस संदर्भ में उल्लेखनीय होगा कि हरवामणि सम्राट् दारयवहु प्रथम (दारा या डैरियस—मृत्यु 486 ई० पू०) अपने अभिलेखों में अपने बारे में कहता है—"हरवामनिशिय पार्स, पार्सपुत्र, आर्यवंशज, आर्य।" दारयवहु के पुत्र क्षयार्ष की सेना में 'आर्य' नामक टुकड़ियाँ थीं, और यह भी जानकारी मिलती है कि मीड़ियावासी, जो पारसियों के पहले हुए, आरम्भ में 'आर्य' कहलाते थे। तदुपरांत सिकंदर के समकालीन इतिहासकारों ने, उस समय सिंधु नदी के

दाहिने तट पर बसे हुए लोगों के लिए 'आर्य' शब्द का प्रयोग किया है।[27] 'ईरान' शब्द की (व्युत्पत्ति 'आर्यानाम्'– आर्यों का देश) शब्द से हुई बताई गई है।

इन ऐतिह्य महत्त्व के प्रमाणों से प्रकट होता है कि 'आर्य' नाम की एक प्रजाति थी।

पूर्वोक्त सैंधव संस्कृति के बाद सप्तसिंधु प्रदेश में आर्य संस्कृति, सरस्वती संस्कृति, ब्राह्मण संस्कृति आदि नामों से अभिहित जिस नवीन संस्कृति का विकास हुआ और जिसने देश के भविष्य का निर्माण किया वह इसी आर्य प्रजाति का प्रदेय मानी गई है।

वैदिक धर्म

प्रकट है कि ऋग्वेद सप्तसिंधु के आर्यों का धार्मिक ग्रंथ है, अतः वैदिक धर्म ही आर्य धर्म है। इस वैदिक धर्म के अनेक विकासात्मक स्तर माने गये हैं! निरुक्त (1/20) में कहा गया है कि प्रारम्भ में धर्म का साक्षात्कार करने वाले ऋषि हुए, बाद में ऐसे लोग हुए जिन्होंने धर्म का साक्षात्कार न करके उपदेश द्वारा (श्रुति द्वारा) मंत्रों को प्राप्त किया। तदनंतर ऐसे लोग हुए जिन्हें मंत्रों में रुचि नहीं थी, उन्होंने मंत्रार्थ को समझने के लिए वेद और वेदांगों का समाम्नान (संग्रंथन) किया।[28] इस कथन के आधार पर डॉ० मंगलदेव शास्त्री[29] ने वैदिक काल के तीन भेद माने हैं– (1) मंत्र काल (2) मंत्र प्रवचन काल और (3) संग्रंथन काल। प्रथम दो को उन्होने कथित सत युग और तृतीय को कथित त्रेतायुग भी बताया है। त्रेता ही वह युग है जब वेदत्रयी और पुरोहितों द्वारा विधिपूर्वक सम्पन्न होने वाला याज्ञिक कर्मकांड अस्तित्व में आया। इसी युग में आर्यप्रजा (विश्) में तीन वर्ण स्वीकृत बने। डॉ० शास्त्री के उक्त विभाजन में प्रथम दो युग तो एक ही (कृतयुग या सत्ययुग) युग की—एक प्रारम्भिक और और द्वितीय विकसित अवस्थाएँ हैं। अतः काल तो दो ही हुए—सत्ययुग और त्रेता। जो हो, रामायण, महाभारत, पुराण, स्मृतियाँ आदि के कथनों से इस मत की पुष्टि अवश्य होती है कि याज्ञिक कर्म प्रारम्भिक न होकर उत्तरकालीन हैं, अर्थात् त्रेतायुगीन हैं।

जो हो, यह एक स्वीकृत सत्य है कि वेदत्रयी में सर्वप्रथम ऋग्वेद आता है। उसी की गायन योग्य ऋचाओं को 'साम' अभिधान के अंतर्गत संकलित करके और नाममात्र के लिए उनमें 75 नए साम जोड़ देने से 'साम संहिता' बनी है, और ऋग्वेद की ही यज्ञ क्रिया के लिए उपयुक्त समझी गई ऋचाओं को यजुष् नाम के अंतर्गत अपनाकर तथा कुछ और गद्यात्मक एवं पद्यात्मक मंत्र जोड़कर यजुष् संहिता बनी है। इससे सिद्ध है कि प्रारम्भ में वेद एक ही था—और वह 'ऋग्वेद' था। 'ऋग्वेद' के भी प्रथम एवं दशम मंडल शेष मंडलों की तुलना में भाषा और प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से भी अर्वाचीन माने गए हैं। प्रथम

व अंतिम मंडलों के अतिरिक्त मंडलों में भी विभिन्न कालावधि के विभिन्न ऋषियों और उनके कुलों के वंशजों की रचनाएँ संकलित हैं, अतः वह एक दीर्घ-कालीन रचनाओं का संग्रह है। किंतु उनकी समस्त रचनाओं को पूर्वापर के क्रम में देख पाना सरल नहीं है। अतः यहाँ सप्तसिंधु के आर्यों के धार्मिक विश्वासों का निरूपण ऋग्वेद को प्रमुख आधार बनाकर किया जायगा।

वैदिक देवता

वैदिक देवताओं के विषय में डॉ॰ राधाकृष्णन लिखते हैं, "मानव मस्तिष्क रूपी कारखाने में देवमाला के निर्माण की पद्धति ऋग्वेद में जैसी देखी जाती है, वैसी अन्यत्र नहीं मिल सकती। हमें इसमें मानवीय मानस की एक प्रातःकालीन स्वाभाविक नवीनता एवं उज्ज्वलता मिलती है, जो अभी तक पुराने रीति-रिवाजों और नियत परिपाटी से म्लान नहीं हुई थी।·· वैदिक देवताओं के; प्राकृतिक शक्तियों से साम्य स्थापित करने के समय से ही हम प्रारम्भ कर सकते हैं, और निर्देश कर सकते हैं कि किस प्रकार शनैः-शनैः उन प्राकृतिक शक्तियों को ही साधुवृत्त एवं अतिमानव सत्ता का रूप दे दिया गया।" अर्थात् प्रकृति प्रेमी, कल्पनाशील-कवित्व स्वभाव वाले प्राचीन वैदिक ऋषियों ने "प्राकृतिक पदार्थों (दृश्यों एवं घटनाओं को भी) को ऐसे प्रगाढ़ मनोभावों और कल्पाना शक्ति के द्वारा देखा कि उन्हें वे आत्मा की भावना से परिपूर्ण प्रतीत होने लगे।[30] इन्हीं प्राकृतिक दृश्यों, पदार्थों एवं घटनाओं का मानवीकरण वैदिक देवताओं का स्वरूप लक्षण है! अर्थात् "वैदिक धर्म का प्रारम्भिक रूप इसी प्रकार की प्रकृति की पूजा था।"[31]

वैदिक देवताओं के स्वरूप के विषय में प्रायः ऐसे ही विचार पाश्चात्यों ने भी व्यक्त किए हैं। अग्नि, वायु, आपः (जल), आदित्य, द्यौः, पृथिवी, उषस् आदि ऐसे ही देवता हैं जिनके प्राकृतिक आधार को नकारा नहीं जा सकता। समस्त झंझावात के देवता अश्विनी द्वय प्रातः एवं सायंकालीन दो नक्षत्र हैं, इंद्र वर्षा-बादलों के देवता हैं, पूषन् ओषधियों के, पर्जन्य जल के, इस प्रकार 'वरुण' जैसे एकाध अपवाद को छोड़कर अधिकाश देवताओं का प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में प्रकृति से सम्बन्ध देखा जा सकता है। किंतु भावुक स्तोताओं ने इनके हाथ, पैर, स्वरूप, वाहन, यहाँ तक कि पत्नियों आदि का वर्णन करके उन पर पुरुष विधत्व का आरोपण इतनी कुशलता से किया है कि उनका 'पृथकत्व एवं व्यक्तित्व' उभर आया है।

देवताओं के स्वरूप के निश्चय के विषय में एक दूसरा विचार भी पाया जाता है, जो मेरे विचार से अधिक समीचीन है; और वह यह कि देवता का स्वरूप और उसके गुणधर्म तथा क्रियाकलाप उसके उपासकों की एतद्विषयक आदर्श मान्यताओं का प्रतीकात्मक समीकरण होता है। अर्थात् 'यद् रूपः पुरुषो भवति तद् रूपा तस्य देवता।' उक्ति के अनुसार तो जिस रूप का व्यक्ति

होता है, उसी रूप वाला उसका देवता होता है, किंतु मेरे विचार से व्यक्ति स्वयं जैसा बनना चाहता है, वैसा उसका देवता होता है। इस तथ्य की पुष्टि हम वैदिकों के इंद्र एवं वरुण के स्वरूपों में, जैसा हम आगे देखेंगे, देखते हैं।

वैदिक देवताओं की संख्या कहीं तैंतीस कहीं गई है, तो कहीं तीन हजार तीन सौ उन्तालीस। निश्चय ही दोनों ही संख्याएँ अशुद्ध हैं। गिनने पर इनकी संख्या प्रथम से अधिक और द्वितीय से न्यून रहेगी। पं० रामदास गौड़ (दे० हिंदुत्व, पृ० 27) की गणनानुसार ऋग्वेद के देवताओं की संख्या उन्यासी (79) है। स्थान भेद के आधार पर वैदिक देवताओं के तीन भेद मान्य किए जाते हैं। जिनके अनुसार वरुण, पूषा, मित्र, सविता, सूर्य, विष्णु, अश्विन एवं ऊषा द्युस्थानीय हैं; इंद्र, पर्जन्य, रुद्र, अपानपात् आप एवं मरुत अंतरिक्ष-स्थानीय हैं, और अग्नि, बृहस्पति, सोम, पृथ्वी, स्थानीय हैं। प्रायः सभी देवता महान और शक्तिशाली हैं। अधिकांश देवता पुरुष हैं। सरस्वती, ऊषा, ईला, अदिति एवं वाक् प्रमुख स्त्री देवता हैं।

देवताओं की स्तुतियों में जो एक विशेष बात पाई जाती है वह यह कि स्तोता जिस समय जिस देवता की स्तुति कर रहा हो उस समय वह उसी देवता को सर्वश्रेष्ठ, सर्वव्यापी, सृष्टि का कर्ता इत्यादि कहता है। अर्थात् अनेक देवताओं की स्तुतियों में प्रत्येक को अलग-अलग सर्वश्रेष्ठ देवता कहा गया है। मैक्समूलर ने इस प्रवृत्ति को 'हीनोथीज्म' करार दिया है। पाश्चात्यों ने देवमंडल में से मुख्य और गौण का निर्णय उनके गुण-धर्मों के आधार पर नहीं, अपितु उनके प्रति लिखे गए सूक्तों की संख्या के आधार पर भी किया है। मेरे विचार से ये असंगत धारणाएँ हैं, क्योंकि 'स्तुति' वस्तुतः 'स्तव' या 'प्रशस्ति' है, जिसमें सम्बन्धित देवता का गुणगान ही मुख्य होता है, और इस 'गुणगान' में देवता के गुणों का कुछ बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन करना दोषपूर्ण नहीं माना जाता। स्मृति में ही सम्बन्धित देवता को अमुक देवता से अपेक्षाकृत घटिया या दूसरे नम्बर का कह देना न केवल स्तुति को अपितु उस देवता के भी महत्त्व को समाप्त कर देने के बराबर होगा।

वैदिक देवताओं के विषय में पाश्चात्य विद्वानों की एक सामान्य धारणा यह भी पाई जाती है कि (यद्यपि) "वैदिक देवों का चरित्र नैतिक दृष्टि से भी समृद्ध माना गया है। सभी देवता सत्यवादी और कपटरहित हैं। ये लोग सदैव सत्यता और धार्मिकता के रक्षक तथा मित्र हैं फिर भी वैदिक देवों के गुणों में नैतिक धरातल का उतना ऊँचा स्थान नहीं है, जितना शक्ति का। यही कारण है कि 'महान' और 'शक्तिशाली' आदि विशेषणों की तुलना में 'सत्यवादी' और 'कपटरहित' को कहीं कम प्रमुखता दी गई है।"[32] कहना न होगा कि यहाँ वैदिक देवताओं के नैतिक स्तर का निर्णय प्रयुक्त विशेषणों के अर्थ के आधार पर नहीं अपितु उनकी आवृत्तियों की संख्या के आधार पर करने की चेष्टा की गई है। कुछ विद्वान् इस विषय में उस इंद्र का उदाहरण भी देते हैं,

जिसकी दृष्टि साधन-शुद्धि की अपेक्षा लक्ष्य-सिद्धि पर कुछ अधिक केंद्रित रहती है। किंतु हमें यह न भूलना चाहिए कि 'नैतिकता' वस्तुगत सत्य न होकर देश-काल एवं व्यक्तिसापेक्ष सत्य है—जैसा हम आगे देखेंगे।

इस संक्षिप्त पर्यावलोचन के बाद यहाँ द्यौ., अंतरिक्ष एवं पथिवी स्थानीय देवताओं में से प्रत्येक के एक-एक प्रतिनिधि देवता क्रमशः वरुण, इंद्र एवं अग्नि का संक्षिप्त परिचय उपयुक्त होगा।

वरुण

वैदिक देवताओं में अत्यंत महत्त्व के द्यौः स्थानीय देवता हैं, जिनकी गणना आदित्यों में भी की गई है। आधुनिक शोधों के अनुसार ये 'भारत-ईरानी युग' के महत्त्वपूर्ण देवता हैं। अवेस्ता के 'अहुर मज्द' और वैदिक 'वरुण' में साम्य पाया जाता है। वेदों में 'असुर' शब्द का प्रयोग वरुण के लिए या वरुण के साथ, विशेष रूप में हुआ है। वैदिक 'ऋत' और अवेस्तिक 'अश' (या अशा) समानार्थी हैं दोनों का अर्थ 'दैवी व्यवस्था' है। वरुण 'ऋत' के और अहुर मज्द 'अश' के देवता हैं। जैसे वैदिक वरुण का अभिन्न साथी 'मित्र' नामक देवता है, वैसे ही अहुर मज्द का 'मिथ्र' है—दोनों का सूर्य के प्रकाश से सम्बन्ध है। वैदिक 'मित्रावरुण' का युग्म परवर्ती अवेस्ता के 'मिथ्र अहुर' के समान है। वरुण और अहुर मज्द समानरूप से नैतिक नियमों के अधिष्ठाता हैं। 'बोगाज कोई' (इराक) के अभिलेख (1400 ई० पू०) में वरुण का नामोल्लेख है।

कुछ विद्वान वरुण को भारत-यूरोपीय काल का देवता भी मानते हैं, और यूनानी देवता 'औरनॉज' से उसका साम्य स्थापित करते हैं।

वैदिक सूक्तों के अनुसार वरुण का मानवाकार दिखाव में सुन्दर है। उनका शरीर पुष्ट तथा मांसल है। उनके हाथ-पैर, नेत्र आदि तथा खाने-पीने का वर्णन भी किया गया है। उनका कवच स्वर्णिम है। उनके पास एक रथ है, जिसे वे स्वयं भी हाँकते हैं, और जिसमें बैठकर वे परम व्योमन् में विचरते हैं। सबसे ऊँचे आकाश (या स्वर्ग)में उनका विशाल एवं भव्य (स्वर्णिम) आवास है, जिसमें सहस्र स्तम्भ और सहस्र द्वार हैं, जिसमें सिंहासनारूढ़ होकर वे विश्व पर शासन करते हैं, वहीं पितृगणों को दर्शन देते हैं। वे क्षत्रिय हैं, स्वराट् हैं। न केवल मानवों अपितु देवों सहित वे सकल सृष्टि के राजा हैं। सूर्य उनका गुप्तचर है जो पृथिवी पर मनुष्यों द्वारा आचरित पापों की सूचना उन्हें देता रहता है।

वरुण 'ऋत' (भौतिक, नैतिक एवं याज्ञिक विधान) के देवता हैं। वे 'ऋतस्य गोपः' (ऋत के रक्षक) हैं। सूर्य उनके चक्षु है, आकाश उनके वस्त्र है और झंझावात उनके निश्वास है—(ऋ० 7/87/2)। वरुण का ऋत ही पृथ्वी और आकाश को धारण किए हुए है; तीनों स्वर्ग, तीनों भूलोक उसमें समाहित हैं, वे स्वर्ग, पृथ्वी और वायु सबको धारण करते हैं (ऋ० 8/41/37)।

वरुण के धर्म (विधि), धर्मन् (आदेश या नियम), और व्रत (सदाचार,

सत्संकल्प) सार्वभौम हैं। वरुण के धर्मन् से ही नदियाँ बहती हैं (ऋ० 1/24/8), सूर्य चमकता है, नक्षत्र एवं चंद्रमा आदि अपनी-अपनी परिधि में नियमित भ्रमण करते हैं (ऋ० 1/24/10)। रजनियों, ऊषाओं और ऋतुओं का नियमन भी वे ही करते हैं। आप असुर जैसी आश्चर्यकारक (गुह्य) शक्ति से अपने धर्मों की रक्षा करते हुए ऋतु के नियमन के अनुसार सम्पूर्ण विश्व पर शासन करते हैं, देदीप्यमान रथ के समान दिखने वाले सूर्य को आप ही ने स्वर्ग में स्थापित किया है (ऋ० 5/63/7)। अशेष भौतिक विधान उनके अधीन है।

भौतिक जगत् की तरह नैतिक जगत् (जागतिक नैतिक व्यवहारों) में भी वरुण के धामन् या धर्मन् और व्रत परिव्याप्त है (ऋ० 2/28/8)। जगत् के सदाचार विषवक नियमों का विधान उन्हीं के द्वारा सम्पन्न हुआ है। उनके नियमों का उल्लंघन मनुष्य या देवता कोई नहीं कर सकता। "वरुण की इच्छा की अभिव्यक्ति ही व्रत, धर्म, ऋत, दक्ष, यज्ञादि है, और उनका अतिक्रमण ही अपराध, पाप या अनृत है।[35] वे सर्वज्ञ हैं (ऋ० 7/87/7), सबके पापों को देखते (17/60/4)। वे सर्वव्यापी हैं, कोई भी उनकी पहुँच से दूर नहीं जा सकता; वे विश्व में घटित होने वाली गुप्त बातों को भी जानते हैं—प्रत्येक आँख के पलक झपकने तक का उन्हें ज्ञान है। उनके नियम अपरिवर्तनशील हैं, और वे स्वयं धृतव्रत हैं। अपने नियमों का पालन करने वालों से प्रसन्न रहते हैं, उन्हें पुरस्कार देते हैं, अभयदान देते हैं। उनके नियमों का अतिक्रमण करने वाला दंड का भागी होता है।

इस सबके बावजूद वे कठोर हृदय के न होकर बड़े सदय हृदय एवं क्षमाशील देवता हैं (ऋ० 7/87/7)। आवश्यक इतना ही है कि व्यक्ति अपने पाप को स्वीकार करे, पश्चात्ताप करे और आगे ऐसा न करने की प्रतिज्ञा करे। ऋग्वेद में वरुण के प्रति कहे गए सूक्तों में से एक भी ऐसा नहीं है जिसमें क्षमा-याचना का समावेश न हो। विद्वानों से यह ज्ञात होने पर कि वरुण उस पर कोपायमान है, एक व्यक्ति प्रार्थना करता है कि—'हे वरुण ! आप बतायें कि आप अपने इस प्रशंसक को किसी पुराने पाप के कारण नष्ट करना चाहते हैं, या नए के कारण ? हे वरुण ! हमें अपने पूर्वजों के पापों से और हमारे द्वारा हुए पापों से भी मुक्त करो। हे वरुण ! यह मेरा जानबूझकर किया गया कर्म नहीं है, यह अचानक हो गया है; वह प्रमादप्रेरक आकर्षण था, बासना थी, या जुए का एक अविचारी दाव था।' 'हे प्रभु ! दुष्टों को फँसाने के लिए फेंके गए तुम्हारे जाल में सब असत्यवादी फँस जाएँ, किंतु सत्यवादी उससे बचे रहें।[31] वरुण अनृत से घृणा करते हैं– (ऋ० 3/59/1)। व्रतों का उल्लंघन करने वालों को दंड या चेतावनी देने के लिए वे कभी-कभी रोग फैला देते हैं। अन्य उक्तियों में वे अंतरिक्ष एवं पृथ्वी के जलों के अधिष्ठातृ देवता भी माने गए हैं।

विद्वानों के अनुसार इंद्र भी भारत-ईरानी युग के देवता हैं। पूर्वोक्त 'मितन्नी' देवताओं की सूची में इनका भी नाम है। ओल्डेनबर्ग (दे० ज० रॉ० ए० सो० 1909, पृ० 1090-5) के अनुसार "इंद्र एक आर्य देवता थे, क्योंकि यही निष्कर्ष अपरिहार्य रूप में इस तथ्य से भी निकलता है कि अवेस्ता एक दैत्य एवं विजय के देवता इंद्र से परिचित है, जिसका नाम 'वेरेथ्रध्न' है, जो निःसंदेह 'वृत्रहन्' का रूपांतर है, और जो अपने सबसे बड़े शत्रु वृत्र को मारने वाले इंद्र का अपना अनूठा विशेषण है।" ध्यातव्य है कि अवेस्ता में देवराज इंद्र दैत्यराज इंद्र के रूप में उल्लिखित है, जिसे विद्वज्जन जरथुस्त्र के धार्मिक सुधारों का परिणाम मानते हैं।

वैदिक सूक्तों में इंद्र की उत्पत्ति अनेक रूपों में वर्णित है। यहाँ इतना ही उल्लेख्य होगा कि सामान्यतः द्यौः एवं पृथ्वी को क्रमशः उनका जनक-जननी बताया गया है। कहीं-कहीं विश्वरूप (त्वष्टा) को इनका पिता कहा गया है।

इनके मानवाकार का वर्णन करते हुए इन्हें 'तुविग्रीवः, वपोदर, सुबाहुः' अर्थात् पुष्ट गर्दन, भरावदार उदर और सुंदर बाहुओं वाला कहा गया है (ऋ० 8/17/8)। इनके श्मश्रु (दाढ़ी-मूंछ) और सिर के बाल पीले रंग के बताए गए हैं (ऋ० 10/96/8)। शरीर अत्यंत गठीला एवं पत्थर सदृश दृढ़ बताया गया है।

वे स्तुतः शक्ति के स्वामी (शक्र) हैं, उनकी सौ शक्तियाँ हैं अतः वे 'शतक्रतु' हैं। 'शक्ति' अर्थ के सूचक उनके लगभग चालीस विशेषण हैं। वज्र जिसे त्वष्टा ने बनाकर दिया था, उनका विशेष शस्त्र है; अतः वे वज्री, वजिन् अथवा वज्र-बाहु हैं। उनका शौर्य वर्णनातीत है। इनके पास एक स्वर्णिम रथ है, जिसे भूरे रंग के दो अश्व खींचते हैं, वायु उनका सारथी है। इस रथ में बैठकर वे युद्ध करते हैं।

सोमरस का पान उन्हें बेहद प्रिय है, यहाँ तक कि सोम प्राप्ति के लिए ही उन्होंने अपने पिता विश्वरूप (त्वष्टा या त्रिशीर्षा) को टाँग पकड़कर पछाड़ दिया था। वृत्र से युद्ध करते समय वे तीन तालाबों का सोम पी गए थे। इनके विशाल आकार एवं भोजन के विषय में भी ऐसी अतिशयोक्तियों का सहारा लिया गया है। इतने प्रतापी होकर भी दयालु हैं, उनके जो मित्र एवं उपासक उन्हें सोम अर्पित करते हैं, वे उन्हें अपनी जैसी विजय एवं शक्ति प्रदान करते हैं।

इस देवता ने उत्पन्न होते ही अन्य समस्त देवताओं का नेतृत्व सँभाल लिया। इसके अस्तित्व के विषय में शंका करने वाली के प्रति कहा गया है कि "जिसके आगे आकाश और पृथ्वी काँपते हैं, जो द्रुतगति से चलकर पृथ्वी पर पर्वतों को उठाए हुए (स्थिर किए हुए) हैं, जिसने अंतरिक्ष को माप लिया है

और द्युलोक को सँभाल लिया है, जिसने वृत्र को मारकर सात नदियों को मुक्त कराया है, जिसने गौओं की रक्षा की है, जो युद्धभूमि में शत्रुओं को कुचल देता है, मनुष्यो ! यह इंद्र है। जो शत्रुओं की सम्पत्ति छीन लेता है, जिसकी शक्ति ही घोड़ों, पशुओं और सशस्त्र सेनाओं की शक्ति है, जिसे युद्ध में दोनों ओर के योद्धा पुकारते हैं, जिसकी सहायता के बिना मनुष्य का विजयी होना संभव नहीं है, जिसका बाण पापियों को नष्ट कर देता है, हे मनुष्यो ! वह इंद्र है।" (ऋ० 2/92)

इंद्र सर्वविजयी हैं एवं अजेय हैं, दैवी गुणों से युक्त हैं। आकाश, पृथ्वी, नदी, समुद्र, पर्वत सब पर उनका शासन है। (ऋ० 10/89/10) इनके अनेक पराक्रम हैं—दाशराज्ञ युद्ध में सुदास की सहायता करके उसे विजयी बनाया, विश्वामित्र की प्रार्थना से प्रसन्न होकर नदियों को सुखाकर सुदास की सेनाओं को पार किया, पणियों द्वारा बंदी बनाई गई देवताओं की गायों को मुक्त कराया, प्रकुपित पर्वतों को स्थिर किया। अंशुमती नदी के किनारे दश सहस्र सेनाओं के साथ छिपे रहने वाले फुर्तीले, लूट-मार करने वाले एवं ऊँचे स्वर से चीत्कार करने वाले कृष्ण को शोध कर परास्त किया (ऋ० 8/85/13-15); शिश्नदेव की पूजा करने वालों को दबाया (ऋ० 7/21/5; 10/99/3), नदियों (ऋ० 10/9/1-3) तथा अश्वत्थवृक्ष को पूजने वालों (ऋ० 1/135/8) के साथ भी युद्ध किया, शम्बर के अभेद्य माने गए निन्यानबे अथवा सौ किलो को ध्वस्त किया, बारी-बारी से चुमुरि, धुनि, इलीविश, विप्रू, नमुचि आदि को पराजित किया इत्यादि। किंतु इंद्र का सबसे बडा पराक्रम है पर्वतों पर अपने शरीर के आवर्तों से जलस्रोतों को आवृत्त किये पड़े रहने वाले 'वृत्त' नामक अहि के टुकड़े-टुकड़े कर डालना। यह सफलता चालीस साल के सतत संघर्ष के बाद इंद्र को मिली। इसके फलस्वरूप ही सात नदियों के जल प्रवाह मुक्त हुए और सुख-समृद्धि की उपलब्धि हुई। वृत्र-वध कथानक की व्याख्या विद्वानों ने विविध रूपों में की है।

इंद्र के कृपापात्रों में अतिथिग्व (दिवोदास, सुदास), विदथिन् के पुत्र ऋजिश्वन्, दर्भीति एवं तुर्वसु और यदु उल्लेख्य हैं। ऋषियों में से वसिष्ठ, विश्वामित्र, भृगु आदि उल्लेख्य हैं। इंद्र को विद्युत्, बादल एवं जल का देवता भी माना गया है।

इंद्र द्वारा आचरित अनैतिक कार्यों में पितृ वध-(विश्वरूप का वध), वृत्रहत्या, असमंधस् वध, यतियों (जिनका उल्लेख आगे आएगा) की निर्मम हत्याएँ और ब्राह्मणों के समर्थन प्राप्त बृहस्पति का विरोध—इत्यादि सम्मिलित किए जाते हैं।

अग्नि

अग्नि-पूजा को भी विद्वानों ने भारोपीय काल से सम्बद्ध करने के प्रयत्न किए

हैं। किंतु इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय तथ्य प्रकाश में नहीं आए हैं। अवेस्ता में अग्नि एक शक्तिशाली देवता और "एक विकसित कर्मकांड का केंद्र बनकर उभरा है।" अवेस्ता के 'आथ्रवन' नामक आग्नेय पुरोहित वैदिक अथर्वन बताए जाते हैं किंतु इस सबके बावजूद वैदिकों की अग्निपूजा भिन्न प्रकार की है, और भारतीय पुरोहितों की निजी सूझ-बूझ का प्रतिफल है। उल्लेख्य होगा कि मितान्नी की देवसूची में अग्नि का समावेश नहीं है, और अवस्था में भी वह इसी रूप में नहीं है।

वैदिक सूक्तों में अग्नि का जन्म द्यौः और पृथिवी अथवा त्वष्टा और आपस् अथवा अरणियों के युग्म आदि से अनेक प्रकार से बताई गई है। कहीं-कहीं उन्हें जलों से उत्पन्न अथवा स्वर्ग में उत्पन्न कहा गया है। उनके मानवाकार के वर्णन में उन्हें हिरण्यकेश (ऋ० 1/79/1); पीली दाढ़ी-मूँछ और शुचिदाँत वाला तथा अप्रतिहत बलवान् कहा गया है (ऋ० 5/7/7)। ऋग्वेद (3/2/13) में भी कहा गया है कि हम उन विचित्र गति वाले हरित-पिंगल केश वाले सुप्रकाशमान् अग्नि से धन की माँग करते हैं।

अग्नि पृथ्वी के सर्वोत्तम देवता हैं, उनका निवास पृथ्वी की नाभि (यज्ञ कुण्ड ?) बताया गया है, और उन्हें 'अमृत नाभि' कहा गया है। एक उल्लेख के अनुसार मातरिश्वा अग्नि को पृथ्वी पर लाए और भृगुओं को उसकी रक्षा का भार सौंपा। मुख्य रूप से तो लौकिक रूप (भूताग्नि) का ही वर्णन हुआ है, जिसके अनुसार वे अर्चि-लोम, अपाद, अशीर्षा आदि हैं, किंतु उनकी स्थिति अंतरिक्ष (विद्युत् रूप में) और द्यौः (सूर्यरूप) में भी बताई गई है। स्वर्ग में भी वे देवताओं द्वारा प्रज्वलित किए जाते हैं। यों तो स्थानभेद एवं क्रिया-भेद से उनके अनेक भेद हो सकते हैं किंतु मुख्य भेद तीन हैं—गार्हपत्य, आह्वनीय और दक्षिण। भूताग्नि के रूप में उनके भक्ष्य पदार्थों में ईंधन, हविष के बाद घृत मुख्य है, अतः वे घृतमुख, घृतपृष्ठ आदि कहे गए हैं।

वस्तुतः अग्नि गृहस्थाश्रमियों के देवता हैं, अतिथि रूप में घरों में विद्यमान रहते हैं। गृहस्थों को वे भोजन, संतान, सद्बुद्धि एवं यश प्रदान करते हैं। एक उक्ति (ऋ०10/7/3) में कहा गया है कि "अग्नि को मैं अपना पिता करके मानता हूँ, अपना बन्धु मानता हूँ, अपना भाई मानता हूँ और अपना मित्र भी मानता हूँ।" वे वस्तुतः विशों (प्रजाओं) के संरक्षक, संस्थापक एवं स्वामी हैं।

एक देवता के रूप में वे मनुष्य और उसके पितृगणों तथा मनुष्य और देवताओं के मध्य सम्बन्ध स्थापित करने वाले मध्यस्थ हैं। वे विश्ववेदस् (सबको जानने वाले) हैं, जातवेदः हैं (उत्पन्न हुए प्रत्येक को जानते हैं), सर्वज्ञ हैं; सहस्राक्ष हैं और वैश्वानर (सभी आदमियों के) हैं; सार्वभौम हैं। वे सबके हैं और सबको जानते हैं, और पृथिवी, अंतरिक्ष, स्वर्ग, पितृलोक, द्यौः इत्यादि में सर्वत्र उनकी गति है। अतः वे याज्ञिक क्रिया में देवताओं और पितरों के प्रति अर्पित आहुतियों को उन तक पहुँचाते हैं, और देवताओं तथा पितरों को यज्ञस्थल

तक लाते भी हैं ।[35] वे देवताओं के मुख हैं[36] "अग्निमुखा वे देवाः !! अग्निर्मुखं वै देवनाम् !!" अतः अग्निपूजा वस्तुतः देवता के मुख की पूजा हुई ।

ए० बी० कीथ के अनुसार अग्नि में जो मानवीय तत्त्व विद्यमान हैं, वे युद्ध-देव विषयक धारणा (जैसी कि इंद्र की है) से नहीं, अपितु आदर्श पुरोहित विषयक मान्यता से संचालित हैं। उनकी यह विशेषता इस बात में है कि उनसे प्रमाद नहीं होता, और किसी कारण प्रमाद हो जाने पर वे सब कुछ ठीक कर लेते हैं। (वे मेधा के देवता हैं) । फलतः विप्रलोग अग्नि से मेधा के लिए प्रार्थना करते हैं, और वे उन्हें मेधा प्रदान करते हैं । वे स्वयं वाग्मी हैं, और अपने उपासकों को ऐसा बनाते हैं । अपने सभी उपासकों के साथ मैत्रीभाव रखते हैं और उन्हें उनकी प्रार्थनानुसार धन-धान्य, सम्पत्ति, दीर्घायु, संतति, मेधा, यश आदि प्रदान करते हैं । शत्रुओं का नाश करते हैं तथा अदिति एवं वरुण के समक्ष अपने उपासकों को निर्दोष सिद्ध करते हैं ।[37]

उल्लेख्य होगा कि अग्नि के परिभ्रमण का मार्ग और चक्राधार आदि सभी काले हैं (ऋ० 1/141/7, 2/4/6-7, 6/6/1) । इनके अश्व व रथ से जो लीक बनती है वह भी काली है (ऋ० 1/140/4) । संभवतः धूम्रमार्ग, जिसका निरूपण आगे किया जाएगा, की अवधारणा में यह धारणा भी सहायक रही हो ।

समीक्षा

उपर्युक्त देव परिचय चुने हुए केवल तीन देवताओं तक परिसीमित है, किंतु जैसा हम कह चुके हैं, पं० रामदास गौड़ की गणना के अनुसार ऋग्वेदोक्त देवों की संख्या उन्यासी है। सभी देवताओं एवं देवियों का अपना-अपना व्यक्तित्व है, अपना-अपना कृतित्व है । कुछ सामान्य लक्षणों व कर्मों के बावजूद कोई किसी का पर्याय रूप नहीं है । अतः बहुदेववाद स्वयंःसिद्ध हैं। जिन विद्वानों को "अनेक देवी-देवताओं की परस्पर विरोधी भीड़-भाड़ की अराजकता की अपेक्षा अद्वैतवाद अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है" उन्होंने वरुण, विश्वेदेवाः एवं विश्वकर्मा आदि में एकेश्वरवाद तथा एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति अग्नि यमं मातरिश्वानमाहुः !! (ऋ० 1/164/46) उक्ति में अद्वैतवाद मानकर ऋग्वेद में तत्त्व-चिंतन के तीन या चार विकासात्मक स्तर माने हैं।

डॉ० राधाकृष्णन के अनुसार वैदिक सूक्तों में वर्णित धार्मिक विचार की प्रगति के पाँच स्तर इस प्रकार हैं—"(1) द्यौः जो प्रकृतिपूजा की पहली श्रेणी का उपलक्षण है; (2) वरुण, जो आधुनिक काल का उच्चतम सदाचारी देवता है; (3) इंद्र जो विजय और पराजयकाल का स्वार्थमय देवता हैं; (4) प्रजापति या विश्वकर्मा जो एकेश्वरवादियों का अभिप्रेत देवता है और (5) ब्रह्म जो उक्त चारों निम्नश्रेणियों का पूर्ण रूप है ।"[38]

मेरे विचार से पहले तो ऋग्वेद में "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" के आशय

को व्यक्त करनेवाली उक्तियों की संख्या अत्यंत परिसीमित है, जिन्हें अपवाद रूप में ही लिया जा सकता है। फिर कुछ विद्वान् इन्हें परवर्ती काल की प्रक्षिप्त उक्तियाँ भी मानते हैं, जो अधिक संभव है। दूसरे इस विषय में संदेह को स्थान नहीं है कि वैदिक धर्म प्रवृत्तिमूलक धर्म है; यह हमारे आगे के विवेचन से स्पष्ट हो जाएगा कि अद्वैतवाद या ब्रह्मवाद प्रवृत्ति मार्ग के सर्वथा अनुपयुक्त है। जहाँ तक एकेश्वरवाद का प्रश्न है प्रवृत्तिमार्ग से उसका वैचारिक विरोध असंगति के स्तर का न सही, तो भी वह बहुदेववाद जितना सुसंगत नहीं है। चोर, लम्पट, सूदखोर, जुआरी आदि द्वारा प्रार्थित ईश्वर और सच्चरित्र, सारस्वत, सदाशय व्यक्तियों द्वारा प्रार्थित ईश्वर यदि एक है तो वह नाम का ही एक होगा, काम उसके भिन्न-भिन्न ही होंगे। उसका सर्वज्ञ, अंतर्यामी और सर्वव्यापी आदि माना जाना भी मुख-सुख से अधिक मूल्यवान् नहीं होगा। फिर वेदों का बहुदेववाद ही क्यों दोषपूर्ण माना जाय? ब्राह्मणों, सूत्रों, स्मृतियों एवं पुराणों में भी यही परम्परा पल्लवित हुई पाई जाती है, जो व्यवहार में तो आज भी विद्यमान है। फिर वेदों के अधिकारी विद्वान् डॉ० मंगलदेव शास्त्री का कथन है कि "वेदों में किसी ऐसे शब्द का मिलना कठिन है जो आजकल के 'ईश्वर' या 'परमेश्वर' शब्द की तरह एक ही देवाधिदेव का असंदिग्ध रूप में प्रतिपादक हो।"[39] अतः वेदों में अद्वैतवाद खोजने का आग्रह मेरे विचार से त्याज्य है।

वैदिक देवताओं के विषय में जो लक्ष्य योग्य हैं, वह यह कि यद्यपि वे परोक्ष सत्ता के रूप में स्वीकृत हैं, तथापि वैदिक ऋषियों ने उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व का वर्णन इतनी तन्मयता से और ऐसी आलंकारिक शैली में किया है कि वे प्रत्यक्ष हो उठे हैं। किसी-किसी वर्णन में तो वे इतने प्रत्यक्ष लगते हैं कि उनके परोक्ष होने का भाव ही विस्मृत हो जाता है। फलस्वरूप बाद के ऋषि तो शपथपूर्वक यह घोषणा करने को तत्पर हो जाते हैं कि इंद्र ने उनके साथ सोमपान किया था। ध्यातव्य होगा कि अग्नि की जिह्वाएँ स्पष्टतः उसकी ज्वालाएँ हैं, और सूर्य की भुजाएँ स्पष्टतः उसकी किरणें हैं, अतः इनके हाथ-पैर, रंग-रूप, वाहन एवं क्रियाकलाप आदि का निरूपण उन्हें मानवाकार अवश्य देता है, किंतु जन-जीवन से उनका सीधा सम्बन्ध स्थापित करने वाले उनके कुछ अन्य विशेष लक्षण हैं। सभी देवता ऋतवान् एवं धृतव्रत हैं अर्थात् नीति-नियमों के न केवल रक्षक हैं अपितु स्वयं उनका पालन भी करते हैं। अतः सदाचारी हैं।

उनका मान्य निवास स्थान यद्यपि स्वर्ग है, किंतु ऋत्विजों द्वारा आमंत्रित होने पर वे यज्ञमंडप में नियत स्थान पर कुशासन पर आकर विराजते हैं, युद्ध क्षेत्र में पुकारे जाने पर तुरंत सहायक होते हैं। मांगलिक प्रसंगों में उपस्थित रहकर यजमान का मान बढ़ाते हैं, संकट समय में हाथ बँटाते हैं। वचन के पक्के हैं, कभी धोखा नहीं देते, कपट नहीं करते। अतः विश्वसनीय हैं। दूध, पुरोडाश, जौ के भुने दाने, सत्तू, 'अपूप' और पशुओं का पकाया हुआ मांस उनके भोज्य

पदार्थ हैं, सोमरस उनका प्रिय पेय पदार्थ है। तात्पर्य यह है कि जो कुछ उनके यजमान खाते पीते हैं, वही इन्हें भी ग्राह्य एवं प्रिय हैं। लक्ष्ययोग्य होगा कि सभी प्रमुख देवी-देवता विवाहित सद्ग्रहस्थ हैं। यथा— वरुण की पत्नी वरुणानी है, इंद्र की पत्नी(शची) इंद्राणी है और पुत्र कुत्स है, अग्नि की पत्नी अग्नायी है, मात-पिता के अतिरिक्त उनके तीन भाई भी हैं, द्यौः की पत्नी पृथिवी और सूर्य की सूर्या है इत्यादि। सभी के एक-एक पत्नी है। इतने यथार्थवादी हैं कि उस निर्धन को भी वे चाहते हैं जो उन्हें कुछ खाने-पीने को देता है, किंतु उस धनी से (जैसे पणियों से) घृणा करते हैं जो ऐसा नहीं करता। सत्यनिष्ठ हैं, सदयहृदय हैं, क्षमाशील हैं इत्यादि। मेरे विचार से ये ही वे मुख्य-मुख्य कारण हैं जिनके फलस्वरूप आर्य उपासक अपने देवताओं की अर्चना-वंदना उनके भय से भयभीत होकर नहीं, अपितु सख्य के प्रेमभाव से पुलकित होकर करते हैं—

देवानां सख्यमुपसेदिमा ययम् !! ऋ० 1/89/2
स न पितेव सूनवेः !! ऋ० 1/1/9
मातेव यद् भरसे प्रप्रथानः !! ऋ० 5/15/4

तात्पर्य यह है कि लोकव्यवहार में अपने स्वजनों, हितसाधकों, ज्येष्ठों एव श्रेष्ठों के प्रति कृतज्ञतामूलक श्रद्धा व प्रेम के जो सम्बन्ध एक व्यक्ति के होते हैं, आर्य यजमान अपने देवताओं के साथ उन्हीं सम्बन्धों से व्यवहार करते हैं। वस्तुतः ये देवता उनके स्वजन हैं, उनके पुराने पूर्वज हैं, उनके जीवन आदर्शों के मूर्तस्वरूप हैं; सब प्रकार से उनके अपने हैं।

आर्य यजमान देवताओं के कोप का भाजन नहीं बनना चाहते, इसका तात्पर्य यह है कि उनके देवता सत्य-व्रत हैं, अनृत से वे घृणा करते हैं। इस अनृत का आचरण ही उनके क्रोध का कारण है, और इसका त्याग ही उनके क्रोध से बचने का एकमात्र उपाय है। अर्थात् सत्यनिष्ठ होना, धर्मभीरु होना और देवताओं के कोप से बचना एक ही बात है।

कुल मिलाकर देखने पर कहना होगा—ऋग्वैदिक देवताओं में द्यौः, पृथ्वी, अग्नि, वायु, सूर्य, ऊषा, मरुत आदि प्रकृति तत्त्व हों अथवा श्रद्धा, मन्यु जैसे भावरूप हों— एक तो उनका प्रकृत स्वरूप होता है, दूसरा उनका मानवाकार होता है। यह मानवाकार ही वस्तुतः आधिदैवत्व है। इस मानवाकार में न केवल उनका सुगठित, बलिष्ठ शरीर सौष्ठव, न केवल उनके वस्त्रालंकार व वाहन आदि अपितु न्याय-निष्ठा, सहृदयता, क्षमाशीलता आदि सद्वृत्तियों से युक्त सौम्यस्वभाव, अपराजेय शौर्य, अदम्य उत्साह तथा पारिवारिक संगठन और सामूहिक जीवन पद्धति इत्यादि सब कुछ उनके आर्य यजमानों के आदर्शों का प्रतिरूप है। अर्थात् जो निरोगी शरीर, अपरिमेय सुख, अपराजेय शौर्य, परिष्कृत बुद्धि एवं अकलंकित यज्ञ देवताओं को प्राप्त है, वही आर्यजनों का प्राप्तव्य है। यही एक के देवत्व और दूसरे के मानवत्व का निर्णायक लक्षण है।

अत: निरुक्त (7/1) का यह विधान समीचीन है कि देवता सम्बन्धित ऋषि की (आदर्श) कामनाओं के प्रतिनिधि होते हैं—

"यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छत् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवत: स मन्त्रो भवति ।।"

ऋत सिद्धान्त

ऋग्वैदिक ऋषियों की 'ऋत' विषयक अवधारणा उनके धार्मिक दृष्टिकोण को समझाने में उत्पन्न उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण है । क्योंकि 'अवेस्ता' के 'अर्श' (उर्त) पद को ऋग्वैदिक 'ऋत' का समानान्तर शब्द माना जाता है; दोनों का अर्थ एक ही होता है, इसलिए 'ऋत' विषयक अवधारणा को वैदिक ऋषियों की मौलिक देन तो नहीं माना जाता, किंतु इतना अवश्य है कि वैदिक वाङ्मय के महिमामडित शब्दों में से यह भी एक है ।

सामान्यत: 'ऋत' शब्द का अर्थ 'एक नियमित विधान' या 'सुव्यवस्था' लिया जाता है । ऋग्वेद में इसका प्रयोग शाश्वत सत्ता, सत्य, नित्य, धर्मन् और सुचारु, शाश्वत या प्राकृतिक व्यवस्था आदि अनेक अर्थों में हुआ है । ऋग्वेद में इस शब्द का प्रयोग मुख्यत: त्रिविध विधानों के लिए हुआ है, जिसका संक्षिप्त विवरण निम्नांकित है—

(1) ऋग्वेद (1/41/4) में उस मार्ग को (ऋत) कहा गया है, जिस पर आदित्य गमन करते हैं । ऋग्वेद की अन्य उक्ति (1/24/8) के अनुसार सूर्य 'ऋत' के मार्ग का अनुसरण करता है, जो ठीक मार्ग है, मानो वह उसे पहले से ही जानता था । वह कभी इसका अतिक्रमण नहीं करता । ऋग्वेद (10/190/1) में आया है कि सूर्य (ऋत) का विस्तरण करता है, नदियाँ इसी ऋत का वहन करती हैं[40] "ऋतमार्पान्ति सिंधव: सत्यं तातान सूर्यो ।। अन्य उक्तियों में कहा गया है कि "ऋत के पदचिह्नों में उषाएँ प्रातःकाल के समय उदित होती हैं ।" ऋत के अनुसार पितरों ने सूर्य को स्वर्ग में स्तम्भित किया है । सूर्य 'ऋत' का भ्राजमान प्रतीक है और ग्रहण का अंधकार व्रत एवं विधान के विरुद्ध है । वर्ष 'ऋत' का ही द्वादश अरोंवाला चक्र है । आम, मधुर पयस्—जो कि कृष्णवर्णा गौ देती है, उस गौ का ऋत है और वह व्रत के अनुसार काम करता है ।[41]

ध्यातव्य होगा कि ऋत का अधिष्ठाता देव वरुण (अथवा मित्रावरुण) है। जो "ऋतस्य गोप." कहा गया है । आगे कहा गया है कि मित्र एवं वरुण 'असुर' जैसी (गुह्य) शक्ति से अपने धर्मों की रक्षा करते हुए 'ऋत' के नियमों के अनुसार सम्पूर्ण विश्व पर अपना शासन करते हैं, आप स्वर्ग में सूर्य को जो देदीप्यमान रथ सदृश है—स्थापित करते हैं—

धर्मणा मित्र वरुणा विपाश्चिता व्रता रक्षेथे असुरस्य मायया ।
ऋतेन विश्वं भवनं वि राजय: सूर्यमा धत्थो दिवि चित्रं रथम् ।।

(ऋ० 5/63/7)

वरुण के धर्मन् से ही नदियाँ बहती हैं (ऋ० 1/24/8), सूर्य चमकता है, नक्षत्र एवं चंद्रमा आदि अपनी-अपनी परिधि में स्थित रहते हैं (ऋग्वेद 1/24/10)।

उक्त विधानों के पर्यावलोचन से प्रतीत होता है कि वैदिक ऋषियों की यह मान्यता रही होगी कि सृष्टि के घटनाचक्र में सूर्यास्त-सूर्योदय, ऋतु-परिवर्तन, ग्रहों-नक्षत्रों का आवागमन, ऋतुओं के अनुसार वनस्पतियों एवं फसलों का फूलना-फलना इत्यादि समस्त क्रियाएँ किसी त्रुटिशून्य शाश्वत विधान के अधीन घटित हो रही हैं। प्रकृति के घटनाचक्र के नियामक उन स्थायी नियमों तथा चंद्र-सूर्य आदि नक्षत्रों के शाश्वत अपरिवर्तनशील मार्ग या नियत-पथ को उन्होंने ऋत की संज्ञा दी। वैदिक ऋषियों का अटल विश्वास था कि बीजों से भरपूर धरती और स्वर्ग वरुण के धर्मन् (नियम) से सुप्रतिष्ठित हैं, अतः वे कभी नष्ट नहीं होंगे (ऋ० 6/7०/1)। न केवल जड़ प्रकृति का भूत प्रपंच अपितु आदित्यादि समस्त देवता भी ऋताश्रित हैं, इसी ऋत से सृष्टि का धारण हो रहा है। म० म० पी० वी० काणे के अनुसार ऋग्वेद के बहुत-से मंत्रों में प्रयुक्त 'ऋतम्' का अर्थ है 'विश्व में व्यवस्थित क्रम।'

(2) 'ऋत' की व्याप्ति का द्वितीय क्षेत्र यज्ञानुष्ठान की क्रिया है। "यज्ञ ऋत की वृद्धि करता है, और ऋत यज्ञ को व्याप्त किए हुए है। जलों और पौधों में अंतर्निहित तत्त्वाग्नि, जिसे जलती हुई अरणियों में मनुष्य के लिए उत्पन्न किया जाता है, ऋतजात होकर ऋतगर्भ बन जाती है।"[42] अग्नि ऋत का रथी (ऋ० 3/2/8), रक्षक (1/1/8) तथा ऋतवान् (4/2/1) अर्थात् 'ऋत' के नियमों का अनुसरण करनेवाला, और ऋतचित् (4/3/4) अर्थात् ऋत का ज्ञाता है। म० म० पांडुरंग वामन काणे के अनुसार ऋग्वेद के अनेक मंत्रों में प्रयुक्त 'ऋतेन' शब्द का अर्थ सम्भवतः "याज्ञिक कर्मों की सम्यक् गति" होता है। फिर भी हमें ध्यान रखना चाहिए कि 'ऋत' न तो कोई याज्ञिक कृत्य है न यज्ञ का कोई विधान। यह सामान्य अर्थ में यज्ञ की सुव्यवस्थित गति अथवा व्यवस्था का द्योतक है।[43] तात्पर्य यही होगा कि याज्ञिक अनुष्ठान का विधिपूर्वक होना परमावश्यक है। ध्यातव्य होगा कि जिस प्रकार नैतिकता के क्षेत्र में व्याप्त ऋत को सत्य भी कहा गया है, वैसे ही यज्ञक्रिया के क्षेत्र में परिव्याप्त ऋत को धर्म कहा गया है— यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्॥ अर्थात् यज्ञ के जो प्रथम नियम बने हैं वे ही प्रथम धर्म हुए (ऋग्वेद 10/90/16)।

(3) 'ऋत' की व्याप्ति का तृतीयक्षेत्र मानवीय व्यवहारों की नैतिकता का क्षेत्र है। 'यमी' ने जब अपने भाई 'यम' से अपना प्रणय निवेदित किया— (दे० ऋग्वेद 10/10/1-14), तब यम ने उसके प्रस्ताव को अवैध बताते हुए कहा— ऋता वदन्तो अनृतं रपेम' (ऋ० 10/10/4) अर्थात् अब तक हमने 'ऋत' (सत्य) कहा है, तो क्या अब हम अनृत कहेंगे। ऋग्वेद (10/133/6) में इंद्र से प्रार्थना की गई है कि हे इंद्र! हमें ऋत के मार्ग का निर्देश करो, जो सब

बुराइयों से परे यथार्थ का मार्ग है। अग्नि से भी प्रार्थना की गई है कि हे अग्नि! वह दुरात्मा जो ऋत को अनृत से हानि पहुँचाता है तुम्हारी बेड़ियों में तीन बार बँध जाए (ऋग्वेद 10/87/11)। ऋग्वेद (8/21/5) में कहा गया है कि 'शिश्नदेवा:' इंद्र के ऋत का स्पर्श नहीं करते।[14] एक अन्य उक्ति में कहा गया है कि कुकर्मी मनुष्य ऋत के मार्ग का अनुसरण नहीं कर सकते – ऋतस्य पंथा न तरन्ति दुष्कृतः॥ (ऋग्वेद 9/73/6)। वस्तुतः यही ऋजु मार्ग है—'सुगा ऋतस्य पंथा'— (ऋग्वेद 8/3/13)। ऋत के धारण करनेवालों के लिए हवाएँ एवं नदियाँ मधु (मिठास एवं सुख-समृद्धि) का वहन करती हैं– मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धव :॥ (ऋग्वेद 1/90/5)। अथर्ववेद (8/9/13) में इस ऋत के सामाजिक, राजनीतिक एवं नैतिक - तीन अनुधर्म मार्ग कहे गये हैं : जिनसे समाज, राष्ट्र और व्यक्ति तीनों का संयोजन एवं हित-रक्षण होता है।[45]

'ऋत' के अधिष्ठातृ देवताओं के विषय में कहा गया है कि यों तो सोम, मरुद्गण, अर्यमा, अदिति, भग प्रभृति छोटे-मोटे अनेक देवता ऋतजात (ऋत से उत्पन्न) एवं ऋतावृध (ऋत को बढ़ाने वाले) हैं। अर्थात् उसके पालक, पोषक एवं रक्षक हैं—

सहस्रधारं वृषभं पयोबुधं प्रियं देवाय जन्मने।
ऋतेन य ऋतजातो विवावृधे राजादेय ऋतं बृहत्॥
(ऋग्वेद 9/108/8)

किंतु ऋत के अधिष्ठातृ देवों में सर्वाधिक महत्त्व तो वरुण व मित्र का है तत्पश्चात् अग्नि एवं सविता उलेख्य हैं। ध्यान देने की बात यह है कि प्रायः सभी देवता ऋतजात ऋतावृध और ऋतवान् हैं, और विश्वेदेवाः 'ऋतधीतयः' (जिनके विचार ऋत पर अटल हैं—ऋग्वेद 5/5 1/2) हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि नियमों से परे देवता भी नहीं हैं, वे ऋत को धारण करते हैं, ऋत उनको धारण किए हुए है। दोनों का अस्तित्व अन्योन्याश्रित है। देवताओं का ऋताश्रित या ऋतवान (ऋत का पालन करनेवाला) होना ही वस्तुतः वह विशेष गुण है जिससे स्वशासन में अनुशासित होकर वे न केवल स्व-स्व कर्म निर्विघ्नतापूर्वक सम्पन्न करने में 'सफल' होते हैं, अपितु परस्पर एक-दूसरे के उपकारक-सहायक पूरक भी सिद्ध होते हैं—"देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते"॥ (ऋग्वेद 10/191/2)। अर्थात् देवता परस्परोन्नायक भाव से अपना-अपना कार्य सम्पन्न करते हैं। ऋग्वेद की, "देवानां······अमृता ऋतज्ञाः (7/35/15) तथा 'ऋत-धीतयः सत्यधर्मणिः, (5/51/2) आदि उक्तियों का यही आशय है। अतः मेरे विचार से देव-सृष्टि को ऋत की व्याप्ति का चतुर्थ क्षेत्र माना जा सकता है।

ऋग्वेद के वरुण सूक्त (4/23/8-9) में व्यक्त नैतिक उपदेश भी ऋत के उत्कृष्ट नैतिक सदाचार के प्रतिपादक कहे जा सकते हैं।

समीक्षा

आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि से यह विवादास्पद हो सकता है कि सूर्य, चंद्र, नक्षत्रादि की गति को उनकी सम्बन्धित परिधि में नियमित करनेवाले और सूर्योदय-सूर्यास्त, ऋतु-चक्र आदि को अनुशासित करनेवाले कोई शाश्वत भौतिक नियम हैं या नहीं। कुछ प्रतिष्ठित वैज्ञानिकों के मंतव्यों को उद्‌धृत करके डॉ० मुंशीराम शर्मा[46] ने यह प्रतिपादित किया है कि पृथ्वी की वर्तमान द्विविध गतियों में यत्किंचित् परिवर्तन होने पर, सूर्य और चंद्र से उसकी वर्तमान दूरी में कोई घट-बढ़ होने पर, अपने अक्ष पर $23\frac{1}{2}$ अंश झुकी हुई वर्तमान स्थिति में यत्किंचित् फेरफार होने पर—अर्थात् इधर या उधर न्यूनाधिक झुकने पर अथवा बिलकुल न झुकने पर — पृथिवी के वायुमंडल में, प्रकाश-अंधकार, सूखा-जलप्लावन, अतिशय ताप या हिमवर्षा आदि से सम्बन्धित ऐसे भयंकर परिवर्तन आ जाएँगे कि पृथिवी पर फलीभूत जड़-चेतन सृष्टि थोड़ी ही देर में अदृश्य हो जाएगी। स्पष्ट है कि वैज्ञानिक भी इतना तो मानते ही हैं कि ब्रह्मांडव्यापी घटनाचक्र का नियमित संचालन अमुक नियत स्थिति-परिस्थितियों के अधीन हो रहा है। अन्यथा यह सारा मायाजाल ध्वस्त हो जाएगा। अब एक धार्मिक और वैज्ञानिक के विचारों का अंतर केवल इतना रहेगा कि प्रथम इस सृष्टिरूपी कर्म (या क्रिया) के कर्ता का अस्तित्व मानेगा, द्वितीय इसे स्वयंभू बताएगा। किंतु जब तक विज्ञान कर्ता के अभाव में कार्य का सम्पन्न होना सिद्ध नहीं कर दिखाता तब तक धार्मिक का मत मान्य रहेगा।

'ऋत' विषयक वैदिक आर्यों की उपयुक्त अवधारणा धर्मविषयक भारतीय अवधारणा की आधारशिला है। इस अवधारणा में यह स्पष्टतः मान लिया गया है कि विश्व-व्यापी प्राकृतिक घटनाचक्र का नियमित और सुचारु संचालन किन्हीं अपरिवर्तन नियमों के अधीन हो रहा है। इस व्यवस्था के अधीन ही सूर्य-चंद्र, ग्रह, नक्षत्रादि के अपने-अपने ऐसे मार्ग निश्चित हुए हैं, जिन पर चलकर वे बिना एक-दूसरे के मार्ग के अवरोध बने ही, अपने-अपने लक्ष्य को निर्विघ्न रूप से प्राप्त करते हैं। इतना ही नहीं, वे एक-दूसरे की कार्य-सिद्धि में परस्पर उपकारक भी होते हैं। अर्थात् इस व्यवस्था के अनुसरण से न केवल व्यक्तिगत अस्तित्व अक्षुण्य रहता है, न केवल व्यक्तिगत लक्ष्यसिद्ध होता है, अपितु सह-अस्तित्व और सामूहिक हित या सामूहिक लक्ष्य भी सिद्ध होता है। ऋत की जैसी व्यवस्था प्रकृति के घटना चक्र में है, वैसी ही प्राकृतिक तत्त्वों के मानवीकरण स्वरूप, देवताओं में भी है। उनके नियम अटल हैं। उनकी सारी प्रवृत्ति जगत् के भद्र और कल्याण के लिए है। वे प्रकाशरूप हैं; अज्ञान व अंधकार से परे हैं।"······वे न केवल अपना-अपना कार्य निर्विघ्नतापूर्वक पूरा करते हैं परस्पर एक-दूसरे की कार्य सिद्धि में सहायक भी होते हैं :

देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां देवानां रातिरभि नो निवर्तताम् ।
देवानां सख्यमुपसेदिता वयं देवा न आयुः प्रतिरन्तु जीवसे ।[47]
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ।।[48]

अतः अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्यों के लिए आवश्यक है कि वे सतत कर्मशील रहनेवाले और ऋत के पालक, पोषक एवं संरक्षक देवताओं के साथ अपना 'सायुज्य और तादात्म्य' स्थापित करें। दूसरे शब्दों में यों समझिए कि जिन विश्वव्यापी शाश्वत नियमों से विश्व प्रपंच का अर्थ क्रिया कारयितृ सिद्ध हो रहा है उन्हीं का पालन करके देवता अपना अभ्युदय साधते हैं, सुख-समृद्धि-सम्पन्न हो सह अस्तित्वमय आनंदोल्लास का जीवन व्यतीत करते हैं—इस लक्ष्य की समानता के कारण भी, मनुष्यों के भी धर्मानुष्ठानों (यज्ञादि जो सृष्टि-क्रिया से सम्बद्ध माने गए हैं) और नैतिक व्यवहारों, में उन्हीं (ऋत) अथवा उनके जैसे (या उनके प्रतिरूप समान) नियमों का होना अपरिहार्य है। जड़ जगत् में इनकी व्याप्ति की संज्ञा ऋत है, चैतन्य (देवता व मनुष्य) के आचरण में इनकी व्याप्ति की संज्ञा व्रत है, यज्ञ क्रिया में इनकी व्याप्ति की संज्ञा धर्मन् है, शाश्वत अथवा नित्य होने से एवं हित-साधक होने से इनकी संज्ञा सत्य है। यही वह आधार-शिला है जिस पर आगे चलकर धर्म के भव्य भवन का निर्माण हुआ है।

ध्यातव्य होगा कि ऋत विषयक नियमों की सृष्टि (नियमों की समष्टि) और उनके स्रष्टा (प्रणेता) के मध्य पारस्परिक व्यापक-व्याप्य अथवा धारक-धार्य सम्बन्ध मान्य है। अर्थात् एक-दूसरे द्वारा धारित होने पर वे एक-दूसरे को धारण करते हैं। यही धर्म विषयक भारतीय अवधारणा का मूलाधार है, जिस पर आगे विमर्श किया जाएगा। प्रासंगिकता के अनुसार यहाँ इतना उल्लेख्य होगा कि धर्म की उत्पत्ति जादू-टोना, टोटम—मृतात्मा या प्रेत-पूजा, अंधविश्वास या स्वप्न इत्यादि से मानने से सम्बन्धित पाश्चात्यों की अवधारणाएँ ऋत विषयक उक्त मान्यता के प्रकाश में असिद्ध होती हैं। इसके विपरीत ऋत सिद्धांत से फलित होता है कि वैदिक आर्यों का धर्म परिष्कृत बुद्धि के स्वस्थ चिंतन से प्रसूत है।

पितृपूजा

एक या दूसरे रूप में पितृपूजा का समावेश प्रायः सभी धर्मों में पाया जाता है। अपने जन्मदाता और पथप्रदर्शक पूर्वजों को भूल पाना सप्तसिंधु के आर्यों के लिए सम्भव न था। उनका विचार था कि अपने अर्वाचीन प्राचीन समस्त पितृगण एव ऋषिगण, मर्त्यों में सर्वप्रथम 'यम' के द्वारा खोज निकाले गए मार्ग से, पितृ-लोक एवं देवलोक—जिनका वर्णन आगे किया गया है—में सुखमय जीवन व्यतीत करते हैं। हम पृथ्वी पर जो यज्ञ करते हैं उनमें– अपनी संतानों से पूजा-भक्ति स्वीकारने के लिए--पितृगण उपस्थित हो जाते हैं। हमारी आहुतियों को अग्नि-

देव भी उन तक पहुँचाता है । यज्ञ में देवताओं के लिए 'स्वाहा' रूपी अन्न आधार हैं, तो पितरों के लिए 'स्वधा' ।[49] अथवा यों कहिए कि यज्ञ का 'हविष्' (हव्य) देवताओं के लिए है और 'कव्य' पितरों के लिए । अर्थात् देवताओं के साथ ही उन्हें अपने पितृगण भी पूज्य थे ।

स्वर्गस्थ पितरों के अनेक गण हैं, जिनमें अङ्गिरस, नवग्वा, अथर्वण, भृगु एवं वसिष्ठ मुख्य हैं । पितरों के अनेक भेद (या प्रकार) हैं— पर, अवर, मध्यम, प्राचीन एवं नवीन । हम उन्हें चाहे न जानें अग्निदेव सबको जानता है ।

ऋग्वेद (10/14/11) में प्रेतात्मा के लिए यम से प्रार्थना की गई है कि वह अपने श्वासनों से उसकी रक्षा करे और उसे स्वस्ति से नीरोग रखे । अन्य उक्तियों (दे० ऋग्वेद 10/15/1-2, 7-8) में कहा गया है कि "उत्तम, मध्यम एवं साधारण—सोमपायी पितर (हम पर) अनुग्रह करें, हमारी रक्षा करें । जो पूर्वज हैं, जो ऊपर गए हैं, जो सम्पन्न लोगों में हैं, उन पितरों को आज नमस्कार है । पितरो ! लाल ज्वालाओं के पास बैठे दाता (यज्ञकर्ता) को धन दो, पुत्र दो और उसे यहाँ उत्साहित करो । जो हमारे पूर्वज पितर वसिष्ठों ने सोम की कामना की थी उनके साथ हवि को प्राप्त कर यम भी तृप्त हों ।" जैसा उपर कहा गया है, 'यम' मर्त्यों में सर्वप्रथम हैं, अतः पितरों के साथ उनकी पुजा विधेय है । ऋग्वेद (10/14/15) में कहा गया है कि यम राजा के लिए अति मधुर हवि का हवन करो और पुराने पथकर्ता पूर्वज ऋषियों के लिए मेरा नमस्कार है—इदं नमः ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृदभ्यः ।।

एक अन्य उक्ति (10/14/1) में कहा गया है कि सबसे पहले यम ने मर्त्यों के मार्ग को जाना, जहाँ हमारे पूर्वज गए हैं, यहाँ उत्पन्न जन अपने मार्ग से जाएँगे ।[50]

कहना न होगा कि इन उक्तियों में भविष्य में अपने पूर्वजों से मिलने की आशा, उनके वात्सल्यमय स्नेह की आकांक्षा, उनके प्रति कृतज्ञता, उनसे धन-धान्य, पुत्र-कलत्र पाने की आशा, उन्हें प्रिय सोम एवं कव्य प्रदान करके तुष्ट करने का भाव और इस सबसे स्वयं को उनकी योग्य संतान सिद्ध करने की भावना आदि ऐसे सात्त्विक भाव अनुस्यूत हैं जिनका किसी भी संस्कारी व्यक्ति में पाया जाना एक स्वाभाविक बात है ।

यातुधान

जादू-टोनाविषयक कुछ मंत्र ऋग्वेद में भी पाए जाते हैं । यथा—हरीतिमा रोग का उपचार (ऋग्वैदिक 10/14/18) गर्भस्राव निरोध (ऋग्वेदिक 1/50), कृमि (ऋग्वेद 1/191), यक्ष्मा का प्रतिकार (ऋग्वेद 10/163), शत्रुनाश (ऋग्वेद 10/166), अपत्य प्राप्ति (10/183), ओषधि प्रयोग से सौत से त्राण (ऋग्वेद 10/145) इत्यादि विषयों को लेकर कुछ अभिचार दिए गए हैं । किंतु इस प्रकार की सामग्री न केवल नगण्य मात्रा में है, अधिकारी विद्वानों ने इसे

अथर्ववेद काल का प्रभाव अथवा प्रक्षिप्त अंश माना है, जो स्थिति-परिस्थिति के परिप्रेक्ष्य में सर्वथा न्यायसंगत है।

यज्ञ

जैसा हम देख चुके हैं अग्नि देवताओं का मुख है, और मानवों तथा देवों ने पितरों के मध्य सम्बन्ध स्थापित करनेवाला दूत अथवा मध्यस्थ है। अतः वैदिक आर्यों की श्रद्धा हैं कि अग्नि पवित्र है और प्रकट (प्रज्वलित) अग्नि में देवों और पितरों को सम्बोधित करके डाली गई आहुतियाँ उन तक पहुँच जाती हैं। शारीरिक एवं मानसिक शुचिता, श्रद्धाभाव एवं मंत्रोच्चार के साथ विधिपूर्वक अग्नि को दी गई आहुतियों से जो धर्मानुष्ठान सम्पन्न होता है वही यज्ञ है।

महाभारत एवं पुराणों में इस बात के उल्लेख हैं कि प्रारम्भ में वेद एक ही था, वर्ण भी एक ही था। वेदत्रयी और त्रैवर्णिक प्रजा उसके बाद अस्तित्व में आई। इसका एक अर्थ यह भी होगा कि एक समय ऐसा था, जब व्यक्ति अपने समस्त कार्य स्वयं ही करता था। अर्थात् अपने धार्मिक अनुष्ठान में वही अपना ब्राह्मण था, आर्थिक कार्यों में वही विश् (या वैश्य) था, और सुरक्षात्मक कार्यों में वही क्षत्र या राजन्य था। अतः अग्निहोत्र क्रिया का प्रारम्भ वैयक्तिक धरातल पर ही हुआ होगा, भले वह किसी सम्पूर्ण जाति या वर्ग में मान्य रहा हो। चार युगों की कल्पना और युगधर्मों से सम्बन्धित पौराणिक उक्तियों में इस बात का स्पष्ट कथन पाया जाता है कि—यज्ञ का प्रारम्भ त्रेता में हुआ। इससे भी अनुमान किया जाता है कि यज्ञों का प्रारम्भ परवर्ती काल की घटना है—इससे पूर्व तो किसी सरल पूजा पद्धति और सूक्ति, स्तुति, स्तवन, आशंसा आदि से ही देवताओं को प्रसन्न किया जाता होगा।

यज्ञों की यांत्रिक पद्धति एवं भेदोपभेद आदि का विशेष वर्णन तो यजुर्वेद, ब्राह्मणग्रंथ, श्रौतसूत्र एवं गृह्यसूत्रों में ही मिलता है, किंतु ऋग्वेद में इस बात के प्रमाण मिल जाते हैं कि यज्ञ उस समय सामूहिक धर्मानुष्ठान क्रिया का रूप लेने की प्रक्रिया में थे। यथा—ऋग्वेद (10/90/16) में यज्ञ को प्रथम धर्म (कर्तव्य) कहा गया है, ऋग्वेद (2/36/4, 4/2/2) में अग्नि के तीन स्थानों का और (1/15/12) में गार्हपत्य अग्नि का नामोल्लेख है। तदुपरांत ऋग्वेद (3/28/1, 4-5) में अग्नि के प्रातः सवन, मध्यन्दिन सवन और सायं सवन का विधान है इत्यादि। फिर भी इस विषय में संदेह नहीं है कि यज्ञसंस्थान का विस्तार, उसमें पौरोहित्य का अतिशय महत्त्व, यांत्रिक पद्धति आदि विशेष रूप से श्रौतकाल की घटनाएँ हैं।

डॉ० मंगलदेव शास्त्री के शब्दों में "याज्ञिक प्रथा का विकास आर्य जनता की अंतरात्मा से हुआ था। उस समय उसमें स्वाभाविकता और सार्थकता विद्यमान थी। श्रद्धा, भक्ति और उल्लास की भावनाओं का मूर्तिकरण ही उसका आधार था। अपने उत्कर्ष के दिनों में भी वह समस्त आर्यजाति के जीवन को प्रति-

बिम्बित करती थी।"[51]

याज्ञिक विधि एवं उसके भेदोपभेदों का वर्णन यहाँ न तो सम्भव है न आवश्यक ही। अतः संक्षेप में इतना कहना पर्याप्त होगा कि अग्नि के मुख्य दो भेद किए गए थे---(1) स्मार्ताग्नि—जो गृहस्थों के काम आती है, और (2) श्रौताग्नि—जो यज्ञानुष्ठान में काम आती है। इसके भी चार उपभेद थे—गार्हपत्य, आह्वनीय, दक्षिण, एवं सम्याग्नि। चार प्रकार के ऋत्विज होते थे—होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा एवं उद्गाता। यज्ञों के अनेक भेद मान्य थे, यथा—अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास, अग्निष्टोम, सोमयज्ञ, वाजपेय यज्ञ, राजसूय यज्ञ, श्रौत्रामणियज्ञ एवं समयज्ञ इत्यादि। अग्निहोत्र—प्रातः, मध्याह्न एवं सायंकाल के तीन सवनों में गृहस्थों द्वारा किए जाने वाले साधारण या दैनन्दिन यज्ञ थे, दर्शपूर्णमास पूर्णिमा एवं अमावस्या को सम्पादित होने वाले यज्ञ थे---इन यज्ञों में अधिक धन अथवा अनेक ऋत्विजों की आवश्यकता न थी। सोमयज्ञ, राजसूय आदि केवल राजाओं के लिए थे। सोमयाग अतिशय धनवान लोग भी कर सकते थे। दक्षिण में स्वर्ण, गायें, अश्व, हाथी, बकरियाँ, परिधान आदि दिए जाते थे, जिन्हें ऋग्विज आपस में बाँट लेते थे।

याज्ञिक कर्म को एक अर्थशून्य जटिल यान्त्रिक कर्मकांड मात्र बताकर परवर्ती काल में जो प्रचार किया गया, उसमें सत्य की अपेक्षा द्वेष बुद्धि की प्रतिक्रिया अधिक प्रतीत होती है। परवर्तीकाल की अपनी कतिपय सीमाओं के बावजूद यज्ञ एक समाजलक्षी धर्म था। यह हम देख चुके हैं कि वैदिक आर्य प्रजा त्रैवार्णिक थी। उनके ज्ञान का संग्रह वेदत्रयी में हुआ। एक-एक वेद तीनों वर्णों से सम्बन्धित किया गया, यथा---यजुर्वेद (ब्राह्मण), ऋग्वेद (क्षत्रिय) और सामवेद (विश्)। गायत्री, त्रिष्टुभ् एवं जगती तीन छंदों को भी क्रमशः ब्रह्म, क्षत्र एवं विश् से सम्बद्ध बताया गया—गायत्रो वै ब्राह्मणाः, त्रैष्टुभो वै राजन्यः, जागतो वै वैश्यः ॥ (एत० ब्रा० 1/28)। इसी प्रकार अग्नि, इंद्र एवं मरुतों (तथा अन्य देवों)को भी क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य त्रिवर्णों से सम्बद्ध बताया गया—"ब्रह्मवा अग्निः क्षत्रमिन्द्रः" (शत० ब्रा० 2/5/4/8), क्षत्रं वा इन्द्रो विशो मरुतः" (शत० ब्रा० 2/5/2/27)। इससे प्रकट है कि यज्ञ त्रैवार्णिक आर्य प्रजा का सामूहिक अनुष्ठान था, सबका महत्त्व यथास्थान स्वीकृत था। ध्यान रहे कालांतर में जब 'शूद्र' नामक चतुर्थ वर्ण स्वीकृत हुआ तो अथर्ववेद और पूषन् देवता को उससे सम्बद्ध बताया गया और इस प्रकार उसे भी अंगीकृत किया गया।

डॉ० मंगलदेव शास्त्री लिखते हैं, "उस समय के यज्ञों को केवल ब्राह्मणों की देवपूजा ही न समझना चाहिए। उनमें आर्य जनता के सब वर्गों के लिए आकर्षण, रंजन और मनोविनोद का सम्भार रहता था। यथा— वाजपेय याग में मध्याह्न में रथों की दौड़ ('आजिधावनम्' 1; शत० ब्रा० 5/1/4), राजसूय यज्ञ में द्यूत (जुआ) का खेल (श० ब्रा० 5/4/4/23), और अश्वमेध यज्ञ में पारिप्लव

नामक उपाख्यान या कहानी जो कई दिनों तक चलती थी (शत०ब्रा० 13/4/3)। उसमें सारी प्रजा, स्त्री और पुरुष, युवा और वृद्ध आकर इकट्ठे होते थे। वीणा बजाने वालों के झुण्ड आ जुटते थे। इस प्रकार के नाना प्रदर्शनों से युक्त उन दिनों के यज्ञ-पूजा के स्थानीय होने के साथ-साथ, आजकल के नाटकों और सिनेमाओं आदि का भी काम करते थे।"[52]

यज्ञ के सामाजिक पक्ष को संक्षेप में इतने से ही समझ लेना चाहिए कि द्रव्य यज्ञों को सकाम कर्म होने से बंधनकारक और इसलिए त्याज्य ठहराने वाले गीताकार को भी इनकी सामाजिक उपयोगिता में कोई संदेह नहीं है। कहा गया है कि—"प्रजापति (ब्रह्मा) ने कल्प के प्रारम्भ में यज्ञ सहित प्रजा को रचकर कहा कि इस यज्ञ द्वारा तुम लोग वृद्धि को प्राप्त करो, और यह यज्ञ तुम लोगों की कामनाओं को पूर्ण करने वाले हों। इस यज्ञ द्वारा तुम देवताओं की और देवता तुम्हारी उन्नति करें। इस प्रकार परस्पर कर्तव्य को समझकर उन्नति करते हुए परम कल्याण को प्राप्त करोगे। यज्ञ द्वारा वृद्धि को प्राप्त देवता तुम्हें विना माँगे ही प्रिय भोगों को देंगे। उनके द्वारा प्रदत्त भोगों को जो पुरुष उन्हें अर्पित किए विना ही भोगता है, वह निश्चय ही चोर है।" (गीता 3/10-13)

सकाम कर्म

वैदिकों के याज्ञिक अनुष्ठानों की महती विशेषता है, उनका सकाम होना। राहुल सांकृत्यायन के शब्दों में, "ऋग्वेद के ऋषियों और उनके प्राचीन वंशजों को निष्काम कर्म से कोई वास्ता न था। वह गोसाईं (तुलसीदास) जी के वाक्य को मनाने वाले थे—'सुर नर मुनि की ये ही रीती ! स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती ॥' वह देवताओं के लिए यज्ञ, हवन या सोमपान करते-कराते उनके सामने बरावर अपनी अभिलाषाएँ रखते थे। उनका 'मोटो' था—'देहि मे ददामि ते।' अर्थात् मुझे दो फिर मैं तुम्हें दूंगा।[53] ऋग्वैदिक आर्यों की अभिलाषाओं के द्योतक निम्नलिखित अवतरण अवलोक्य होंगे—

"हे अग्नि ! तुम स्वस्तिपूर्वक निरापद धन के मार्गों से हमारे पास आओ। हमें कष्ट से बचाओ; स्तोता सूरियों को सुख प्रदान करो। हम सुन्दर और वीर सन्तानों वाले होकर सौ वर्ष तक आनन्द से जीवित रहें।" (ऋ० 6/4/8)

नू नो अग्ने वृकेभिः स्वस्ति वेषि रायः पथिमि पर्ष्यंहः।
सा सूरिभ्यो गुणते रासि सुम्नं मदेम शतहिमाः सुवीराः ॥

हे वसु ! तुम हमें वहुत-सा धन दो; हमारे पुत्र-पौत्रों के लिए बहुत-से पशु दो, पहले जिसकी (हमने) कामना की थी वह प्रभूत धन, भद्र यश हमें प्राप्त हो। (ऋ० 6/1/12)

नृवद्वसो सदमिद्धेह्यस्मे भूरितोकाय तनयाय पश्वः।
पूर्वीरिषो वृहतीरारे अघा अस्मे भद्रा सौश्रवसानि सन्तु ॥

हम सौ शरद् (वर्ष) देखें और जीवित रहें। (ऋ० 7/66/16)

पश्येम शरदः शतं जीवेम शारदः शतं।

हम वेर के फल की तरह मृत्यु के बंधन से मुक्त हों, अमृत से नहीं। (ऋ० 7/59/12)।

उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् ॥

(हे दम्पति) तुम दोनों (पति-पत्नी) यहीं रहो, वियुक्त मत होओ, पूरी आयु (100 वर्ष) को प्राप्त करो, पुत्र पौत्रों के साथ खेलते, आनंद करते अपने घर में रहो। (ऋ० 10/85/42)।

इहैव स्तं मा वियौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतं।
क्रीडन्तौ पुत्रैर्नृप्तृभिर्मोदमानौ स्वेगृहे ॥

हे इंद्र! शत्रुओं से हमारी रक्षा करो, हम सुंदर वीर संतानों वाले होकर सौ वर्ष तक आनंद से जीयें (ऋ० 6/24/10); हे अग्नि! तुम्हारी सहायता से हम (अपनी) कामनाओं को प्राप्त (पूर्ण) करें; हे धनवान्! हम सुवीर संतानों से युक्त हो ऐश्वर्य को प्राप्त करें। शक्ति के अभिलाषी हम शक्ति को प्राप्त करें; हे अजर! हम तुम्हारे अजर प्रताप को पायें। (ऋ० 6/5/7)! हे सोम! तुम हमें गौ और अश्वयुक्त सहस्रधन और अन्न तथा यश भी प्रदान करो (ऋ० 9/63/12)। इत्यादि। अन्यत्र कहा गया है, "जब तक हमारा पुत्र पिता न बन जाय, हम न मरें—सौ साल तक जीवित रहें।" (यजु० 25/22)—

शतमिन्नु शरदो अन्ति देवा यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम्।
पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति मानो मध्या रीरिषतायुर्गन्तोः ॥

उनकी शुभकामना है कि—"हे मानव, बुढ़ापे से पहले तू मत मर— सचे त्वानु ह्वयामसि मा पुरा जरसो मृथा ॥" (अथर्व5/30/17) जैसा उपर्युक्त उक्तियों से व्यक्त है, वैदिक ऋषि सौ वर्ष तक आनंदपूर्वक और स्वस्थ रहकर जीवित रहने की अभिलाषा करते हैं। ध्यान रहे कि सौ वर्ष का अभिलषित आनंदमय जीवन निवृत्तिपरक, निष्क्रिय जीवन न होकर कर्मठ जीवन का पर्याय है— कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ॥ (यजु० 40/2) अर्थात् कर्म करते हुए हम सौ वर्ष तक जीयें।

उल्लेख्य होगा कि वैदिक आर्यों की उपर्युक्त अभिलाषाओं अथवा कामनाओं में से प्रायः सभी लौकिक सुख-समृद्धिविषयक हैं। यह बताना अनावश्यक होगा कि लौकिक सुख-समृद्धि की कामना ही वह प्रेरक बल है जो व्यक्ति को लौकिक जीवन में प्रवृत्त बनाता है। कामनाओं को फलीभूत करने की इच्छा और तत्प्रेरित प्रवृत्ति ही उस सम्बन्ध सूत्र का निर्माण करती हैं, जो एक को अनेक से इस तरह जोड़ता है कि वे पारस्परिक विरोध को त्यागकर, और एक-दूसरे के पूरक बनकर, बृहत्तर एक का सर्जन करते हैं। अर्थात् समाज और सामाजिक व्यवहार का

प्रादुर्भाव लौकिक कामनाओं को फलीभूत करने के उद्देश्य से ही होता है। इन कामनाओं से युक्त होना ही आशावादी होना है, और यह आशावाद ही लौकिक जीवन की सर्जनात्मक प्रेरणा है। यही कर्मठ जीवन की प्राणवायु है।

जैसा उपर्युक्त उद्धरणों से सिद्ध है यह आशावाद वैदिक आर्यों के जीवन में कूट-कूटकर भरा हुआ है, जीवन का दुःख उनकी चिंता का विषय नहीं है। शस्य-श्यामला धरती उनकी पोषक माता है, सुग्रथित तारों से सुसज्ज द्यौः उनका पिता है, ऊषा नित्य नवीन नवोढ़ा है, नदियाँ उनके लिए मधु का वहन करती हैं, ऋषिगण, पितृगण उनके शुभचिंतक और मार्गदर्शक हैं, अग्नि उनका भ्राता है, अजेय इंद्र उनका रक्षक है, उनके देवता जो चाहो सो देते हैं, भूलों के के लिए क्षमा कर देते हैं इत्यादि।" यहाँ वे सुखी हैं, मृत्यु के बाद वे अपने पितरों का सानिन्ध्य और उनका वात्यल्य पुनः प्राप्त करेंगे, और यहाँ से भी कहीं अधिक सुख प्राप्त करेंगे। फिर एक आर्यपुत्र क्यों न इतना आशावादी, आत्म-विश्वासी और पुरुषार्थी हो कि—"कृतं मे दक्षिणो हस्ते जयो मे सत्य आहितः॥ (अथर्व॰ 7/52/8) अर्थात् मेरे दाहिने हाथ में पुरुषार्थ है और बायें हाथ में विजय रखी हुई है।

देवार्चन की सामग्री

देवताओं को तृप्त करने के लिए वैदिक आर्यों के पास दो प्रकार की सामग्री थी—हवि और सोम। प्रथम खाद्य है द्वितीय पेय। हवि सामग्री में मुख्य है—'पुरोडाश'। 'पुरोडाश' जैसा राहुल सांकृत्यायन का कथन है, दूध में जौ डालकर पकाई गई 'खीर' को कहा जाता था। ऋषि विश्वामित्र की एक उक्ति (ऋ॰ 3/42/7) में उसके दो प्रकार बताए गए हैं—'गवाशिर' और 'यवाशिर'। 'आशिर दूध के पाक को कहते हैं।' गवाशिर केवल गाय के दूध को पकाकर बनाया जाता था; 'यवाशिर' जौ और दूध की खीर को कहते थे। तदुपरांत जौ के भुने हुए दाने, उन्हें पीसकर बनाया गया सत्तू और 'अपूप' (रोटी) भी देवों के हवि के अंतर्गत स्वीकृत थे।

पेय पदार्थों में मुख्य, या एकमात्र, था 'सोम'। 'सोम' वस्तुतः क्या था? इस विषय में मतैक्य नहीं है। एक उल्लेख में (दे॰ ऋ॰ 8/164/1 तथा 10/34/1) सोम मूजवंत पर्वत पर और आर्जीकीय देश की सुषोमा नदी पर उपलब्ध कोई बेल या वनस्पति थी। राहुल सांकृत्यायन इसे आधुनिक 'भाँग' कहते हैं। जो हो, इसे एक निश्चित विधि से कूटकर, पीसकर, छानकर और दूध में मिलाकर 'चमुओं' में भरकर देवताओं को अर्पित किया जाता था। वैदिक आर्यों का यह सर्वोत्तम पेय था, जो आनंदोल्लासप्रेरक एवं शक्तिदायक कुछ सीमा तक मादक पदार्थ था। इसे पीने के बाद इंद्र ने यहाँ तक कह डाला है कि—"अब मैं पृथ्वी को अपनी हथेलियों से मसल सकता हूँ।[51] किसी परवर्ती ग्रंथ का एक ऐसा उल्लेख भी मेरे देखने में आया था कि पूर्व, दक्षिण और पश्चिम दिशाओं

की अपनी प्रारम्भिक लड़ाइयों में आर्य सर्वत्र हारे थे, किंतु उत्तर में 'सोम' को प्राप्त कर और उसका सेवन करके सुरक्षित हुए, अंततः विजयी हुए। इसमें और कुछ नहीं तो आर्यों के जीवन में इसका महत्त्व अवश्य प्रतिपादित होता है। 'सोम' को देवताओं में गिना गया है, किंतु संभव है वहाँ सोम का अर्थ चंद्रमा भी रहा हो।

'हवि' के रूप में पकाया हुआ मांस भी देवताओं को अर्पित किया जाता था। कुछ यज्ञों में पशुओं की बलि दी जाती थी। याज्ञिक बलि पशुओं में मुख्य थे—घोड़ा, वृषभ (सांड), बैल, बहिला (गाय), मेष (मेंढ़ा) और अजा। बलि-पशु का मांस पकाया जाता था और देवताओं को अर्पित कर 'प्रसाद' के रूप में खाया जाता था। (दे० ऋ० 10/91/14)

तात्पर्य यह है कि 'यदन्नं पुरुषो ह्यान्ति, तदन्नं तस्य देवताः।'' की व्यावहारिक नीति अपनाई गई थी।

परलोक

जैसा हम देख चुके हैं, ऋग्वैदिक आर्यों की धार्मिक आस्था का आश्रय दो पारलौकिक सत्ताएँ थीं—(1) उनके ज्ञात एवं अज्ञात पूर्वज या पितृगण तथा ऋषिगण और (2) देवता गण। अतः उनकी आस्था थी कि मरने के बाद व्यक्ति पितृलोक एवं देवलोक में जाता है। अर्थात् देहांत ही जीवन का अंत नहीं है, मृत्यु के बाद भी जीवन है, जो यहाँ के जीवन से भी अधिक सुखद है।

शव दाह संस्कार की अग्नि की ज्वालाएँ और धूम्र दोनों उर्ध्व-गमन करते हैं।[85] संभवतः इसी दृश्य से उन्होंने यह अनुमान किया होगा कि धूम्र प्रेतात्मा (मृतात्मा) को पितृलोक और अग्नि की अर्चियाँ उसे देवलोक पहुँचाती हैं। अतः अग्निदेव न केवल इहलोक में ही उनके हितसाधक एवं पथप्रदर्शक हैं, अपितु परलोक गमन में भी वे ही उनका पथप्रदर्शन करते हैं, उनका मार्ग प्रशस्त करते हैं।

यहाँ हम पितृलोक एवं देवलोक (स्वर्ग) का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करते हैं, किंतु इतना ध्यातव्य होगा कि इन दोनों का पार्थक्य एकदम स्पष्ट नहीं है, क्योंकि दोनों पर 'यम' का शासन है। देवराज इंद्र अभी धरती के ही राजा हैं, स्वर्ग के नहीं।

पितृलोक

विवस्वान के पुत्र 'यम' ऐसे पहले मानव हैं, जिन्होंने इंद्रलोक में मृत व्यक्तियों के लिए पितृलोक में जाने का मार्ग खोज निकाला है।[56] वे ही ऐसे सर्वप्रथम व्यक्ति हैं जो मृत्यु को प्राप्त हुए और पितृलोक में पहुँचे। स्वाभाविक है कि तब से हमारे समस्त पितृगण वहीं गए हैं, भविष्य के मनुष्य भी वहीं जाएँगे (ऋ० 10/14/12)।

पितृलोक के मार्ग में चार-चार आँखों वाले दो बड़े भयानक कुत्ते हैं, जो सरमा

(यम की कुतिया ?) के पुत्र हैं, के पितृलोक के माग की रक्षा करते हैं। प्रेतात्मा को इनसे बचकर जाने का आदेश दिया गया है। लम्बी नाक वाले, प्राण के संहारक, नाना वर्ण वाले, सारमेय नामक यम के दूत भी हैं जो इहलोक में (मनुष्यों के बीच) घूमते रहते हैं, और पितृलोक जाने वालों को ढूंढ़ा करते हैं।

पितृलोक देदीप्यमान लोक है, जिसमें पितृगण और यम सानंद जीवन व्यतीत करते हैं। (पितरों के अनेक गण हैं, जिनमें अङ्गिरस, नवग्वा, अथर्वण, भृगु एवं वसिष्ठ मुख्य हैं। पितरों के अनेक प्रकार हैं—पर, अवर, मध्यम, प्राचीन एवं नवीन। हम इन सबको चाहे न जानें अग्नि सबको जानता है।) पितृगण सोमरस और यज्ञ में दी जाने वाली आहुतियों के इच्छुक होते हैं। मर्त्यलोक में यज्ञ में दी गई इनके नाम की आहुतियों को अग्नि इन तक पहुँचाता है इत्यादि।

देवलोक

यही वस्तुत: द्यौ: अथवा स्वर्गलोक है, जो पितृलोक की तरह ही देदीप्यमान और चंद्रमा के निकट है। (कहीं-कहीं इसे सूर्यलोक के निकट भी बताया गया है।) मृतात्मा (प्रेतात्मा) को यहाँ तक सविता लाते हैं, पूषन् उसकी रक्षा करते हैं। यहाँ भी देवताओं एवं पितरों के साथ यम सुखमय जीवन व्यतीत करते हैं। यह यम द्वारा हमारे लिए निर्मित ऐसा स्थान है जो हमसे छीना नहीं जाएगा। यहाँ रहने वाले देवता सौभाग्यशाली हैं, अमर हैं। यहाँ पितृगण भी अमरता प्राप्त करते हैं, जो उन्हें संभवत: देवताओं के लिए किए गए यज्ञों से प्राप्त होती है।

जो देवों को तुष्ट करता है, वह देवों के पास जाता है, नाक (स्वर्ग) पीठ पर आश्रित हो अधिष्ठित होता है (ऋ० 1/12/5)। तपस्या से जो स्वर्ग में गए हैं, हे देवापि ! तुम वहाँ जाओ (ऋ० 10/154/2)। जो युद्ध में लड़ते हैं और जो शूर वहाँ शरीर छोड़ते हैं और जो सहस्रों में दक्षिणा देते हैं, हे देवापि ! तुम उनके पास (स्वर्ग में) जाओ (ऋ० 10/154/3)।

अन्त्येष्टि क्रिया से सम्बन्धित सूक्त (10/14/8) में प्रेतात्मा से कहा गया है—वह वहाँ (स्वर्ग में) पितरों से अपने इष्टापूर्त' से संयोग प्राप्त करे। तैत्तिरीय संहिता (5/7/7/1) में देवताओं से प्रार्थना की गई है कि जब प्रेतात्मा उनके निवास पर पहुँचे तब वे उसे उसके 'इष्टापूर्त' से मिला दें। कीथ के अनुसार यह 'इष्टापूर्त' शब्द यज्ञ करने और पुरोहितों को दक्षिणा देने से उत्पन्न संस्कार का बोध कराता है।[57] इस सबसे फलित होता है कि स्वर्ग की प्राप्ति में देवाराधन, यजन, शूरवीरता, दानशीलता एवं तपस्यादि को कारणभूत माना गया है।

भौतिक पिंड के त्याग के बाद प्रेतात्मा को उसके इष्टापूर्त के आधार पर नीरोग शरीर प्राप्त होता है (ऋ० 10/14/8)।[58] इस प्रकाशमान शरीर से प्रेतात्मा स्वर्ग में सोम, सुरा, मधु, दुग्ध, घृत का छक कर उपभोग करता है।

वहाँ अश्वत्थ वृक्ष भी है जिसकी शीतल छाया में यम, देव एवं पितृ (सोम का) पान करते हैं— यस्मिन् वृक्षे सपलाशे देवैः; संपिवते यमः। (10/135/1)। ऋग्वेद के द्रष्टाओं से जो कमी रह गई उसे अथर्ववेद ने दूर कर दिया है— स्वर्गे लोके बहुस्त्रैणमेषाम् (अथर्व 3/34/2)। साथ ही वहाँ समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाली कामधेनु भी है—सर्वान् कामान् यमराज्ये वंशाप्रददुषे दुहे (अथर्व 12/4/36)।

नरक

देवताओं के कोप से डरकर जीवनयापन करने वाले धर्मनिष्ठ आर्यों से पहले तो पापकर्म होने की सम्भावना ही नहीं थी, यदि परिस्थितियों के कारण, प्रमाद, कुसंगति आदि कारणों से कोई पाप हो गया हो तो ऋत के अधिष्ठाता कृपालु 'वरुण' के समक्ष उसकी आत्म-स्वीकृति और प्रायश्चित्त कर लेने तथा आगे ऐसी भूल न करने की प्रतिज्ञा कर लेने के फलस्वरूप उसके दुष्प्रभाव से तुरंत मुक्ति मिल जाती थी। इस स्थिति में उन्हें स्वयं के लिए नरक की कोई आवश्यकता ही नहीं थी। किंतु अपने दुश्मनों और पापात्माओं के लिए दंड-स्वरूप एतद्विरुद्ध व्यवस्था आवश्यक थी। अतः वरुण से उनकी प्रार्थना है कि वह पापियों को ऐसे गहरे गड्ढे में ढकेल दे जहाँ से वे कभी वापिस न लौटें। इंद्र से भी प्रार्थना की गई है कि वह अपने उपासकों का अहित करने वालों को अंधकार के सुपुर्द कर दे।[59] राक्षसियों और अभिचारियों से परिपूर्ण यातना-गृह के रूप में नरक का वर्णन सर्वप्रथम अथर्ववेद (12/14/2; 5/99/3) में हुआ है; जो यम के शासनक्षेत्र में स्वर्ग के विपरीत (अधोगृह) पाताललोक में अवस्थित है।

वैदिक आर्यों का सामाजिक जीवन

अर्थ और काम के नियमन एवं संयोजन से सम्बन्धित व्यवस्थाएँ सामाजिक संगठन का आधार बनती हैं। अर्थव्यवस्था का लक्ष्य ऐसी परिस्थिति का निर्माण करना होता है जिसमें अपनी योग्यता, क्षमता, कार्यकुशलता एवं रुचि के अनुरूप कार्य को अपनाकर भी व्यक्ति अपनी जीविका का नियमित उपार्जन कर सके और इस प्रकार अपने वैशिष्ट्य को बनाए रखकर भी वह सामूहिक विकास एवं हितों की रक्षा में सहायक सिद्ध हो सके। कामविषयक व्यवस्था से हमारा तात्पर्य यहाँ सामाजिक मान्यताप्राप्त नर-नारी के लैंगिक सम्बन्धों से है। इस व्यवस्था का लक्ष्य सामूहिक जीवन की पोषक सुसंस्कृत संतति का प्रजनन एवं पालन-पोषण होता है। प्रथम व्यवस्था के लक्ष्य को एक या दूसरे प्रकार के कार्य विभाजन (Division of Labour) को अपनाकर और द्वितीय के लक्ष्य को एक या दूसरे प्रकार की विवाह पद्धति अपनाकर प्राप्त किया जाता है। एक

तीसरी व्यवस्था भी होती है जिसका लक्ष्य उक्त व्यवस्थाओं की रक्षक न्याय-व्यवस्था और उक्त स्वीकृत व्यवस्थाओं से प्रभावित निश्चित समाज की रक्षा करना होता है—यही राजनैतिक व्यवस्था है। उक्त तीनों व्यवस्थाओं में से किसी भी एक के अभाव में टिकाऊ सामाजिक जीवन की सम्भावना नहींवत् ही होती है। अर्थात् व्यक्ति और समाज की सुरक्षा, विकास, समृद्धि एवं संवृद्धि इन्हीं व्यवस्थाओं द्वारा संभव है। किंतु ध्यान रहे कि राजनैतिक व्यवस्था का लक्ष्य सुरक्षात्मक है; अतः नीति निर्धारण में वह गौण है।

जैसा हम आगे देखेंगे, भारतीय मनीषियों ने उक्त समूची व्यवस्था को धर्म संज्ञा द्वारा अभिहित किया है। इस प्रकार धर्म का सीधा सम्बन्ध हमारे आचारों से है। अर्थात् उपर्युक्त व्यवस्थाओं से निष्पन्न होने वाले हमारे सम्बन्धों एवं व्यवहारों के पारस्परिक निर्वाह में हमारा धर्म ही परिलक्षित होता है। इसी वैचारिक संगति के परिप्रेक्ष्य में यहाँ वैदिक आर्यों के सामाजिक जीवन का सिंहावलोकन प्रासंगिक माना गया है।

सामाजिक संगठन का स्वरूप एवं आधार

जैसा हम देख चुके हैं, ऋग्वेद के पुरुषसूक्त (10/90/12) में कहा गया है कि—"ब्राह्मण उसका (विराट् पुरुष का) मुख है, दोनों बाहु राजन्य कृत हैं, दोनों जंघाएँ वैश्य हैं और पैरों से शूद्र जन्मा है।" इस वक्तव्य के आधार पर कतिपय भारतीय पंडित यह प्रतिपादित करते हैं कि भारतीय समाज की संरचना में चातुर्वर्ण्यव्यवस्था ईश्वर कृत और सृष्टि के प्रारम्भ से ही है। कहना न होगा कि आस्थामूलक इस अवधारणा में ऐतिह्य दृष्टिकोण का अभाव है। पुनः पुरुषसूक्त के उक्त कथन की व्याख्या में भी मतैक्य नहीं है।

ध्यातव्य होगा कि उक्त कथन में पुरुष का वर्णन सहस्रशीर्षा, सहस्राक्ष एवं सहस्रपाद के रूप में किया गया है और कहा गया है कि पुरुष ही यह समस्त विश्व है—जो अतीत में उत्पन्न हुआ और भविष्य में उत्पन्न होने वाला है—"पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।" (ऋ० 10/90/2)। इससे प्रकट है कि पुरुषसूक्त का वर्ण्य विषय समष्टि है, जिसमें मानव सृष्टि का भी अंतर्भाव है। आगे कहा गया है कि—

तस्मात विराडजायत् विराजो अधिपुरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथोपुरः ।। 10/90/5

अर्थात् उससे (पुरुष से) विराट् जन्मा, उस विराट् से असंख्य प्राणी (जन्मे)। वह पृथक है, फिर भूमि को धारणा भी करता है।

अवलोक्य होगा कि अथर्ववेद (8/10/1-12) में गृहपति, दक्षिणीयः (शायद ग्रामणी = मुखिया) और समिति आदि के क्रम में राजा के अस्तित्व का विकासात्मक क्रम दिया गया है। वहाँ (अथर्ववेद 8/10/1 में) विराट् के विषय में कहा

गया है कि—

"विराड्वा इदमग्रे आसीत्तस्या जाताया: सर्वविमभेदिति इयम् एवं इदम् भविष्यतीति ।।" इस पर श्री भूमानंद सरस्वती[60] की टीका इस प्रकार है—

अग्रे इदम् (जगत्) विराट् वै आसीत् । तस्या: (विराज:) जाताया इयम् एवं इदम् भविष्यति इति सर्वं अविभेत् ।।

विराट्=(वि+ राजृ+ क्विप = विगत: राट् यस्या:)=वह समाज जहाँ राजा नहीं था । वै=निश्चय ही इदम्=यह (संसार), अग्रे=(प्राचीनकाल में) =प्रारम्भ में, आसीत्=था । तस्या: =उससे (विराट् से सम्बन्ध=यह तात्पर्य है) । जाताया:=(उत्पन्न—हुआ)=हुआ, जब वह दिखाई दिया, जब वह प्रकट हुआ । सर्वम्=सारा जगत् या मानव समाज । अविभेत्=डर गया । इयम्= यह । एव=केवल, सिर्फ) । इयम्—इति=कि यह हालत सारी दुनिया पर फैल जाएगी और सब कुछ वश के बाहर हो जाएगा ।

अर्थात्—प्रारम्भ में मनुष्य समाज में कोई राजा नहीं था, जो एकत्र कर सके, राज्य कर सके । जब मनुष्यों को यह ज्ञात हुआ तो वे डर गए कि यह हालत सब जगह फैल जाएगी और सब कुछ वश के बाहर हो जाएगा ।

इस पूरे प्रसंग में यह टीका निश्चय ही विचारणीय है ।

ऐतरेय ब्राह्मण (1/14) के कथनानुसार देवों ने विचार किया कि असुरों के हाथों उनकी पराजय का कारण यह है कि उनका कोई राजा नहीं है । अतएव उन लोगों ने बलिष्ठ एवं ओजिष्ठ इंद्र को अपना राजा बनाया । और तब उन्होंने असुरों पर विजय पाई । म० भा० शांति पर्व (59/14) में कहा गया है कि पूर्वकाल में कोई राजा नहीं था, कोई राज्य नहीं था, कोई दंड देनेवाला नहीं था और कोई दंडित भी नहीं था । मात्र धर्म द्वारा वे एक-दूसरे की रक्षा करते थे ।[61] अन्य भी अनेक ग्रंथों में पूर्वकाल में राजा न होने के उल्लेख पाए आते हैं । इससे ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय आर्यों के प्रारम्भिक जीवन में एक समय ऐसा अवश्य रहा होगा कि जब उनका कोई राजा नहीं था । स्वाभाविक है कि उस समय समाज में राजन्य या क्षत्रिय जैसा कोई विशेष वर्ग भी न रहा होगा ।

दूसरे यह कि आगतुंक आर्यों की जीविका के मुख्य साधन थे—पशुपालन एवं खेती । पशु तो परिवार अथवा कबीलाई संगठन कीसामूहिक सम्पत्ति होते ही थे । सम्भवत: खेती का व्यवसाय भी सामूहिक साझेदारी में किया जाता था । वे (आर्य) कृषीवल समाज के रूप में ऋग्वेद में चित्रित किए गए हैं ।[62] ऋग्वेद (10/191/2) में कहा गया है कि हे मनुष्यो ! तुम साथ चलो, साथ बोलो, तुम्हारे मन साथ सोचें जैसा कि पूर्वकाल के देवता एकमत होकर उपासना (भोग) करते थे । आगे कहा गया है कि "इन (आर्यजनों) का मंत्र एक-सा हो, समिति एक-सी हो, चित्त सहित मन एक-सा हो । एक-से मंत्र को मैं तुम्हारे लिए आमंत्रित करता हूँ । एक समान हवि से (मैं) तुम्हारे लिए हवन करता हूँ (ऋग्वेद 10/191/3) । तुम्हारा अध्यवसाय समान हो, तुम्हारे हृदय समान

हों, तुम्हारा मन समान हो, जिसमें तुम्हारा सुंदर संगठन हो (ऋग्वेद 10/191/4)।[63] अथर्ववेद (3/30/6) में कहा गया है कि "तुम सब के जल-स्थल समान हों। तुम सब अन्न को एक समान ही बाँट-चूंट कर लो। मैं तुम्हें एक ही बंधन में बाँधता हूँ। इसलिए तुम सब मिलकर कर्म करो, जैसे रथचक्र के सब ओर के अरे एक ही नाभि में लगाकर काम करते हैं।"[64] एक अन्य उक्ति में कहा गया है कि मैं तुम्हारे हृदयों को एक समान करता हूँ, तुम्हारे मनों को विद्वेषरहित करता हूँ, तुम सब एक-दूसरे को उसी प्रीति से चाहो, जैसे गाय अपने सद्यःजात शिशु को चाहती है। (अथर्ववेद 3/30/1)। यजुर्वेद (19/46) में भी कहा गया है कि मन-वाणी की समानता के पक्षपाती मनुष्यों के लिए ही मैंने इस लोक में सौ वर्ष (के जीवन) तक समस्त ऐश्वर्यों को दिया है।

इस प्रकार की उक्तियों के पर्यावलोचन से फलित होता है कि पूर्वकाल में आर्यजन जीविकोपार्जन के व्यवसाय – पशुपालन एवं खेती – सामूहिक साझेदारी में, सुसंगठित रूप से करते थे। खेती की उपज को साझीदारों द्वारा समान भागों में बाँट लिया जाता था। इस प्रकार प्रजाति, भाषा, धर्मादि के अतिरिक्त जीविकोपार्जन के साधन भी उनके सामूहिक जीवन या पारस्परिक संगठन के आधार थे। और उनका इस प्रकार का संगठन सम्भवतः 'कृषिवल' के नाम से अभिहित था।

तीसरे सप्तसिंधु प्रदेश में आर्यों का प्रवेश (बाद में आने वाले पारसियों की तरह) शांतिपूर्वक नहीं हुआ। ऋग्वेद में इंद्र द्वारा लड़े गए छोटे-मोटे चालीस युद्धों का उल्लेख है, अकेले शम्बर के साथ इंद्र को सतत चालीस साल तक संघर्षरत रहना पड़ा था। दिवोदास एवं सुदास आदि द्वारा लड़े गए युद्धों के वर्णनों से फलित होता है कि (परवर्ती अर्थों में राजपुरोहित या प्रधानमंत्री की जैसी स्थिति वाले) ऋषि विश्वामित्र या वसिष्ठ की स्तुतियों (ब्रह्म) से प्रसन्न होकर नदियों ने सुदास की सेनाओं को पार जाने की सुविधा दी, इंद्र ने (देवता ने) उसका साथ दिया इत्यादि। अर्थात् युद्ध में विजय दिलाने वाला प्रथम बल था— 'ब्रह्मबल'। ऋषियों की स्तुतियों (ब्रह्म) से सम्भव हुई देवताओं की प्रसन्नता।[65] तत्पश्चात दूसरा बल था – राजा व सेनाओं का—बाहुबल अथवा 'क्षत्र बल'। ऋग्वेद में ब्रह्म एवं क्षत्र शब्द क्रमशः स्तुति एवं शक्ति के लिए प्रयुक्त हुए हैं।[66] यजुर्वेद (32/16) में भी कहा गया है कि ये मेरे ब्रह्मबल और क्षत्रबल दोनों श्रेय को प्राप्त हों।[67] अन्य उक्ति (यजुर्वेद 20/15) में कहा गया है कि जहाँ ब्रह्मबल और क्षत्रबल प्रीतियुक्त होकर रहते हैं, जहाँ देवता अग्नि के साथ रहते हैं, वही देश पुण्यलोक है।[68] विश्व की विभूतियाँ हमारे ज्ञानबल (ब्रह्म) और क्षत्रबल (क्षत्र) को बढ़ाने में सहायक हों—सन इदं ब्रह्म क्षत्र पातु ॥ (यजुर्वेद)।

उस प्रकार के विधानों के अवलोकन से फलित होता है कि सप्तसिंधु के तत्कालीन जीवन में व्यक्ति एवं समूह के अस्तित्व एवं सह-अस्तित्व का आधार

कृषिबल है, सफलता व संवृद्धि का आधार ब्रह्मबल है और उनकी सुरक्षा का आधार क्षत्रबल है। अर्थात् ऋग्वैदिक आर्यों के प्रारम्भिक सामाजिक जीवन के अस्तित्व, समृद्धि व संवृद्धि तथा सुरक्षा के आधारभूत क्रमशः तीन 'बल' थे—कृषिबल, ब्रह्मबल और क्षत्रबल। वस्तुस्थिति की आवश्यक स्पष्टता के लिए यहाँ तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था के परिचायक—विशः ब्रह्म, क्षत्र एवं वर्ण आदि कुछ विशिष्ट शब्दों के तात्पर्य को समझ लेना प्रासंगिक होगा।

विश

ऋग्वेद (3/34/2) में आया है कि ओ इंद्र! तुम मानवीय एवं दैवी 'विशों' के नेता हो—"इंद्र क्षितीनामसि मानुषीणां विशां दैवीनामुत पूर्वयावा।" ऋग्वेद (8/63/7) में कहा गया है कि—यत्पांचजन्या विशेन्द्र घोषा असृक्षत्॥ अर्थात् पांचजन्य (आर्य गण) के विशः के पूज्य इंद्र हैं। स्पष्ट है कि इन उक्तियों में 'विशः' या 'विश्' शब्द का प्रयोग आर्यजनों अथवा प्रजाओं के लिए हुआ है।

ऋग्वेद 7/33/6 में 'तृत्सूनां विशः' और ऋग्वेद 4/28/4 में "विशोदासीर कृष्णोरप्रशास्ता" में प्रयुक्त विश् शब्द क्रमशः तृत्सुओं की प्रजा और 'दास-प्रजा' का अर्थबोध कराता है। इसी प्रकार 'मानुषीर्विशः', 'मानुषीणां विशाम्' और 'मनुषो विशः' आदि शब्दों में प्रयुक्त 'विशः' अथवा 'विश' शब्द का अर्थ 'जन दल' 'सामान्य जन' या 'प्रजा-जन' होता है। ऐत० ब्रा० (8/26) में विशः का अर्थ 'राष्ट्रिणी' (देश या प्रजा) किया गया है—'राष्ट्रिणी वै विशः॥' राजा को 'विशांपति' कहा जाता था। राजा के साथ प्रयुक्त विशः शब्द का अर्थ प्रायः प्रजाजन होता है-- विषि राजा प्रतिष्ठितः॥ (यजुर्वेद 20/9)॥ त्वां विशो वृणतां राज्यांयं॥ (अथर्ववेद 3/4/2)। अस्तु।

उक्त उद्धरणों से फलित होता है कि प्रारम्भ में 'विश्' अथवा 'विशः' शब्दों का प्रयोग दिव्य लोग, आर्यलोग, दास लोग आदि के अर्थ में अर्थात् एक विशेष जाति के समस्त लोगों के लिए, प्रयुक्त होता था। राजा की सत्ता के अस्तित्व में आने पर 'विशः' का अर्थ सम्बन्धित राजा द्वारा 'शासित प्रजा' हो गया। दोनों ही स्थितियों में सामाजिक संगठन के पूर्वोत्तम 'कृषिबल' का सम्बन्ध इसी विश् से रहा होना चाहिए।

डॉ० मंगलदेव शास्त्री के अनुसार परवर्ती 'वैश्य' शब्द (उक्त) विश् की तीसरी पीढ़ी में बना है। 'विश्' से 'विश्य' (दे० अथर्ववेद 6/13/1) और उससे 'वैश्य' शब्द बना है।[69] 'तैत्ति० संहिता' में कहा गया है कि—पराजित होने पर देवता असुरों के 'वैश्य' हो गए।[70] निश्चय ही यहाँ 'वैश्च' शब्द का अर्थ 'अधीनस्थ प्रजानन' होगा। अतः विश् और वैश्य दोनों का तात्पर्य समाज के उस आधार-भूत वर्ग से था, जो शेष—ब्रह्म एवं क्षत्र—वर्गों का आश्रय था—'उभे ब्रह्म च क्षत्रं च विशि प्रतिष्ठिते॥ (शत० ब्रा० 11/2/7/16)।

वर्ण-व्यवस्था का 'वैश्य' शब्द ऋग्वेद में मात्र एक बार 'पुरुषसूक्त' में

प्रयुक्त हुआ है, अतः उसे समूचे ऋग्वैदिक मंतव्य का द्योतक नहीं माना जा सकता और 'पुरुषसूक्त' स्वयं परवर्तीकाल की रचना है, अतः उसे प्रारम्भिक स्थिति का द्योतक नहीं माना जा सकता। तात्पर्य स्पष्ट है कि ऋग्वैदिक आर्यों की पूर्वकालीन सामाजिक व्यवस्था में 'विश्' शब्द का अर्थ प्रजाति जन (प्रजाति के लोग) होता था, राजा के अस्तित्व में आने पर उसका अर्थ अधीनस्थ प्रजा हुआ। कालांतर में लगभग उसी अर्थ का द्योतक 'वैश्य' शब्द अस्तित्व में आया।

ब्रह्म

ऋग्वेद (7/33/3) में कहा गया है कि जब दश राजा युद्ध के लिए आए तब हे वसिष्ठ ! तुम्हारे 'ब्रह्म' ने सुदास की रक्षा की।[71] एक अन्य उक्ति में कहा गया है कि विश्वामित्र का 'ब्रह्म' भारतजनों की रक्षा करे।[72] आगे कहा गया है कि हे अग्नि ! अपनी ज्वालाओं से हमारे 'ब्रह्म' व यज्ञ को बढ़ाओ।[73] इन समस्त उक्तियों में 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ स्तुति, प्रार्थना एवं मंत्र[74] (स्तोत्र) होता है। ऋग्वेद में ब्रह्म शब्द का दूसरा प्रमुख अर्थ होता है—'यज्ञ'। वैदिक आर्यों की मान्यतानुसार यज्ञ धन एवं जन का विस्तार या अभिवृद्धि करनेवाली क्रिया था (ऋग्वेद 4/1/5)।[75] सायाणाचार्य के भाष्यों के आधार पर 'ब्रह्म' शब्द के अर्थ इस प्रकार हैं—बलि, अन्नाहुति, सामगान, याज्ञिक अनुष्ठान, यज्ञ, मंत्रोच्चार एवं आहुतियाँ, होता, पुरोहित एवं महान्। वैदिक इंडेक्स (भाग 2 पृ० 83) के अनुसार ऋग्वेद में प्रयुक्त ब्रह्मन् (नपुंसक लिंग) शब्द का अर्थ युद्ध करनेवाला तथा साधारण वर्गों (क्षत्र एवं विश्) के विपरीत पुरोहित वर्ग का द्योतक है। ऋग्वेद में 'ब्राह्मण' शब्द केवल कुछ ही बार और वह भी अधिकतर उसके अद्यतन भागों में ही मिलता है।[76] वहाँ भी उसका अर्थ पुरोहित या पुरोहित का वंशज होता है। तात्पर्य यह है कि ऋग्वेद में, पुरुषसूक्त को छोड़कर, वैदिक स्तुतियों (ब्रह्म) के प्रणेता एवं यज्ञानुष्ठान (ब्रह्म) करानेवाले व्यक्ति को ब्राह्मण कहा गया है। चतुर्वर्गीय समाज-व्यवस्था के ब्राह्मण (वर्ण) के अर्थ में उसका प्रयोग पुरुषसूक्त अथर्ववेद (2/15/4) में, अर्थात् पश्चात्काल में हुआ है। ध्यातव्य है कि आर्यों की प्राचीन समाज व्यवस्था में जिस (पूर्वोक्त) 'ब्रह्मबल' का समावेश था, उसका सम्बन्ध—ब्रह्म, ब्रह्मन्, ब्राह्मण, होता, ऋषि, पुरोहितः, ऋत्विज आदि कहे गए व्यक्तियों के समुदाय से रहा होना चाहिए।

क्षत्र

ऋग्वेद में क्षत्रिय के लिए 'राजन्य' शब्द का प्रयोग एकमात्र पुरुषसूक्त में ही हुआ है। क्षत्रिय शब्द भी यत्र-तत्र (ऋ० 8/104/13, 10/109 3), ही प्रयुक्त हुआ है। "क्षत्रिय के अंतर्गत कभी भी केवल युद्ध करने वाले व्यक्ति ही आते थे— ऐसा सिद्ध नहीं होता। ऋग्वेद (1/69/3, 1/26/5) तथा बाद में अथर्ववेद (9/

7/9)में भी साधारण लोगों का युद्ध करने वालों के रूप में उल्लेख है।"[77] राज-सत्ता से सम्बन्धित व्यक्तियों के लिए राजन् शब्द प्रयुक्त हुआ है। किंतु अनेक स्थानों (दे० ऋ० 10/42/10, 10/97/6) में राजन् का अर्थ—बड़ा महान् या प्रमुख होता है। कहीं-कहीं उसका अर्थ राजा भी होता है। ऋग्वैदिक आर्यों की प्राचीन समाज व्यवस्था में 'क्षत्रबल' के अस्तित्व का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं।

उक्त समस्त स्थिति के पर्यावलोचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि शत्रुओं पर विजय पाने और शत्रु द्वारा होने वाली क्षति से सुरक्षित होने के उद्देश्य से जब राजा का नेतृत्व आवश्यक बना, तब से राजा के सैन्य दल एवं राजपरिवार से सम्बन्धित व्यक्तियों का एक पृथक् समुदाय बना, जिसे 'क्षत्रबल' कहा गया। राजा की नियुक्ति क्षत्रियों में से ही होने लगी, और राज्यसत्ता के विस्तार के साथ-साथ इस समुदाय का भी विस्तार हुआ, और कालांतर में क्षत्र, क्षत्रिय, राजन् इत्यादि का संगठन या समुदाय वंशानुगत हो गया। फिर भी ऐसा कोई नियम नहीं था कि युद्ध करना केवल क्षत्रियों का ही कार्य है। युद्ध में न केवल राजपुरोहित साथ रहता था, सैनिकों में भी ब्राह्मण एवं अन्य लोग रहते थे।

वर्ण

ऋग्वेद में वर्ण शब्द का सामान्य प्रयोग कृष्ण, श्वेत, नील, हरित आदि रंगों के साथ हुआ है। वर्ण-व्यवस्था के वर्ण के अर्थ में उसका प्रयोग ऋग्वेद में नहीं हुआ है। किंतु एक उक्ति में कहा गया है कि 'दस्युओं को नष्ट करके उसने (इंद्र ने) आर्य वर्ण की रक्षा की—"हत्वी दस्यून प्रार्य वर्णभावत् !!" (ऋ० 3/34/9)। एक अन्य उक्ति में कहा गया है कि "उसने (इंद्र ने) दास-वर्ण को गुहा में ढँक दिया—"यो दासं वर्णमधरंगुहाकः ॥" (ऋ० 2/12/4)। इसी संदर्भ में एक उक्ति है कि वृत्रहन्ता एवं दुर्गध्वंसक इंद्र ने कृष्णयोनि (काले रंग की) दासों की सेनाओं को नष्ट कर दिया "स वृत्रहेन्द्र कृष्णयोनीः पुरन्दरो दासीरैरयद्वि।" (ऋ० 2/20/7)। एक अन्य उक्ति में कहा गया है कि शक्तिशाली सोम काली चमड़ी (वालों) का भेदन करते हुए पृथ्वी पर गौओं के समान विचरण करते हैं, और व्रतहीन दस्युओं का सामना करते हैं (ऋ० 9/41//1-2)।

इन उक्तियों से सिद्ध है कि दास, दस्यु आदि 'कृष्णामपत्वचम्' अथवा कृष्ण-योनीः' अर्थात् काले रंग के हैं, अतः वे 'दास वर्ण' हैं और एतद्विरुद्ध 'आर्यवर्ण' हैं, अर्थात् आर्यों की चमड़ी का रंग काला न होकर, एतद्विरुद्ध या गौर वर्ण है। इस प्रकार व्यक्तियों (प्रजातियों) की त्वचा के काले और गोरे रंगों के आधार पर दो वर्ण हुए—दासवर्ण और आर्यवर्ण।

काठक संहिता (34/5) और पंचविंश ब्राह्मण (5/5/17) में आर्यवर्ण का प्रयोग शुद्ध वर्ण के विपरीतार्थ में किया गया है। तैत्ति०ब्रा० (1/2/6) में कहा

गया है कि ब्राह्मण व शूद्र का भेद उनकी त्वचाओं के रंग-भेद के आधार पर किया गया है। ब्राह्मण का वर्ण दैवी वर्ण है और शूद्र का वर्ण असुर वर्ण है—

ब्राह्मणश्च शूद्रश्च धर्मकर्तो व्यायच्छेते।
दैव्यो वै वर्णो ब्राह्मणः असुर्यः शूद्र ॥

इससे स्पष्ट है कि शूद्र वे हैं जो अनिवार्य हैं। दूसरे यह कि राजन्य एवं वैश्य की तरह 'शूद्र' शब्द भी ऋग्वेद में मात्र एक बार पुरुषसूक्त में ही प्रयुक्त हुआ है। और तीसरे यह कि ऋग्वेद में वर्णभेद व्यवसाय के आधार पर नहीं त्वचा के रंग के आधार पर किया गया है।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवरण का सारांश यह होगा कि ऋग्वैदिक आर्यों के सामाजिक संगठन के प्रमुख आधार तीन प्रकार के बल थे—(1) कृषिबल (2) ब्रह्मबल और (3) क्षत्रबल। प्रथम जीविकोपार्जन विषयक कर्मों—खेती एवं पशुपालन—से सम्बद्ध था, द्वितीय 'ब्रह्म' (देवार्चन एवं यज्ञानुष्ठान) एवं ज्ञान विषयक कर्मों से सम्बद्ध था, और तृतीय रक्षाविषयक कर्मों से। इस प्रकार तीनों का आधार समाज के पालन-पोषण, संवर्धन एवं रक्षण से सम्बन्धित कर्म-विभाजन (Division of Labour) था। ध्यातव्य होगा कि तीनों ही बल सामूहिक विकास की मूलभूत आवश्यकताओं से निष्पन्न हैं —स्वयंभू हैं, प्रकृत हैं,—किसी वर्ग-विशेष अथवा सत्ता-विशेष द्वारा लादे गए नहीं हैं।

तत्कालीन राजनैतिक संगठन में भी उक्त तीनों बलों का प्रतिनिधित्व रहता था। क्षत्र का प्रतिनिधि राजा होता था; ब्रह्म का प्रतिनिधि राज-पुरोहित होता था, और विशः का प्रतिनिधित्व सभा तथा समिति नामक दो संस्थाएँ करती थीं, जो न केवल राजा को सलाह देती थीं, उसका चयन भी करती थीं और आवश्यक हो जाए तो उसे पदभ्रष्ट भी कर सकती थीं।

अतः वर्णभेद का प्रारम्भिक या ऋग्वैदिक आधार त्वचा का रंग था। काले और गोरे—दो प्रकार के त्वचा के रंगों के आधार पर क्रमशः दो वर्ण माने गए—दासवर्ण और आर्यवर्ण। दासवर्ण ही आगे चलकर असुरवर्ण और अंततः शूद्रवर्ण का निर्णायक बना। आर्यों के पूर्वोक्त तीन बल परवर्तीकाल के ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य नामक तीन वर्णों के आधार बने। इस सबसे प्रकट है कि यद्यपि ऋग्वैदिक आर्यों की समाज रचना में चातुर्वर्ण्य व्यवस्था का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता, तथापि जिसके आधार पर यह व्यवस्था परवर्तीकाल में—ब्राह्मण काल में—अस्तित्व में आई वह समस्त सामग्री अथवा आधारभूत परिस्थिति उस समय पनप चुकी थी।

दाम्पत्य एवं पारिवारिक जीवन

सामाजिक जीवन की प्रथम इकाई परिवार अथवा कुटुम्ब होता है, जो दाम्पत्य जीवन से निष्पन्न होता है, और दाम्पत्य का सर्जन विवाह नामक संस्कार (अथवा संस्था) से होता है। विवाह प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था का अपरिहार्य अंग है। परवर्ती चिंतकों ने जिसे सर्जनात्मक 'काम' अथवा सृष्टि का बीज कहा है, विवाह का अंतर्भाव उसी में है।

ऋग्वेद (10/85/40-41) में कन्या का विवाह रोम, स्तन और रजोधर्म के आने के बाद का निर्देश है। ऋग्वेद (10/27/12) में कहा गया है कि वधू बनने की इच्छुक कितनी ही भद्र एवं सुन्दर स्त्रियाँ योग्यता के आधार पर अपना वर स्वयं चुन लेती हैं।[78] कक्षीवान्-पुत्री ऋषिका घोषा कहती है—"मैं उस बात को नहीं जानती; उसे तुम बतला दो, जिसे युवा और युवती घरों में रहकर अनुभव करते हैं। मैं स्त्री –प्रिय, सुपुष्ट, वीर्यवान तरुण के गृह में जाऊँ, हे अश्विनी ! (मेरी) यह कामना पूरी करो—(ऋ॰ 10/40/11)। ऋग्वेद (13/8/4) में विद्याध्ययन पूरा करके सुंदर वस्त्रों से सुसज्जित, यज्ञोपवीत से युक्त युवक के (गुरुकुल से) समावर्तन का निर्देश है। ऋग्वेद में अन्य भी ऐसे अनेक संदर्भ हैं जिनसे सिद्ध होता है कि विवाह वर-कन्या के युवा होने पर किया जाता था। दोनों की पारस्परिक योग्यता, रुचि, सहमति आदि का ध्यान रखा जाता था।[79] और सपिंड विवाह (ऋ॰ 10/10) वर्जित था। यद्यपि वर-कन्या को पारस्परिक चुनाव का अधिकार था, किंतु सामान्यत: अभिभावकों की स्वीकृति आवश्यक थी। यद्यपि अपवादस्वरूप एकाध गंदर्भ विवाह का उल्लेख है, तथापि विवाह का सर्वमान्य स्वरूप वही था जिसे आगे चलकर 'ब्रह्म विवाह' कहा गया है। अंतर्वर्ण विवाह मान्य थे। बहु विवाह बहुसामर्थ्यवान के लिए अपवाद रूप में था, सामान्यत: एक पत्नित्व ही मान्य था। पति की असामयिक मृत्यु हो जाने पर विधवा को पुनर्विवाह अथवा नियोग द्वारा संतति प्राप्ति की छूट थी। विवाह का प्रमुख लक्ष्य सुसंस्कृत संतान एवं वीर पुत्रों की प्राप्ति था।

ऋग्वेद के सूर्या सूक्त (10/85) में नव परिणीत युगल के दाम्पत्य जीवन के प्रति शुभेच्छा के रूप में कहा गया है कि—हे दम्पति ! तुम (पति-पत्नि) यहीं (इस घर में) शांतिपूर्वक रहो, कभी विलग न हों, पूरी आयु प्राप्त करें, पुत्रों व नातियों के साथ खेलते हुए अपने घर में प्रमुदित रहें—(ऋ॰ 10/85/42)। हे सिंचन समर्थ इंद्र ! इस वधू को सुपुत्रा एवं सुभगा बनाओ। इसमें दस पुत्रों को धारण करो, और (इसके) पति को ग्यारहवाँ बनाओ - (19/85/45)[80] हे वधू ! तु ससुर पर सम्राज्ञी हो, सास पर सम्राज्ञी हो, ननदों पर सम्राज्ञी हो और देवरों पर भी सम्राज्ञी हो (ऋ॰ 10/85/46)[81] गृहस्थ जीवन में परिणीता के महत्त्व को इतने से ही समझ लेना चाहिए कि अपत्नीक पुरुष को यज्ञ करने का अधिकार न था। प्रत्येक शुभ कार्य में पत्नी की उपस्थिति आवश्यक

थी। घर-गृहस्थी के प्रत्येक महत्त्वपूर्ण विषय में उसकी सलाह ली जाती थी। वस्तुतः पत्नी को ही गृह कहा जाता था—'जायेदस्तम्'।

एक आदर्श दम्पति का चिंतन था कि—संसार की शक्तियाँ और विद्वज्जन हम दोनों को अच्छी तरह जानें, हम दोनों के हृदय पानी की तरह (एक और) शांत हों और हम दोनों की प्राणशक्ति, धारण शक्ति और उपदेश (परामर्श) शक्ति परस्पर कल्याणी हों (ऋ० 10/85/47)। ऐसे शुभ संकल्पों से युक्त और शुभकर्मों में निरत दम्पति को ऋग्वेद (8/31/5) में देवता (सदृश) कहा गया है— या दम्पती समनसा सुनुत आ च धावतः। देवासो नित्यथाशिरा॥

जैसा ऊपर कहा गया है, विवाह का प्रमुख लक्ष्य सुसंस्कृत संतान एवं वीर पुत्रों को जन्म देना था। "दम्पति को पुत्रों की आवश्यकता केवल वंश को जीवित रखने के ही लिए नहीं, किंतु परिवार की आर्थिक समृद्धि, सैनिक बल और पितरों की आध्यात्मिक तृप्ति के लिए भी थी।[82] अ-वीर पुत्रों की माता बनना, एक नारी विशेष रूप से एक क्षत्राणी अपने लिए लज्जास्पद समझती थी। इन्द्राणी अपनी तेजोमयी वाणी में कहती है—यह दुष्ट वृषाकपि मुझे अब अ-वीर पुत्रों वाली समझता है, परंतु मैं वीरपुत्रा हूँ, इंद्र की पत्नी हूँ।[83] प्रायः प्रत्येक दम्पति चाहता था कि हमारे शत्रुहंता वीर पुत्र हों।[84]

जैसा ऋग्वेद के पूर्वोक्त कथन (10/85/46) से प्रकट है, परिवार में पति-पत्नी के अतिरिक्त उनके बालक और यदि जीवित हों तो पति के माता-पिता तथा उसके अविवाहित भाई-बहिन होते थे। अर्थात् कुटुम्ब संयुक्त कुटुम्ब था। सभी कुटुम्बी जन पारस्परिक आत्मीयताप्रेरित स्नेह, सम्मान, त्याग, सेवा आदि भाव रखते हुए सौहार्दपूर्ण सौमनस्य का व्यवहार करते थे। अवस्था, क्षमता एवं योग्यता आदि के आधार पर सब अपने-अपने कर्तव्य का निर्वाह करते थे। वैदिक आर्यों के पारिवारिक जीवन की एक झाँकी हम आगे गृहस्थाश्रम शीर्षक के अंतर्गत प्रस्तुत करेंगे। अतः यहाँ सामूहिक जीवन की उपकारक कतिपय अन्य भावनाओं को देख लेना प्रासंगिक होगा।

राष्ट्रीयता की भावना

ऋग्वेद के उत्तर काल में राजा की सत्ता अस्तित्व में आ चुकी थी। सुदास का वंशक्रम इस प्रकार बताया जाता है—(1) दक्युदेववन्त (2) वध्र्यश्च, (3) दिवोदास अतिथिग्व, (4) पिजवन और (5) सुदास। राजा पुरुकुत्स का पुत्र त्रसदस्यु पौरुकुत्स्य भी राजा था। इससे प्रकट होता है कि राजा का पद वंशगत भी होता था, यद्यपि उसकी स्वीकृति विशः (प्रजा) अथवा उसकी प्रतिनिधि सभा एवं समिति द्वारा आवश्यक होती थी। ऋग्वेद (10/173/1-6) में कहा गया है कि—हे राजा ! मैंने तुझे चुना है। (तुम) हमीं लोगों में से हो। (तुम) ध्रुव होओ, स्थायी रहो, समस्त विश तुझे पसंद करे; (तुझे) चाहे। तेरे कारण राष्ट्र पतित न हो। तू इसमें गिर मत (हारे मत, निष्फल न हो)। पर्वत के समान

अचल हो, इंद्र के समान ध्रुव हो, स्थिर हो इस राष्ट्र को धारण करें—

इहैवैधि मापच्योष्ठाः पर्वत इव विचाचलिः ।
इंद्र इवेह ध्रुवस्तिष्ठेह राष्ट्रमु धारय ।। 10/173/2

आगे की उक्ति (10/173/3) में जो उसे हविष (कर) दिया जाए उसे स्वीकारने और सोम तथा ब्रह्मणस्पति (मंत्रियों) की सलाह लेकर राज्य संचालन की सलाह दी गई है, और आगे कहा गया है कि —

ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथ्वी ध्रुवासः पर्वता इमे ।
ध्रुवं विश्वमिदं जगद् ध्रुवो राजा विशामय ।।4।।
ध्रुवं ते राजा वरुणो ध्रुवं देवो बृहस्पतिः ।
ध्रुवं त इन्द्रश्चाग्निश्च राष्ट्रं धारयतां ध्रुवम् ।।5।।
ध्रुवं ध्रुवेण हविषाभि सोमं मृशामसि ।
अथो त इन्द्र केवलीर्विशो बलिहृतस्करत् ।।6।।

अर्थात्—जैसे द्यौ (में) पृथ्वी, पर्वत ध्रुव हैं; यह विश्व और जगत भी ध्रुव है, वैसे ही विश में राजा ध्रुव हो ।।4।। वरुण, देव, बृहस्पति, इंद्र, अग्नि जैसे ध्रुव हैं, वैसे ही राजा ! तू ध्रुव हो, ये सब ध्रुव हो राष्ट्र को धारण करें ।।5।। ध्रुव हविष (कर) लेकर ध्रुव न्याय कर । केवल (अपने) विश् (प्रजा) से कर ले ।

यहाँ ध्यातव्य है कि आर्यों की प्रत्येक व्यवस्था का लक्ष्य प्रजा का धारण है, उसकी समृद्धि, सुरक्षा एवं अभिवृद्धि है । ध्रुवत्व की सिद्धि है ।

राजा और प्रजा अन्योन्याश्रित हैं — विशि राजा प्रतिष्ठितः (यजु० 20/9) अर्थात् राजा प्रजा पर निर्भर है । इंद्र, अग्नि आदि ध्रुव हैं, वैसे ही ध्रुव होकर तुम (हे राजा) राष्ट्र को धारण करो (ऋ० 10/173-5) । हे राजन् ! तुम प्रजा के द्वारा चुने गए हो — त्वां विशो वृणतां राज्याय (अथर्ववेद 3/4/2) । अतः 'राष्ट्राणि वै विशः' (ऐत०ब्रा० 8/26) अर्थात् प्रजाएँ ही राष्ट्र हैं । राष्ट्र के (प्रजा के) समस्त अंगों का संतुलित विकास ही राष्ट्रीय विकास है ।

आब्रह्मन् ब्रह्मणो ब्रह्म वर्चसी जायतामा । राष्ट्रे राजन्यः शूर···महारथी जायताम् ।···जिष्णू रथेष्टाः संभेयो युवास्य यजमानो वीरो जायताम् । निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम् । योगक्षेमो न कल्पताम् (यजु० 22/22)

अर्थात्—हे प्रभु ! हमारे देश में अध्ययनशील शास्त्रज्ञ ब्राह्मण और शस्त्र-शास्त्र में दक्ष, शत्रुसंहारक, महारथी क्षत्रिय उत्पन्न हों, (दुधारी गायें और भारवाही बैल उत्पन्न हों, द्रुतगामी अश्व और गुण, रूप और शील-निधान नारियाँ हों । यजमानों के पुत्र विजयशील युद्धार्थ सन्नद्ध, सभ्य, समर्थ और वीर हों। हमारी आवश्यकता के अनुरूप जल की वर्षा हो, खेती से हमें यथासमय प्रभूत अन्न की प्राप्ति हो, हमारा योग-क्षेम हो ।

एक निष्ठावान् नागरिक के लिए सदाकाल शोभनीय वैदिकों की ये भाव-

नाएँ भी इस संदर्भ में अवलोक्य हैं—

(1) रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजषु नस्कृधि ।
रुचं विश्येषु शूद्र पुमयि धेहि रुचा रुचम् ।। यजु० 18/48

अर्थात् –हे प्रभो ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सबमें हमारी रुचि हो और इस रुचि में भी रुचि हो । अथवा हम सबको आप दीप्तिमान करें ।

(2) प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु ।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये ।। अथर्ववेद 19/62/1

अर्थात् —हे देव ! मुझे देवों (ब्राह्मणों, विद्वानों) में प्रिय बनाइए, क्षत्रियों में प्रिय बनाइए, सबका प्रिय बनाइए फिर चाहे वह शूद्र हो अथवा आर्य हो ।

प्रियः देवानां भूयासं प्रिय प्रजानाँ भूयासं ।
प्रियः पशूनां भूयासं प्रियः समानां भूयासं ।। अथर्व०17/1/2-5

अर्थात् –देवों, प्रजाजनों, पशुओं और समानों में मैं प्रिय होऊँ ।

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः ।
ब्रह्मराजन्यभ्यां शूद्राय चार्याय च ।। यजु० 26/2

अर्थात् —हे प्रभु ! मेरी वाणी ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र और आर्य सबके लिए कल्याणकारी हो ।

दृते दृहं मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् ।
मित्रास्याहं चक्षुपा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् ।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ।। यजु० 36/18

अर्थात्—हे परमात्मा ! मेरी दृष्टि को दृढ़ कीजिए, जिससे सब प्राणी मुझे मित्रवत् देखें और मैं भी सबको मित्र दृष्टि से देखूं । हम सब परस्पर एक-दूसरे को मित्र-दृष्टि से देखें ।

सबके प्रति सौहार्द और सौमनस्य की पोषक भावनाओं का उल्लेख वेदों के 'सांमनस्य सूक्तों' में हुआ है, जिनमें से कुछ के अर्थ हम ऊपर दे चुके हैं । (दे० ऋ० 10/191/2-3)। वास्तविकता यह है कि इस प्रकार की राष्ट्रवादी व मानवतावादी परिष्कृत भावनाओं का वैदिक वाङ्मय अक्षय कोश है । कितने ही उदाहरण देने पर भी बात अधूरी ही लगती है । अतः यहाँ इतने से ही संतोष कर, इतना और कि ये भावनाएँ न तो कायरों और कमजोरों द्वारा दी जाने वाली आदर्शों की दुहाई स्वरूप हैं, न आत्मवादियों की अहिंसा का प्रचार मात्र है, और न दया-धर्म के नाम पर अपराधों को सहन करने की शिक्षाएँ हैं । ये उन समर्थ लोगों की परिष्कृत बुद्धि के सद्विचार हैं जो अपनी और अपने आदर्शों की रक्षा के लिए वीरोचित संघर्ष करना जानते हैं—

इन्द्रेण मन्युना वयममि ष्याम पृतन्यतः ।
घ्नन्तो वृत्राण्यप्रति ।। अथर्व० 7/93/1

अर्थात्--यदि सत्कार्यों में बाधक शत्रु आघात करे तो हमें चाहिए कि वीरोचित पराक्रम के साथ उसे विनष्ट कर दें ।

अहमस्मि सपत्नहेन्द्र इवारिष्टो अक्षतः ।
अधः सपत्ना मे पदोरिमे सर्वे अमिष्टिताः ।। ऋ० 10/166/2

अर्थात्--मैं शत्रुंजय हूँ, इद्र सदृश अपराजेय और अक्षत हूँ । मैं अनुभव करता हूँ कि समस्त शत्रु मेरे पैरों तले पड़े हैं ।

शुभ देखना और सुख चाहना

वैदिकों की कामना है कि मनसा, वाचा और कर्मणा अशुभ, अभद्र और असभ्य व्यवहार से हम दूर रहें—

भद्रं जीवन्तो जरणामशीमहि ।। ऋ० 10/37/6
भद्रं नो अपि वातय मनः ।। ऋ० 10/20/1
भद्रं भद्रं न आ भर ।। ऋ० 8/93/28

अर्थात्—भद्र पर चलते हुए हम पूर्ण जीवन प्राप्त करें, हमारा मन भद्र मार्ग का अनुसरण करे, प्रभु हमें सतत भद्र की प्राप्ति कराएँ ।

भद्रं कर्णेभिः श्रुणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः ।। (यजु० 25/21)

अर्थात् हे यजनीय देवगण ! हम सदैव भद्र शब्द कानों से सुनें, सदैव भद्र दृश्य आँखों से देखें । अपने सशक्त शारीरिक अंगों से यावज्जीवन वही कर्म करें जिससे देवों (विद्वानों) का हित हो ।

तात्पर्य यह है कि हे प्रभु ! जो भद्र हो (कल्याणमय हो) उसे आप हमें प्राप्त कराएँ—यद् भद्रं तन्न आ सुवः ।। यजु० 30/3 हम आशावादी बनें और हमारी आशाएँ सफल हों—

अस्माकं सन्त्वाशिषः । सत्यानः सन्त्वाशिषः ।। यजु० 2/10

हमारे हलवाहे (कीनाश) सुखपूर्वक बैलों से हल जोतें, मेघ मधु जल से हमारे लिए सुख बरसायें और शुनासीर हम लोगों को सुख दें—

शुनं नःफाला विकृपन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अभि यन्तु वाहैः ।
शुनं पर्जन्यो मधुना पयोभिः शुनासीरा शुनमस्मासु धत्त ।। (ऋ० 4/97/1)

वायु हमारे लिए सुखप्रद होकर चले, सूर्य सुखप्रद होकर तपे, अत्यंत गरजने वाले बादल --पर्जन्यदेव--- भी हमारे लिए सुखप्रद होकर बरसें—

शं नो पवतां शं नस्तपसु सूर्यः ।
शं नः कनिक्रदद् देवः पर्जन्यो अभिवर्षतु ।। यजु० 36/10

तेजोमय सूर्य का उदय हम सबके लिए शांतिप्रद हो, चारों दिशाएँ हमारे लिए शांतिप्रद हों – (ऋ० 7/35/8) । द्युलोक, अंतरिक्षलोक और पृथ्वीलोक (हमारे लिए) सुख-शांतिदायक हों; जल, औषधियाँ, वनस्पतियाँ (हमारे लिए) शांतिप्रद हों, समस्त देवता और ब्रह्म और सब कुछ (हमारे लिए) शांतिप्रद हों, विश्वव्यापी शांति मुझे प्राप्त हो, और मैं सतत उसका अनुभव करूँ (यजु०36/17) इत्यादि ।

वैयक्तिक जीवनदृष्टि

व्यष्टि का अंतर्भाव समष्टि में होता ही है । अतः सामूहिक जीवन दृष्टि का ऊपर जो निरूपण किया गया है उसमें वैयक्तिक जीवनदृष्टि का भी परिचय बहुत कुछ अंशों में आ जाता है । फिर भी वैयक्तिक जीवन का अपना एक विशेष संदर्भ है, इसलिए कुछ ऐसी बातों का निर्देश आवश्यक है, जिनका वैयक्तिक जीवन के सुख-दुःख, सफलता, निष्फलता आदि से सीधा सम्बन्ध रहता है । मेरे विचार से इन बातों में प्रमुख हैं—स्वस्थ एवं सशक्त शरीर, दीर्घायु, प्रखर-मेधाशक्ति, आर्थिक सम्पन्नता एवं कर्मठता । वेदों में इन सभी बातों से सम्बन्धित और बड़े ही उपयुक्त विचार पाए जाते हैं, जिनका संक्षिप्त संकलन इस प्रकार है—

अश्मा भवतु नस्तनुः ।। यजु० 29/49

अर्थात् हमारा शरीर पत्थर के समान सुदृढ़ हो ।

तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाहि ।
आयुर्दा अग्ने ऽस्यायुर्मे देहि ।
यन्मे तन्वा ऊनं तन्मे आ पृण ।। (यजु० 3/17)

हे अग्नि ! तुम शरीर के रक्षक हो, मेरे शरीर को पुष्ट करो, तुम आयु के दाता हो, मुझे पूर्ण आयु प्रदान करो, मेरे शारीरिक स्वास्थ्य की जो भी न्यूनता हो उसे दूर करो ।

मेर शरीर के समस्त अंग-प्रत्यंग यावज्जीवन सक्रिय बने रहें । मेरी वाणी, प्राण, आँख, कान आदि सब अपना-अपना कार्य यथावत् करते रहें—(अथर्ववेद 19/60/1-2) ।

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्
पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं श्रुणयाम
शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतं अदीनाः स्याम
शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ।। यजु० 35/24

अर्थात्—ज्ञानियों का हित करने वाला शुद्ध ज्ञान का नेत्र उदित है। हम उससे सौ वर्ष तक देखें, सौ वर्ष जिएँ, सौ वर्ष सुनें, सौ वर्ष बोलें, सौ वर्ष तक अदीन रहें, और सौ वर्ष से भी अधिक दिन तक आनंद से रहें।

यां मेधा देवगणाः पितरश्चोपासते।
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु।
मेधां मे वरुणो ददातु मेधामग्निः प्रजापतिः
मेधामिन्द्रश्च वायुश्च मेधांधाता ददातु मे ॥ यजु० 32/14-15

अर्थात्—जिस मेधा की देव और पितृगण उपासना करते हैं, उस मेधा से, हे परमेश्वर! मुझे शीघ्र ही मेधावी कीजिए। वह मेधा मुझे वरुण, अग्नि, प्रजापति, इंद्र, वायु और परमात्मा प्रदान करें।

अरायि काणे विकटे गिरिं गच्छ सदान्वे।
शिरिबिठस्य सत्वभिस्तेभिष्ट्वा चातयामसि ॥ ऋ० 10/155/1

अर्थात्—हे धनहीन, विरूप, कुरूप, सदा आक्रोश करने वाली दरिद्रे! तू निर्जन पर्वत पर जा। यहाँ हम दृढ़ अंतःकरण वाले मनुष्यों के पुरुषार्थ से तेरा नाश करेंगे।

हे वरुण! पूर्वजों द्वारा लिए गए और मेरे द्वारा लिए गए ऋण से भी मुझे मुक्त करो। दूसरे के द्वारा उपार्जित धन से मैं जीवन निर्वाह करना नहीं चाहता—(दे० ऋ० 2/28/9)। इहलोक में, परलोक में और तीसरे लोक में भी हम सब अ-ऋण होवें। (अथर्व० 6/117/3)।

हे इंद्र! हे अग्नि! हमें (अथवा मुझे) अपार-धन-धान्य, यश कीर्ति, दीर्घायु, सुख-समृद्धि के समस्त साधनों की प्राप्ति कराओ—इस आशय की सैंकड़ों प्रार्थनाएँ ऋग्वेद में हैं। किंतु इस सबका यह आशय कदापि नहीं है कि हम कुछ भी न करें और देवता यह सब घर बैठे ही देते रहें। अपार धन-धान्य की प्राप्ति के साधनों के रूप में खेती, पशु पालन, व्यापार एवं शत्रुओं की लूट के स्पष्ट उल्लेख है।[85] तात्पर्य यह है कि सुख-समृद्धि की प्राप्ति पुरुषार्थ से ही संभव है, इसमें वैदिकों को संदेह नहीं है।[86] देवताओं से प्रार्थना तो इतनी ही है कि हमारा पुरुषार्थ निष्फल न जाय। अर्थात् इस बात से वे सुपरिचित हैं कि कर्मठ देवता निठल्लों का साथ नहीं दे सकते—

न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः ॥ ऋ० 4/33/11
न मृषा श्रान्तं यदवन्ति देवाः ॥ ऋ० 1/179/3

अर्थात्—जो श्रम नहीं करता देवता उसके साथ मित्रता नहीं करते—उसका साथ नहीं देते। देवता उसी की सहायता करते हैं जो श्रम करता है।

यादृश्मिन् धायि तमपस्यया विदत्। ऋ० 5/44/8

अर्थात् जिस किसी भी लक्ष्य की प्राप्ति मनुष्य श्रम द्वारा ही करता है। अत: कर्म करना—यह तो ईश्वर की आज्ञा का पालन है।

देवस्य सवितु: सर्वे कर्म कृण्वन्तु मानुषा—अथर्व॰ 6/23/3

कर्म से छूटने का उपाय उससे दूर भागने में नहीं, अपितु जीवन-भर कर्मरत रहने में है—(यजु॰ 40/2)। सफलता कर्मठ को ही मिलती है, अकर्मण्य को नहीं। (ऋ॰ 5/44/8)।

आश्रम व्यवस्था की पूर्व भूमिका

ब्रह्मचर्य

विन्द्वानों का कथन है कि 'आश्रम' शब्द का उल्लेख वैदिक संहिताओं में नहीं हुआ है। किंतु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वैदिक संहिताओं में परवर्ती आश्रम व्यवस्था की कोई पूर्वभूमिका नहीं पाई जाती। वस्तुस्थिति यह है कि संसार की प्रत्येक जाति के बालक को सम्बन्धित जाति की 'सांस्कृतिक सम्पत्ति' में प्रवेश कराने के लिए कोई न कोई संस्कार होता है। आर्यों में 'उपनयन' संस्कार इसी प्रकार का संस्कार था। उपनयन का अर्थ है बच्चे को आचार्य (शिक्षक) के सन्निकट ले जाना अथवा वह संस्कार जिसके द्वारा बालक को आचार्य के सन्निकट ले.जाया जाता है। एक आर्यबालक उपनयन के बाद ही 'द्विज' बन सकता था।

ऋग्वेद (3/8/4) में यज्ञवेदी (वेदिका) के निकट स्थित यूप (बलि-स्तम्भ) का आलंकारिक वर्णन इन शब्दों में किया गया है "यहाँ युवक आ रहा है, वह भलीभाँति सुसज्जित है, वह जब उत्पन्न हुआ, महत्ता प्राप्त करता है, हे चतुर ऋषियो, आप अपने अंत:करण में देवों के प्रति श्रद्धा रखते हैं, स्वस्थ विचार वाले हैं, इसे ऊपर उठाइए।" विद्वानों का विचार है कि इस उक्ति में शिक्षा प्राप्त करने के बाद गुरु-गृह से समावर्तित युवक का रूपक आनाधा गया है। ऋग्वेद (7/103/5) में कहा है कि—

यदेषामन्यो अन्यस्य वाचं शाक्तस्यैव वदति शिक्षमाण: ॥

अर्थात्– एक मेंढक दूसरे मेंढक की ध्वनि को इसी प्रकार दुहराता है जैसे शिष्य अपने गुरु (शिक्षक) के वचन को।" इससे प्रकट है कि उपनयन के बाद बालक गुरु गृह में रहकर वेद-मंत्रों की शिक्षा प्राप्त करता था, और यह शिक्षा उसे मौखिक तौर पर दी जाती थी।

ऋग्वेद (10/109/5) में ब्रह्मचारी शब्द प्रयुक्त हुआ है।[87] विद्वानों का विचार है कि ब्रह्मचर्य का मूल अर्थ "ब्रह्म (वेद मंत्र एवं यज्ञानुष्ठान अथवा ज्ञान) की प्राप्ति का आचरण था। अर्थात् ब्रह्म प्राप्ति के लिए आवश्यक या निर्धारित व्रतों का आचरण ही ब्रह्मचर्य था, इनका आचरण करने वाला ही ब्रह्म-

चारी था। यही ब्रह्मचर्य कालांतर में विद्यार्थी जीवन का पर्याय हो गया, जिसकी महिमा एवं आचार पद्धति का निरूपण अथर्ववेद (11/5) के पूरे सूक्त में हुआ है। किंतु मेरे विचार से अथर्ववेद का ब्रह्मचर्य निरूपण तापस परम्परा के अनुरूप अधिक है, अतः उसका वर्णन आगे के अध्याय में प्रासंगिक होगा। यहाँ इतना उल्लेख ही पर्याप्त होगा कि वैदिक संहिताओं में आगामी ब्रह्मचर्य आश्रम की पूर्व भूमिका विद्यार्थी जीवन के रूप में थी।

गृहस्थ

वैदिक आर्यों के सामाजिक जीवन की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण इकाई 'गृह' थी। एक व्यक्ति के जीवन में उपनयन (द्विजत्व प्राप्ति) के बाद सबसे महत्त्वपूर्ण संस्कार 'विवाह' था। ऋग्वेद (10/85/36)[88] के अनुसार विवाह की 'पाणिग्रहण' नामक क्रिया के अवसर पर वर अपनी वधू से कहता है कि सौभाग्य के लिए तेरे हाथ को मैं ग्रहण करता हूँ, तू मुझ पति के साथ वृद्धावस्थापर्यंत बनी रह। भग, अर्यमा, सविता, पुरन्ध्रि देवों ने तुझे गृहपति धर्म के पालन के लिए मुझे प्रदान किया है। यही बात अथर्ववेद (14/1/50-51) में कुछ विस्तार के साथ कही गई है। इससे स्पष्ट है कि विवाह से प्रारम्भ होने वाले दाम्पत्य जीवन का लक्ष्य 'गृहपति धर्म' का पालन करना होता था।

विवाह के अवसर पर प्रज्वलित अग्नि में जो हवन किया जाता था वह छोटा-सा यज्ञ ही था। इस समय प्रज्वलित अग्नि की संज्ञा 'गार्हपत्य' थी, जिसकी पूजा नवपरिणीत युगल को यावज्जीवन करनी होती थी। अर्थात् गृहपति उससे संयुक्त रहता था इसलिए उसे 'गार्हपत्य' कहा जाता था — गृहपतिना संयुक्ते ञ्यः। (पाणिनि 4/4/90)। इस गृहमेध यज्ञ में पति (गृहपति) के साथ विधिपूर्वक संयुक्त होने के कारण विवाहिता स्त्री की संज्ञा पत्नी होती थी — पत्युर्नो यज्ञ संयोगे (पाणिनि 4/1/33)। तात्पर्य यह है कि परिवार का स्वरूप पितृसत्तात्मक था। अतः पितास्थानीय पुरुष गृहपति (गृहस्वामी) होता था, और उसकी विवाहिता नारी — गृहपत्नी — (गृह स्वामिनी) होती थी। इस प्रकार पति-पत्नी वस्तुतः गृह के संदर्भ में क्रमशः स्वामी एवं स्वामिनी अर्थवाचक थे। पितास्थानीय वृद्ध पुरुष के मरने के बाद उसका सगा लड़का गृहपति बनता था। यह हम देख चुके हैं कि परिवार संयुक्त होता था, जिसमें पति के माता-पिता, भाई-बहिन एवं संतानों आदि का समावेश रहता था।

गृहपति यदि वृद्ध पुरुष है तो निश्चय ही अपने पुत्रों, पुत्रियों, पुत्र-वधुओं, पौत्र आदि के प्रति उसके मन व्यवहार में वात्सल्य भाव रहता था और घर में सुलह-शांति बनाए रखने में उसकी विशेष भूमिका रहती थी। घर के शेष सभी सदस्यों पर उसके विशेष अधिकार थे। सभी सदस्य उसे यथायोग्य सम्मान देते थे। वृद्ध पुरुष के न रहने पर यह पद उसके ज्येष्ठ पुत्र को प्राप्त होता था। जैसा हम पहले संकेत कर आए हैं, परिवार के प्रत्येक सदस्य का कार्य—उसकी अवस्था

एवं योग्यता-क्षमता आदि के अनुसार निश्चित होता था। लड़कियाँ—(पुत्रियाँ) दूध दुहने का कार्य करती थीं, अतः उन्हें 'दुहिता' कहा गया। वृद्धजन पौत्रों व प्रपौत्रों को खिलाया करते थे (ऋ० 10/85/42)। घर के अन्दर वस्तुओं का उठाना-धरना, कूटना-पीसना, रांधना-पकाना आदि गृहिणियों के कार्य थे। ऋग्वेद के कुछ मंत्रों (दे० 1/28/1-5) का सारांश है जिन घरों से चक्की, सिल-बट्टा, खली, मूसल और मथानी के शब्द ध्वनित होते रहते हैं, वे घर ऐसे प्रकाशित होते हैं, जैसे जय के समय दुंदुभी प्रकाशित होती है। इन गिने-चुने शब्दों में प्राचीन ग्रामीण पारिवारिक जीवन में घर के अंदर होने वाली प्रवृत्तियों को और पारिवारिक संगठन को ऐसे प्रभावशाली ढंग से व्यक्त कर दिया गया है कि जिन्होंने बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक दशकों का भारतीय ग्रामीण जीवन भी देखा और भोगा हो उन्हें वस्तुस्थिति को आत्मसात् करने में क्षण की भी देर नहीं लग सकती। अस्तु।

जैसा ऊपर कहा गया है 'गृहपति' का सभी स्वजन सम्मान करते थे, क्योंकि यह देखना उसी का कार्य—दायित्व था कि—

> सस्तु माता सस्तु पिता सस्तु श्वा सस्तु विश्पतिः।
> ससंतु सर्वे ज्ञातयः सस्त्वयमभितो जनः॥ ऋ० 7/55/5

अर्थात्—(मेरे) माता, पिता, जाति वाले, नौकर-चाकर और कुत्ते तथा अन्य पशु—सभी आश्रित प्राणी—सुख से सोवें। अथर्ववेद (9/5/30) में भी कहा गया है कि "मैं (गृहपति) अपने आत्मीयजनों, पिता, पुत्र, पौत्र, पितामह, स्त्री, पितामही, माता और जो भी स्नेही हैं, उनको सादर बुलाता हूँ।"

गृहपत्नी, जैसा हम कह चुके हैं, वस्तुतः गृह-स्वामिनी है। पति के गृह में उसे अपने श्वसुर, सास, देवर एवं ननद पर सम्राज्ञी होने का अधिकार या आशीर्वाद दिया गया है। किन्तु ऋग्वेद (10/85/27) में कहा गया है कि हे वधू! तू पतिगृह में पहुँचकर गृहस्थ के कर्तव्य-पालन में जागरूक रहना "अस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि।" अथर्ववेद (14/2/26) में कहा गया है कि वधू को अपने श्वसुर के प्रति—शम्भूः—कल्याणकारी और अपनी सास के प्रति स्योना—मनोहर—होना चाहिए। फिर माता-पिता एवं पितृगणों के प्रति जो श्रद्धा-भक्ति वैदिक सूक्तों में पाई जाती है, और पितृगणों का जो वात्सल्यभाव निरूपित है, उस सबसे यही फलित होता है कि वधू को पतिगृह में सम्राज्ञी जैसा सम्मान एवं अधिकार अपने स्नेह, सौहार्द, सेवा, त्याग, सद्भाव एवं सदाचार द्वारा अर्जित करना होता था।

संक्षेप में कहना होगा कि आदर्श गृहस्थ-जीवन से सम्बन्धित वैदिकों के विचार वेदों के सांमनस्य सूक्तों एवं विवाह-सम्बन्धी सूक्तों में निरूपित हुए हैं। सामंजस्य सूक्त, सामाजिक जीवन में भी, उपयोगी विचारों के प्रतिपादक हैं, अतः उनका उपयोग हम पहले भी कर चुके हैं। गृहस्थ-जीवन का आदर्श रूप

प्रकट करने में अथर्ववेद का यह सूक्त उल्लेख्य है—

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।
अन्यो अन्यमभिहर्यंत वत्सं जातमिवाध्न्या ।।
अनुव्रतः पितुः पुत्रौ मात्रा भवतु संमनाः ।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम् ।।
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा ।
सम्यंचः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ।। अथर्ववेद 3/30/1-3

अर्थात्—हे गृहस्थो ! तुम्हारे गृहस्थ-जीवन मे पारस्परिक ऐक्य, सौहार्द, और सद्भावना होनी चाहिए, द्वेषभाव नहीं होना चाहिए, तुम परस्पर एक-दूसरे को उसी तरह चाहो जैसे गाय अपने सद्यःजात वत्स को चाहती है ।

पुत्र अपने माता-पिता का आज्ञानुवर्ती हो और उनके साथ एकमन होकर रहे । पत्नी अपने पति के साथ मधुर एवं शान्त वाणी में वार्तालाप करे । भाई अपने भाई से और बहिन अपनी बहिन से द्वेष न करे ।

एकमन होकर, अपने-अपने व्रतों (सदाचारों, मर्यादाओं) का अनुसरण करते हुए तुम सब आपस में, स्नेह व सौहार्द को बढ़ानेवाली, भद्र भाषा में ही बातचीत करो ।

जैसा हम देख चुके हैं, ऋग्वेद की एक उक्ति (10/85/42) में गृहपति से अपने पौत्रों के साथ खेलते हुए सानंद जीवन व्यतीत करने की बात कही गई है, और यजुर्वेद की एक उक्ति (40/2) में कर्मरत रहकर सौ वर्ष तक जीवित रहने की इच्छा प्रकट की गई है । इस सबसे प्रकट है कि व्यक्ति अपने अंतिम समय तक गृहस्थ में ही रहता था ।

जैसा हम देखते आ रहे हैं, यों तो वैदिक आर्यों का आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक- सभी क्षेत्रों का जीवन व्यवहार धर्म द्वारा अनुशासित था । किंतु प्रचलित या संकुचित अर्थ में एक गृहस्थ के धार्मिक कृत्यों में मुख्य दो की ही मान्यता थी— (1) अग्निहोत्र और (2) दान एवं आतिथ्य-सत्कार । प्रथम का उल्लेख ऊपर हो चुका है, यहाँ द्वितीय का संक्षिप्त विवरण प्रासंगिक होगा ।

दान एवं आतिथ्य-सत्कार

ऋग्वेद के अनेक ऋषियों ने दाता—राजाओं— द्वारा उन्हें दिए गए दान की प्रशस्ति गाई है ।[89] दान में दी गई वस्तुओं में गाय, अश्व, रथ, ऊँट, निष्क (स्वर्णमुद्रा), अन्न, वस्त्र, नारियाँ (दासियाँ) आदि का समावेश हुआ है । ऋग्वेद के एक पूरे सूक्त (10/107) में दान की महिमा गाई गई है । ऋग्वेद (10/107/2, 7) में कहा गया है कि जो गायों का दान (दक्षिणा) करता है वह स्वर्ग में उच्च स्थान प्राप्त करता है, जो अश्व का दान करता है वह सूर्य-लोक में निवास करता है, जो स्वर्ण का दान देता है, वह अमर (देवता) होता है

और जो परिधान का दान करता है वह दीर्घायु को प्राप्त होता है। ऋग्वेद (10/107/3) में आया है कि देवों की पूजा वाली दक्षिणा दिव्य है। देवता कंजूसों को तृप्त नहीं करते।

ऋग्वेद की कुछ अन्य उक्तियों में कहा गया है कि दक्षिणावान् पुरुष को अनेक प्रकार के सुख, सूर्य के समान ऐश्वर्य, अमृत तुल्य फल एवं दीर्घायु प्राप्त होती है (ऋ॰ 1/125/6)। प्रथम श्रेणी का दक्षिणावान् ही सर्वप्रथम बुलाया जाता है, वही ग्राम का मुखिया होता है और राजा के यहाँ सम्मान पाता है (ऋ॰ 10/107/5)। जो दक्षिणा में विद्वानों को गौ, अश्व, सोना, चाँदी एवं अन्न देता है, दक्षिणा उसके लिए कवच का काम देती है (10/107/6)।

यहाँ जो विशेष रूप से उल्लेख्य है वह यह कि उक्त दान एवं दक्षिणा-अधिकारी व्यक्तियों के वेद-मंत्रोच्चार के साथ या विधिपूर्वक सम्पन्न होनेवाले कर्म है। प्रत्येक दान के साथ दक्षिणा संलग्न होती है - स्वर्णदान इसका अपवाद है। अत: दान एवं दक्षिणा परवर्ती 'भिक्षा' से सर्वथा भिन्न हैं।

दान-दक्षिणा के अतिरिक्त गृहस्थ जीवन में आतिथ्य-सत्कार का भी विशेष महत्त्व स्वीकृत है। ऋग्वेद (10/107/8) में कहा गया है कि भोजन-दाता न मरते हैं, न नष्ट होते हैं, न क्लेश पाते हैं, न व्यथित होते हैं, यह जो सारे भुवन है, और यह जो स्वर्ग है - वह सब उन्हें दक्षिणा देती है। जहाँ तक आतिथ्य-सत्कार का सम्बन्ध है, प्रत्येक धनवान आर्य अपने घर को, अतिथियों के लिए पुष्करिणी-सा, और देव-विमान-सा अद्‌भुत परिष्कृत देखना चाहता था (ऋग्वेद 10/107/10)। एतद्विषयक ऋग्वेद की अन्य उक्तियों में कहा गया है कि जो व्यक्ति अन्न का दान नहीं करता, जो अपने धन का उपयोग केवल अपने ही लिए करता है वह पापी तो मानो पाप को ही खाता है — "केवलाद्यौ भवति केवलादी" (ऋ॰ 10/117/6)। जो अन्नवान होकर भी अन्न चाहनेवालों - पास आये गरीबों एवं दुखियों— के प्रति मन कठोर कर लेता है और अकेला ही उसका उपभोग करता है, उसे सुख देनेवाले मित्र नहीं मिलते (ऋ॰ 10/117/2)। इसके विपरीत जो अन्न चाहनेवालों को अन्न देता है, वही सच्चा भोजन करता है, ऐसे अन्नदाता के पास दान के लिए पर्याप्त अन्न आता है और संकटकाल में सहायक मित्रों की उसे प्राप्ति होती है (ऋ॰ 10/117/3)। इससे फलित है कि अतिथि-सत्कार का सामाजिक महत्त्व भी स्वीकृत था।

अतिथि-सत्कार के प्रति आर्य-गृहस्थ के उत्साह एवं उल्लास का निरूपण करते हुए अथर्ववेद (7/60/1-7) में कहा गया है कि "हे वीर्य, धन, सम्पत्ति, मेधा, सुहृद्‌भाव एवं अच्छे मन वालो! आप लोग इन घरों में प्रेमपूर्वक आइए, डरिये मत। आनेवालों के लिए ये घर आरोग्यवर्धक, बलशाली, दुग्धवाले, लक्ष्मी-वान् और श्रीमान् हैं। ये घर अमित धनवाले, मित्रों के साथ आमोद-प्रमोद करने वाले, और क्षुधा-तृषा के हरनेवाले हैं, इसलिए आइए, डरिए मत। गाय, बकरी और अनेकविध रसीले अन्नों से हमारे घर भरे हुए हैं। ये घर सत्यवानों,

भाग्यवानों, धनियों, हँसमुखों और भूख-प्यास से रहितों के हैं, इसलिए डरिये मत। थके हुए पथिक जो इन घरों का स्मरण करते हैं, उन्हें ये घर अपनी ओर बुलाते हैं। इसलिए कहीं मत जाइए, यहीं ठहरिए। ये घर अनेक प्रकार से पोषण करते हैं, इसलिए हम भी यहाँ आ गए हैं, ठहरे हुए हैं, और सब प्रकार से सुखी हैं।"[90] एक सद्‌गृहस्थ के लिए अथर्ववेद (3/24/5) का आदर्श वाक्य है—"शत हस्त समाहर सहस्रहस्त संकिर।" अर्थात् सौ हाथों से कमाओ और हजार हाथों से बाँट दो।

जैसा हम देख चुके हैं ऋग्वेद (10/14/8) में मृतात्मा के प्रति कहा गया कि तुम पितरों और यम से मिल सको और स्वर्ग में मिल सको अपने 'इष्टापूर्त' से। यह इष्टापूर्त पारिभाषिक शब्द है, जिसका अर्थ 'शुभ कर्मों द्वारा अर्जित पुण्य' माना गया है। परवर्ती व्याख्याओं के अनुसार 'इष्ट' का अर्थ 'यज्ञकर्म एवं दानकर्म द्वारा अर्जित पुण्य' है, और पूर्त का शाब्दिक अर्थ तो 'जो भर गया है' होता है, किंतु प्रस्तुत संदर्भ में उसका अर्थ .परोपकारमूलक कार्य और उनसे उत्पन्न 'पुण्य' किया जाता है। जो हो, इष्टापूर्त में यज्ञ, दान व दक्षिणा का समावेश था, इसमें संदेह नहीं है, किंतु अतिथि सत्कार का भी उसमें समावेश था, अथवा बाद में माना गया—यह स्पष्ट नहीं है। इतना निश्चित प्रतीत होता है कि भिक्षा का समावेश उसमें नहीं था।

उपर्युक्त विवरण से प्रकट है कि वैदिक आर्यों की जीवन पद्धति में परवर्ती आश्रम-व्यवस्था के प्रथम दो—ब्रह्मचर्य एवं गृहस्थ आश्रमों की ही पूर्वभूमिका है। इसमें भी ब्रह्मचर्य का स्वरूप परवर्ती संन्यास मार्ग के ब्रह्मचर्य के लक्षणों से सर्वथा मुक्त विद्यार्थी जीवन का पर्याय रूप है, जो अंततः गृहस्थाश्रम की पूर्व तैयारी स्वरूप है, उसका पूरक है। अतः मुख्य आश्रम एक ही है और वह है, —गृहस्थाश्रम। परवर्ती वानप्रस्थ एवं संन्यास की छाया भी वहाँ नहीं है।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवरण से फलित समस्त निष्कर्षों का निर्देश करने पर पुनरावर्तन से बच पाना कठिन होगा, इसलिए यहाँ कुछ ऐसी बातों का निर्देश ही काम्य है, जो आर्यों की जीवन दृष्टि तथा उनके धार्मिक आचार-विचारों की विशिष्टता की द्योतक हैं।

(1) वैदिक आर्यों की सभ्यता ग्रामीण सभ्यता थी। खेती के अतिरिक्त पशु एवं वीर पुत्र उनके धन थे—"अश्विनं सुपुत्रिणं वीरवन्तं रयिं नशते स्वस्ति।" (ऋ० 5/4/11)। अजेय योद्धा होने के बावजूद वे गुण ग्राहक थे। अपनी सभ्यता एवं संस्कृति के विकास में उपयोगी अनेक बातों को उन्होंने असुरों से सीखा है, और इस तथ्य का उन्होंने यत्र-तत्र उल्लेख भी किया है।

अग्नि, इंद्र, वरुण आदि उनके देवताओं में श्रद्धा व्यक्त करने, उनकी भाषा सीख लेने, और उनकी कर्मठ जीवन पद्धति (कमाकर खाने की वृत्ति) को

अपना लेने—पर वे किसी को भी अपने समाज में यथायोग्य स्थान देकर अपनाने को तत्पर थे।

पारस्परिक सद्भाव, सहयोग, उदारता, सौमनस्य, सामंजस्य, सबसे मिलकर चलना, सबके साथ बाँटकर खाना, न्यायोचित व्यवहार करना आदि उनके सामूहिक जीवन के विशेष लक्षण थे।

अपनी समस्त उदारता एवं उत्कृष्ट मानवीय भावनाओं के बावजूद अपने शत्रुओं – फिर चाहे वे आर्य हों या अनार्य—को पराभूत करने को सदैव तत्पर रहते थे।

(2) वैदिक आर्यों ने सुसंगठित सामूहिक जीवन को विशेष महत्त्व दिया। कोई वैदिक ऋषि इस आशय की प्रार्थना नहीं करता कि—'हे देव ! आप मेरा उद्धार करें।' यदि कहीं 'मैं' शब्द का प्रयोग हुआ भी है तो पहले तो वहाँ उसका अर्थ 'हम सब' ही होता है, दूसरे उस प्रार्थना का भाव यही है कि—'हे देव ! आप मुझे सबका प्रिय बनाएँ, मेरे दोषों को दूर करें, मेरे मन को शुभ संकल्पों से युक्त करें---इत्यादि। अन्यथा प्राय: सभी वैदिक प्रार्थनाओं में 'हम सब' के कल्याण की कामना व्यक्त की गई है —

सं गच्छध्वं सं वदध्वं···।। ऋ० 10/191/2

अग्ने नय सुपथा राये अस्माद्···।। यजु० 40/16

तात्पर्य यह है कि वैदिक आर्यों की दृष्टि में व्यष्टि का कल्याण और समष्टि का विकास न तो भिन्न है, न विरोधी हैं। समष्टि के विकास में ही व्यष्टि का विकास समाहित है।

(3) वैदिक आर्यों ने यह भलीभाँति समझ लिया था कि पृथ्वी तल पर जीवन को धारण करने वाले मुख्य दो तत्त्व हैं —(1) जीविका और (2) प्रजनन। इस स्थिति से भी वे सुपरिचित हो चुके थे कि नेत्र, कर्णादि विषयक शारीरिक संरचना एवं मनोवेगों के समान होने पर भी प्रत्येक व्यक्ति की कार्यक्षमता अलग-अलग है।[91] एक समान होकर भी दोनों हाथों की कार्यक्षमता समान नहीं होती, एक ही माता से उत्पन्न दो गायें बराबर दूध नहीं देतीं, एक ही साथ जन्मे दो भाई समान पराक्रम नहीं करते, एक जाति के सभी लोग समान दान नहीं करते।[92] अर्थात् कार्य क्षमता विषयक वैषम्य प्रकृत है। तदुपरांत यह कि सबकी रुचि समान नहीं होती। बढ़ई काष्ठ मरम्मत की, वैद्य रोग (और रोग निवृत्ति) की, तो ब्राह्मण यज्ञ की कामना करता है:—

नाना नं वा उ नो धियो वि व्रतानि जनानाम्।

तक्षा रिष्टं रूतं भिषग्ब्रह्मा सुन्वंतमिच्छाति।। ऋ० 9/112/1

वैद्य, कारीगर, सुनार एवं अन्य धंधादार—सब अपने-अपने व्यवसाय की सफलता चाहते हैं (ऋ० 9/112/2)। समाज में ही नहीं परिवार में भी पुत्र कवि है, पिता वैद्य है, माता चक्की पीसती है।[93] और इस प्रकार अपनी-अपनी

योग्यता एवं क्षमता के अनुरूप व्यवसाय से धन प्राप्त करते हैं ।

सामर्थ्य, योग्यता, कुशलता एवं रुचि आदि के वैषम्य के बावजूद अर्थ, काम एवं सम्मान विषयक आवश्यकताएँ सबकी एक समान हैं । अतः एक सुसंगठित, सुव्यवस्थित समाज के अस्तित्व के लिए धन का उत्पादन, संतति का प्रजनन जहाँ आवश्यक हैं, वहीं इनके वितरण एवं उपभोग का नियमन एवं संयोजन भी आवश्यक है । अर्थात् प्रत्येक को उसकी योग्यता, क्षमता एवं रुचि के अनुसार काम मिले और सबका विवाह हो । प्रथम से उसकी जीविका चले, द्वितीय से संतति । कहना न होगा कि कोई भी समाजलक्षी धर्म व्यक्ति की इन मूलभूत आवश्यकताओं को, एक या दूसरे प्रकार की किंतु न्यायसंगत व्यवस्था द्वारा, पूरा किए बिना अपनी सार्थकता सिद्ध नहीं कर सकता ।

(4) वैदिक आर्य जीवन के सभी क्षेत्रों – आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक—में ऐसी शाश्वत व्यवस्था (या व्यवस्थाओं) के पक्षधर थे, जिसके परिणामस्वरूप आंतरिक (या पारस्परिक) घर्षण को समाप्त किया जा सके और न केवल समष्टि अपितु उसकी इकाई—व्यष्टि—के भी समुचित विकास का मार्ग प्रशस्त हो । ऐसी व्यवस्था का एक रूप उन्होंने अंतरिक्ष में ग्रह व नक्षत्रों की निर्विरोध और निरंतर गतिशीलता में देखा, देवताओं के सह-अस्तित्व के आचरण में देखा और उसे अपने यज्ञ तथा आचरण में अपनाने का संकल्प किया । निर्विरोध और निरंतर गतिशीलता को संभव बनाने वाली इन शाश्वत (सर्वमान्य) व्यवस्थाओं को उन्होंने क्षेत्रभेद से ऋत, व्रत, धर्म एवं धर्मन् आदि कहा । इसे ही उन्होंने सत्य भी कहा ।

(5) सत्य और अनृत का विभेद करके सत्य का ग्रहण और अनृत का त्याग उनकी समस्त व्यवस्थाओं का आधारभूत सिद्धांत बना ।

(6) वैयक्तिक जीवन में सत्य में श्रद्धा ही सद्भाव है और सत्याश्रित आचरण ही सदाचार है । यही अनिंदित जीवन का निष्कंटक मार्ग है—सत्यस्य नावः सुकृतमपीपरन् (ऋ० 9/73/1) । अर्थात् सत्य की नाव धर्मात्मा को पार लगाती है । अर्थात् प्रत्येक के आचार-विचार से दूसरों के हितों की रक्षा होनी चाहिए—(हानि नहीं)—"पुमान् पुमांसं परिपातु विश्वतः ।।"

(ऋ० 6/75/14) ।

(7) प्रत्येक आर्यपुत्र का जन्म कामना के फलस्वरूप हुआ है, कामनाओं के साथ वह जन्म लेता है, कामनाओं के साथ वह जीवित रहता है और कामनाओं के साथ वह मरता है । अर्थात् इहलोक हो या परलोक उभयत्र—सुख, समृद्धि, स्नेह, सौहार्द उसे काम्य हैं ।

(8) तीनों लोकों—द्यौः, अंतरिक्ष एवं पृथ्वी –में आर्यजनों की दृष्टि में जो कुछ मंगलमय है, कल्याणप्रद है, उस सबको वे ध्रुव रूप में देखना चाहते हैं ।

(9) प्रतिकूल परिस्थितियाँ एवं बलवान् शत्रु उनको निरुत्साह और भयभीत करने वाले न होकर उनके शौर्य की परीक्षा का अवसर प्रदान करने

वाले हैं।

(10) वैदिक आर्यों के अनुसार रोग, बुढ़ापा, अकाल मृत्यु एवं अनावृष्टि या अतिवृष्टि आदि से उत्पन्न धनाभाव आदि के जो दुःख है, वे सब लौकिक हैं और उनके उपचार भी लौकिक हैं। उनसे मुक्ति पाने के लिए परलोक की कामना कोई नहीं करता। संसार के त्याग की बात भी कोई नहीं करता।

(11) वैदिक आर्यों के धार्मिक अनुष्ठानों में सर्वातिशायी कर्म यज्ञ है, जो अपनी समस्त सीमाओं के बावजूद, सबको एकता के सूत्र में बाँधने वाला सामाजिक कर्म था। उसे वे अपने धन और जन की अभिवृद्धि एवं विस्तार का पवित्र आधार मानते थे।

(12) वैदिक आर्य बहुदेववादी हैं। प्रत्येक देवता का अपना विशिष्ट या स्वतंत्र अस्तित्व है। अलग-अलग देवताओं से अलग-अलग वस्तुओं की याचना की गई है। प्राकृतिक शक्तियों के प्रतीक होने से देवता यद्यपि परोक्ष सत्ताएँ हैं, तथापि वे अपरिचित न होकर इतने परिचित और निकट हैं कि उन्हें अपना पिता, बन्धु, भाई एवं मित्र कहकर सम्बोधित किया जा सकता है (ऋ० 10/7/3)। वस्तुतः वे आर्यउपासकों के हित साधक आदर्श पुरुष हैं, जिनके आचार (व्रत) अनुकरणीय हैं, जिनके आदेश अनुल्लंघनीय हैं। स्तुतियों से प्रसन्न और हविष् से तृप्त होने पर वे अपने उपासक की प्रत्येक उचित कामना को पूर्ण करते हैं। किंतु अच्छी तरह याद रखना चाहिए कि वे स्वयं धृतव्रत हैं, ऋत व सत्य के रक्षक हैं कर्मठ हैं अतः अकर्मी और कुकर्मी उनकी मित्रता का लाभ नहीं ले सकते —'न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः ॥" (ऋ० 4/33/11)। ऋग्वेद की "एकं सद्विप्रा बहुधावदन्ति" जैसी ब्रह्मवाद या सर्वेश्वरवाद की पोषक उक्तियों को अवैदिक एवं प्रक्षिप्त मानना उचित होगा — जैसा आगे स्पष्ट हो जाएगा।

(13) ऋग्वेद की एक उक्ति (10/5/6) में हिंसा, चोरी, व्यभिचार, मद्यपान, जुआ और असत्य भाषण से दूर रहने को 'सप्तमर्यादा' कहा गया है।[94] ध्यातव्य होगा यहाँ जिस हिंसा से बचने की बात कही गई है वह सह अस्तित्व की नीति मात्र है, सर्वात्मवादियों की अहिंसा को वेदों में खोजना अयुक्त है।

(14) सामान्य मत तो यही है कि वेदों में पुनर्जन्म की अवधारणा नहीं है, किंतु कुछ विद्वानों के अनुसार ऋग्वेद की एक उक्ति (4/27/1) में आया है कि—'अपने कर्तव्यों को पूर्ण करके यहाँ से विदा होने वाला वृद्ध व्यक्ति पुनः यहाँ एक बार जन्म लेता है। यह उसका तीसरा जन्म होता है।' हमें यहाँ इतना कहना है कि पुनर्जन्म की अवधारणा वैदिक धर्म के प्रतिकूल नहीं है।

(15) वैदिकों के परलोक में पितृलोक एवं देवलोक—दोनों स्वर्ग समान हैं। नरक का निर्देश मात्र है। ध्यातव्य होगा कि नरक का प्रावधान अनृत का आचरण करने वालों और शत्रुओं के लिए है। किसी आर्य के उसमें जाने की संभावना नहींवत् है, क्योंकि एक तो वे सत्याश्रित आचरण वाले हैं, धर्मभीरु हैं, यदि प्रमाद या अज्ञानवश अनृत का आचरण हो भी जाए तो प्रायश्चित करके

वे उससे मुक्त हो लेते हैं, फिर वरुण जैसे क्षमाशील देवता के होते हुए उन्हें ऐसे पापों से मुक्ति न मिले यह संभव नहीं है।

(16) आर्यों की अटल श्रद्धा इस बात में है कि कर्मों के द्वारा इहलोक और परलोक— दोनों को सुखमय बनाया जा सकता है।

(17) ऋग्वेद (4/24/10) में आया है कि मेरे इस इंद्र को दस गायों के बदले में कौन खरीदेगा ? और जब यह शत्रुओं को मार डाले तब इसे लौटा देगा ? तथा ऋग्वेद (8/1/5) में पुनः कहा गया है कि "हे इंद्र, मैं तुम्हें नहीं बेचूंगा चाहे बदले में मुझे सौ अथवा एक सहस्र अथवा दस सहस्र (एक अयुत) गायें क्यों न मिलें।" कुछ विद्वान मानते हैं कि इन उक्तियों में इंद्र की प्रतिमा बेचने की बात कही गई है। किंतु यह मंतव्य शेष संदर्भों के सुसंगत नहीं है। घर में और घर से बाहर आर्य वस्तुतः अग्नि पूजक हैं। अतः वैदिक धर्म में न देवप्रतिमा है, न उसकी पूजा पद्धति का निर्देश है, और न देवस्थान या मंदिर का ही कोई उल्लेख है। मतवादियों से बचकर यदि देखा जाय तो वैदिक धर्म में वृक्षपूजा, पशुपूजा, विकृत आकृति के देवता, ब्रह्म, मोक्ष, तप-त्याग-योगादि भी नहीं हैं।

कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि वैदिक धर्म समाजलक्ष्यी धर्म है, जो व्यक्ति को कर्मठ, देशभक्त, स्वावलम्बी, परिश्रमी, पुरुषार्थी, निडर (किंतु धर्मभीरु) बनने का उपदेश देता है। संसार को सुखमय, प्रकृति को आह्लादक, जीवन को आशा एवं उल्लास से परिपूर्ण मानता है। प्राकृतिक दृश्यों, यथा ऊषा एवं तत्वों यथा—अग्नि, तेज, वायु, घटनाचक्र, सूर्योदय-सूर्यास्त, दिवस-रात्रि-संध्या और नदियाँ, वनस्पतियाँ इत्यादि के जो भावात्मक वर्णन है, वे वैदिक ऋषियों की बालसुलभ कल्पनाओं और उनके सरल स्वभाव की एक अमिट छाप अध्येता के मन पर छोड़ते हैं। लौकिक जीवन के प्रति जो उत्कट लालसा, जो अदम्य उत्साह, जो उल्लास और जो आशावाद वेदों में पाया जाता है, वह परवर्ती साहित्य में क्रमशः अदृश्य होता गया है। वैदिक धर्म, अपनी समस्त सीमाओं के बावजूद, मानव जीवन के महानतम आदर्शों का अक्षय भंडार है। वे वैदिक द्रष्टा निश्चय ही प्रातः स्मरणीय हैं जिन्होंने एक संकुचित भू-भाग में कर्मठ जीवन व्यतीत करते हुए भी ऐसे महान और व्यावहारिक आदर्श प्रस्तुत किए जो आज उससे कहीं अधिक उपयोगी हैं, जितने उनके रचना काल में थे।

संदर्भ

1. पं० रघुनन्दन शर्मा : वैदिक सम्पत्ति, पृ० 88
2. इन्द्रः समत्सु यजमानमार्यं प्रावत × × ×।
मनवे शासदव्रतान् त्वचं कृष्णामरन्धयत्: ।।
3. आर्या व्रता विसृजन्तो अधि क्षमि ।।
4. किं मा निन्दन्ति शत्रवोऽनिद्राः ।। ऋक्० 10/48/7
5. डॉ० जयशंकर मिश्र: प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ० 46
विस्तार हेतु दे० जी० एस० घुर्ये—वैदिक इण्डिया (1979 ई०)
6. That so far as I know non of the Sanskrit, not even the most ancient contain any distinct reference or allugion to the foreign origin of the Indians.
Muir's Sanskrit Text-Book Vol-11, Page 323
7. ब्रीफ व्यू आफ की कास्ट सिस्टम आफ दी नार्थ-वेस्ट प्रॉविंसेज एंड अवध, पृ० 270
8. दे० : हिंदू सभ्यता, पृ० 47-48
9. दे० ऋग्वैदिक आर्य, पृ० 3-4
10. द्रष्टव्य : पं० रघुनंदन शर्मा वैदिक सम्पत्ति
11. दे० रामधारीसिंह दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय, पृ० 48
12. दे० आर्कटिक होम इन दी वेदाज
13. महाभारत में भी कहा गया है कि सुमेरु पर्वत पर एक दिन और एक रात एक वर्ष के होते हैं।
14. दे० मानवेर आदि जन्मभूमि
15. दे० आर्यावर्तांतील आर्यांची जन्मभूमि
16. दे० आर्यों का आदिदेश
17. ऋग्वैदिक इण्डिया
18. दे० प्राचीन भारत, पृ० 44-55
19. वैदिक सम्पत्ति
20. दे० कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया : भाग 1, अध्याय 3
21. दे० उपरिवत् पृ० 60
22. इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस प्रोसीडिंग्स: 1964 ई०। यहां—ओमप्रकाश : प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० 68 से साभार।
23. दे० ऋग्वैदिक आर्य, पृ० 7
24. डॉ० डी० आर० भंडारकर : सम आस्पेक्ट्स आफ एंशियंट इंडियन कल्चर, पृ० 3
25. दे० राहुल सांकृत्यायन : ऋग्वैदिक आर्य, पृ० 17-18

26. ऋग्वेद में अग्नि व इंद्र का स्वरूप ऐसा ही दिया गया है, और पतंजलि के महाभाष्य (2/2/6) में ब्राह्मण का रंगरूप भी ऐसा ही बताया गया है।
27. दे० डी० डी० कोसाम्बी : प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता, पृ० 93, 95
28. साक्षात्कृत धर्मणा ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽ साक्षात्कृतधर्मस्य उपदेशेन मन्मान् संप्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिलमग्रहणायेमं ग्रंथं समाम्नातिषुः वेदं च वेदांगानि च !!
29. दे० भारतीय संस्कृति का विकास, भाग 1, पृ० 114-22
30. दे० भारतीय दर्शन : भाग 1, पृ० 65
31. उपरिवत्
32. ए० ए० मैकडोनेल : वैदिक माइथोलाजी (हिंदी), पृ० 33
33. दे० राजवली पांडेय : भारतीय नीति का विकास, पृ० 33
34. दे० ऋग्वेद (7/87) का म्योर कृत पद्यानुवाद, ओरियंटल टैक्स्टस: भाग 5, पृ० 64, यहाँ डॉ० राधाकृष्णनः भारतीय दर्शन : भाग 1, पृ० 70 से साभार।
35. दे० ऋग्वेद (10/70/11)
36. ऋग्वेद (2/1/13-14)
37. दे० वैदिक धर्म एवं दर्शन : भाग 1, पृ० 191-200
38. दे० भारतीय दर्शन : भाग 1, पृ० 89
39. दे० भारतीय संस्कृति का विकास : भाग 1, पृ० 99
40. दे० पी० वी० काणे : धर्मशास्त्र का इतिहास : भाग 3, पृ० 1016
41. दे० कीथ : वैदिक धर्म एवं दर्शन : भाग 1, पृ० 104
42. वही, पृ० 104
43. धर्मशास्त्र का इतिहास : भाग 3, पृ० 1016
44. स शर्धदर्यो किं विषणस्य जन्तोर्मा शिश्नदेवा अपि गुर्ऋतंनः।
(ऋग्वेद 7/21/5)
45. ऋतस्य पंथामनुतिस्र आगुस्त्रयोधर्मा अनुरेत आगुः।
प्रजामेका जिन्वत्यूर्जमेका राष्ट्रमेका रक्षति देवयूनाम ।।
46. दे० भावर्तका विकास, पृ० 5-8
47. ऋग्वेद 1/89/2
48. ऋग्वेद 10/191/2
49. दे० राहुल सांकृत्यायनः ऋग्वैदिक आर्य, पृ० 213
50. विशेष के लिए दे० म० म० पी० वी० काणे : धर्मशास्त्र का इतिहास : भाग 3, पृ० 1117-19
51. भारतीय संस्कृति का विकास : भाग 1, पृ० 202
52. वही, पृ० 203 से साभार।

53. ऋग्वैदिक आर्य, पृ० 104
54. दे० ऋग्वेद 10/119
55. दे० ऋग्वेद 10/88/15
56. यमो नो गातुं प्रथमं विवेद ।। ऋ० 10/14/2
57. वैदिक धर्म एवं दर्शन : भाग 1, पृ० 312
58. संगच्छस्व पितृभिः संयमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन । हित्वायावद्यं पुनरस्तमेहि संगच्छस्व तन्वा सुवर्चा ।। ऋ० 10/14/8
59. दे० ऋ० 10/132/4, 4/5/5, 9/73/8 तथा 10/152/4
60. दे० डॉ० रांगेय राघवः प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास, पृ० 219 तथा 208-20
61. न वै राज्यं न राजाऽसीन्न च दण्डो न दण्डिकः ।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वं रक्षन्ति स्म परस्परम् ।।
62. बलदेब उपा० : वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ० 451
63. समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनः यथा वः सुसहासति ।।
64. समानी प्रपा सह बोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि ।
सम्यंचोऽग्निं सपर्यंतारा नाभिभिवाभितः ।
65. दे ऋग्वेद 7/83/4
66. दे० पी० वी० काणेः धर्मशास्त्र का इतिहास : भाग 1, पृ० 111
67. इदं में ब्रह्म क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम् ।।
68. यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यंचो चरतः सह । तल्लोकं प्रण्यं प्रज्ञेपं यत्र देवाः सहाग्निना ।
69. भारतीय संस्कृति का विकास : भाग 1, पृ० 127 की पादटिप्पणी 2
70. ते देवाः पराजिग्याना असुराणां वैश्यमुपायन् ।।
71. एवेन्नु क दाशराज्ञे सुदासं प्रावदिन्द्रो ब्रह्मणा वो वसिष्ठाः ।।
72. विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्मेदं भारत जनम् ।। ऋग्वेद
73. त्वनो अग्ने अग्निभिर्ब्रह्म यज्ञं च वर्धय ।। ऋग्वेद 10/141/5
74. 'ब्रह्मवै मन्त्राः ।' शत० ब्रा० 7/1/1/5
75. उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवान् यज्ञेन बोधय ।
आयुः प्राणं प्रजा पशून् कीर्ति यजमानं च वर्धय ।। अर्थववेद 19/63/1
76. दे० वैदिक इंडेक्स : भाग 1, पृ० 88
77. वही, पृ० 226
78. कियती योषा मर्यतो वधूयोः परिप्रीता पन्यसा वार्येण ।
भद्रा बधूर्भवति यत्सुपेशाः स्वयं सा मित्रं साऽमित्रं वनुते जनेचित ।।
79. विशेष के लिए द्रष्टव्य : डॉ० भगवतशरण उपा० : वीमेन इन दि ऋग्वेद : डॉ० अलतेकर : दि पोजीशन आफ वीमेन इन हिंदू सिविलिजेशन ।

80. इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु ।
दशास्यां पुत्रानाधेहि पतिमेकादशं कृधि ।।

81. सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्रूवां भव ।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवेषु ।।

82. डॉ० राजबली पांडेय: प्राचीन भारत, पृ० 63

83. अवीरामिव मामयं शरारूरभिमन्यते ।
उताहमस्मि वीरिणीन्द्रपत्नी मरुत्सखा ।। ऋ० 10/72/9

84. मम पुत्राः शत्रुहणः ।। ऋ० 10/159/3
सुवीरासो वयं···जयमे ।। ऋ० 9/61/23

85. दे० ऋग्वेद 4/57/1-8, 8/46/22, 9/112/1-3

86. दे० ऋग्वेद 7/32/21 (मिथ्या स्तुति से मनुष्य धन नहीं पाता)।

87- ब्रह्मचारी चरति वेविषद् विषः स देवानां भवत्येकम् ।

88. तेन जायामन्वविन्दद् बृहस्पतिः सोमेन नीता जुह्वं न देवाः ।।

89. दे० ऋग्वेद 1/127/2, 8/46/22, 8/55/3, 1/126/1-5, 1/125 और 5/61

90. दे० वैदिक सम्पत्ति, पृ० 616

91. अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः ।
आदघ्नास उपकक्षास उ त्वे ह्रदा इव स्नात्वा उत्वे ददृश्रे ।।
(ऋ० 10/71/7)

92. समौ चिद्धस्तौ न समं विविष्टः सम्मातरा चिन्न समं दुहाते ।
यमयोश्चिन्न समा वीर्याणि ज्ञाती चित्सन्तौ न समं पृणीतः ।।
ऋ० 10/117/9

93. कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना ।
नानाधियो वसूयवोऽनुगा इव तास्थम् ।। ऋ० 9/112/3

94. सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासमिकामिदभ्यंहुरो गात् ।
आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीले पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ ।।

तृतीय अध्याय

आर्येतर धर्म-परम्परा

इस देश की प्रागैतिहासिक युग की धार्मिक, सामाजिक अथवा सांस्कृतिक स्थिति-परिस्थिति का निरूपण करनेवाले मर्मज्ञ विद्वानों में से चाहे किसी ने भारत को ही आर्यों का आद्यदेश मानकर, आर्यधर्म और आर्यजाति से च्युत होने पर निष्कासित आर्य प्रजाओं का अन्त्र (समस्त) भू-खंडों पर जा बसना और कालांतर में वहाँ से पुनः वापस आना मान्य किया हो, चाहे आर्यप्रजाति की ही दो शाखाओं में से, किसी कारणवश, एक का इंद्र पूजक और द्वितीय का 'अहुरमज्द' की पूजक हो जाना माना हो, चाहे आर्येतर और आर्य दोनों प्रजाओं का बाहर से यहाँ आकर बसना मान्य किया हो, और चाहे आर्य एवं आर्येतर का भेद अमान्य किया हो, इतना प्रायः सभी स्वीकार करते हैं कि इस देश में धर्म, दर्शन, साहित्य, कला, राजनीति, समाजरचना आदि में परस्पर भिन्न एवं विरोधी विचारों की पोषक दो संस्कृतियाँ समानांतर पर ठीक ऋग्वैदिक काल से लेकर मध्यकाल तक सतत प्रवर्त्तमान रहीं हैं। मेरे विचार से यद्यपि इन दोनों संस्कृतियो के मध्य का अंतर कम हुआ है, पारस्परिक वैमनस्य शमित होता जा रहा है, उग्रता में कभी आई है, पारस्परिक सहिष्णुता बढ़ी है, तथापि दोनों का पृथक् अस्तित्व एवं विभेद आज भी स्पष्ट लक्षित किया जा सकता है। अस्तु।

इस अनुशीलन के पूर्ववर्ती अध्यायों में सैंधव सभ्यता एवं ऋग्वैदिक सभ्यता के परिप्रेक्ष्य में क्रमशः आर्येतर एवं आर्यप्रजाओं के प्रजातिगत भेद की भूमिका स्वीकार की गई है, अतः इस अध्याय एवं आगे के अध्यायों में भी उसका निर्वाह स्वाभाविक होगा।

इस अध्याय में आर्येतर धार्मिक परम्परा का संक्षिप्त परिचय देना काम्य है, किंतु उससे पूर्व इतना स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि आर्येतर परम्परा का अस्तित्व प्राग्वैदिक भले ही रहा हो उसकी अपनी लिखित सामग्री, अथवा साहित्य

परम्परा निश्चित रूप से वैदिकोत्तर है। कुल मिलाकर देखने पर स्पष्ट होता है कि जिस आर्येतर धर्म परम्परा का निरूपण इस अध्याय में काम्य है उससे सम्बन्धित सामग्री के मुख्य तीन स्तर हैं—

(1) सैंधव उपत्यका के अवशेषों के रूप में उपलब्ध अलिखित सामग्री।

(2) वैदिक एवं लौकिक संस्कृत में लिखित सामग्री। यह सामग्री वैदिक वाङ्मय की परम्परा में परिगणित ग्रंथों में विविध रूपों में पाई जाती है। यथा —

(क) ऋग्वेद में उल्लिखित नग्न रहनेवाले 'मुनि'[1] और अद्वैतवादी चिंतन, सृष्टि से पूर्व 'असत्' की स्थिति आदि से सम्बन्धित उक्तियाँ, इसी परम्परा का प्रदेय प्रतीत होती हैं। ऐसी उक्तियाँ मुख्यतः ऋग्वेद के प्रथम एवं अंतिम मंडलों में हैं, जिन्हें प्रायः प्रक्षिप्त माना जाता है। 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म' के आदर्श को लेकर रचे गए ब्राह्मण ग्रंथों की कतिपय उक्तियों में न केवल दक्षिणाभोगी ब्राह्मणों की धनलोलुपता की निंदा की गई है—(दे० ऐत०ब्रा० 8/11, 3/46), यज्ञ में दी गई आहुतियों को परलोक की प्राप्ति के लिए अनुपयुक्त कहा गया है (दे० शत० ब्रा० 10/5/4/15), अपितु यज्ञ क्रिया की सांकेतिक पुनर्व्याख्याएँ भी की गई हैं, और मोक्ष प्राप्ति के लिए कर्म की उपेक्षा ज्ञान का महत्त्व स्वीकारा गया है।[2] हमारे विचार से ये अवधारणाएँ परम्परागत वैदिक मान्यताओं के सुसंगत न होने से अनार्य हैं। आर्यग्रंथों में अनार्य विचारों को सम्मिलित कर देने की एक प्रभावशाली युक्ति यह अपनाई गई कि कुछ परम्परागत शब्दों अथवा नामों की स्वमतानुरूप पुनर्व्याख्या कर दी जाती है, यथा—तांड्य ब्राह्मण (6/9/24-25) में ऋग्वेद के 'मित्रावरुण' को क्रमशः 'प्राण' एवं 'अपान' कहा गया है। इस प्रकार की व्याखाएँ परम्परागत मान्ताओं की जड़ों पर अपने नवीन विचारों का प्रत्यारोपण करती हैं। ऐसे प्रयत्नों को प्रक्षिप्त या आरोपित माना जा सकता है।

(ख) अथर्ववेद की स्थिति यह है कि उसमें वैदिक विचारों का कुछ पुट देकर अवैदिक सामग्री को ही प्रमुख रूप से संकलित किया गया है। अथर्ववेद की कुछ सामग्री का अवलोकन हम प्रथम अध्याय में कर चुके हैं, कुछ का आगे किया जाएगा।

(ग) कर्मकांड विरोधी ज्ञानकांड की जो लिखित सामग्री अथर्ववेद में उपलब्ध होती है, उसका विस्तार एवं विकास 'आरण्यकों में हुआ देखा जाता है।[3] प्रमुख और प्राचीन उपनिषदों में से ईशोपनिषद्, तैत्तिरीय उपनिषद्, छान्दोग्योपनिशद् एवं बृहदारण्यकोपनिषद् में वैदिक परम्परा के अनुरूप कुछ विचारों को प्रश्रय अवश्य दिया गया है, किंतु ईशोपनिषद् की समन्वयात्मक दृष्टि को छोड़ शेड़ की प्रवृत्ति अनार्य चिंतन को प्राथमिकता देने की है। मुंडक, प्रश्न, मांडूक्य एवं श्वेताश्वतरोपनिषद् आदि तो निस्संदेह रूप से अनार्य विचारों के पोषक स्वतंत्र ग्रंथ हैं। केन, कठ एवं तैत्तिरीय आदि उपनिषदों में यत्किंचित्

वैदिक विचार हैं, किंतु इनकी भी प्रमुख प्रवृत्ति संन्यास की पोषक है।

(घ) सांख्य एवं बार्हस्पत्य सूत्रों के मूलरूप आज उपलब्ध नहीं हैं। जिन रूपों में वे आज उपलब्ध होते हैं वे असंदिग्ध रूप से वेद विरोधी विचारों के पोषक हैं।

यहाँ एक बार पुनः इतना स्पष्टीकरण आवश्यक होगा कि उपर्युक्त साहित्य, चार्वाकमत के प्रतिपादक बार्हस्पत्य सूत्रों को छोड़, अपने वेद विरोधी, यज्ञ-विरोधी, ब्राह्मण विरोधी एवं कर्म विरोधी विचारो के बावजूद, आज वैदिक धारा का साहित्य माना जाता है। जो मेरे विचार से एक असंगत धारणा है।

(3) आर्येतर धर्म परम्परा का सर्वथा स्वतन्त्र एवं पृथक साहित्य अर्धमागधी एवं पालि प्राकृतों में क्रमशः जैनों एवं बौद्धों के साहित्य के रूप में सर्वप्रथम अस्तित्व में आता है। यहाँ इतना ध्यातव्य होगा कि भगवान पार्श्व नाथ, महावीर और भगवान बुद्ध ने स्वयं कुछ नहीं लिखा, उनके धर्मोपदेशों से सम्बन्धित आज जो लिखित सामग्री है वह सम्बन्धित अनुयायियों द्वारा आयोजित धर्म संगतियों में स्मृति द्वारा संकलित सामग्री के स्वरूप में है। इससे प्रकट होता है कि इस परम्परा के धर्मोपदेश दीर्घकाल तक गुरु-शिष्य परम्परा में गुह्यज्ञान के रूप में श्रुत अथवा मौखिक रूप में हस्तांतरित होते रहे। लिखित रूप में उन्हें बहुत समय के बाद प्रस्तुत किया गया।

फिर भी साधना के रहस्यों से सम्बन्धित बहुत-सी बातें गुरुमुखैकगम्य और और गुप्त ही रखी गई। कालांतर में इन दोनों—जैन एवं बौद्ध—परम्पराओं में संस्कृत भाषा को (कुछ अपभ्रष्ट रूप में) भी अपनाया गया, किंतु दोनों का स्वतंत्र अस्तित्व यथावत् रहा।

उपर्युक्त स्थिति के पर्यावलोचन से ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिकोत्तर काल में जिन आर्येतरों ने संस्कृत भाषा सीख ली थी उन्होंने अपनी धार्मिक अव-धारणाओं को या तो वैदिक साहित्य में घालमेल करके या फिर स्वतंत्र रचनाओं के रूप में प्रस्तुत किया, यह सम्पूर्ण साहित्य आज वैदिक परम्परा में मान लिया गया है। जिन व्रात्यों या आर्येतरों ने संस्कृत को नहीं अपनाया और अपने गुह्य ज्ञान को अधिकारी शिष्यों तक ही सीमित रखा उन्होंने आगे चलकर उसका लोक में प्रचार करना प्रारम्भ किया और अर्धमागधी एवं पालि में उसे लिपिबद्ध करके सर्वथा स्वतंत्र अर्थात् संस्कृत साहित्य परम्परा से पृथक् लोक परम्परा को जन्म दिया।

ध्यातव्य यह होगा कि संस्कृत साहित्य से पृथक् हो जाने से ही यह परम्परा सर्वथा नवीन सिद्ध नहीं हो जाती, जैसा कि प्रायः समझा जाता है। जैसा हम आंशिक रूप से प्रथम अध्याय में देख चुके हैं और इस अध्याय में आगे देखेंगे यह परम्परा वस्तुतः प्राग्वैदिक है। अनार्य सैंधव सभ्यता की अलिखित सामग्री और जैनों तथा बौद्धों की अर्धमागधी तथा पाली में लिपिबद्ध सामग्री को शृंखलाबद्ध करने वाली मध्यवर्ती कड़ी उपर्युक्त द्वितीय श्रेणी का संस्कृत साहित्य है, जिसमें

अथर्ववेद अग्रगण्य है। कुल मिलाकर अनार्य धर्म परम्परा की शृंखला इस रूप में लक्षित होती है—सैन्धव सभ्यता— (1) अथर्ववेद, (2) आरण्यक, (3) उपनिषद्, (4) सांख्य, (5) चार्वाक, (6) आजीवक (7) जैन और (8) बौद्ध।

इनमें से सैंधव—सभ्यता के धार्मिक विश्वासों और अथर्वेदोक्त धार्मिक विश्वासों के साम्य को हम प्रथम अध्याय में देख चुके हैं, यहाँ अथर्ववेद और औपनिषदिक विचार साम्य को लक्षित करके आगे की परम्परा के वेद विरोधी, यज्ञ विरोधी, कर्म विरोधी, वर्ण विरोधी, ब्राह्मण विरोधी कतिपय लक्षणों को प्रकट करते हुए उसका निरूपण किया जाएगा।

(1) अथर्ववेद

इस अनुशीलन के प्रथम अध्याय में अथर्ववेद के धार्मिक विश्वासों का जो परिचय दिया गया है उसमें यद्यपि इस ओर भी संकेत किया गया है कि इस ग्रंथ में इंद्रादि ऋग्वैदिक देवताओं को प्रभावशून्य बनाने, भौतिक यज्ञों की जगह मानसिक यज्ञ को महत्त्व देने, कर्म के स्थान पर योग साधना को प्रश्रय देने की जो चेष्टाएँ की गई हैं वे औपनिषदिक अवधारणाओं के सानुरूप हैं, तथापि वहाँ हमारा प्रमुख लक्ष्य सैंधव सभ्यता के धार्मिक विश्वासों और अथर्ववेद के धार्मिक विश्वासों के साम्य को लक्षित करना ही था। जैसा हम कह भी चुके हैं अथर्ववेद वस्तुतः वैदिक एवं अवैदिक अवधारणाओं का सम्मिश्रण है, किंतु उसका मुख्य प्रतिपाद्य अवैदिक धर्म है। यहाँ इस अवैदिक धर्म की ऐसी प्रमुख बातों को लक्षित किया जाएगा जिनका औपनिषदिक अवधारणाओं से सीधा सम्बन्ध स्थापित होता है।

(1) भारतीय वाङ्मय में अथर्ववेद के— निगद, छंद, अथर्व, ब्रह्म, भृग्वङ्गिरसः एवं अथर्वाङ्गिरसः आदि— अनेक नाम पाए जाते हैं। इसके रचियताओ में अथर्वण, आंगिरस एवं भृगु प्रमुख हैं। जैसा हम संकेत कर चुके हैं अथर्वन् नाम अवेस्ता के 'आथ्रवन' के समतुल्य है, जिसका अर्थ अग्नि पूजक या पुरोहित होता है। डॉ० मंगलदेव शास्त्री के अनुसार भृगु एवं अंगिरा कुलों के अनेक ऋषि 'क्षत्रोपेत द्विजाति' अर्थात् क्षत्रियों से निकले ब्राह्मण थे, और अथर्ववेद का निर्माण क्षत्रिय राजाओं की प्रेरणा से (सम्भवतः क्षत्रोपेत द्विजाति के) राजाश्रय प्राप्त पुरोहित वर्ग द्वारा किया गया।[1] "इस युग में अथर्ववेदी ही राजा का पुरोहित हो सकता था, क्योंकि वह अभिचार, मारण, उच्चाटन आदि प्रयोगों में दक्ष समझा जाता था।"[5] वह समग्र कर्मकाण्ड, देवताओं के स्वरूप और यज्ञ के रहस्य का ज्ञाता माना जाता था। राजपुरोहित होने के विशेष लाभ के फलस्वरूप वह 'ब्रह्मा' कहलाता था और शेष सभी ऋत्विजों में श्रेष्ठ माना जाता था। अत. अथर्ववेद को जहाँ एक ओर 'ब्रह्मवेद' कहते हैं, वही दूसरी ओर इसे 'क्षत्रवेद' भी कहते है।[6]

(2) अथर्ववेद से सम्बद्ध मुंडकोपनिषद् (1/1-2) में कहा गया है कि

आद्यदेव ब्रह्मा ने, सब विद्याओं की आश्रयभूता ब्रह्मविद्या का उपदेश सर्वप्रथम अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा को दिया। अथर्वा ने अंगी को, अंगी ने भारद्वाज के पुत्र सत्यवह को और उसने अंगिरा से उसको कसा। अर्थात् ब्रह्मविद्या के उपदेष्टाओं की परम्परा में ऋषियों (वस्तुतः मुनियों) में अथर्वा सर्वप्रथम हैं। अन्य उपनिषदों में दी गई ब्रह्मज्ञानियों की नामावलियों में भी अथर्व एवं आंगिरस के नाम आते हैं। बृ० उप० (2/6/3) में अथर्वन् को मृत्यु का शिष्य और ब्रह्मज्ञानी कहा गया है।

(3) अथर्ववेद के अपने पद्यानुवाद की भूमिका में ग्रिफ्थ ने अथर्ववेद के 'ब्रह्मवेद' कहे जाने के जो तीन कारण दिये हैं उनमें से एक यह है कि—"जहाँ तीनों वेद इहलोक एवं परलोक में सुख की प्राप्ति के उपाय बताते हैं, और धर्म पालन की शिक्षा देते हैं, वहाँ ब्रह्मवेद (अथर्ववेद) ब्रह्मज्ञान सिखाता है और मोक्ष का उपाय बताता है।" अथर्ववेदीय गोपथ ब्राह्मण में अथर्ववेद को ब्रह्मज्ञानियों के हृदय से तपोबल से उत्पन्न हुआ और अन्य (तीनों) वेदों से श्रेष्ठ कहा गया है—श्रेष्ठो हि वेदस्तपसोऽधिजातो ब्रह्मज्ञानां हृदये संबभूव।[7]

(4) 'वेद' विशेषण के साथ अथर्ववेद का प्रथम उल्लेख इसी की परम्परा के मुंडकोपनिषद् (1/1/5) में हुआ है। इससे पूर्व छा० उप० 7/1/2, 4, 7/2/1 (आथर्वण एवं बृ० उप० 2/4/10, 4/1/2) में अथर्वांगिरस नाम से इसका उल्लेख हुआ है, और 'उपनिषद्' शब्द कम से कम उपसर्गों सहित अपनी धातु और क्रिया के रूप में (सर्वप्रथम) केवल अथर्ववेद में प्रयुक्त हुआ है—

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे ॥[8]

महाभारत उद्योगपर्व (सनत्सुजातपर्व 43/50) में कहा गया है कि—

छन्दांसि नाम क्षत्रिय तान्यथर्वा पुरा जगौ महर्षिसंघ एषः।
छन्दोविदस्ते यउत नाधीतवेदा न वेदवेद्यस्य विदुर्हि तत्त्वम् ॥

नीलकण्ठ के अनुसार इसका अर्थ है—हे धृतराष्ट्र, उपनिषदों में प्रसिद्ध अथर्वा ऋषि ने महर्षियों के संघ में जिन मंत्रों का गान किया था, उनको ही उपनिषद्रूप छंदस् अर्थात् अथर्ववेद समझो।[9]

(5) प्रश्नोपनिषद् (2/11/में कहा गया है कि—हे प्राण ! तू व्रात्य है, तू आथर्वणों का एकर्षि नामक प्रसिद्ध अग्नि होकर सम्पूर्ण हवियों का भोक्ता है। तू विश्व का सत्पति है इत्यादि। कहना न होगा यह प्राणरूपी कहा गया एकर्षि-व्रात्य अथर्ववेद के एकव्रात्य का नवीनीकरण है।

(6) छान्दोग्योपनिषद् (5/3/7, 5/11/4) और बृहदारण्यकोपनिषद् (1/6/2/8) शतपथ ब्राह्मण (14/7/14/1-4) और गीता (4/1-2) में ब्रह्मविद्या सर्वप्रथम उपदेष्टा क्षत्रिय बताए गए हैं।

उक्त समस्त संदर्भों के पर्यालोचन से स्पष्ट होता है कि जिस ब्रह्मविद्या के आधार पर अथर्ववेद को ब्रह्मवेद की संज्ञा दी गई है वह वस्तुतः 'ब्रह्मा' कहे जाने-वाले राजपुरोहितों द्वारा उपदिष्ट है, जो वस्तुतः अनार्य व्यवस्था के क्षत्रिय होते थे, किंतु धर्मोंपदेशक (या ब्रह्मज्ञानी) होने के कारण 'ब्राह्मण' मान लिए जाते थे। जैसा आगे स्पष्ट हो जाएगा उपनिषद्, जैन, बौद्ध, सांख्य आदि की समूची निवृत्तिमार्गी परम्परा के आद्य उपदेष्टा प्रमुख रूप से क्षत्रिय ही माने गए हैं। यहाँ इतना संकेत ही पर्याप्त होगा कि 'क्षत्रोपेत द्विजाति' के ब्राह्मणों की रचना होने से अथर्ववेद निवृत्ति धर्म के प्रतिपादक उपनिषदों की परम्परा से सुसम्बद्ध है। उपनिषदों में अथर्ववेद का और अथर्ववेद में उपनिषद् का सर्वप्रथम उल्लेख अथर्वा एवं अंगिरस ऋषियों का ब्रह्मवेत्ताओं के रूप में उपनिषदों में उल्लेख, प्रतिपाद्य विषय के रूप में उभयत्र ब्रह्मविद्या की स्वीकृति आदि से भी दोनों के परम्परागत ऐक्य की पुष्टि होती है।

अथर्ववेद एवं उपनिषदों में निरूपित ब्रह्मविद्या के लक्षणों पर हम आगे विचार करेंगे। यहाँ अथर्ववेदोक्त धर्म के आचार-विचार विषयक कतिपय अन्य ऐसे विषयों को लेते हैं, जो परवर्ती आरण्यकों एवं उपनिषदों में विशेष महत्त्व प्राप्त करते हैं।

(क) **नवीन आराध्य और ब्रह्मवाद**— ऋग्वैदिक आर्यों के सत्यनिष्ठ, कर्म-निष्ठ धृतव्रत, स्वतंत्र, शक्ति सम्पंन, इंद्राग्नि आदि देवताओं को विस्थापित करने की चेष्टा स्वरूप अथर्ववेद में जिन नवीन आराध्यों को प्रस्थापित किया गया है उनमें उल्लेख्य हैं— काम, काल, रोहित, व्रात्य, स्कम्भ, उच्छिष्ट, ब्रह्म और पुरुष। ये सभी अपने-अपने ढंग से सृष्टि के कारण स्वरूप परमतत्त्व हैं। जो सृष्टि के आदि में अवस्थित अंत में अवशिष्ट और मध्य में परिव्याप्त तथा अधिष्ठान-स्वरूप होने से उपनिषदों के ब्रह्म के गुणधर्मों से युक्त हैं। इनमें से व्रात्य, जिसका एक अर्थ बंधनमुक्त भी किया गया है, का परिचय हम प्रथम अध्याय में दे चुके हैं, शेष का संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जाता है।

(1) **काम**—ऋग्वेद के नासदीय सूक्त (8/7/4) में काम के विषय में आया है कि—

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतोबंधुमसतिनिरविंदन्हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥

अर्थात्--उस प्रथमजन्मा एक में कामना हुई, यही काम (कामना) मन का प्रथम रेतस् (बीज) है। कवियों और मनीषियों ने गहरी खोज करके हृदय में सबके बंधु काम को देखा।

काम के विषय में यही बात कुछ शाब्दिक हेर-फेर के साथ अथर्ववेद (19/52/1) में कही गई है—

कामस्तदग्रे समवर्तत मनसो रेतः यदासीत् ।
स काम कामेन बृहता सयोनी रायस्पोषं यजमानाय धेहि ।।

में व्यक्तिगत रूप से यह सोचता हूँ कि सृष्टि से पूर्व की, (या बाद की) स्थिति सृष्टि का कारणभूत परमतत्व, उसके स्वरूप और सृष्टि रचना-प्रक्रिया विषयक जिज्ञासाओं (अथवा शंकाओं) से परिपूर्ण नासदीय सूक्त ऋग्वेद की देवतावादी मूलभूत अवधारणा के सुसंगत नहीं है। दार्शनिक दृष्टि से उसका चाहे जितना महत्व क्यों न रहा हो। मेरे विचार से, जैसा आगे स्पष्ट हो जाएगा, सृष्टि के आदि व अंत से सम्बन्धित चिंतन निवृत्तिमार्गी अनाय परम्परा का है, और प्रवृत्तिमार्गी देवतावाद का मूलोच्छेदक है। अतः काम से सम्बन्धित उक्त कथन जितना अथर्ववेदीय अवधारणा के सुसंगत है, उतना ऋग्वेदीय के नहीं।

'काम' के विषय में अपने विशेष ढंग से विचार करते हुए अथर्ववेद में कहा गया है कि—

कामो जज्ञे प्रथमं नैनं देवा आयुः पितरो मर्त्याः ।
ततस्त्वमसि ज्यायान विश्वहा महांस्तस्यै ते काम नम इत् वृणोमि ।
युष्वभ्यं काम दुरितं च कामा प्रजस्ताम स्वगतामवर्तिम् ।
उग्रईशानः प्रति मुंच तस्मिन् यो अस्मभ्यम् हरण चिकित्सिति ।।
त्वं काम सहसासि प्रतिष्ठितो विभुर्विभावा सखा या सखीयते ।
त्वमुग्रः पृतनासु सासाहः सह ओजो यजमावाय धेहि ।।
(अथर्ववेद 9/1/19, 9/13/3, 19/6/52, 2)

तात्पर्य यह है कि काम सर्वप्रथम उत्पन्न होनेवाला, पितर एवं मर्त्यों में ज्येष्ठ महान, पृथ्वी, आकाश और जल में सर्वत्र परिव्याप्त, श्रेष्ठनेता, वीर्यवान्, उग्र, ईशान, बलवान, शत्रुहन्ता, कल्याणकारी आदि है।

कहना न होगा कि अथर्ववेद की कामविषयक इस अवधारणा में देवत्व और ब्रह्मत्व—दोनों का सम्मिश्रण है। जैसा आगे स्पष्ट हो जाएगा, अथर्ववेद का यह 'काम' एतद्विषयक औपनिषदिक् अवधारणाओं के भी सानुरूप है। मेरी धारणानुसार उपनिषदों व तंत्रों के आनंदवाद, वाममार्ग एवं भक्तिवाद आदि में प्रकारांतर से यही काम पल्लवित हुआ है। पौराणिक रति-पति कामदेव का सर्जन भी एतद्विषयक अथर्ववेदोक्त सामग्री (दे० अथर्ववेद 3/25/3-4, 6.8/1-3, 6/9) से ही हुआ प्रतीत होता है।

(2) काल—ऋग्वेद (10/190) में जिसे संवत्सर कहा गया है, अथर्ववेद (19/53, 19/54) में संभवतः उसी को 'काल' संज्ञा से अभिहित किया गया है। अथर्ववेदोक्त 'काल' पृथ्वी, विश्व एवं दिव् का सर्जक एवं नियंता है। वह समस्त प्रपंच का अधिष्ठान है। मन, प्राण तथा नाम उसी में समाहित हैं, इतना ही नहीं वह सब का ईश्वर एवं प्रजापति का भी पिता है,--

काले तपः काले ज्येष्ठं काले ब्रह्म समाहितम् ।
कालो ह सर्वस्येश्वरो यः पितासीत् प्रजापतेः ।।

अथर्व० 19/53/8

अथर्ववेद (19/53, 54) के अनुसार संसार काल के संकल्प से ही उत्पन्न हुआ है, और उसी में प्रतिष्ठित है । अर्थात् काल ही सृष्टि का परमतत्त्व है, वही ब्रह्म है । अथर्ववेद की 'काल' विषयक अवधारणा का सारांश यह है कि—रोहित जो द्युतिमान सूर्य है, काल के रूप में अस्तित्व में आया, प्रारम्भ में सूर्य ही तब प्रणियों का ईश्वर था । 'काल' सूर्य से अभिन्न है, जो सहस्राक्ष अक्षय सात रश्मियों से युक्त एक अश्व, आद्य देवता है, क्योंकि वही प्राण, प्रकाश और ऊष्मा का स्रोत है । उसके सात गतिशील चक्र हैं । काल ही समस्त जीव-सृष्टि का सर्जक है, पुनः वही सबका विनाशक मृत्यु है इत्यादि ।[10] अर्थात् काल ही वह परमतत्त्व है जिसमें से सबका निर्माण हुआ है, जिसमें सब की स्थिति है, जिसके कारण सबकी सत्ता है । वस्तुतः वही सर्वेश्वर ब्रह्म है, और अनंत है ।[11]

स्पष्ट है कि अथर्ववेद का यह 'काल' 'समय' का पर्यायवाची न होकर ब्रह्म का पर्यायवाची है । कतिपय उपनिषदों,[12] महाभारत एवं पुराणों में और कुछ विशेष रूप में तंत्रों में काल के इस ब्रह्मस्वरूप का निरूपण हुआ है । उपनिषदों का ब्रह्मवेत्ता यम और भयरूप ब्रह्म व परमतत्त्व मृत्यु, तंत्रों के महाकाल एवं महाकाली और भाग्यवाद अथर्ववेद के 'काल' की विभिन्न परणतियाँ प्रतीत होती हैं ।

(3) **रोहित**—अथर्ववेद के त्रयोदश कांड में रोहित का जो निरूपण हुआ है, उसके अनुसार वह सूर्य अथवा सूर्यस्थ वीर्य का द्योतक है । जगत् की रचना एवं उसके समस्त व्यापारों का वह संचालक है । यज्ञ एवं समस्त जगत् का वह निर्माता है । वही जगत् का अधिष्ठान है, अर्थात् ब्रह्म स्वरूप है ।

(4) **स्कम्भ**—जगत् के समस्त पदार्थों का आश्रय एवं अधिष्ठान होने के कारण परमतत्त्व को स्कम्भ (आधार) की संज्ञा दी गई है । वह न केवल विश्व का प्रत्युत ब्रह्म का भी कारण है, अतः उसे ज्येष्ठ ब्रह्म कहा गया है । भूमि, अंतरिक्ष और आकाश उसमें समाहित हैं, अग्नि, चंद्र, सूर्य तथा वायु उसमें अर्पित होकर रहते हैं (दे० अथर्ववेद 10/7/12) । यह स्कम्भ ब्रह्म का पर्यायरूप है—

भूतं च यत्र भव्यं च सर्वेलोकाः प्रतिष्ठिता ।
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ।। अथर्व० 10/7/22

अर्थात्—जो भूत, भव्य और समस्त लोकों के आधार-स्कम्भ—को जानते हैं, वे ही ब्रह्म को जानते हैं ।

(5) **उच्छिष्ट**—इसका शाब्दिक अर्थ है : बचा हुआ, शेष पदार्थ अथवा अवशिष्ट अंश । सामान्यतः यज्ञ शेष अर्थात् हवन के पूर्ण होने पर अवशिष्ट रहे हविष् या प्राशन के लिए रखे गए ओदन को उच्छिष्ट कहा जाता था । किंतु

यहाँ उच्छिष्ट का तात्पर्य सृष्टि—प्रलय के बाद अवशिष्ट रहनेवाला परमतत्व है । यही सृष्टि का आदि कारण भी है । अतः कहा गया है कि—

उच्छिष्टे नाम रूपं चोच्छिष्टे लोक आहितः ।
उच्छिष्ट इंद्रश्चाग्निश्च विश्वमन्तः समाहितम् ।।

अर्थात्— उच्छिष्ट से ही नाम-रूप, इंद्र, अग्नि और समस्त लोकों का सृजन हुआ है । सभी देव उसी से उत्पन्न हुए हैं और समस्त लोक एवं देव उसी में समाहित हैं ।

न केवल जगत् के समस्त पदार्थों की उत्पत्ति, प्रत्युत वेद और पुराण की उत्पत्ति (अथर्व० 11/7/24); प्राण, अपान, चक्षु-श्रोत्र आदि की उत्पत्ति (अथर्व० 11/7/15) भी उच्छिष्ट से हुई हैं, और कहा गया है कि—

यच्च प्राणति प्राणेन यच्च पश्यति चक्षुषा ।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रिताः ।। अथर्व० 11/7/23

(6) ब्रह्म—जैसा हम देख चुके हैं ऋग्वेद[13] में ब्रह्म एवं ब्रह्मन् आदि शब्दों का प्रयोग स्तुति, मंत्र, प्रार्थना एवं याज्ञिक कर्म आदि अर्थों में हुआ है, और इनसे सम्बद्ध व्यक्तियों को ब्राह्मण कहा गया है ।

वेदांतीय अथवा औपनिषदिक् 'ब्रह्म' के अर्थ में ब्रह्म शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम ब्रह्मवेद (अथर्ववेद) में हुआ है—

यत्र देवा ब्रह्मविदो ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते ।।
यस्यभूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम् ।
दिवं यश्चक्रे भूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ।।
अथर्व 17/7/24 अथर्व० 10/7/32

हमारे विचार से उपनिषदोक्त ब्रह्म का इतिहास अथर्ववेदोक्त 'यक्ष' से लिखा जाना चाहिए, जिसे देहरूपी पुर में स्थित होने से पुरुष और विश्वव्यापी होने से ब्रह्म कहा गया—

महद् यक्षं भुवनस्य मध्ये ।। अथर्व० 10/7/38
पुरं यो ब्रह्मणो वेद । यस्याः पुरुष उच्यते ।। अथर्व० 10/2/28
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः ।।
वही 10/2/31-32

अथर्ववेद का यह ब्रह्म उपनिषदों की सर्वव्यापी सूत्रात्मा के समान है—

या विद्यात् सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः ।
सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स विद्यात् ब्राह्मणं महत् ।।[14]

अर्थात् जिसमें ये समस्त प्राणी पिरोए हुए हैं, उस विस्तुत सूत्र को और उस सूत्र के भी कारणरूप सूत्र को जो जानता है वही उस महत् ब्रह्म को जानता है ।

इदं जनासो विदथ महद् ब्रह्म वदिष्यति।
न तत् पृथिव्यां नो दिवि येन प्राणन्ति वीरुधः।
ब्रह्मापरं युज्यतां ब्रह्मपूर्वं ब्रह्मान्ततो मध्यतो ब्रह्म सर्वतः ॥[15]

अर्थात्—जिससे वनस्पति एवं प्राणी अपने-अपने प्राण को धारण करते हैं, वह ब्रह्म न केवल पृथिवी और द्युलोक में ही प्रत्युत सर्वत्र परिपूर्ण है। आगे, पीछे, मध्य और अंत में सर्वत्र ब्रह्म परिव्याप्त है। समस्त (ऋग्वैदिक) देवता उसमें उसी प्रकार समाहित हैं, जैसे गौशाला में गायें होती हैं—सर्वाह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते। (अथर्व० 11/8/32)

(7) **पुरुष**—'पुरि शेते इति पुरुषः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार पुर अर्थात शरीर में जो शयन करता है वह पुरुष है—शरीराश्रयणं प्राप्तास्ततः पुरुष उच्यते (म०, भा० शान्तिपर्व 232/11)। सर्वव्यापी चेतना के मोटे तौर पर दो आश्रय =शरीर= माने गए हैं—(1) ब्रह्मांड और (2) पिंड। ब्रह्मांड व्यापी चैतन्य ही बृहद होने से ब्रह्म है, और पिंडव्यापी ब्रह्म ही, आश्रय-भेद से आत्मा है, दोनों में मठाकाश व घटाकाश के जैसा साम्य है। जैसा ऐक्यमूलक साम्य ब्रह्म व आत्मा का है, वैसा ही उनके आश्रयभूत ब्रह्मांड एवं पिंड का भी है। आत्मवादियों की यह सर्व सामान्य मान्यता है, जिसे वे अपने-अपने ढंग से प्रस्तुत करते हैं।

ऋग्वेद और अथर्ववेद – दोनों के 'पुरुषसूक्तों' में विराट् पुरुष का निरूपण कुछ हेर-फेर के साथ किया गया है, किंतु अथर्ववेद की स्पष्ट धारणा हैं कि व्यक्ति अपनी साधना द्वारा केवल पिंड और पिंडस्थ आत्मा—पुरुष का ही सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर सकता है। जैसा ऊपर कहा गया है ब्रह्मांड और पिंड तथा ब्रह्म (विराट् पुरुष) और आत्मा (पुरुष) का स्वरूपगत साम्य है। अतः पिंडज्ञान ही ब्रह्मांड ज्ञान है, आत्मविद् ही ब्रह्मविद् है और आत्मज्ञान ब्रह्मज्ञान है—

पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्चते। अथर्व० 10/2/28

जो पुर स्वरूप इस शरीर को अच्छी-तरह जानता है, वही पुरुष कहलाता है।

पुंडरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् ब्रह्मविदो विदुः ॥ अथर्व० 10/8/43

अर्थात्—इस नव द्वार युक्त त्रिगुणात्मक शरीर में जो आत्मा की तरह 'यक्ष' बैठा है उसे ब्रह्मवेत्ता ही जानते है।

वेदाहं सूत्रं वितते यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः।
सूत्रं सूत्रस्याहं वेदाथो यद् ब्राह्मणं महत् ॥ अथर्व० 10/8/38

अर्थात्—जिसमें समस्त प्रजाएँ अनुस्यूत हैं उस विस्तृत सूत्र और उसके कारण का भी मैं ज्ञाता हूँ। वही महद्ब्रह्म है।

अथर्ववेद (10/8/44) में उक्त पुरुष के गुण-धर्मों के विषय में कहा गया है कि वह निष्काम, धीर, अमर, स्वयंभू, रस से तृप्त और पूर्ण (सर्व समर्थ) है । अतः उस धीर, अजर, युवा आत्मा को जानकर विद्वान मृत्यु के भय से मुक्त हो जाता है ।

अथर्ववेद (10/7/17) में कहा गया है कि जो इस पुरुष रूप (अंतस्थ) ब्रह्म को जानते हैं, वे परमेष्ठी को जानते हैं, जो परमेष्ठी को जानते हैं वे प्रजापति और ज्येष्ठ ब्रह्म को जानते हैं, तथा वे स्कम्भ को भी जानते हैं । इसका तात्पर्य यह हुआ कि पुरुष, ब्रह्म, परमेष्ठी, प्रजापति, ज्येष्ठ ब्रह्म और स्कम्भ आदि एक ही सत्ता के विविध नाम हैं ।

स्पष्ट है कि अथर्ववेद के तत्त्वचिंतन में सृष्टि के कारणभूत तत्व को पारमार्थिक सत्य मानकर उसकी प्राप्ति के लिए ब्रह्मांड की रचना से तथा पिंड के जन्म से पूर्व की स्थिति को आदर्श स्थिति माना गया है । निश्चय ही इस स्थिति या उस कारणभूत पारमार्थिक सत्य को संहृति द्वारा ही पाया जा सकता है । फलतः सृष्टि उपेक्षणीय है और संहृति साध्य है । यह कथन आगे के अध्यायों में अधिक स्पष्ट हो सकेगा ।

(8) **साधना**—आत्मज्ञान अथवा आत्मसाक्षात्कार हेतु साधन के विषय में कहा गया है कि—यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।। (अथर्ववेद 19/43/8)

अर्थात्—ब्रह्मविद् विद्वान् तप और दीक्षा से वहाँ पहुँचते हैं । इस तप और दीक्षा के साथ-साथ ब्रह्मचर्य एवं श्रम का भी विधान है—

ब्रह्मचारी······श्रमेण लोकंस्तपसा पियन्ति ।। अथर्व० 11/5/4
ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत ।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्य स्वराभरत ।। अथर्व० 11/5/19

अर्थात्—ब्रह्मचारी श्रम और तप से युक्त जीवन द्वारा ही लोक का पालन (हित) करता है । ब्रह्मचर्य और तप से ही देवता (विद्वान) मृत्यु को दूर कर देते हैं । ब्रह्मचर्य से ही इंद्र देवताओं को सुख से भर देता है । (अथवा—ब्रह्मचर्य द्वारा ही व्यक्ति अपनी इंद्रियों को सबल और कल्याणोन्मुख बनाने में समर्थ होता है ।[16]

अथर्ववेद का एक पूरा सूक्त (11/5) ब्रह्मचर्य की प्रशास्ति में रचा गया है । जिसमें कहा गया है कि ब्रह्मचर्य और तप से ही राजा अपने राष्ट्र की रक्षा करता है, ब्रह्मचर्य से ही गुरु अपने ब्रह्मचारियों (शिष्यों) को अपने शिक्षण एवं निरीक्षण में लेने के योग्य बनता है— (अथर्व० 11/5/17), ब्रह्मचर्य से ही साधक उस प्रकाशमान ब्रह्म को धारण करने में समर्थ होता है, जिसमें समस्त देव समाहित हैं (अथर्व० 11/5/24) । ब्रह्मचारी ही यजापति और विराट को वश में करनेवाला होता है (अथर्व० 11/5/16) ।

ब्रह्मचारी को गुरु द्वारा दीक्षा दी जाती है (अथर्व० 11/5/3), ब्रह्मचारी मृगचर्म धारण करता हैं और मुँडन नहीं कराता (अथर्व 11/5/6), वह समिधा (ईंधन) एकत्रित करता है (अथर्व 11/5/4, 6), ओर भिक्षाटन भी करता है—

इमाँ भूमि पृथिवीं ब्रह्मचारी भिक्षामा जभार प्रथमो दिवं च ।
ते कृत्वा समिधावुपास्ते तयोरार्पिता भुवनानि विश्वा ।।

अथर्व० 11/5/9

ब्रह्मचारी ज्ञानार्जन करता था, असंयमित आचरण के लिए उसे प्रायश्चित करता होता था ।

कहना न होगा भिक्षा, दीक्षा, तप एवं श्रम से संयुक्त यह ब्रह्मचर्य तपोनिष्ठ साधकों के अधिक उपयुक्त है, और वेदाध्ययन तथा वर्णानुकूल कर्म-कौशल के लिए, गुरु-गृह-वासिन् होकर, शिक्षा प्राप्त करने अर्थात् परवर्ती गृहस्थाश्रम के उपयुक्त शिक्षा प्राप्त करने के उद्देश्यवाले ऋग्वैदिक आर्यों के ब्रह्मचर्य से विशिष्ट है । गुरु-दीक्षा को यहाँ पुनर्जन्म की संज्ञा दी गई है, जिसमें गुरु अपने शिष्य को नया नाम देता है और उसके पिता-तुल्य होता है ।

उपर्युक्त कथनों में इस ब्रह्मचर्य के साथ प्रयुक्त हुए तप एवं श्रम शब्दों का तात्पर्य हमारे विचार से योग-साधना एवं उसके उपकारक यम, नियम आदि हैं । प्रथम अध्याय में एकव्रात्य का परिचय देते समय हम यह चुके हैं कि हठयोग की प्राण साधना का सर्वप्रथम उल्लेख अथर्ववेद में मिलता है । श्रमण परम्परा में 'श्रम' का अर्थ 'तप' लिया गया है, अतः तप और श्रम पर्यायरूप हैं, और दोनों का संयुक्त तात्पर्य सांगोपांग यौगिक साधना हो सकता है । उल्लेख्य होगा कि ऋग्वेद में प्रयुक्त 'तप' शब्द का अर्थ तपस्या न होकर तीव्र तेज, संताप या दाह होता है । कतिपय विद्वानों का विचार है कि श्रमण परम्परा का 'तप' शब्द आष्ट्रिक 'तेपु' अथवा 'तबु' शब्द का पर्याय है और उसका मूल अर्थ 'त्याग' अथवा 'निषेध' था । यह भी अनुमान किया गया है कि आष्ट्रिक 'तेपु' या 'तबु' शब्द पालीशियन 'टेबू' से बना है । जो हो, इतना निश्चित है कि योग और तप अवैदिक मूल की साधना है, और उसका लिखित प्रमाण सर्वप्रथम अथर्ववेद में मिलता है । आध्यात्मिक चिंतन के विषय में भी यही बात कही जा सकती है ।

उल्लेख्य होगा कि योग साधना के परवर्ती साहित्य में जिन्हें यम-नियम कहा गया है उनकी एक प्राचीन संज्ञा 'व्रत' थी । अथर्ववेद में योग साधना के उपयुक्त न केवल अपने शरीर, इंद्रिय और मन के ध्यान (दे० अथर्व० 6/45/1) और मनोमारण (दे० अथर्व० 6/18/2) आदि का उल्लेख है, प्रत्युत सत्यनिष्ठा (दे० अथर्व० 10/8/19-20 और 10/5/22), अहिंसा (अथर्व० 10/9/29), मांसाहार की निंदा (अथर्व० 8/6/23), मैत्रीभाव (अथर्व० 19/15/5-6) सत्संग (अथर्व० 10/7/24), मृदुभाषण (अथर्व० 1/34/2-3), इंद्रिय-संयम

(अथर्व० 19/51/1) एवं इंद्रिय-निग्रह (अथर्व० 19/9/3-5) आदि उन अधिकांश बातों के विधान हैं जो आगे चलकर योग की अंतर्मुखी वैयक्तिक साधना के यम-नियम, जैनों के व्रत, तप एवं संयम और बौद्ध साधकों के बोधिपक्षीय धर्मों में स्वीकृत हुई हैं।

(2) वाममार्ग

यद्यपि ऋग्वेद (10/184/1-3) में गर्भाधान को सम्भव बनाने, उसका पोषण करने और दश माह बाद उसके प्रसव को सरल बनाने की देव-स्तुति है। एक अन्य कथन (ऋ० 5/7/8-7) में भी ऐसी ही देव-स्तुति है, तथापि यहाँ प्रजनन क्रिया के साथ दार्शनिकता का कोई आभास नहीं मिलता। इसके विपरीत अथर्व-वेद (9/27/10) में कहा गया है कि (चंद्रलोक से आकर) जीव किरणों के द्वारा मनुष्य के वीर्य में प्रवेश कर जाते हैं —अस्मिंश्चंद्रे अधियद्धिरण्यं तेनायं कृणवत् वीर्याणि। अथर्ववेद (14/2/1-58) में नर, नारी के संभोग का जो चित्रण है, उसमें यद्यपि पुत्र-प्राप्ति के लक्ष्य का विधान है, तथापि जिस विस्तार और माहात्म्य के साथ ऐसा किया गया है, उससे इसके वाममार्ग (आनंदमार्ग) से सम्बद्ध होने का आभास मिलता है।

(क) **संन्यास**—अथर्ववेद (9/5/17) में आया है कि—

येना सहस्रं वहसि येनाग्ने सर्व वेदसन्।
तेनेमं यज्ञं नो वह स्वर्देवेषु गंतवे॥

अर्थात हे अग्नि! जिस गृहस्थ को सहस्रों लोग अपनाए हुए हैं, उसे त्याग कर हम देवों में प्रवेश करने के लिए तत्पर होते हैं।

(ख) **वेद-विरोध**—कहना न होगा कि अथर्ववेद स्वयं एक वेद है, और जैसा हम देख चुके हैं, उसमें आर्यों के कतिपय धार्मिक विश्वासों को स्वीकार भी किया गया है। ध्यातव्य है कि उसमें निरूपित धार्मिक विश्वास भले ही ऋग्वैदिक धर्म से प्राचीन माने जाएँ, वह स्वयं निर्विवाद रूप से ऋग्वेद के बाद की रचना है। एक परम्परा की अवधारणा के अनुसार तो यज्ञ की व्याख्या प्रथम तीन वेदों की त्रयी से ही हो सकती है,[17] अथर्ववेद यज्ञ क्रिया के लिए अनुपयुक्त है।[18]

अर्थात् उसका वेदत्व ही विवादग्रस्त है। किंतु दूसरी ओर अथर्ववेद का कथन है कि—

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्।
सामानि यस्य लोमानि अथर्वांगिरसो मुखम्॥ अथर्व० 10/4/20

अर्थात्—ऋक्, यजु और साम जिसके अन्यान्य अंग हैं, अथर्ववेद उस (विराट् पुरुष) का मुख है। अर्थात् वही सर्वश्रेष्ठ है।

अथर्ववेद के एकमात्र ब्राह्मण ग्रंथ गोपथ ब्राह्मण (1/9; 3/4) में भी कहा

गया है कि ब्रह्मज्ञानियों के हृदय से, तप के प्रभावस्वरूप उत्पन्न होने से अथर्ववेद में अन्य वेदों का सार निहित है, अतः वह सर्वश्रेष्ठ है—

श्रेष्ठो हि वेतस्तपसोऽधिजातो, ब्रह्मज्ञानं हृदये संबभूत । 1/9
एतद्वै भूयिष्ठं ब्रह्मा यद् भृग्वंगिरसः ।
येऽङ्गिरसः स रसः । येऽथर्वाणस्तद् भैषजम् ।
यद् भैषजम् तदमृतम् । यदमृतं तद् ब्रह्म ।। 3/4

कहना न होगा कि अथर्ववेद के सर्वश्रेष्ठ वेद होने से सम्बन्धित यह मान्यता साम्प्रदायिक है ।

(ग) **यज्ञ-विरोध**—अथर्ववेद में यज्ञ का विधान है, किंतु साथ ही मानसिक यज्ञ के प्रावधान द्वारा उसे इस धरती से अदृश्य कर देने की योजना भी सन्निहित है। चारों वेदों के ज्ञाता चार ऋत्विजों में से अथर्ववेद का ज्ञाता ऋत्विज 'ब्रह्मा' सर्वश्रेष्ठ माना गया है । यह 'ब्रह्मा' वस्तुतः मानसिक यज्ञ अथवा यज्ञ के 'रहस्य' का विशेषज्ञ होता था ।

गोपथ ब्राह्मण (3/2) का कथन है कि वेद-त्रयी द्वारा तो यज्ञ के एक (स्थूल) ही पक्ष का संस्कार होता है, ब्रह्मा मन के द्वारा उसके दूसरे (सूक्ष्म और श्रेष्ठ) पक्ष का संस्कार करता है—

स वा एष त्रिभिर्वेदैर्यज्ञस्यन्यन्तरःपक्षः संस्क्रियते ।
मनसैव ब्रह्मा यज्ञस्यान्यन्तरः पक्षं संस्करोति ।।

ऐतरेय ब्राह्मण (5/33) में भी यज्ञ के – वाक् तथा मन – दो पक्ष माने गए हैं । प्रथम का सम्पादन वेदत्रयी द्वारा और द्वितीय का 'ब्रह्मा' मन के द्वारा करता है ।

परवर्ती समस्त कर्म-त्यागियों ने उक्त मानसिक यज्ञ के श्रेष्ठत्व की स्थापना की, और इसी आधारभूमि पर बाह्यकर्मों की अपेक्षा मानसिक कर्मों की श्रेष्ठता का ढोल पीटकर अपनी अकर्मण्यता को ही सच्ची कर्मठता सिद्ध करने का प्रयास किया ।

(घ) **देवतावाद का विरोध** मेरे विचार से देवता ऐसा आदर्श पात्र होता है जिसके आचार एवं विचार परिणामतः समाज के लिए कल्याणकारी और व्यक्ति के लिए अनुकरणीय होते हैं । अतः एक व्यक्ति व समाज के जीवनादर्श को उसके देवता के स्वरूप के आधार-पर सरलता से समझा जा सकता है ।

जैसा हम देख चुके हैं, अथर्ववेद (10/8/44) का पुरुष, जैसा सर्वविदित है, उपनिषदों का ब्रह्म और जैनों व बौद्धों का आत्मतत्त्व या पारमार्थिक सत्य, समान रूप से सत्य, नित्य, ध्रुव अर्थात् स्थिर, गतिशून्य एवं क्रियाशून्य हैं । इस आदर्श को प्राप्त करने में निश्चय ही ऋग्वेद के कर्मठ-देवता उपकारक नहीं हो सकते । अतः देवताओं का स्थानांतरण इस रूप में किया गया —

गृहं कृत्वा मर्त्यः देवाः पुरुषमाविशन् ।
सर्वां ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते ।। अथर्व० 11/8/18,32

अर्थात्— पुरुष (साधक के शरीर) को स्थायी बनाकर देवता उसमें प्रविष्ट हुए और जैसे गाएँ अपने गोष्ठ में रहती हैं, वैसे रहने लगे—कहना व्यर्थ होगा कि इस स्थिति में साधक स्वयं ही देवाधिदेव या परब्रह्म हो जाएगा। इस विषय में प्रथम अध्याय में दिया गया एकव्रात्य का परिचय भी अवलोक्य होगा। अथर्ववेद (10/7/27) में देवताओं को एक अंगी परमात्मा (ब्रह्म) के अंग बताया गया है। इस प्रकार उनका स्वातंत्र्य समाप्त कर दिया गया है।

(ङ) **मंत्रवाद**—'मंत्र' का समावेश ऋग्वेद में भी है। किंतु ऋग्वेद के मंत्र यज्ञक्रिया में प्रयुक्त होनेवाले मंत्र, स्तोत्र या ऋचाएँ हैं। अथर्ववेद संभवतः सर्वप्रथम यह प्रतिपादित करता है कि मंत्र शब्दमात्र न होकर स्वयं एक शक्ति है। अतः बिना किसी श्रौत कर्म या याज्ञिक कर्म के भी उसका जप या प्रयोग करके इष्ट सिद्ध किया जा सकता है—

न तिथिर्न च न सत्रं न ग्रहो न च चन्द्रमाः।
अथर्वमन्त्र संप्राप्त्या सर्वसिद्धिर्भविष्यति ।। अथर्व० परि० 2/5

गोपथ ब्राह्मण (1/5/25) में भी यही बात दूसरे शब्दों में कहीं गई है—

याश्च ग्रामे याश्चारण्येजपन्ति मन्त्रन्नानार्थन् बहुधा जनासः ।
सर्वे ते यज्ञा अंगिरसोऽपियन्ति········· ।।

(च) **करुणा**—अथर्ववेद (2/34/3) में कहा गया है कि जो तेजस्वी लोग बंधनग्रस्त मनुष्य को अपने मन व चक्षु से करुणा की दृष्टि से देखते हैं, उन्हें ही प्रजा के साथ रमण करनेवाला तेजस्वी देव प्रथमतः विशेष रूप से मुक्त करता है"—

ये बाध्यमानमनुदीध्याना अन्वैक्षन्त मनसा चक्षुषा च ।
अग्निष्टानगे प्रभुभोक्तु देवो विश्वकर्मा प्रजया संरराणः ।।

तात्पर्य यह होगा कि यदि कोई सिद्धि-प्राप्त मुक्त-योगी किसी अन्य को धर्म-दीक्षा देता है, तो मानो वह उसे बंधनों से मुक्त करने की कृपा करता है। कहना न होगा, बौद्धों की बहुचर्चित करुणा का तात्त्विक स्वरूप भी यही है।

(छ) **चमत्कार**—ऋग्वेद (7/21/5, 10/99/3, 7/104 एवं 10/87) में ऐसे अनार्य यातुधान (जादूगर) और रक्षस् (दुष्टात्मा) के उल्लेख है, जो अपनी माया, जादू या मंत्र द्वारा पशुओं अथवा व्यक्तियों को बीमार कर सकते थे, या मार सकते थे। आर्य इनसे भयभीत रहते थे। ऋग्वेद में इनकी भरसक निंदा की गई है। वसिष्ठ (ऋ० 7/104/15-16) को यहाँ तक कहना पड़ा है कि यदि मैं अभिचार प्रयोग करने वाला होऊँ तो आज ही मर जाऊँ और अपने दस पुत्रों से

रहित हो जाऊँ; अन्यथा हे इंद्र ! तुम अपने तीक्ष्ण हथियारों से इन जादूगरों, जादूगरनियों और रक्षसों को टुकड़े-टुकड़े कर डालो। इसके विपरीत अथर्ववेद (5/2/8) में विश्व को भ्रमित या आश्चर्यचकित करने की क्षमता को तपस्वी का आवश्यक लक्षण माना गया है और कहा गया है कि वे सतत भ्रमणशील रहते हैं। यह हम चुके हैं कि मोहन, मारण, उच्चाटन आदि षट्कर्मों का उल्लेख सर्वप्रथम अथर्ववेद में हुआ है। मेरे विचार से इनका प्रयोग आतंक फैलाने और धर्म-प्रचार के साधन के रूप में भी किया जाता था।

(ज) **भेदभाव का विरोध**--आर्यजन संस्कारहीन अनार्यों को अपने समतुल्य नहीं मानते थे। उनके इस भेदभाव का विरोध अनार्यों द्वारा किया गया। अथर्ववेद (5/11/3) में आया है कि--

न मे दासो नार्यो महित्वा व्रतं मीमाय ।।

अर्थात्– मैं दास व आर्य का पार्थक्य न करके आचरण के आधार पर महत्त्व का निर्णय करता हूँ।

अथर्ववेद की इस उक्ति का तात्पर्य ऋग्वेद (1/51/8) की उस उक्ति के संदर्भ में समझना सरल होगा जिसमें कहा गया है कि हे इंद्र ! आर्य और दस्यु-नामों से अभिहित प्रजाओं को तुम पृथक्-पृथक् करके पहचानो···। अथर्ववेदोक्त धर्म बिना किसी भेदभाव के सर्व-सामान्य के लिए है, इस बात की पुष्टि एतद्विषयक आपतम्ब धर्मसूत्र के इस मंतव्य से भी होती है---

सा निष्ठा या विद्या स्त्रीषु शूद्रेषु च ।
आथर्वणस्य वेदस्य शेष इत्युपदिशन्ति ।।

कहना न होगा कि इसी भाव का विकास आगे चलकर वर्ण-विरोध एवं ब्राह्मण-विरोध के रूप में हुआ।

जो हो, स्थानाभाव के कारण इस विषय का अधिक विस्तार यहाँ संभव नहीं है अतः कुल मिलाकर प्रस्तुत लेखक 'शुक्रनीति सार' (4/3/39) केइस कथन से अपनी सहमति प्रकट करता है कि 'तंत्र अथर्ववेद के उपवेद हैं—अथर्वणां चोपवेदस्तन्त्ररूपः स एव हि ।।' अर्थात् अथर्ववेद अवैदिक मतों का मूल है।

अथर्ववेद के अनार्यत्व पर प्रथम अध्याय में बहुत कुछ कहा जा चुका है, प्रस्तुत विवेचन से भी स्पष्ट होता है कि वह या तो ऐसे विषयों को महत्त्व देता है जिनसे ऋग्वेद अपरिचित है या फिर ऐसे तत्त्वों को महत्त्व देता है जिनका ऋग्वेद में विरोध किया गया है। इस सम्बन्ध में एक अन्य उदाहरण पशुपति शिव या रुद्र का लिया जा सकता है। ऋग्वेद में 'शिव' का अर्थ कल्याणकारी है, वह देवतावाचक शब्द नहीं है। 'रुद्र' (ऋ० 4/3/6, 1/114/10) एक पशुहंता विनाशकारी देव है। (अथर्ववेद 12/34/1, 11/2) पशु की व्याख्या—द्विपद एवं चतुष्पद---समस्त प्राणी के रूप में करके रुद्र को पशुपति और सब ओर देखने

वाला 'सहस्राक्ष' आदि बताकर शिव अर्थात् कल्याणकारी देवता का रूप दे डालता है।

उपनिषदों में संभवतः केवल दो स्थानों पर अथर्ववेद को अन्य वेदों के साथ अपरा विद्या में माना गया है, अन्यथा सर्वत्र 'त्रयी' की ही निंदा की गई है। बौद्ध पालि त्रिपिटकों में केवल त्रयी की निंदा है। अथर्ववेद उनकी परम्परा से सम्बद्ध है। अथर्ववेद में सर्वप्रथम, बंगाल के जंगलों में प्राप्त व्याघ्र और राज्याभिषेक के अवसर पर राजा के व्याघ्रचर्म पर आसीन होने का उल्लेख है। इससे विद्वानों का अनुमान है कि उस समय वहाँ आर्य सभ्यता का प्रसार हो गया होगा। किंतु ऐतिह्य परिप्रेक्ष्य के संदर्भ में मेरे विचार से यह भी संभव है कि अथर्ववेद के रचयितागण आर्य संस्कृति का सदियों तक डटकर विरोध करनेवाले पूर्वी प्रदेश से सम्बद्ध भी रहे होंगे।

आरंयक—सायणाचार्य के कथनानुसार अरण्य में ही पाठ्य होने के कारण इन ग्रंथों को आरणयक नाम दिया गया है।[19] अर्थात्— निवृत्तिमय जीवन व्यतीत करनेवाले संयासियों, योग-साधकों, तत्त्वचिंतकों आदि के उपयुक्त विषय वस्तु के प्रतिपादक होने से इन्हें ऐसा अभिधान दिया गया है। यज्ञ-याग का अनुष्ठान इनका विषय न होकर, यज्ञ क्रिया के 'रहस्य' का उद्‌घाटन, उनके आध्यात्मिक स्वरूप एवं महत्त्व का प्रतिपादन आदि है। ऐतरेय आरण्यक (3/2/6) में कहा गया है कि किसलिए हम वेदों का अध्ययन करें, और किसलिए हम यज्ञ करें, हम तो प्राण की वाक् में और वाक् की प्राण में आहुति देते हैं। इससे प्रकट है कि सामान्य धार्मिक क्रियाओं को आध्यात्मिक संदर्भ में रहस्यात्मक द्रष्टांतों या रूपकों में प्रस्तुत करके उनकी भिन्न-भिन्न व्याखया करने की इनकी प्रमुख प्रवृत्ति है।

एक मान्यतानुसार आरण्यक उन संन्यस्त यति, मुनि या आरण्यक साधुओं के पाठ्य 'ब्राह्मण ग्रंथ' हैं जो अपना विद्याभ्यास पूरा कर लेने पर गृहस्थाश्रम में प्रवेश न करके आजीवन गुरु के साथ रहते थे और 'वैखानस' (बाद में वानप्रस्थ) कहे जाते थे।

इनके विभिन्न अध्यायों में धार्मिक क्रियाओं की रहस्यात्मक व्याखया रूपक, द्रष्टांत, आंतरिक यज्ञ, मानसिक कर्म आदि के विधान तथा इनके अभ्यास में तपस्या, यज्ञ (मानसिक) एवं ध्यान की स्वीकृति अंतर्मुखी साधकों के उपयुक्त हैं। इनके कतिपय अध्यायों में कुछ क्रियाओं को गुप्त रखने की कड़ी सूचनाएँ हैं। कुल मिलाकर देखने पर इनके गूढ़ उपदेश एकांत साधकों के लिए गुरुमुखैकगम्य हैं। सामान्य धार्मिक क्रियाओं के संगत-असंगत रूपक उनके गूढ़ आशय के लिए आवरण रूप प्रतीत होते हैं।

तैत्तिरीय आरण्यक के प्रारम्भिक अनुवाकों में पारमार्थिक सत्ता के रूप में 'काल' का वर्णन उसके भेदोपभदों के साथ विस्तारपूर्वक किया गया है। आरण्यकों का प्रमुख प्रतिपाद्य 'प्राण-विद्या' है। ऐतरेय आरण्यक (2/1-6) में प्राण को न

केवल समस्त इंद्रियों से श्रेष्ठ बताया गया है, प्रत्युत जगदाधार बताते हुए कहा गया है कि—प्राण की शक्ति से ही आकाश अपने स्थान पर स्थिर है, बड़ से बड़ प्राणी से लेकर चींटी तक समस्त प्राणियों का जीवन प्राण द्वारा विधृत है (ऐ० आरण्यक 2/1/6) । प्राण समस्त जगत् को आवृत किए हुए हैं—"सर्वं हीदं प्राणेनावृत्तम् ।" प्राण ही जगत् का धारक व रक्षक है । अंतरिक्ष एवं वायु की सृष्टि प्राण से हुई है, अतः वे दोनों आज्ञाकारी पुत्रवत् अपने जनक 'प्राण' की सेवा में प्रवृत्त रहते हैं । यथा--अंतरिक्ष का अनुसरण करके ही प्राणी संचरण करते हैं, दूरस्थ शब्दों को सुना जाता है, और वायु सुगंध का वहन करके प्राणों को तृप्त करता है । (ऐत० आरण्यक)

'काल' के रूप में प्राण की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि प्राण ही दिन है और अपान ही रात्रि है, अतः प्राण का ध्यान 'अहोरात्र' के रूप में करना चाहिए । ध्यान के लिए प्राण के विभिन्न गणों का विधान है, जो जिस या जिन गुणों से युक्त प्राण का ध्यान करता है वह तत्तद्रूप को प्राप्त होता है ।

प्राण देवताओं का भी आश्रय है । वाक् में अग्नि, चक्षु में सूर्य, मन में चंद्रमा और श्रोत्र में दिशा रूप देवताओं का वास है । प्राण में इन सब देवों की भावना करनी चाहिए—(ऐ० आ० 103-104) । अन्य उक्तियों में गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, भरद्वाज एवं वसिष्ठ आदि वैदिक ऋषियों के नामों के ऐसे निर्वचन दिए गए हैं जिनसे सबका अर्थ 'प्राण' होता है । इसी आरण्यक (2/2/10) में यहाँ तक कहा गया है कि—

सर्वा ऋचः सर्वे वेदाः सर्वे घोषा एकैव व्याहृतिः प्राण एव प्राण ऋच इत्येव विद्यात् ॥

अर्थात् समस्त ऋचाएँ, समस्त वेद, समस्त घोष एक प्राण के ही विभिन्न रूप हैं । प्राण की इन सब रूपों में उपासना करनी चाहिए ।

कहना न होगा कि योग की अंतर्मुखी साधना के संदर्भ में प्राण व अपान का प्राचीन उल्लेख अथर्ववेद में है, और परवर्ती विकास उपनिषदों तथा अन्य यौगिक परम्पराओं में । विशेष रूप से तांत्रिक तत्त्व-चिंतन और यौगिक साधना का मुख्य आधार प्राण व अपान का पारस्परिक आकर्षण एवं प्रत्याकर्षण तथा दोनों का समीकरण ही है । आरण्यकों के अन्य विषय लगभग वे ही हैं जिनका समावेश उपनिषदों में पाया जाता है ।[20] अतः हम आगे उपनिषदों को लेते हैं । किंतु उससे पूर्व इतना स्पष्टीकरण आवश्यक है कि आरण्यकों में ऐकांतिक रूप से अवैदिक तत्त्वों का समावेश नहीं हैं, वैदिकों के प्रवृत्तिमार्ग के उपयुक्त भी बहुत-सी बातें उनमें पाई जाती हैं ।

(3)उपनिषद्

'उप' तथा 'नि' उपसर्गक 'सद्' धातु में 'क्विप' प्रत्यय के योग से उपनिषद् शब्द

की नष्पत्ति होती है । 'उप' का अर्थ है 'निकट' और 'नि' का अर्थ है लाकर अथवा आकर और 'सद्' का अर्थ है 'बैठना' अर्थात् (गुरु) के निकट आकर बैठना । इस प्रकार उपनिषद् का शब्दार्थ होता है—गुरु के विशेष निकट आकर बैठना, गुरु-शिष्य का संवाद, गुरुमुखैकगम्य रहस्यमय उपदेश, गूढ़-ज्ञान, गुरु-शिष्य की संगोष्ठी इत्यादि । किंतु दूसरी ओर 'सद्' धातु के अन्य अर्थ हैं विशरण (नष्ट करना, काटना), गति (पाना), और अवसादन (शिथिल करना) । इन अर्थों की सगति बिठाते हुए आचार्य शंकर लिखते हैं कि— उसके (मुमुक्षु के) अविद्या आदि संसार के बीज का विशरण—हिंसन्—अर्थात् विनाश के कारण—इस अर्थ के योग से ही उपनिषद् शब्द से यह विद्या (ब्रह्मविद्या) कही जाती है । दूसरे, ब्रह्म के पास पहुँचाने वाली होने के कारण—इस अर्थ के योग से भी ब्रह्मविद्या उपनिषद् है, और तीसरे, पुनः-पुनः प्राप्त होनेवाले गर्भवास, जन्म और वृद्धावस्था आदि उपद्रव समूह का अवसादन अर्थात् शैथिल्य करने वाली है,...... इस अर्थ के योग से 'उपनिषद्' कही जाती है ।[21]

श्वेता० उप० (5/6) में उपनिषद् को वेदों का गुह्यभाग कहा गया है, और उसे वेदांत अभिधान देते हुए 'परमं गुह्यम्' (श्वेता० 6/22) भी कहा गया है । अन्यत्र भी उपनिषद् को 'गुह्यादेश' (छा० उप० 2/2/5) एवं 'परमगुह्यम्' (कठ० उप० 3/17) कहा गया है । इन समस्त मान्यताओं का कुछ सरल बुद्धि से अवलोकन करने पर निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं—

1. 'परम गुह्य' या गुरुमुखैकगम्य होने का तात्पर्य यह होगा कि यह ज्ञान सामान्यजनोपयोगी न होकर विशिष्ट अधिकारियों के ही उपयुक्त है ।
2. उपनिषत्कारों ने अविद्या का अर्थ संसार और सांसारिकता (संसार-विषयक समस्त ज्ञान-विज्ञान एवं क्रिया-कलाप) किया है । अतः इस अविद्या के विशरण का तात्पर्य होगा संसार और सांसारिकता का मूलोच्छेद — सर्वनाश ।
3. 'वेद' शब्द के यों तो अपने-अपने मतानुकूल अनेक अर्थ किए गए हैं किंतु वेद का मूलभूत तात्पर्य है 'कर्म' और वेदांत का अर्थ होगा 'कर्मकांड' (कर्ममार्ग, कर्मनिष्ठा) का 'अन्त' अर्थात् नैष्कर्म्य ।

ये सारी बातें हमारे आगे के विवरण (एवं आगामी अध्यायों) से स्पष्ट होता रहेंगी, यहाँ हम अपने विषय का प्रारम्भ प्रमुख ब्रह्मवेत्ताओं के परिचय से करते हैं ।

प्रमुख ब्रह्मवेत्ता

यहाँ ब्रह्मवेत्ताओं में अग्रगण्य महीदास ऐतरेय, उद्दालक आरुणि, वरुण, याज्ञवल्क्य, राजा जनक, अश्वपति, प्रवाहण प्रभृति का संक्षिप्त परिचय इनके अनार्यत्व को लक्षित करने के लिए दिया जा रहा है ।

(1) **महीदास ऐतरेय**—इनके वैयक्तिक जीवन के विषय में इतना ही ज्ञात होता है कि ये किसी ऋषि की 'इतरा' नामक वर्णेतर पत्नी से उत्पन्न हुए थे। इनके पिता का इनके प्रति वैसा वात्सल्यभाव नहीं था जैसा अपनी वैध पत्नियों की संतानों के प्रति था। मातृवंश के आधार पर ये इतरा के पुत्र होने के नाते 'ऐतरेय' कहे गए। इनकी आयु 116 वर्ष की बताई जाती है, जिसमें से 24 साल की उम्र तक ये विद्यार्थी रहे। बाद के 44 वर्ष गृहस्थ के रूप में और शेष 48 वर्ष अरण्य-वासी के रूप में बिताए।

ऐतरेय ब्राह्मण, ऐतरेय आरण्यक, ऐतरेय उपनिषद् आदि का नामकरण इन्हीं के नाम के आधार पर हुआ है। संभव है ये सभी ग्रंथ उनके स्वयं के द्वारा नहीं किंतु इनकी शिष्य-परम्परा द्वारा लिखे गए हों। 'प्रज्ञानं ब्रह्म' यह महावाक्य इन्हीं का है। डॉ० बेनीमाधव बरुआ ने इनको परवर्ती प्रायः सभी भारतीय तत्त्व-चिंतकों का मार्ग प्रशस्त करनेवाला और भारतीय दर्शन का जनक कहा है।[23]

इनके नाम में प्रयुक्त 'दास' शब्द और मातृवंश-परम्परा के आधार पर इनका 'ऐतरेय' कहा जाना यह सिद्ध करता है कि ये अनार्य रहे होंगे। सामान्यतः इन्हें दासीपुत्र के रूप में ही देखा जाता है, जिसका अर्थ होगा ऋग्वेदोक्त 'दास' प्रजाति से सम्बद्ध।

(2) **उद्दालक आरुणि**—अरुण के पुत्र होने से उद्दालक 'आरुणि' कहे गए। अपने गुरु धौम्य के आदेशानुसार जब ये खेत से बाहर निकलते पानी को अन्य उपायों से रोकने में असफल रहे तो रिसाव की जगह स्वयं ही लेट गए और इस प्रकार पानी को रोकने में सफल हुए, अतः उद्दालक कहे गए। कुछ समय ये गृहस्थ भी रहे। श्वेतकेतु एवं नचिकेता इनके पुत्र थे, पुत्री का नाम सुजाता था।

हम यह देख चुके हैं कि मगधदेशीय व्रात्यों में धर्मोपदेशकों को मागध ब्राह्मण या ब्रह्मबंधु कहा जाता था। आरुणि अपने पुत्र श्वेतकेतु से कहते हैं—हे श्वेत-केतु! तू ब्रह्मचर्यवास कर, क्योंकि हे सौम्य! हमारे कुल में उत्पन्न हुआ कोई भी पुरुष अध्ययन न करके ब्रह्मबंधु-सा नहीं होता (छा० उप० 6/1)। यद्यपि इस उक्ति में आरुणि ने स्वयं को अशिक्षित रहनेवाले ब्रह्मबंधुओं से पृथक् बताया है, किंतु इनके आचार-विचार एवं वस्तुस्थिति को देखते हुए वे ब्रह्मनिष्ठ होने से ही स्वयं को ब्राह्मण कहते प्रतीत होते हैं, वस्तुतः वे पढ़े-लिखे (ब्रह्मनिष्ठ) ब्रह्मबंधु ही रहे होंगे।

उल्लेख्य है कि पांचाल नरेश प्रवाहण जैवलि (जीवल के पुत्र) से उद्दालक आरुणि और उनके पुत्र श्वेतकेतु—दोनों ने पंचाग्नि विद्या सीखी थी (बृ० उप० 6/2)। इसी संदर्भ में प्रवाहण ने कहा था हे गौतम! इससे पूर्व यह विद्या (ब्रह्मज्ञान) किसी ब्राह्मण के यहाँ नहीं रही। उसे मैं तुम्हारे ही प्रति कहता हूँ— (बृ० उप० 6/2/8)। छांदोग्य उपनिषद् (5/11-18) के अनुसार उद्दालक ने केकय राजकुमार अश्वपति से वैश्वानर संज्ञक आत्मा का ज्ञान प्राप्त किया। कौषीतकि उपनिषद् (1/1) के अनुसार इन्होंने चित्र गार्ग्यायणि (राजर्षि ?) से

भी ज्ञान प्राप्त किया था। वृहदारण्यकोपनिषद (3/7/1) में निरूपित उद्दालक-याज्ञवल्क्य सम्वाद में इन्होंने भद्र (स्यालकोट, गुजराँवाला क्षेत्र, पंजाब) देश में पतंजल काप्य के पास जाकर स्वयं से यज्ञ-विद्या सीखने का उल्लेख किया है।

उक्त उल्लेखों से जहाँ एक ओर इनकी असाधारण ज्ञान-पिपासा का ज्ञान होता है, वहीं दूसरी ओर यह कि ये चलते-फिरते रहनेवाले ब्रह्मनिष्ठ थे, जिन्हें उन दिनों चरक (वृ० उ० 3/3/1) कहा जाता था। छांदोग्य० (6/8-10) में अपने पुत्र श्वेतकेतु के प्रति उपदिष्ट 'तत्त्वमसि' महावाक्य इन्हीं का है।

कहा जाता है कि ये याज्ञवल्क्य के भी गुरु थे। किंतु दूसरी ओर वृ० उप० (3/7/1-23) में निरूपित सम्वाद में इन्हें याज्ञवल्क्य से पराजित हुआ बताया गया है।

(3) **वरुण**—ऋग्वेद के देवता 'वरुण' से ये भिन्न हैं। 'वरुण' के प्रति किए गए यज्ञ की अग्नि से उत्पन्न होने के कारण इन्हें वरुण-पुत्र या वारुणि कहा गया है। इन्होंने अपने पुत्र भृगु के प्रति पंचकोशों और उनके मूल या कारणरूप-सत्य और ज्ञान एवं आनंदमय ब्रह्म का उपदेश किया है। इनका सम्बन्ध कृष्ण यजुर्वेद परम्परा से माना गया है। यद्यपि तैत्तिरीय शाखा को कुछ विद्वान अवैदिक मानते हैं, किंतु तैत्तिरीय उपनिषद में प्रवृत्ति-मूलक वैदिक धर्म के अनुरूप बातों का समावेश अपेक्षाकृत अधिक हुआ पाया जाता है।

(4) **याज्ञवल्क्य**—एक मान्यतानुसार याज्ञवल्क्य मिथिला नगरी के देवरात नामक ब्राह्मण के पुत्र थे, जिन्हें असाधारण अन्नदान करने के कारण 'वाजसनि' कहा जाता था। ऐतरेय ब्राह्मण (7/3/16-18) की आख्यायिका के अनुसार राजा हरिश्चंद्र ने अपने पुत्र रोहित के बदले में, यज्ञ में बलि देने के लिए, आंगिरस गोत्रीय सुवयस के पुत्र अजीगर्त से उसके पुत्र शुनःशेप को तीन सौ गायों के बदले खरीदा था। उस यज्ञ में पुरोहित होने के नाते स्वयं अजीगर्त को ही शुनःशेप का वध करना था। किंतु यज्ञ के 'होता' विश्वामित्र ने अपनी युक्ति से शुनःशेप को बचा लिया और उसे दत्तक लेकर उसका नाम देवरात रखा और अपने सौ पुत्रों को उसका नेतृत्व स्वीकारने की आज्ञा दी, जिसे उनके छोटे पचास पुत्रों ने माना और वे वैश्वामित्र-देवरात हो गए। सम्भव है याज्ञवल्क्य के पिता देवरात देवरातों की इसी परम्परा से सम्बद्ध रहे हों। हरिवंश पुराण (1/32) आदि से यही प्रकट होता है कि 'याज्ञवल्क्य विश्वामित्र के वंश में उत्पन्न हुए थे, और उनके पिता देवरात, ब्रह्मरात, चारायण यज्ञवल्क्य, वाजसनि आदि नामों से जाने जाते हैं।[23] विद्वानों ने अजीगर्त और उसके दुष्कृत्य को उसके अनार्यत्व का द्योतक माना है।[24]

शतपथ ब्राह्मण (11/6/2) के अनुसार याज्ञवल्क्य ने ब्रह्मज्ञान का प्रारम्भिक उपदेश जनक वैदेह से प्राप्त किया था, बाद में वे राजा जनक के गुरु एवं राज-पुरोहित बने। महाभारत आदि के उल्लेखों के अनुसार याज्ञवल्क्य ने ऋक्, यजुः, साम एवं अथर्ववेद का अध्ययन क्रमशः वाष्कल, वैशम्पायन, जैमिनि एवं आरुणि

उद्दालक से किया था। बृह० उप० (3/7) के अनुसार जनक की सभा में हुए वाद-विवाद में उन्होंने उद्दालक आरुणि को परास्त किया। इसी वाक्-युद्ध में राजपुरोहित याज्ञवल्क्य से अपनी हार न स्वीकारने पर (ऋग्वेद की एक शाखा प्रवर्त्तक के प्रतीक) शाकल्य की गर्दन गिरा दी गई। प्रसिद्ध है कि यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा के प्रवर्त्तक वैशम्पायन, जो याज्ञवल्क्य के मामा भी थे, से अनबन हो जाने पर याज्ञवल्क्य ने उनसे ग्रहण की गई विद्या को त्याग दिया और सूर्य से दीक्षा लेकर यजुर्वेद की सर्वथा नवीन शाखा का प्रवर्त्तन-शुक्ल यजुर्वेद की रचना द्वारा किया।[25] अपने गुरुओं को सिर पर चढ़ाकर पछाड़ देना सम्प्रदाय प्रवर्त्तको की एक सामान्य प्रवृत्ति है, अंतर उसके क्रियान्वयन में स्वीकृत उग्रता व नम्रता; सीधी भिडंत या उपेक्षा का रहता है।

शुक्ल यजुर्वेद, शतपथ ब्राह्मण, बृहदारण्यकोपनिषद्, याज्ञवल्क्य स्मृति एवं योग याज्ञवल्क्य इनकी प्रमुख रचनाएँ मानी गई हैं, किंतु यह धारणा विश्वसनीय नहीं है।

याज्ञवल्कय के दो पत्नियाँ थीं— कात्यायनी और मैत्रेयी। मेरे विचार से तो ये दोनों क्रमशः प्रवृत्ति एवं निवृत्ति की प्रतीक मात्र हैं। किंतु वाल्मीकि रामायण के अरण्यकांड (29/11) की रामतिलक टीका और उसमें उद्धृत महाभारत के श्लोकों के अनुसार उनके तीन पुत्र थे—चंद्रकांत, महामेघ और विजय—जो महादेव से शापित होकर अपने चौदह हजार शिष्यों सहित—क्रमशः खर, दूषण एवं त्रिशिरा—राक्षस बने।

'याज्ञवल्क्य' का शब्दार्थ है 'यज्ञ का वधिक' जो इनके यज्ञ विरोधी एवं कर्म विरोधी विचारों के अनुरूप प्रतीत होता है।

इनके कथनानुसार अक्षर—जिसमें आकाश ओतप्रोत है और जिसका वर्णन केवल 'नेति-नेति' के रूप में हो सकता है—परमतत्त्व है। इस अक्षर को जानकर मरनेवाला व्यक्ति ही सच्चा ब्राह्मण है। वायु ही वह सूत्र है जिसमें लोक-परलोक और सारे प्राणी गुँथ हुए हैं। यही तेरा अंतर्यामी आत्मा अमृत है। संसार का कोई भी प्राणी एवं पदार्थ आत्मा (अपने) से अधिक प्रिय नहीं होता, अतः आत्मोद्धार (अपना उद्धार) चाहनेवाले को सर्वस्व त्याग देना चाहिए। सकाम कर्म करनेवाला ही जीव है, सर्वस्व त्यागी ही मुक्त—ब्रह्म है—इत्यादि।

'विमोक्ष' के लिए सर्वस्व त्याग कर भिक्षावृत्ति अपनाने का उपदेश देने वाला याज्ञवल्क्य ऐसा पहला ऐतिहासिक व्यक्ति है जिसने अपने मत के प्रचार के लिए न केवल राजसभा का प्रयोग किया है, अपितु अपने शिष्य समुदाय के लिए गायों एवं मुद्राओं के रूप में अपार सम्पत्ति का दान भी लिया है।

यद्यपि ऐत० ब्रा० के रचयिता महीदास भी 'दास' (या दासीपुत्र) हैं, किंतु याज्ञवल्क्य ऐसा पहला व्यक्ति है जिसने शुक्ल यजुर्वेद व शतपथ ब्राह्मण की रचना करके वैदिक परम्परा के स्पष्ट दो भेद खड़े कर दिए—(1) ब्रह्मसम्प्रदाय (आर्य परम्परा से सम्बद्ध) और (2) आदित्य सम्प्रदाय—आदित्यानीमानि शुक्लानि

यजुंषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनाख्यायन्ते ।। (शत० ब्रा० 14/9/5/33) । जो मेरे विचार से अनार्य परम्परा से सम्बद्ध है ।

(5) **राजा जनक**—भवभूति विरचित 'महावीर चरित' में आया है कि—

स एव राजा जनको मनीषी पुरोहितेनांगिरसेन गुप्त ।
आदित्यशिष्य: किल याज्ञवल्क्यो यस्मै मुनिर्ब्रह्म परं विवव्रे ।।

अर्थात्—यही वह बुद्धिमान राजा जनक है, जिसका रक्षण आंगिरस पुरोहित करता है, और जिसको आदित्य शिष्य याज्ञवल्क्य ने परब्रह्म का उपदेश दिया था ।

महाभारत (शांतिपर्व अध्याय 323) में जिस जनक से याज्ञवल्क्य का सम्बन्ध बताया गया है, वह देवरात जनक का पुत्र देवराति जनक प्रतीत होता है । जैसा हम कह चुके हैं एक हिसाब से जनक वैदेह, याज्ञवल्क्य के गुरु भी थे और शिष्य भी । बृहद्० उप० (3/1-9) के अनुसार जनक ने एक बड़ी दक्षिणावाले यज्ञ द्वारा यजन किया, जिसमें कुरु और पांचालदेश के ब्राह्मण भी सम्मिलित हुए । राजा ने सर्वश्रेष्ठ अनुवचन करनेवाले ब्रह्मनिष्ठ को एक हजार गायें—जिनके प्रत्येक के सींगों से दश-दश सुवर्ण पाद बँधे थे—दक्षिणा में देने की घोषणा की । इस वाद-विवाद प्रतियोगिता में जनक के पुरोहित अश्वल और कुरू-पांचाल देश से आए जारुत्कारव अतिभाग, लाह्यायनि भुज्य, चाक्रायण उषस्त, कौषीतकेय कहोल, वाचकनुकी गार्गी, उद्दालक आरुणि और शाकल्य विदग्ध ने भाग लिया ।

याज्ञवल्क्य ने सर्वप्रथम अपने शिष्य को उद्दत गायों को ले जाने का आदेश दिया । विवाद में क्रमपूर्वक उक्त समस्त ब्रह्मनिष्ठों को एक-एक करके परास्त किया । जिन्होंने पराजय स्वीकार ली उनके प्राणों की रक्षा हो गई । अंत में शाकल्य की बारी आई । वे मैदान में डटे रहे, याज्ञवल्क्य ने उन्हें 'अहल्लिक' (प्रेत) कहा, तब भी विदग्ध न सँभले, अंत में 'औपनिषदिक पुरुष' विषयक याज्ञवल्क्य के प्रश्न का उत्तर न दे सकने पर उनकी गर्दन गिरा दी गई । और चोर लोग उनकी हड्डियों को भी चुरा ले गए (बृ० उप० 3/9/26) । इस 'मूर्धा-विपपात' का अर्थ 'हतप्रभ' या 'मरा-सा' करके कुछ विद्वान इस क्रूर कर्म पर पर्दा डालने की असफल चेष्टा करते हैं । राहुल सांकृत्यायन इसे तथ्यपरक मानते हैं ।[26]

उल्लेख्य होगा कि इसी राजा जनक के अखाड़े में आरुणि की पुत्री सुजाता के पति कहोल जब वाग्युद्ध में परास्त हो गए तो कहा गया कि उन्हें पानी में डुबो कर मार डाला गया कालांतर में कहोल के पुत्र अष्टावक्र ने मामा श्वेतकेतु के नेतृत्व में अपने पिता के प्रतिद्वंदी वरुण पुत्र बंदी को इस शर्त पर ललकारा और परास्त किया कि हारनेवाला पानी में डुबो दिया जाएगा । अष्टावक्र विजयी हुए तो यह कह कर कहोल छोड़ दिया गया कि उन्हें मारा नहीं गया था, वरुण के यज्ञ में रोक लिया गया था ।

बृहदारण्यकोपनिषद् के पूर्वोक्त वाद-विवाद की एक उल्लेखनीय बात यह

है कि गार्गी से याज्ञवल्क्य यह कह चुके थे कि सब कुछ ब्रह्मलोक में लय होता है, अर्थात् वह पारमार्थिक सत्य है। किंतु गार्गी ने आगे प्रश्न किया यह ब्रह्मलोक किसमें लय होता है ? तो याज्ञवल्क्य ने उसे चेतावनी दी—हे गार्गी ! अति प्रश्न मत कर। तेरा मस्तक न गिर जाए—(बृ० उप० 3/6/1)। गार्गी वस्तुस्थिति को पाकर उपरत हो गई। कुछ देर बाद याज्ञवल्क्य की पूर्वअनुमति लेकर गार्गी ने पुनः दो प्रश्न किए और अंत में अपने लिए ही नहीं उपस्थित सभी के लिए यह निष्कर्ष निकाला कि--पूज्य ब्राह्मण गण ! आप लोग इसी को बहुत मानें कि याज्ञवल्क्य से आपको नमस्कार द्वारा ही छुटकारा मिल जाए। आप में से कोई भी और कभी भी इन्हें जीत नहीं सकता (बृ० उप० 3/8/12)। गार्गी के इस रहस्योद्घाटन को न समझने वाला शाकल्य मारा गया ! तब याज्ञवल्क्य ने आह्वान किया है, कोई और प्रश्न पूछनेवाला या मेरे प्रश्नों का उत्तर देनेवाला ? किंतु अब किसी ने मुँह न खोला।

इससे उस तर्कपद्धति का रहस्योद्घाटन होता है जिसके अनुसार यदि वक्ता एक बार यह कह दे कि अमुक तत्त्व ही सर्वाश्रय है, तो उसका अन्य आश्रय होने की सम्भावना व्यक्त करनेवाला प्रश्न नहीं किया जा सकता, अन्यथा प्रश्नकर्ता की गर्दन उड़ा दी जाएगी।

प्रसिद्ध है कि जनक वैदेह विदेह (जीवन्मुक्त) थे। उनके इस दम्भ का खंडन महाभारतकार ने (दे० शांतिपर्व 320) सुलभा-जनक सम्वाद के रूप में प्रस्तुत किया है। तात्पर्य यह है कि शत्रु व मित्र के साथ, विग्रह और संधि जैसे द्वैतमूलक, राग-द्वेषपूर्ण कार्य करते हुए, राज वैभव और धर्म, अर्थ एवं काम का सम्पादन व उपभोग करते हुए, कोई राजा कैसे स्वतंत्र व मुक्त होने का दावा कर सकता है ? फिर भी यदि वह जीवन्मुक्त (विदेह) है, तो सभी गृहस्थ ऐसे ही होते हैं आदि।

ध्यातव्य होगा कि 'अष्टाध्यायी' में याज्ञवल्क्य ने शाकल्य को श्राप दिया था कि--तेरी मृत्यु पुण्यक्षेत्रातिरिक्त देश में, पुण्यतिथिशून्य काल में, होगी और तेरी हड्डियाँ घर तक न पहुँचेंगी।" अतः विदेह स्वयं याज्ञवल्क्य के कथानुसार अपुण्यक्षेत्र हुआ।

उक्त समस्त संदर्भों की समीक्षा करने पर जनक व याज्ञवल्क्य के अनार्यत्व में संदेह नहीं रह जाता। प्रथम अध्याय में भी हम यह देख चुके हैं कि नरकासुर और उसके वंशज असुर राजाओं की वंशपरम्परा जनक से जुड़ती है।

(6) **केकय कुमार अश्वपति** -- छान्दोग्य उपनिषद् (5/11-18) के अनुसार औपमन्यव प्राचीनशाल, पौलुषि सत्य यज्ञ भाल्लवेय इंद्रद्युम्न, शार्कराक्ष्य जन तथा आश्वतराश्वि बुडिल—ये पाँच महाशाल (महागृहस्थ, धनवान) उद्दालक आरुणि के मार्ग दर्शन में वैश्वानर संज्ञक आत्मा का ज्ञान प्राप्त करने के लिए केकय कुमार अश्वपति के पास पहुँचे। केकय अश्वपति ने प्रत्येक से पूछा कि वह किस आत्मा की उपासना करता है ? प्रत्येक का उत्तर अलग-अलग था। अश्वपति ने प्रत्येक की आत्मा को अधूरा बताया, प्रत्येक को अपना उपदेश दिया और कहा—

द्युलोक के उपासक औपमन्यव ! यदि तुम मेरे पास न आते तो तुम्हारा सिर गिर जाता, आदित्य उपासक सत्ययज्ञ ! यदि तुम मेरे पास न आते तो अंधे हो जाते, वायु उपासक इंद्रद्युम्न ! यदि तुम मेरे पास न आते तो तुम्हारा प्राण उत्क्रमण कर जाता, आकाश-उपासक शार्कराक्ष्यजन ! यदि तुम मेरे पास न आते तो तुम्हारा संदेह (शरीर का मध्यभाग) नष्ट हो जाता, जल के उपासक बुडिल ! यदि तुम मेरे पास न आते तो तुम्हारा बस्तिस्थान फट जाता, पृथ्वी के उपासक उद्दालक ! यदि तुम मेरे पास न आते तो तुम्हारे चरण विशेष रूप से शिथिल हो जाते···" (छा० उप० 5/11-17) ।

कहना न होगा कि उक्त वाक्य एक राजा के हैं और उन दिनों राजा के श्रीमुख से निस्सृत वाक्य से भिन्न कोई कानून अस्तित्व में नहीं था । अतः ब्रह्म-विद्या का प्रचार कितनी क्रूरता से किया गया होगा ? यह चिन्त्य है। उषस्ति आख्यान (छा० उल० 1/10-11) में राज पुरोहित उषस्ति ने अन्य ऋत्विकों के प्रति ऐसी ही धमकियों का प्रयोग किया है । औपमन्यव प्रभृति के लिए प्रयुक्त 'महशाल' विशेषण सैंधव सभ्यता की विशाल भवन निर्माण कला से इनके सम्बन्ध का द्योतक माना जा सकता है ।

(7) **पांचाल नरेश प्रवाहण जैवलि :** बृ० उप० (6/2/1-13) और छान्दोग्य उप० (5/3-8) के अनुसार उद्दालक आरुणि के पुत्र श्वेतकेतु प्रवाहण जैवलि को ब्रह्मज्ञान का उपदेश देने के लिए गए, किंतु राजा के पाँच प्रश्नों में से एक का भी उत्तर न दे पाए तो लौटकर पिता से शिकायत की— "आपने मुझे शिक्षा दिए बिना ही कह दिया कि शिक्षा दे दी है, मैं उस राजन्यबंधु के पाँच प्रश्नों में से एक का भी उत्तर न दे पाया ।"[27]

यहाँ ध्यातव्य यह होगा कि कुरु और पांचाल उन दिनों आर्य संस्कृति के मुख्य केंद्र थे, प्रवाहण पांचाल नरेश है, किंतु वह आर्य-व्यवस्था का राजन्य नहीं, व्रात्य परम्परा का 'राजन्य बंधु' है । अतः उन दिनों पांचाल देश के एक भाग पर व्रात्यों का प्रभुत्व रहा होगा, और जनक की सभा आदि में सम्मिलित होने वाले आरुणि आदि कुरु-पांचाल देश के कहे गए ब्राह्मण, इसी व्रात्य प्रभुत्ववाले पांचाल क्षेत्र के चरक ब्राह्मण चलते-फिरते ब्रह्मज्ञानी— रहे होंगे । क्योंकि ब्रह्म-ज्ञान जैसी कोई चीज वैदिक परम्परा में वस्तुतः है ही नहीं ।

जैसा पहले कहा गया है, प्रवाहण ने श्वेतकेतु और उसके पिता उद्दालक दोनों को पंचाग्नि विद्या, पितृयान-देवयान-मरणोत्तर गति के मार्ग तथा मंथन कर्म-संतानोत्पत्ति-विज्ञान की शिक्षा दी थी। पंचाग्नि विद्या की योषाग्नि विद्या और संतानोत्पत्ति विज्ञान में ब्रह्मविद्या के नाम पर कोकशास्त्र (कामशास्त्र) का नग्न चित्रण है । यों तो कामशास्त्र इस कथित ब्रह्मविद्या का आधारभूत स्रोत है, किंतु हर नारी की मैथुन क्रिया को इन ब्रह्मज्ञानियों ने याज्ञिक क्रिया के जो रूपक दिये है वे निश्चय ही दुर्बुद्धि से प्रेरित और निन्द्य हैं ।

(8) **काशीराज अजातशत्रु :** बृ० उप० (2/1) तथा छान्दोग्य के अनुसार

किसी गार्ग्य दृप्त बालाकि ने काशी के राजा अजातशत्रु को ब्रह्म ज्ञान का उपदेश देने का उपक्रम किया। किंतु राजा ने जब उसकी समस्त मान्यताओं का प्रत्याख्यान कर दिया तो गार्ग्य को राजा का शिष्यत्व स्वीकारना पड़ा और तब राजा ने उसे उपदेश दिया। इस उपदेश में 'सुषुप्ति' का स्वरूप समझाया गया है। ये अजातशत्रु इतिहासप्रसिद्ध अजातशत्रु से भिन्न हैं।

(9) **सत्यकाम जाबाल**—छान्दोग्य उप०(4/4/1-5) के अनुसार ये जबाला नामक दासी के पुत्र थे। दीक्षा देने से पूर्व गुरु गौतम हारिद्रुमत ने जब इनसे इनका गोत्र पूछा तो माता से प्राप्त सूचनानुसार उन्होंने बताया कि—"बहुतों का संचरण-परिचारण करते हुए मेरी माता ने मुझे जवानी में पाया है। माँ का नाम जबाला है और मैं सत्यकाम जाबाल हूँ।" हारिद्रुमत ने उसकी इस सत्यनिष्ठा को देखकर उसे ब्राह्मण घोषित कर दिया और एक साँड़ के साथ चार सौ कमजोर गायें देकर कहा कि जब ये एक हजार हो जाएँ तब लौटना। गायों की संख्या के एक हजार हो जाने पर जब वे लौट रहे थे तब उन्हें साँड़, अग्नि, हंस, मद्गु (जलचर प्राणी) ने ब्रह्म के एक-एक पाद का उपदेश दिया। पशु-पक्षियों से उपदिष्ट जाबाल ब्रह्मज्ञानी हो गया, गुरु ने उसके ब्रह्मज्ञ हो जाने को मान्यता दे दी। अर्थात् अब वह दूसरों को ब्रह्मज्ञान का उपदेश दे सकता है, शिष्य बना सकता है।

(10) **सयुग्वा रैक्व**—इन्हें ब्राह्मण कहा गया है। ये जानश्रुति पौत्रायण नामक राजा के महावृष नामक देश में अपनी गाड़ी के नीचे पड़े-पड़े दाद-खाज को खुजलाने का आनन्द लेते हुए मस्त रहते थे। गाय, रथ, द्रव्य आदि के रूप में बहुत-सा धन भेंट करके राजा जानश्रुति ने जब इनसे पहली बार ज्ञानोपदेश देने की प्रार्थना की तो इन्होंने उसे 'शूद्र' कहा और भगा दिया। दूसरी बार जानश्रुति अपार सम्पत्ति के साथ अपनी रूपवती कन्या को भी लाया। उक्त अपार सम्पत्ति से तो नहीं किंतु कन्या के दान से तृप्त होकर रैक्व ने जानश्रुति को संवर्ग विद्या का उपदेश दिया। (दे०छा० उप० 4/1-3)।

अथर्ववेद (15) के अनुसार गाड़ी और पुंश्चली व्रात्य गृहपति के साधन हैं, अतः कुछ विद्वान रैक्व को व्रात्य गृहपति मानते हैं। मेरे विचार से भी यही उचित है। राजा जानश्रुति को तो शूद्र कहा ही गया है, अतः उसका भी अनार्य होना स्वतःसिद्ध है।

उपर्युक्त ब्रह्मवेत्ताओं के अतिरिक्त जो उल्लेख्य हैं उनमें से पिप्पलाद एवं मांडूक्य तो स्पष्टतः अथर्ववेद से सम्बद्ध हैं, राजा गार्ग्यायण गर्गवंश और उसके मूल अंगिराकुल से सम्बद्ध हैं, सनत्कुमार क्षत्रिय (राजन्यबंधु) माने गए हैं, कलष ऐलूष शूद्र हैं—इत्यादि।

कुल मिलाकर यह निष्कर्ष निकलेगा कि उक्त ब्रह्मवेत्ताओं में से जो दास, दासीपुत्र अथवा शूद्र कहे गए हैं, वे संभवतः ऋग्वेदोक्त दास, दासीपुत्र एवं शूद्र से अभिन्न हैं, अतः अनार्य हैं। ध्यातव्य यह होगा कि 'पाणिनि-काल में' नाम-

मात्र के आचारहीन ब्राह्मण 'ब्रह्मबंधु' कहलाते थे।'[28]···सूत्र (3/6/44) की काशिका में उदाहृत 'ब्रह्मबंधुतर' और 'ब्रह्मबंधुतम' प्रयोग बताते हैं कि 'ब्रह्मबन्धु' पद के पीछे कुत्सापरक व्यंग्य की कई कोटियाँ थीं। पाणिनि के समय में कर्मविहीन और जात्याभिमानी ब्राह्मणों के लिए 'ब्रह्मबंधु' तथा 'ब्राह्मण-जीताय' शब्द प्रयुक्त होते थे।[29] बाह्य दिखावे से (जिसकी) जाति की पहचान होती हो वह बंधु है—येन ब्राह्मणत्वादिजातिर्व्यज्यते तद् बंधु द्रव्यम्।[30] कर्म-विहीन ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अर्थात् आर्यों की वर्ण व्यवस्था से बाहर के, नाम मात्र के, बाह्य दिखाने के आधार पर समझे गए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, उन दिनों ब्राह्मणबंधु, राजन्यबंधु, वैश्यबंधु अथवा ब्राह्मण जातीय, क्षत्रिय वैश्य जातीय कहे जाते थे। कहना न होगा कि वर्ण व्यवस्था आर्यों की है और जाति व्यवस्था व्रात्यों की। उपर्युक्त आख्यानों के राजा निश्चय ही आर्यव्यवस्था के राजन्य न होकर व्रात्य व्यवस्था के राजन्यबंधु हैं, और उनका शिष्यत्व स्वीकारने वाले आरुणि उद्दालक, श्वेतकेतु, गार्ग्य प्रभृति ब्राह्मण आर्य व्यवस्था के ब्राह्मण न होकर ब्राह्मणबंधु हैं। और इस प्रकार उपनिषदोक्त ज्ञानकांड अनार्य प्रजाओं का प्रदेय है। उपर्युक्त, ब्रह्मज्ञानियों में उत्तम, मध्यम, निम्न सभी जातियों के लोग हैं, और बिना किसी भेदभाव के, सब सबके शिष्य या गुरु हो सकते हैं।

यह हम कह चुके है कि आर्यों से पराजित होकर अनार्य प्रजाएँ देश के पूर्वी एवं दक्षिणी भागों में जाकर पुनस्संगठित हुई। पांचालनरेश प्रवाहण को छोड़कर उक्त सभी आख्यायिकाओं के राजा पूर्वी प्रांतों से सम्बद्ध हैं। पांचाल के उन दिनों दो भाग थे, एक भाग कुरु जनपद से संलग्न था, दूसरा राजन्यबंधु प्रवाहण के आधिपत्य में था। प्रथम आर्य संस्कृति का केंद्र था, द्वितीय व्रात्य परम्परा से सम्बद्ध था।

अब हम उपनिषदों की कुछ अवैदिक प्रवृत्तियों को लक्षित करेंगे।

(क) वेद विरोध—छान्दोग्य उपनिषद (7/1/1-3) के नारद-सनत्कुमार संवाद में ऋक्, यजु, साम और अथर्व तथा अन्य समस्त शास्त्रों के ज्ञाता नारद को मंत्रवेत्ता कहा गया है, आत्मवेत्ता नहीं। अर्थात् शोक को दूर करने वाला आत्मज्ञान वेद विषयक ज्ञान से अप्राप्य है। ऋक्, यजु एवं साम से क्रमशः इहलोक, अंतरिक्षलोक एवं विज्ञजनों को ज्ञात लोक की प्राप्ति होती है किंतु ओंकार द्वारा उससे भी परे (श्रेष्ठ) ऐसे लोक (ब्रह्मलोक) की प्राप्ति होती है जो शांत, अजर, अमर, अभय है—(प्रश्न उप॰ 5/7)। एक बार मृत्यु से भयभीत हुए देवता ऋक्, यजु एवं साम में छिप गए, किंतु मृत्यु ने उन्हें कुशल मछुआरे की तरह देख लिया, तब वे उन्हें त्याग कर अक्षर (ॐ) में प्रवेश कर गए (छा॰ उप॰ 1/4/2-3)। तात्पर्य यह है—आत्मज्ञान लाभ के लिए वेद निरर्थक हैं। वेद शब्द का सामान्य अर्थ यहाँ ज्ञान हो गया है।

(ख) यज्ञ विरोध—निश्चय ही पुरुष ही यज्ञ है। उसकी आयु के प्रथम

चौबीस वर्ष प्रातः सवन हैं, इसके बाद के चवालीस वर्ष माध्यन्दिन सवन हैं, और इसके बाद के अड़तालीस वर्ष तृतीय सवन हैं। इस यज्ञ का ज्ञाता महीदास ऐतरेय एकसौ सोलह वर्ष जीवित रहा—(छा० उप० 3/16/1-7)। अपने अठारह साधनों (16 ऋत्विक् और यजमान दम्पति) सहित यज्ञरूपी नौका अदृढ़ या नाशवान है, जो मूढ़ 'यही श्रेय है' ऐसा मानते हैं, वे जन्म-मरण को प्राप्त होते हैं (मुंडक, 1/2/7)। छान्दोग्य उप० (5/8/1) तथा बृ० उप० (6/2/3) में नर-नारी के मैथुन कर्म को यज्ञ की शब्दावली में व्यक्त किया गया है इत्यादि।

ध्यातव्य होगा उपनिषत्कारों की एक मुख्य प्रवृत्ति आर्यों के कर्म, धर्म एवं देवता आदि की पुनर्व्याख्या करना है। आर्यों ने यज्ञ कर्म को प्रजा का विस्तार करनेवाला धार्मिक कृत्य माना था। उपनिषत्कार उसी आधार पर संतानोत्पत्ति कर्म-मैथुन – से उसकी समता दर्शाने का श्रेय लेते हैं। इनका यज्ञ विरोध वस्तुतः समस्त इष्टापूर्त वैदिक कर्मों (मुण्डक 1/2/10), एवं सभी सकाम कर्मों (कैवल्य उप० 1/2) के त्याग का द्योतक है।

(ग) **देवतावाद का विरोध** – देवता कितने हैं ? इस एक प्रश्न को शाकल्य ने सात बार पूछा। याज्ञवल्क्य का पहला उत्तर था—तीन हजार तीन सौ छः। फिर उसने क्रमशः देवताओं की संख्या तैंतीस, छः तीन, दो, डेढ़ और अंत में एक बताई। और यह एक देवता है—प्राण। वही ब्रह्म है, उसीको त्यत् कहते हैं (दे० बृ० उप० 3/9/1,9)।[31] देवताओं की विजय और उन्हें विजयी बनाने वाली शक्ति उनकी अपनी नहीं है, यह सिद्ध करने के लिए 'ब्रह्म' 'यक्ष' के रूप में प्रकट हुआ और अग्नि के सम्मुख एक तिनका रखकर बोला – 'इसे जला'। अग्नि उसे न जला सका। वायु से कहा गया—'तू इसे ग्रहण कर—(उड़ा)' वह ऐसा न कर सका। इन्द्र को आता देख 'यक्ष' अदृश्य हो गया, तब उमा ने इन्द्र को बताया कि वह 'यक्ष' ब्रह्म था (केन० उप० 3/1-12,4/1)। 'इंद्र' शब्द की पुनर्व्याख्या में कहा गया है—'इदम्' यह साक्षात् ब्रह्म के लिए है, 'दन्द्र' यह परोक्ष ब्रह्म के लिए। उसके इसी परोक्ष रूप को 'इंद्र' कह कर पुकारते हैं— (ऐत० 1/3/14)। तब प्राण उत्पन्न हुआ, वह 'इंद्र' है।[32] ऐत० उप० (1/2/1-4) में अग्नि, वायु, सूर्य आदि देवताओं को क्रमशः मानव शरीर में वाक्, नासिका, चक्षु आदि में प्रतिष्ठित कर दिया गया है।

(घ) **ब्राह्मण विरोध**– छान्दोग्य उपनिषद् (1/12/1-4) में, कर्म में बहिष्पवमान स्तोत्र से स्तवन करनेवाले उद्गाताओं की तुलना मुँह से एक-दूसरे की पूँछ पकड़कर परिभ्रमण करके, बैठकर, हिंकार करने वाले भूखे कुत्तों से की गई है। बृ० उप० (3/5/1) में याज्ञवल्क्य के यह कहने पर कि अमौन और मौन का सम्पादन करके कृतकृत्य हुआ व्यक्ति ही ब्राह्मण है। कहोल ने जब पूछा कि वह किस प्रकार ब्राह्मण होता है ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया जिस प्रकार भी होता हो, ऐसा ही ब्राह्मण होता है।[33] अब कहोल यदि मुँह खोलता

तो उसकी भी गर्दन गिर जाती, अतः चुप हो गया। इसी याज्ञवल्क्य ने आगे कहा है कि हे गार्गी ! जो इस अक्षर को जानकर मरता है वही ब्राह्मण है।[34] तात्पर्य यह है कि सर्वस्व त्यागकर, भिक्षावृत्ति अपनाकर विचरण करनेवाला मुनि ही सच्चा ब्राह्मण है। यह हम कह चुके हैं कि व्रात्यों के अपने ब्राह्मण होते थे, और व्यक्ति अपने गुण या आचरण द्वारा ब्राह्मणत्व अर्जित करता था, जैसेकि सत्यकाम जाबाल। दूसरे यह ध्यान रखना होगा कि इनका ब्राह्मण विरोध-'ब्राह्मण वर्ण' के विरोध तक सीमित न होकर समूची वर्ण-व्यवस्था—ब्राह्मणों द्वारा निर्मित व्यवस्था का ही विरोध था।

(ङ) **क्षत्रिय की श्रेष्ठता**— बृहदा० उप० (1/4/11) में कहा गया है कि प्रारम्भ में एक ब्रह्म ही था। अकेला होने से वह विभूतियुक्त कर्म करने में समर्थ नहीं हुआ। तब उसने अपनी अतिशयता से क्षत्र इस प्रशस्त रूप की रचना की। अर्थात् इंद्र, वरुण, सोम, रुद्र, मेघ, यम, मृत्यु और ईशानादि क्षत्रिय देवता उत्पन्न किए। अतः क्षत्रिय से श्रेष्ठ कोई नहीं है—'तस्मात्क्षत्रात्परं नास्ति।' इसी से राजसूय यज्ञ में ब्राह्मण नीचे बैठकर क्षत्रिय (राजा) की उपासना करता है। कहना न होगा कि इंद्र, वरुण, सोम, पर्जन्य प्रारम्भ से ही क्षत्रिय नहीं माने गए थे।

ध्यातव्य होगा कि आर्य-व्यवस्था में ब्राह्मणों का और व्रात्य व्यवस्था में क्षत्रियों का श्रेष्ठत्व माना गया है।

(च) **दार्शनिक-चिंतन**— उपनिषदें वस्तुतः किसी एक विचारक की या एक निश्चित समय की, या एक निश्चित विचारधारा की प्रतिपादक कृतियाँ न होकर विभिन्न ब्राह्मवेत्ताओं की, विभिन्न विचारधाराओं के संकलन हैं। यद्यपि इनमें साम्प्रदायिक मतभेद सर्वत्र लक्षित है, तथापि उनके चिंतन की एक निश्चित दिशा है, और इसके फलस्वरूप विचारभेद के बावजूद उनके चिंतन का एक सामान्य आधार है। यहाँ उनके साम्प्रदायिक मतभेद को लक्ष्य न करके उनकी प्रतिनिधि विचारधारा को ही संक्षेप में लक्षित किया जाएगा।

(1) **ब्रह्म**—अथर्ववेद एवं महीदास ऐतरेय प्रभृति की तरह उपनिषत्कार भी मानते हैं कि सृष्टि कार्यरूपा है। जिस प्रकार प्रत्येक अंकुर स-मूल होता है, उसी प्रकार प्रत्येक कार्य का एक (या एकाधिक) कारण होता है। सृष्टि-रूप अंकुर भी निर्मूल नहीं हो सकता—"नेदममूलं भविष्यतीति (छा० उप० 6/8/3)।" शंकराचार्य के अनुसार भी सम्पूर्ण उपनिषदों का यह निश्चित अभिप्राय है कि जो जगत् का आदि कारण है, उसके ज्ञान से ही आत्यन्तिक कल्याण हो सकता है।[35] अर्थात् व्यवित को जीवन में सृष्टि के कारण की शोध करनी चाहिए।

सृष्टि के कारणरूप तत्त्व के लक्षणों का निश्चय कारण और उसके कार्य के पारस्परिक सम्बन्धों के आधार पर किया गया है। जिसके अनुसार बीज और अंकुर के सम्बन्धों के प्रमाण से यह निश्चय किया गया हैं कि जैसे बीज से अंकुर प्रस्फुटित होता है: जैसे बीज की परिव्याप्ति से अंकुर की स्थिति या सत्ता संभव

होती है, और जैसे अंकुर की अंतिम परिणति बीज रूप में होती है वैसे ही 'जिससे निश्चय ही ये सब भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिसके आश्रय से ये जीवित रहते हैं और अंत में विनाशोन्मुख होकर जिसमें ये लीन होते हैं, उसे विशेष रूप से जानने की इच्छा कर, वही ब्रह्म है।'[36] अर्थात् जो इस सृष्टि से पूर्व अवस्थित था, जो इस सृष्टि में परिव्याप्त है, और जिसमें इस सृष्टि का लय (प्रलय, अंत) होना है अथवा जो इस सृष्टि के विनष्ट होने पर शेष रहेगा – क्योंकि कार्य का लय अपने कारण से भिन्न किसी अन्य पदार्थ में नहीं हो सकता[37]— वही ब्रह्म है। वही ज्ञातव्य एवं ध्यातव्य है। अर्थात् कार्य की अंतिम परिणति अपने कारण में लय हो जाना है, वही हम सबके जीवन का अंतिम लक्ष्य है।

कारण और उसके कार्य के उपर्युक्त सम्बन्ध निरूपण से ब्रह्म की तीन अवस्थाएँ व्यक्त होती हैं— (1) सृष्टि से पूर्व की अवस्था, (2) सृष्टि में उसकी परिव्याप्ति की अवस्था और (3) सृष्टि के बाद की अवस्था। एक प्रकार से अतीत, वर्तमान और अनागत की बोधक इन तीन अवस्थाओं में से प्रथम व अंतिम अवस्थाओं में सृष्टि का अभाव है, अतः वे दोनों तत्त्वतः एक की ही पर्याय रूप हैं। इस प्रकार ब्रह्म की मुख्य दो अवस्थाएँ हुई— (1) कारणावस्था और (2) कार्यावस्था।

(1) कारणावस्था का ब्रह्म ही पारमार्थिक सत्य है, किंतु इस अवस्था में वह 'एकमेवाद्वितीयम्' है। अर्थात् वह एक और अद्वितीय है। अतः इस अवस्था में उससे भिन्न न तो उसका कोई ज्ञाता हो सकता है, न ज्ञान। वही सबका ज्ञाता है, उसका ज्ञाता कोई नहीं है— स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ताः। (श्वेता० 3/19)। अपनी इस विश्वोत्तीर्ण अवस्था में वह अतींद्रिय है, अतः— "न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथेतदनु-शिष्यादन्यदेवं तद्विदितादथो अविदितादधि। इति शुश्रुम पूर्वेषाये नस्तद्व्याचचक्षिरे (केन० उप० 1/3)।

अर्थात् उस ब्रह्म तक नेत्र, वाणी और मन नहीं पहुँच पाते।[38] अतः किस प्रकार शिष्य को ब्रह्म का उपदेश करें?— वह हम नहीं जानते। वह विदित और अविदित दोनों से परे हैं—ऐसा हमने उन पूर्व पुरुषों से सुना है, जिन्होंने हमारे प्रति उसका व्याख्यान किया था। एक शिष्य या साधक की अनुभूति तो इतनी ही है—

नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च।
यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च॥ केन० 2/2

अर्थात्— न तो मैं यह मानता हूँ कि ब्रह्म को अच्छी तरह जान गया हूँ, न यही समझता हूँ कि उसे नहीं जानता हूँ। इसलिए मैं उसे जानता (और नहीं भी जानता) हूँ। हममें से जो उसे—"न तो नहीं जानता और न जानता ही हूँ।" इस प्रकार जानता है, वही जानता है। आगे कहा गया है कि—

यस्यामतं यस्त मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥ 2/3

अर्थात्—ब्रह्म जिसको ज्ञात नहीं है, उसी को ज्ञात है, और जिसको ज्ञात है वह उसे नहीं जानता, क्योंकि वह जाननेवालों का बिना जाना हुआ और न जाननेवालों का जाना है।

कहना न होगा कि यह पहेलियों की भाषा व्यामोह उत्पन्न करने वाली है। यदि भाष्यकारों की लीपा-पोती से अछूता रहकर इन वाक्यों का वाच्यार्थ ही लिया जाए तो यह कहना असंगत न होगा कि ब्रह्मज्ञान का प्रारम्भ व अंत एतद्विषयक अज्ञान में है। संभवतः इस स्थिति के निवारण हेतु एक सुझाव तो इस रूप में दिया गया है कि—"जो वाणी से प्रकाशित नहीं होता, किंतु वाणी जिससे प्रकाशित होती है, जो मन द्वारा मनन नहीं किया जाता किंतु जिससे मन मनन करने में सक्षम होता है, जिसे नेत्र नहीं देखता किंतु जिसकी सहायता से नेत्र देखता है—इत्यादि उसे तू ब्रह्म जान—(केन० 1/4-8)।" कहना न होगा कि इस स्थिति में प्रश्न का समाधान स्वयं प्रश्नकर्ता को ही खोजना होगा। तात्पर्य यही हुआ कि ब्रह्मज्ञान स्व-संवेद्य है, न तो गुरु उसका उपदेश कर सकता है न शिष्य उसे ग्रहण कर सकता है।

ब्रह्म के लक्षणों के निर्धारण में दूसरी पद्धति यह अपनाई गई है कि ब्रह्म और जगत् परस्पर विपरीत-लक्षण माने गए हैं। जिसके फलस्वरूप जगत् के लक्षणों का निषेधात्मक रूप ही ब्रह्म लक्षण है। इस विषय में बड़ी कुशलतापूर्वक सृष्टि के मुख्य तीन दुर्गुण माने गए हैं—असत्, अचित् और निरानंद होना। इनके निषेधात्मक रूप सत्, चित् और आनंद ब्रह्म के विधेयात्मक लक्षण हुए।[39] शेष उक्तियों में मुख्य रूप से जगत् के लक्षणों को विधेयात्मक रूप में ग्रहण करके करके उनके निषेधात्मक रूपों को ब्रह्म के लक्षण माना गया है। यथा – जगत् में जन्म, जरा, मृत्यु, द्वैत इत्यादि हैं, अतः एतद्विपरीत ब्रह्म-लक्षण हैं—अजन्मा, अजर, अमर, अद्वैत इत्यादि। मेरे विचार से इसी वैचारिक आधार पर –'स एष नेति नेति' का सिद्धांत फलित हुआ है। जिसके अनुसार वह अक्षर न मोटा है, न पतला है, न छोटा है, न बड़ा है, न लाल है, न द्रव है, न छाया है, न तम है···इत्यादि।[40] अथवा वह अशब्द अस्पर्श्य, अरूप, अव्यय, अरस, नित्य, अगंध अनादि अंनत इत्याद्रि[41] कहा गया है। नकारात्मक शब्दों में ब्रह्म-निरूपण उपनिषदों की एक सामान्य विशेषता है।[42] इसका तात्पर्य यही होता है कि जगत् और उसके समस्त गुण-धर्मों को नकारने के बाद जो शेष रहता है वह ब्रह्म है। मुख्य रूप से उसे आकाश स्वरूप कहा गया है— आकाश से ही समस्त भूत उत्पन्न होते है, उसी में सबका लय होता है अतः वही इनका आश्रय है (छा० उप० 1/9/1)। अतः तुम आकाश की ही उपासना करो—"आकाशमुपास्त्वेति" (छा० उप० 7/12/1)। प्रजाओं को धारण करनेवाला कौन-सा देव सर्वश्रेष्ठ है? इस प्रश्न के उत्तर में पिप्पलाद का उत्तर है—वह देव आकाश है—

"आकाशो ह वा एष देवो ।" (प्रश्न उप० 2/2) । आकाश ब्रह्म है—"आकाशो ब्रह्म" (छा० उप० 3/18/1) । प्राण ब्रह्म है, किंतु प्राण को आकाश भी कहते हैं—"प्राणं च हास्मै तदाकाश चोचुः ।" (छा० उप० 4/10/5) इत्यादि ।

ध्यातव्य होगा कि कारणावस्था में जो ब्रह्म सर्वातीत है, कार्यावस्था में वही सर्वमय है । अतः 'अग्नि, सूर्य, चंद्र, शुक्र (शूद्र), ब्रह्म, जल और प्रजापति वही हैं ।" स्त्री, पुरुष, कुमार, कुमारी, वृद्ध उत्पन्न हुए अनेक रूपों में तू ही है । नील वर्ण भ्रमर, हरितवर्ण एवं लोहिताक्ष (शुक), मेघ, ऋतु, एवं समुद्र सब कुछ तू ही है— (दे० श्वेता० उप० 4/2-4) । अर्थात् यह सारा जगत् निश्चय ब्रह्म ही है—"सर्वं खाल्विदं ब्रह्म" (छा० उप० 3/14/1) । इसी कार्यरूप अथवा मूर्त ब्रह्म का विराट् पुरुष के रूप में भी वर्णन किया गया है (दे० छा० उप० 3/15/1-2, मुण्डक 2/1/4-5, श्वेता० 3/16 आदि) ।

जिस समय उसकी कारणावस्था व कार्यावस्था का एक साथ निरूपण करना इष्ट होता है तो उसे विपरीत लक्षणों से युक्त बता दिया जाता है । यथा—वह हाथ व पाँव रहित (निरवयव) होकर भी वेगवान व ग्रहीता है, नेत्रहीन होकर भी द्रष्टा है, कर्ण-रहित होकर भी श्रोता है, अथवा वह अणु और महान् के भी महान् है इत्यादि (दे० श्वेता० उप० 3/19, 20) ।

प्रकट हैं कि उपनिषत्कारों ने अपने ब्रह्म-निरूपण में सभी पैंतरे अपनाए हैं, किंतु दूसरी ओर उनका स्पष्ट मंतव्य है कि जो कुछ मन, वाणी, नेत्र, श्रवण आदि द्वारा प्रकाशित अथवा ग्राह्य है वह देशकालावच्छिन्न है, और जो इस (देशकालावच्छिन्न वस्तु) की लोक उपासना करता है, वह ब्रह्म नहीं है—"नेदं यदिदमुपासते ।" (दे० केन उप० 1/4-8) अर्थात् उपास्य ब्रह्म वही है जो सर्वातीत और इंद्रियातीत है ।

उपर्युक्त विवरण से यहाँ हमारा अभिप्रेत यह सिद्ध करना है कि उपनिषत्कारों की दृष्टि सृष्टि की प्रलय के बाद अवशिष्ट ब्रह्म पर केंद्रित है । अतः उनके धार्मिक विचारों की शेष मान्यताएँ इसी मुख्य भाव से अनुप्राणित हैं—जैसा आगे स्पष्ट होता रहेगा ।

(2) आत्मा—उपनिषदों की सृष्टि—रचना विषयक कतिपय उक्तियों में कहा गया है कि परमात्मा ने दो और चार पैरों वाले शरीर बनाए और वह पुरुष पक्षी होकर उनमें प्रविष्ट हो गया ।[43] उसने तप से यह जो कुछ है, सबकी रचना की और इसी में अनुप्रविष्ट हो गया—तत्सृष्ट्वात्तदेवान्—प्राविशत्—(तैत्ति 2/6/1) । मूर्धा को विदीर्ण करके उसने शरीर में प्रवेश किया (ऐत० उप० 3/12) । इन समस्त उक्तियों में नामरूपात्मक (शरीर की) रचना के बाद उसमें अशरीरी के प्रवेश की बात कही गई है—"अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् ।" (श्वेता० 1/2/22) । यह हृदयस्थ (अशरीरी या पुरुष) ही आत्मा है—"स वा एष आत्मा हृदि" (छा० उप० 8/3/3) । और यह आत्मा कोई अन्य न होकर सबका अनुभव करनेवाला ब्रह्म ही है—"अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः"

(बृ॰ उप॰ 2/6/19)।[44] यह आत्मा सब भूतों का शासक है; जैसे रथ-चक्र की नेमि में सब अरे समर्पित हैं, वैसे ही आत्मा में सर्वभूत, सर्वदेव, सर्वलोक और समस्त प्राण भी समर्पित हैं (बृ॰ उप॰ 2/5/15)। यही सबको प्राप्तव्य है, क्यों कि जो इसको जानता है वही सबको जानता है—"तदेतत्पदनीयमस्य सर्वस्य यदयमात्मानेन ह्येतत्सर्वं वेद।" (बृ॰ उप॰ 1/4/7)।

ब्रह्म की तरह यह आत्मा भी पाप, जरा, मृत्यु, विशोक, क्षुधा, पिपासा आदि से रहित और सत्यकाम एवं सत्यसंकल्प है (छा॰ उप॰ 8/7/1)। इस आत्मा का अपरनाम 'प्राण' है। प्राण भी ब्रह्म ही है—"प्राण इति स ब्रह्म—" (बृ॰ उप॰ 3/9/9)। यही प्राण अथवा 'वायु' वह अंतर्यामी सूत्र है, जिसमें इहलोक, परलोक और सारे भूत गुँथे हुए हैं (बृ॰ उप॰ 3/7/23)। कहना न होगा कि अथर्ववेद का प्रतिपाद्य भी यही सूत्रात्मा था।

(3) जीव—सामान्यतः उपनिषदों में जीव एवं आत्मा शब्दों का प्रयोग पर्याय रूप में किया गया है। किंतु जैसा ऊपर कहा गया है, छा॰ उप॰ (8/3/3) के अनुसार हृदयस्थ आत्मा ब्रह्म है, यह एक बात है, दूसरी उक्ति (8/3/2) में कहा गया है कि—यहाँ वह अनृत से आच्छादित है, इसलिए लोग उसे नहीं जानते—"अत्र ह्यस्यैते सत्याः कामा अनृतापिधानाः॥" कहना न होगा कि इस अनृत से आवृत आत्मा की ही अपरसंज्ञा जीव है। कठोपनिषद् (1/3/4) में इसे ही शरीर, इंद्रिय एवं मन से युक्त भोक्ता आत्मा कहा गया है— आत्मेन्द्रिय मनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥ श्वेता॰ उप॰ (4/6-7) एवं मुंडक॰ उप॰ (3/1/1-2) में पीपल के वृक्ष पर बैठे दो पक्षियों में से जिसे फलों का भोक्ता एवं शोक करता हुआ बताया गया है वही जीव है—"समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि जो अविद्या (अविद्यमान या अनित्य) द्वारा प्रेरित है, वह जीव है (दे॰ मुंडक उप॰ 1/2/8-9)। जो सकाम व्यक्ति है, वह जीव है। अर्थात् जो लौकिक दुःख-सुख से स्वयं को दुःखी-सुखी मानता है, जो शरीर को ही 'यह मैं हूँ' ऐसा मानता है, जो बाह्यजगत् में आसक्त है, वह जीव है। वह कामना से प्रेरित होकर कर्म करता है, कर्म के फल का भोक्ता होता है, पुनः कर्म करता है और इस प्रकार कर्म तथा कर्मफल के अनादि चक्र में पड़कर पुनर्जन्म को प्राप्त होता रहता है, और दुःखी रहता है। यही अज्ञानी है, पशु है, बंधनग्रस्त है। ब्रह्मविद्या का लक्ष्य इसी (जीव) को बंधनमुक्त करना होता है।

(4) बंधन—जीव के समस्त बंधन अविद्यामूलक हैं। अविद्या, जैसा हम आगे देखेंगे, सभी प्रकार की सांसारिकता को कहा गया है, इसे ही आगे चलकर माया नाम दिया गया। प्रथम बंधन तो आत्मा और शरीर का संयोग, अर्थात् जन्म लेना है। जिसे उपनिषत्कार चैतन्य व जड़ की गाँठ या ग्रंथि कहते हैं—(दे॰ मुंडक 2/1/10, 2/2/8, कठ 2/3/15)। शेष बंधनों में लौकिक जीवन

से सम्बन्धित कामनाएँ मुख्य हैं।

(5) **कर्म और पुनर्जन्म**—प्रक्षिप्त एवं परवर्ती माने गए ऋग्वेद के प्रथम एवं अंतिम मंडलों के कुछ सूक्तों (दे० 1/164, तथा 10/58/1-12) में, पुनर्जन्म में वैदिकों के विश्वास के द्योतक कुछ संदिग्ध विधान पाए जाते हैं, किंतु एतद्विषयक अवधारणा का विशेष निरूपण सर्वप्रथम उपनिषदों में ही हुआ देखा जाता है। तत्पश्चात् पुनर्जन्म की मान्यता वैदिक एवं अवैदिक—दोनों परम्पराओं के साहित्य में पाई जाती है। अतः इसका मूलभूत स्रोत वैदिक है अथवा अवैदिक यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, किंतु एतद्विषयक दोनों के दृष्टिकोणों में तात्त्विक अंतर है, जिस पर यथा स्थान विचार किया जायगा। यहाँ एतद्विषयक उपनिषत्कारों के कतिपय विचारों का अवलोकन ही पर्याप्त होगा।

छांदोग्योपनिषद् (3/14/1) में कहा गया हैं कि "पुरुष निश्चय ही ऋतुमग्र-निश्चयात्मक है। इस लोक में पुरुष जैसे निश्चयवाला होता है, वैसा ही यहाँ से मरकर जाने पर होता है। अतः उस पुरुष को निश्चय करना चाहिए।" ऐसा ही विचार व्यक्त करते हुए बृ० उप० (4/4/5) में कहा गया है कि "वह (पुरुष) जैसा करनेवाला और जैसे आचरणवाला होता है, वैसा ही हो जाता है। शुभ-कर्म करनेवाला शुभ और पापकर्म करनेवाला पापी होता है।········· कोई-कोई कहते हैं कि यह पुरुष काममय ही है। वह जैसी कामना वाला होता है, वैसा ही संकल्प करता है, जैसे संकल्पवाला होता है, वैसा ही कर्म करता है, जैसा कर्म करता हैं वैसा ही फल (जन्म) प्राप्त करता है।"

उपर्युक्त उक्तियों के आधार पर कतिपय विद्वान, यह सिद्ध करते हैं कि उपनिषत्कारों को कर्म सिद्धांत एवं उसका महत्त्व स्वीकार्य था। किंतु उक्त कथनों को उनके मूल संदर्भ में देखने से प्रकट होता है कि कर्मार्जित लोकों को क्षीण (छा० उप० 8/1/6) कर्मों को पुनर्जन्म का कारण और पुनर्जन्म को दुःखपूर्ण बताकर वस्तुतः उपनिषत्कारों ने कर्म (वर्णाश्रमी धर्म) को बंधनकर्ता एवं त्याज्य ही बताया है।

ऐत० उप० (2/1/1-3) में मनुष्य के तीन जन्मों का जो निरूपण है उससे प्रकट है कि पुत्र के रूप में पिता का ही पुनर्जन्म होता है। कठ० उप० (1/1/6) में भी कहा गया है कि मनुष्य खेती की तरह पकता है और खेती की तरह ही फिर उत्पन्न होता है। इससे स्पष्ट है कि 'वृक्ष-बीज-अंकुर' न्याय से 'संतान' ही व्यक्ति का पुनर्जन्म है। इसी पुनर्जन्म से मुक्त होने के लिए साधक का ब्रह्मचारी रहना, अ-काम होना, साधना (यौगिक) द्वारा निर्बीज (निर्वीर्य), वि-रज और विरनत (रजस्-रहित) होना, अर्थात् नर-नारी का क्रमशः शुक्र-शोणितरहित अथवा नपुंसक होना आवश्यक होता है। अर्थात संतति प्रवाह का विरोध ही जन्म-मरण के भव-चक्र का निरोध है।

(6) **विरमुक्ति**—उपनिषत्कारों के उपदेश 'विमोक्ष' की प्राप्ति के लिए हैं, जैसा कि जनक के इस कथन से भी व्यक्त है कि— हे याज्ञवल्क्य, इससे आगे भी

आप मुझे विमोक्ष के लिए उपदेश करें—ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति –(दे० बृ० उप० 4/3/15-17)। यह 'विमोक्ष' अथवा मोक्ष क्या है ? यह आगे के विवरणों से स्पष्ट होता रहेगा। यहाँ संक्षेप में उपर्युक्त विवरण की प्रासंगिकता में इतना समझ लेना पर्याप्त होगा कि उपनिषत्कारों के अनुसार आत्मा अलग है, और शरीर अलग है, अर्थात् अपने मूलभूत रूप में चैतन्य और जड़ पृथक् और स्वतंत्र है। इन दोनों का संयोग अथवा आश्रित-आश्रय सम्बन्ध (जैसा कि जीवित प्राणी के आत्मा व शरीर का होता है) ही बंधन का कारण अथवा स्वयं बंधन है। इस धारणा के उपलक्षण या विपरीतलक्षण से यह फलित होगा कि आत्मा और शरीर के पृथक्त्व को भलीभाँति आत्मसात् करके 'यह शरीर ही मैं हूँ' इस देहात्मभाव को त्याग कर, 'मैं सच्चिदानंदमय आत्मा हूँ' इस आत्मभाव अथवा आत्मस्वरूप में स्थित होना ही मोक्ष है। दूसरे यह कि आत्मा व शरीर का संयोग जन्म लेने से होता है। इसके उपलक्षण से फलित होगा कि मोक्ष—व्यक्ति के जन्म से पूर्व की, अर्थात जड़ से चैतन्य के पृथक्त्व की जैसी अवस्था होनी चाहिए। अर्थात् जन्मोत्तर के बाद स्वाभाविक रूप से उत्पन्न हुए देहात्मभाव को साधना द्वारा त्याककर जन्म से पूर्व के आत्मभाव को प्राप्त कर लेना ही 'मोक्ष' है। इसे ही उपनिषदों में जड़-चेतन की ग्रंथि का खुल जाना, सुलझ जाना, या छूट जाना इत्यादि कहा गया है—स्मृतिलम्भे सर्व ग्रंथीनां विप्रमोक्षस्तमै –(छा० उप० 7/26/2)

(ज) आत्मज्ञान से तात्पर्य और उसकी प्राप्ति का माध्यम—महर्षि पाणिनि के समय तक आत्मा शब्द का प्रयोग शरीर के लिए भी होता था। बृ० उप० (1/2/1-2) में कहा गया है कि—मैं आत्मा से युक्त हो जाऊँ और (1/4/3) में आया है कि उसने (अपनी) इसी आत्मा के दो भाग किए उससे पति और पत्नी हुए। कहना न होगा कि इन दोनों कथनों में आत्मा का अर्थ 'शरीर' लेना होगा।[46] आगे कहा गया है कि पति के प्रयोजन से पति प्रिय नहीं होता आत्मा के प्रयोजन से ही पति प्रिय होता है (2/4/5)। यहाँ 'आत्मा' शब्द का प्रयोग 'अपने' के अर्थ में हुआ है। इस प्रकार उपनिषत्कारों के कथनों से ही फलित हो जाता है कि 'आत्मज्ञान' का अर्थ-शरीर का ज्ञान, 'अपना ज्ञान' और 'आत्मस्वरूप' का अर्थ अपना स्वरूप होगा। अर्थात् आत्मा शब्द का प्रयोग शरीर, मैं, अपना तथा चैतन्य आदि अर्थों में हुआ है।

उपनिषदों की प्रमुख जिज्ञासा भी यही है—किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क्व च संप्रतिष्ठा ।। (श्वेता० 1/1)। अर्थात् कारण रूप ब्रह्म कैसा है ? हम किससे उपन्न हुए हैं ? किसके द्वारा जीवित रहते हैं ? कहाँ अथवा किस में प्रतिष्ठित हैं ?

कुल मिलाकर उपनिषत्कारों की जिज्ञासा है- 'कोऽहम्'। अर्थात् मैं कौन हूँ ? जन्म से पूर्व मैं नहीं था फिर मेरे जन्म का कारण क्या है ? किसने मुझे जन्म दिया ? क्यों दिया है ? किस प्रक्रिया से मेरा जन्म हुआ ? जन्म के बाद

क्यों और कैसे मैं संसार में प्रवृत्त हुआ ? मेरे दुःख का कारण क्या है ? मैं कैसे दुःख से निवृत्त हो सकता हूँ ? और कैसे अपने जन्म से पूर्व की अवस्था को प्राप्त कर पुनः सुखी हो सकता हूँ ? इत्यादि ।

अब कोई भी विवाहित दम्पति जिस प्रजनन क्रिया से परिचित होता है, उसे ध्यान में रखकर हमें ब्रह्मवेत्ताओं के इन कथनों को समझना है—पहले पुरुषाकार आत्मा ही था—आत्मैवेदमग्र आसीत्पुरुष विधः—(बृ० उप० 1/4/1) ! वह रममाण नहीं हुआ—स वै नैव रेमे– (बृ० उप० 1/4/3) । उसने दूसरे की कामना की–स द्वितीय मैच्छत (वही) । यह दूसरा कौन हो और किसलिए हो, वह यह कि मेरे स्त्री हो फिर मैं प्रजारूप में उत्पन्न होऊँ—सोऽकामयत जाया मे स्यादथ प्रजायेपाय—(वही 1/4/17) । तब उसने अपने आत्मा (शरीर) के दो भाग किए, जो पति-पत्नी हुए (1,4/3) । वह उससे (स्त्री से) संयुक्त हुआ, उसी से (स्त्री से) मनुष्य उत्पन्न हुए हैं– स्त्रिया पूर्यंत एव तां समभवत्ततो मनुष्या अजायंत—(वही 1/4/3) । इसी प्रकार चींटी से लेकर (गाय, घोड़ा, गदहा, बकरा एवं भेड़ आदि) जितने भी जोड़े (मिथुन) हैं उन सभी की उन्होंने—मनु और शतरूपा ने—रूप धारण करके रचना कर डाली है– यदिदं किंच मिथुनमा पिपीलिकाम्यस्तत्सर्वमसृजत । (बृ० उप० 1/4/4) ।

संतानोत्पत्ति में कारणभूत, प्रजारूप में उत्पन्न होने की, प्रजापति (गृहपति) की इच्छा या कामना से लेकर नर-नारी के पारस्परिक आकर्षण, मैथुन-क्रिया, गर्भाधान, गर्भ में भ्रूण के क्रमिक विकास, जन्म, शरीर के संयोजक तत्त्व इत्यादि का निरूपण कोकशास्त्रीय आधार पर किया गया देखा जाता है । इसका संक्षिप्त उल्लेख हम 'वाममार्ग' शीर्षक के अंतर्गत करेंगे, यहाँ इतना समझ लेना ही पर्याप्त होगा कि इसमें पिंड की उत्पत्ति और उसकी संरचना आदि का निरूपण होता है—और यह है ब्रह्म के जीव रूप में अवतरित होने का ज्ञान अथवा भवरोग का निदान । किंतु यह ब्रह्मज्ञान का पूर्वार्द्ध है, उत्तरार्द्ध का सम्बन्ध व्यक्ति की मृत्यु-प्रक्रिया से होता है । अर्थात् व्यक्ति के प्राण किस क्रम से शरीर का त्याग करते हैं ? और मरने पर जीव कहाँ जाता है ? आदि का निरूपण उत्तरार्द्ध में रहता है । इस आत्मज्ञान का एक संक्षिप्त उदाहरण नीचे दिया जाता है—

आरुणि उद्दालक और श्वेतकेतु सम्वाद से यह निष्कर्ष निकला कि इस शरीर रूपी अंकुर का मूल अन्न है,[47] अन्न का मूल जल है, जल का मूल तेज है, और तेज का मूल सत् है । अर्थात् सत् से तेज, तेज से जल, जल से अन्न और अन्न से शरीर उत्पन्न हुआ है । यह हो गया उत्पत्ति क्रम । आगे मृत्यु-क्रम पर विचार करके निष्कर्ष निकाला गया कि मरते समय पुरुष की वाक् मन में लीन हो जाती है, मन प्राण में, प्राण तेज में, तेज परदेवता में और वह सत् में लीन हो जाता है । इस प्रकार यह प्रस्थापित हो गया कि– सारी प्रजा सन्मूलक है, सत् ही इसका आश्रय है, और सत् में ही इसकी प्रतिष्ठा है—(दे० छा० उप० 6/8) ।

कहना न होगा कि जन्म-प्रक्रिया कारण से कार्य की उत्पत्ति सिद्ध करती है और मरण-प्रक्रिया कार्य का कारण में लय सिद्ध करती है। इस विचार-पद्धति से कारण से कार्योत्पत्ति, कार्य में कारण की व्याप्ति, और कार्य का कारण में लय सिद्ध करके आदि, मध्य और अंत तीनों अवस्थाओं में विद्यमान कारण को सत्य और कार्य को केवल मध्यवर्ती अवस्था तथा आदि व मध्य में अविद्यमान सिद्ध करके अनित्य सिद्ध कर दिया जाता है। इसी विचार पद्धति को परवर्ती काल में अन्वय व्यतिरेक पद्धति के नाम से जाना गया, जिसने भारतीय चिंतन को दूर तक प्रभावित किया। किंतु इसका विशेष प्रयोग निवृत्तिमार्गी दर्शनों में हुआ, जिनमें भगवान बुद्ध अग्रगण्य हैं। धर्मकीर्ति की पंचकारिणी इसी की फलश्रुति प्रतीत होती है। अस्तु।

अब इस चिंतन की जो एक प्रमुख और अविस्मरणीय विशेषता है, वह है—पिंड और ब्रह्मांड की एकरूपता में विश्वास। इतना ही नहीं—अपने पिंड में ही समूचे ब्रह्मांड की विद्यमानता में अटल विश्वास। छा० उप० (8/1/3) में कहा गया है कि—"जितना यह भौतिक आकाश है, उतना ही हृदयांतर्गत आकाश है। द्यु लोक और पृथ्वी दोनों लोक सम्यक् प्रकार से इसके भीतर ही स्थित हैं। इसी प्रकार अग्नि और वायु दोनों, सूर्य और चंद्र दोनों तथा विद्यु त और नक्षत्र एवं इस आत्मा का जो कुछ इस लोक में है और जो नहीं है—(अर्थात केवल वर्तमान ही नहीं अतीत और अनागत भी) वह सब सम्यक् प्रकार से इसी में स्थित है- "यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन्समाहितमिति।।" अर्थात् जो था, है; और होगा, वह सब पिंड में है, जो यहाँ नहीं है वह कहीं नहीं है। बाह्यजगत् तो इस अंतर्जगत् का प्रतिविम्ब अथवा बहिर्भूत प्रकाश मात्र है।

ऐतरेयोपनिषद् (1/2/1-4) के अनुसार विराट् पुरुष के विभिन्न अंगों से उत्पन्न हुए देवताओं ने जब ईश्वर से अपने रहने योग्य आश्रयभूत ऐसे स्थान की माँग की जिसमें रहकर वे अन्न का भक्षण कर सकें, तो ईश्वर ने उनके समक्ष क्रमशः गाय एवं अश्व के शरीर प्रस्तुत किए जिन्हें उन्होंने अस्वीकार कर दिया। जब मनुष्य का शरीर प्रस्तुत किया गया तो उनकी उन्होंने प्रशंसा की और तब ईश्वराज्ञानुसार वे अपने-अपने आयतनों में इस प्रकार प्रविष्ट हुए—अग्नि ने वागेंद्रिय होकर मुख में, वायु ने प्राण होकर नासिकारन्ध्रों में, सूर्य ने चक्षु होकर नेत्रों में, दिशाओं ने श्रवणेंद्रिय होकर कानों में, औषधि और वनस्पतियों ने लोम होकर त्वचा में, चंद्रमा ने मन होकर हृदय में, मृत्यु ने अपान होकर नाभि में और जल ने वीर्य होकर शिश्न में प्रवेश किया।

पंचमहाभूतों से यह शरीर निर्मित है, यह तो सबके लिए प्रत्यक्ष ही है।

उक्त स्थिति का सारांश या गूढ़ार्थ यह होगा कि समस्त लोक, समस्त देवता, पंचमहाभूत सहित समूचा ब्रह्मांड ही जब पिंड के अंतर्गत है तो उसकी उत्पत्ति, स्थिति और विनाश अथवा सृष्टि, स्थिति और लय के सिद्धांत पिंड की उत्पत्ति, स्थिति और लय के सिद्धांत से भिन्न व पृथक् नहीं हो सकते। अंतर

केवल शब्दों का हो सकता है अर्थात् पिंड के संदर्भ में हम जो कुछ जन्म, जीवन व मृत्यु शब्दों के द्वारा कहना चाहते हैं, ब्रह्मांड के संदर्भ में उसे सृष्टि, स्थिति और प्रलय शब्दों के द्वारा कहेंगे। पिंड के संदर्भ में प्रजारूप में उत्पन्न होने की कामना पुरुष (पिता) की होगी तो ब्रह्मांड के स्तर पर विराट् पुरुष, परदेवता या प्रजापति की—इत्यादि। उपनिषदों में प्राण और रयि, मनु और शतरूपा, आकाश और पृथिवी, पति और पत्नी, यज्ञार्थ अग्नि प्रकट करने के लिए प्रयुक्त अरणियाँ—इत्यादि अनेक रूपों में नर-नारी के दाम्पत्यमूलक रूपक अपना कर कहीं स्पष्ट शब्दों में तो कहीं रूपकों में मैथुन और प्रजनन के द्वारा सृष्टि विस्तार का प्रतिपादन, आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक—तीनों दृष्टियों से किया गया देखा जाता है।

उपनिषत्कार यह मानकर चलते है कि यदि एक घड़े के विषय में आपने यह जान लिया कि इसका निर्माण मिट्टी से हुआ है, या मिट्टी इसका निमित्त है, तो शेष घड़ों या मिट्टी से निर्मित्त पदार्थों के विषय में भी यही सत्य है। अर्थात् एक के ज्ञान से, उसी प्रकार के समस्त पदार्थों का ज्ञान हो जाता है। उपनिषत्कार वैविध्यपूर्ण इस सृष्टि का आदि कारण एक ही मानते हैं— एकमेवाद्वितीयम्। जिस पिंड के ज्ञान को उन्होंने अपना लक्ष्य माना है, हम देख चुके हैं कि उसमें समस्त ब्रह्मांड और तीनों काल समाहित हैं। प्रश्न उठता है इस प्रकार के पिंड का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर क्या इस दुनिया में और भी कुछ ज्ञातव्य शेष रहता है ?—

येन रूपं रसं गन्धं शब्दान्स्पर्शांश्च मैथुनान्।
एत नैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते ॥ कठ० 2/1/3

अर्थात्—जिस इसके द्वारा मनुष्य रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श और मैथुनजन्य सुखों को निश्चयपूर्वक जानता है—उससे अविज्ञेय—इस लोक में और क्या रह जाता है ? उत्तर होगा—कुछ नहीं रह जाता। और फलश्रुति यह हुई—

स विश्वकृत स हि सर्वस्व कर्ता तस्य लोकः स उ लोक एव। (बृ० उप० 4/4/13) अर्थात् आत्मज्ञ विश्वकृत (या कृत-कृत्य) है। वही सब का कर्ता है, उसी का लोक है, और स्वयं वही लोक भी है। अर्थात् वह न केवल सर्वज्ञ होता है, सर्वमय भी होता है— स सर्वज्ञः नर्वो भवति ॥ प्रश्न० 4/10

निष्कर्ष यह हुआ कि पिंड ज्ञान ही ब्रह्मांड ज्ञान है, और आत्मज्ञान (अपना ज्ञान, अपनी उत्पत्ति, स्थिति, लय तथा अधिष्ठान आदि का ज्ञान) ही ब्रह्मज्ञान है।

(झ) संन्यास—अपनी समस्त लौकिक कामनाओं को उनके साधन सहित त्यागकर भिक्षावृत्ति या अयाचित-वृत्ति अपनाकर जीवन निर्वाह करना संन्यास है। संन्यास का विशेष विवेचन प्रासंगिकता के आधार पर हम आगे करेंगे, अतः यहाँ एतद्विषयक उपनिषत्कारों के विचारों को संक्षेप में प्रस्तुत कर देना ही

पर्याप्त होगा। उपनिषदोक्त धर्म वस्तुतः 'मोक्ष धर्म' है। 'मोक्ष' सामूहिक उपलब्धि न होकर वैयक्तिक साधना की उपलब्धि है। अर्थात् उपनिषद् धर्म आत्मोद्धार (अपने ही उद्धार) का मार्ग प्रशस्त करनेवाला ऐकांतिक धर्म है। फलतः एक आत्मसाधक को आत्मकल्याण (अपना ही कल्याण) से अधिक प्रिय न तो संसार की कोई वस्तु हो सकती है, न कोई व्यक्ति हो सकता है।

प्रायः सभी उपनिषत्कार एक स्वर से यह मानते हैं कि कर्म से, प्रजा से और धन से नहीं केवल त्याग से ही किन्हीं-किन्हीं ने अमृततत्त्व को प्राप्त किया है—न कर्मणा न प्रजया धनेन न त्यागेनैके अमृतत्त्वभानशुः (कैवल्य० 1/2)। अतः उस एक आत्मा को जानो, और सब बातों को त्याग दो, यही अमृत का सेतु-मोक्ष का साधन –है 'तमेवैकंजानथ आत्मानमन्या वाचो बिमुंचथामृतस्यैष सेतुः' (मुण्डक उप० 2/2/5)। संन्यास योग से प्रयत्न करनेवाले ही सब ओर से मुक्त हो जाते हैं –(मुंडक 3/2/6)।

यहाँ इतना ध्यान रखना आवश्यक है कि यह संन्यास आश्रम-व्यवस्था का न होकर अत्याश्रमी—संन्यास है––अत्याश्रमिम्य परमं पवित्रं (श्वेता०6.21)।

(2) **अनित्यता और दुःखवाद** –किसी वस्तु या व्यक्ति को चाहने और त्यागने का व्यवहार सम्बन्धित वस्तु या व्यक्ति के प्रति क्रमशः राग व द्वेष से प्रेरित होता है। यह राग-द्वेष उस वस्तु या व्यक्ति के अपने लिए उपयोगी या अनुपयोगी होने के गुण-दोष पर निर्भर करता है। इससे यह भी फलित होता है कि जिस वस्तु को अपनाना हो उसके गुण और जिसको त्यागना हो उसके दोष देखने चाहिए। ब्रह्मवेत्ताओं के लिए ब्रह्म या आत्मा साध्य है, अतः वह सत्, चित् व आनंदमय है, इसके विपरीत जगत् त्याज्य है, अतः वह असत् अचित् व निरानंद अथवा दुःखपूर्ण है—

यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम् ॥ छा० उ० 7/241
यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुसमस्ति भूमैव सुखं ॥ वही 7/23/1

अर्थात्—जो भूमा है वही अमृत है, जो अल्प है वही मर्त्य है। जो भूमा है वही सुख है, अल्प में सुख नहीं है, सुख भूमा ही है।

आगे चलकर सभी निवृत्तिमार्गियों ने इसी युक्ति को अपने-अपने ढंग से अपनाया है।

साधना

इष्ट (लक्ष्य) की प्राप्ति हेतु अनुभवी व्यक्ति (गुरु) के निर्देशन में किए गए सतत् अभ्यास (प्रयत्न) को साधना कहते हैं। साधना एक प्रकार से लक्ष्य तक पहुँचने का मार्ग है। अतः उसका स्वरूप लक्ष्य की स्थिति की दिशा में और तदनुरूप होता है। उपनिषत्कारों का लक्ष्य आत्म-स्वरूप की प्राप्ति है, अतः स्वभावतः उनके लिए आत्मा ही दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय एवं ध्यान किए जाने योग्य

है—आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्योमन्तव्यो निदिध्यासितव्यो—(बृ० उप० 2/4/5)। उल्लेख्य होगा कि जिस प्रकार अथर्ववेद का 'यक्ष' हृत्पद्म स्थित आकाश में स्थित है, उसी प्रकार उपनिषत्कारों का आत्मा भी। अतः कहा गया है कि - इस ब्रह्मपुर (शरीर) में जो यह सूक्ष्म कमलाकार स्थान है, इसमें जो सूक्ष्म आकाश है, इसके भीतर जो वस्तु है, उनका अन्वेषण करना चाहिए—(छा० उप० 8/1/1) इससे स्पष्ट है कि उपनिषत्कारों ने अंतर्बाह्य समस्त जगत में आत्मा की व्याप्ति मानकर भी उसकी प्राप्ति की सम्भावना स्वशरीर में ही मानी है, और इस स्थिति में उनकी साधना स्वरूपतः अंतर्मुखी ही हो सकती है, बहिर्मुखी कर्मकांड उसमें उपकारक नहीं हो सकता। अतः उसमें ध्यान एवं योग का प्राबल्य होना स्वाभाविक है।

(1) **तप**—यद्यपि उपनिषदों में ध्यान, निदिध्यासन, योग (दे० कठ० 2/3/16, 1/2/12, 2/3/16, श्वेता० 1/14, 1/1/3, 6/2-3, मुंडक 2/2/3 इत्यादि) के पर्याप्त उल्लेख मिलते हैं, किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय इस योगमूलक अंतर्मुखी साधना की एक संज्ञा 'तप' भी रही होगी। क्योंकि तप द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति का निर्देश पूर्ववर्ती और परवर्ती प्रायः सभी उपनिषदों में किया गया है। यथा—इंद्र ने एक सौ एक वर्ष तक ब्रह्मचर्य के साथ तप किया (छा० उप० 8/8-11), भृगु को बार-बार तप करने का आदेश दिया गया है, (तैत्ति० 3/1-5/, श्वेता० उप० (1/15) में तप द्वारा उसे देखने का आदेश है—तपसा योऽनुपश्यति, तथा मुंडक उप० (1/1/8) में तप के द्वारा ब्रह्म को जानने की वात कही गई है—'तपसा चीयते ब्रह्म।'

ध्यातव्य होगा कि आत्मज्ञान-लाभ में उपकारक आत्मदृष्टि (अंतर्मुखी दृष्टि) की उपलब्धि बहिर्मुखी दृष्टि के अवरुद्ध होने पर ही सम्भव है, अतः उक्त 'तप' का अर्थ 'चित्तवृत्ति-निरोध' होना चाहिए, जैसा कि कठ० उप० (1/2/24) के कथन से प्रकट है।

(2) **ब्रह्मचर्य**—उपनिषत्कारों के अनुसार सृष्टिप्रक्रिया एवं जन्मप्रक्रिया द्वारा ब्रह्म या आत्मा सूक्ष्म और स्थूल अनेक आवरणों से आवृत्त होकर क्रमशः संसाद एवं जीव रूप को प्राप्त होता है, जो बंधनकर्ता एवं दुःखमय अवस्था है। इस दुःखमय या बंधनग्रस्त अवस्था को प्राप्त होने का मूल कारण ब्रह्म, पुरुष या प्रजापति का सकाम होना है—स्वयं को प्रजारूप (संतानों के रूप) में प्रकट करने की कामना करता है। अर्थात् अथर्ववेद (19/52/1) जिसे 'मनसो रेतस्' या 'काम' कहता है, उपनिषत्कार उसे ही कामना या इच्छा कहते हैं... :सोऽकामयत्। बहुस्यां प्रजायेयेति।' (तैत्ति० 2/6/1), 'स ईक्षतलोकन्नु सृजाइति' —(ऐत० 1/1/1), 'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय'—(छा० उप० 6/2/3)।

इस स्थिति में बंधन में न पड़ने या बंधन से मुक्त होने का, निश्चय ही, एक ही मार्ग है और वह है—अकाम, आप्तकामया निष्काम होना। यों तो जैसा हम आगे देखेंगे 'अकाम' शब्द में समूचे निवृत्ति-मार्ग का तात्पर्य समाहित है, किंतु

यहाँ इतना ही उल्लेख्य होगा कि सन्तानोत्पत्ति से—प्रजा (संतान) के रूप में स्वयं को व्यक्त करने की कामना से विरक्त होना ही अकाम होना है। अतः ब्रह्मचर्य का पालन इनकी साधना का प्रमुख अंग है। कठ० उप० 1/2/15) में कहा गया है कि जिसकी प्राप्ति की इच्छा से साधक ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं—'यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य चरन्ति।' छा० उप० (8/4/3) में कहा गया है कि जो इसे ब्रह्मचर्य के द्वारा जानते हैं उन्हीं को यह ब्रह्मलोक प्राप्त होता है—तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति। यद्यपि छा० उप० (8/5/1-4) में ब्रह्मचर्य की व्याख्या अनेकविध की गई है, तथापि व्यावहारिक धरातल पर उसका तात्पर्य इससे भिन्न नहीं हो सकता कि—किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मायंलोकः—(बृ० उप० 4/4/22) अर्थात् जिन हमको आत्मलोक ही अभीष्ट है, वे संतान को लेकर क्या करेंगे? कहना अनावश्यक होगा कि यह ब्रह्मचर्य ऋग्वेद का 'ब्रह्मचर्य' (ब्रह्म = वेद या ज्ञान + की प्राप्ति का आचरण) न होकर अथर्ववेद का ब्रह्मचर्य = इंद्रिय निग्रह—है। कुल मिलाकर प्रजनन में उपकारक स्खलन का निवारण (या निरोध) करके ऊर्ध्वरेतस् (या ऊर्ध्वरेता, ऊर्ध्वमेंढ्र) होना इसकी साधना का प्रमुख लक्षण है, यही लक्ष्य भी है। वीर्य की अधोगति (स्खलन) को अवरोहण (पतन) और ऊर्ध्वगति को आरोहण, प्रथम को सृष्टि, द्वितीय को विसृष्टि आदि पचासों शब्द युग्मों द्वारा व्यक्त किया जाता है। प्रथम बंधन में पड़ने का मार्ग है, द्वितीय मोक्ष या निर्वाण का विरक्त, विरज, (= रज रहित), निर्वीज(= निर्वीर्य), अकाम, आदि शब्दों का एक ही तात्पर्य है—ब्रह्म की तरह नपुंसक हो जाना।

इस ब्रह्मत्व की प्राप्ति का एक मार्ग काया-क्लेश द्वारा चित्तवृत्तियों के दमन या निग्रह का मार्ग है, जिसे तप कहा गया है, दूसरा सरल सुखद मार्ग सम्भवतः नारी (योगिनी) के साथ अतिशय विपरीत रति और उसमें स्खलितवीर्य को प्राणायम की क्रिया द्वारा ऊपर खींच लेना है। यही वाममार्ग है, और जैसा हम आगे देखेंगे उपनिषत्कार इससे अपरिचित नहीं थे।

(3) **वाममार्ग**—'राजन्यबंधु' प्रवाहण ने आरुणि एवं उनके पुत्र श्वेतकेतु को जिस पंचाग्निविद्या का उपदेश दिया था, उसमें से 'योषग्नि का वर्णन इस प्रकार है—

हे गौतम! स्त्री ही अग्नि है, उपस्थ ही समिध है, लोभ ही धूम है, योनि ज्वाला है, प्रवेश ही अंगार है, आनंदलेश स्फुलिंग है। इस अग्नि में देवगण वीर्य होमते हैं, उस आहुति से पुरुष उत्पन्न होता है। जब तक (उसके) कर्म शेष रहते हैं, वह जीवित रहता है, बाद में मर जाता है—(बृ० उप० 6/2/13) यही सदुपदेश इन्हीं वक्ता-श्रोता के माध्यम से छा० उप० (5/8/1-2) में दुहराया गया है।

यह तो हुआ इन श्रीमानों द्वारा किया जानेवाला यज्ञ, अब इनके 'सामगान' से भी अवगत हो लें—"पुरुष जो संकेत करता है, वह हिंकार है, जो तोष (मीठी

बातों से) देता है, वह प्रस्ताव है, स्त्री के साथ जो सोता है, वह उद्गीथ है, अनेक स्त्रियों में से प्रत्येक के साथ जो शयन करता है, वह प्रतिहार है, मैथुन में बिताया गया समय निधन हैं'—(छा० उप० 2/13/1)। कहना न होगा कि हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ आदि वैदिक आर्यों के सामगान की विधि के अंग हैं।

'प्रतिस्त्री सह शेते' (छा० उप० 2/13/1) अर्थात् 'प्रत्येक स्त्री के साथ शयन करे' के आदर्श और व्यवहार को लेकर चलनेवाली 'वामदेव्यसाम की उपासना' के संदर्भ में असंदिग्ध शब्दों में कहा गया है कि 'जिस साधक के पास बहुत-सी स्त्रियाँ हों वह उनमें से किसी को भी न छोड़े,—यही उसका व्रत है—न कांचन परिहरेत्तद्व्रतम्—(छा० उप० 2/13/2)। बृ० उप० (4/3/21) में ब्रह्मानंद को स्खलन की उस अवस्था जैसा बताया गया है, जिसमें न कुछ बाहर का विषय रहता है न अंदर का।

ध्यातव्य होगा कि आत्मा की सुखपूर्ण अवस्था को प्रायेण सर्वत्र 'सुषुप्ति की अवस्था, बताया गया है, जिसे कुछ विद्वान् सुरापान की बेहोशी का द्योतक भी मानते हैं। बृ० उप० (4/3/22) में कहा गया है कि इस सुषुप्ति की अवस्था में सभी प्रकार के भेदभाव समाप्त हो जाते हैं, पिता अपिता हो जाता है, माता अमाता हो जाती है·········पापी पुण्यवान हो जाता है, हृदय के सम्पूर्ण शोक दूर हो जाते हैं। एक अन्य उक्ति (बृ० उप० 6/4/18) में कहा गया है कि सुयोग्य पुत्र चाहने वाले को घोड़े या बैल का मांस घृत मिश्रित भात के साथ खाना चाहिए।

इन कथनों के अवलोकन से परवर्ती बौद्ध तांत्रिकों के भैरवी चक्र और वाममार्गी शाक्तों की पंचमकारों का स्मरण हो आना स्वाभाविक है। वस्तुतः यही वह साधना है जो गुरुमुखैकगम्य है, और जिसका ज्ञान 'गुह्यादेश' है। बृ० उप० (6/4) में 'संतानोत्पत्ति विज्ञान' अथवा 'पुत्रमंथन कर्म' शीर्षक के अंतर्गत पूरा कोकशास्त्र (कामशास्त्र) दिया गया है। इसी रहस्यमय साधना और ज्ञान के माध्यम से ये साधक पिंड की उत्पत्ति एवं विलय के रहस्यों से अवगत होते थे, और इसी पिंडोत्पत्ति एवं उसके लयक्रम (मृत्यु प्रक्रिया) विषयक अपने ज्ञान को, स्वसंवेद्यज्ञान को, ब्रह्मवेत्ता होकर ब्रह्मांड की उत्पत्ति एवं प्रलय विषयक अपने ज्ञान के रूप में प्रस्तुत करते थे।

राजन्यबंधु प्रवाहण ने उद्दालक से कहा था कि तुमसे पूर्व यह विद्या ब्राह्मण के पास नहीं गई। (छा० उप० 5/3/7)। हमारे विचार से यह विद्या सदाकाल अब्राह्मणों (अनार्यों) के ही पास रही। इससे इस विद्या का अनार्यत्व प्रकट होता है। इस विद्या के बाहर से आने में किसी को कोई संदेह नहीं है, किंतु चीन के ताओ धर्मावलम्बियों के माध्यम से यह भारत में आई अथवा मग देश के सूर्योपासक मग-ब्राह्मणों के माध्यम से—इस विषय में मतैक्य नहीं है। हमारे विचार से परवर्ती मध्यममार्ग, सहज साधना, शब्द सुरति योग, काम-कला, भैरवी चक्र, आनंदमार्ग, प्रेममार्ग और यहाँ तक कि भक्ति- (वस्तुतः मुक्ति) इसी के साम्प्र-

दायिक रूपांतर हैं।

(4) **आभिचार** : तैत्ति० उप० (3/10) में कहा गया है कि वह (ब्रह्म) नमः है, इस प्रकार उपासना करने पर सभी काम्य पदार्थ उसके (साधक के) प्रति विनम्र हो जाते हैं वह परिमर (आकाश) है, इस प्रकार उपासना करने पर उससे (साधक से) द्वेष रखनेवाले सभी शत्रु मर जाते हैं। जो अप्रिय भाई के पुत्र होते हैं, वे भी मर जाते हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् (6/4) में नारी के वशीकरण, जारण, मारण, व्यभिचार का विस्तृत विवरण है, साथ ही (6/4/12) पत्नी के जार को मार डालने का मंत्र, तंत्र, यंत्र सहित पूरी विधि दी गई है। कौषीतकी उपनिषद् (अध्याय 2) में मंत्र द्वारा पर धन की प्राप्ति, परपुरुष एवं पर नारी के प्रेम सम्पादन, तथा अपने जीवन-काल में पुत्र की मृत्यु न हो इत्यादि से सम्बन्धित अभिचार दिए गए हैं।

(5) **सम्प्रदायवाद** : साधना के पूर्ण होने पर साधक का ब्रह्मस्वरूप हो जाना, घोषणा सर्वज्ञ हो जाना, अपने मत के प्रचार का अधिकार, मत-मतांतर, आराध्य का स्वरूपगत वैविध्य, उपासनागत वैविध्य, असहिष्णुता, एवं धन की स्वीकृति — औपनिषदिक सम्प्रदायवाद के प्रमुख लक्षण हैं, जिन पर क्रमशः प्रकाश डाला जाएगा।

(1) **ब्रह्मतत्व प्राप्ति** : 'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत' की उद्-करने वाले वेदांतियों को सम्प्रदायवाद के प्रवर्तक बताने की मेरी चेष्टा प्रथम दृष्टि में असंगत प्रतीत हो सकती है। किंतु हमें यह न भूलना चाहिए कि सर्व-व्यापी एक परमतत्त्व की वैचारिक स्थापना तक ही अद्वैतवाद सीमित नहीं है। अद्वैतवाद का फलितार्थ यह है कि प्रत्येक प्राणी ब्रह्म है— 'जीयो ब्रह्मैव नापरः, मैं ब्रह्म हूँ—अहं ब्रह्मास्मि, तू भी वही है— तत्त्वमसि, समस्त ब्रह्मांड ब्रह्म है— सर्वं खल्विदं ब्रह्म'। इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक प्राणी, किंतु विशेष रूप से मनुष्य, प्रपुप्त ब्रह्म है। निश्चित साधना मार्ग को अपनाकर, अपनी प्रपुप्त शक्तियों को जागृत करके, वह स्वयं ब्रह्म बन जाता है— ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति —(मुंडक 3/2/9), जो पुरातन देव (विद्वान) और ऋषि (तपस्वी) उसे जानते थे वे तद्रूप होकर अमर हो गए—ये पूर्वं देवा ऋषयश्च तद्विदुस्ते तन्मया अमृता वै बभूवः (श्वेता० 5/6)—इत्यादि।

(2) **सर्वज्ञता** : यह हम देख ही चुके हैं कि उपनिषत्कारों के अनुसार आत्म-ज्ञानी सर्वज्ञ हो जाता है—स सर्वज्ञः (प्रश्न 4/11)। "यह कितने सर्वज्ञ थे, यह तो राहु के मुख में चंद्रमा के घुसने (चंद्रग्रहण) तथा सूर्यलोक से भी परे चंद्र लोक के होने की बात से ही स्पष्ट है।" किंतु भौतिकविज्ञान की ऐसी भद्दी भूलों से उनकी सर्वज्ञता को आँच नहीं आती थी, क्योंकि "ब्रह्म ज्ञान के लिए अति-साधारण बुद्धि से भी काम चल सकता है।"[18] ब्रह्म और ब्रह्मलोक तक का ज्ञान इन ऋषियों के लिए बाएँ हाथ का खेल था मगर वास्तविक विश्व के ज्ञान में बेचारों की सर्वज्ञता पिछड़ जाती थी।[19]

(3) **मत-प्रचार का अधिकार :** सर्वज्ञ माने जाने के कारण इनके कथन, अतर्क्य प्रमाण, साक्षात्कृतधर्मा की अनुभवसिद्ध वाणी, के रूप में मान्य बनते थे, और स्वयं ब्रह्म या साक्षात् परब्रह्म हो जाने के कारण इन्हें अपने मत का प्रचार करने का अवाधित अधिकार प्राप्त हो जाता था। क्योंकि ये स्वयं अकाम, आप्त-काम, निष्काम होने के दावेदार थे और किसी भी बाह्यकर्म को बंधनकारक या अविद्याजन्य मानते थे, अतः अपने धर्मोपदेश को लोक कल्याण के लिए ईश्वराज्ञा प्रेरित अबंधक, निष्काम कर्म की संज्ञा देते थे। स्वयं प्रायः ब्रह्मचर्य का पालन करके, इन्द्रिय निग्रह करके, अपनी बिंदु सृष्टि (सन्तानोत्पत्ति या पुनर्जन्म) का उच्छेद कर देते थे— इस अर्थ में वे प्रलयकर्ता थे, और निवृत्तिरूपी पत्नी से शिष्य रूपी संतानों या पुत्रों की सृष्टि करके शिष्य-मंडली या संघ की स्थापना करते थे—इस अर्थ में वे नई (मानस) सृष्टि के कर्ता या सर्जक थे। इस नव-सर्जित सृष्टि में वे ईश्वर (राजा) तुल्य होते थे, इस अर्थ में वे स्वराड् या स्वराट् (अपने राजा स्वयं) अथवा ईश्वर या भगवान बन जाते थे।[50]

(4) **मत-मतांतर** – जैसा उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है, सभी ब्रह्मवेत्ताओं के चिंतन का विषय सृष्टि का आदि कारण है, आत्मज्ञानी होने के नाते उनका सर्वज्ञ और ब्रह्मस्वरूप होना स्वतः सिद्ध है। 'एकमेवाद्वितीयम्' का शंख फूंकने वाले इन ब्रह्मस्वरूप सर्वज्ञों ने सृष्टि का आदि कारण इस प्रकार बताया है—

(1) पहले यह ब्रह्म ही था—ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्। बृ० उप० 1/4/10

(2) पहले एक आत्मा ही था– आत्मैवेदमग्र आसीत्। वही: 1/4/17

(3) हे सोम्य ! आरम्भ में यह एकमात्र, अद्वितीय सत् ही था—
सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ।।छा० उप० 6/2/1

(4) पहले यह असत् ही था, उसी से सत् की उत्पत्ति हुई—
असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वा सद जायत।। तैत्ति० 2/7/1

(5) पहले कुछ भी नहीं था, सब कुछ मृत्यु (अथर्ववेद का काल) से ही आवृत था—
नैवेह किंचनाग्र आसीन्मृत्युनैवेदभावृतमासीत्।। बृ० उप० 1/2/1)।

(6) 'ओम्' यह अक्षर ही सब कुछ है—ओमित्येतदक्षइमिदं सर्वं।। मांडूक्य 1/1।

(7) ये समस्त भूत आकाश से उत्पन्न हुए हैं—वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्त—(छा० उप० 1/9/1, 7/12/1)।

(8) पहले पानी ही था—आप एवेदमग्र आसुरता—(बृ० उप० 5/5/1)।

(9) वायु ही संवर्ग है -वायुर्वाव संवर्गो—(छा० उप० 4/3/1)।

(10) अग्नि ने भुवन में प्रविष्ट होकर पृथक्-पृथक् रूप धारण किए हैं—
अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूप बभूव। (कठ०2/2/1)।

सृष्टि के आदि कारण के विषय में इन सर्वज्ञों के कुल इतने ही मंतव्य नहीं हैं, इस सारणी को और भी लम्बाया जा सकता है। वस्तुतः प्रत्येक ब्रह्मवेत्ता

का अपना एक स्वतंत्र मंतव्य है। प्रायः प्रत्येक उपनिषद् उसे अपना एक (या एकाधिक) सर्वथा नया नाम देता प्रतीत होता है यथा ईशोपनिषद् में उसे 'ईश', केनोपनिषद् में 'यक्ष', कठोपनिषद् में पर पुरुष, प्रश्नोपनिषद् में पुरिशय पुरुष, तैत्तिरीयोपनिषद् में आनंद, ऐतरेयोपनिषद् में प्रज्ञानं ब्रह्म, मांडूक्य में अंतर्यामी, छान्दोग्योपनिषद् में परादेवता, सद् ब्रह्म एवं आकाशः, बृ० उप० में औपनिषदिक् पुरुष, श्वेता० उप० में रुद्र, शिव, हर एवं मुंडक में ब्रह्मदेव कहा गया है। सृष्टि व ब्रह्म के सम्बन्धों को लेकर भी उपनिषदों में सद्वाद, असाद, कार्य-कारणवाद, विवर्त्तवाद, स्वप्नवाद, प्रतिबिम्बवाद आदि अनेक मत पाए जाते हैं।

(5)**आराध्य वैविध्य**—कुल मिलाकर उपनिषत्कार यह मानते प्रतीत होते हैं कि सिद्धांत में जो सर्वातीत है, व्यवहार में वही सर्वमय है। इसलिए व्यक्ति जिन गुण-धर्मों और जिस रूप का उसमें आरोपण करके उसकी उपासना करता है वह उन गुण धर्मों से युक्त होकर तद्रूप हो जाता है। यथा—वह प्रतिष्ठा में है, जो ऐसे उपासना करता है, वह प्रतिष्ठावाला होता है। वह यह है, जो ऐसे उपासना करता है, वह महान होता है। वह मन है, जो ऐसे उपासना करता है वह मानवान् होता है—इत्यादि (दे० तैत्ति० 3/10)। तात्पर्य यह है कि जैसी जिसकी मनोवृत्ति है, उसके अनुरूप उसका उपास्य होता है, अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति का उपास्त ब्रह्म अलग अलग हो सकता है।

(6) **उपासना वैविध्य**—छान्दोग्योपनिप्रद् (7/22, 1/9, 7/12, 3/19, 4/11, 5/18, 8/4, 7/3 एवं 6/2) में भूमा, आकाश, आदित्य, प्राण, वैश्वानर, आत्मा सेतु, ज्योति आदि को ब्रह्म मानकर उनकी उपासना का आदेश दिया गया है। तैत्तिरीयोपनिषद् (3/10) में कहा गया है कि—"योगक्षेम रूप से प्राण और अपान में, कर्म रूप में हाथ में, गति से चरणों में, और त्याग रूप से वायु में—वह उपासनीय है- यह मनुष्य सम्बन्धिनी उपासना है। तृप्ति रूप से वृष्टि में, वल रूप से विद्युत् में—वह उपासनीय है—यह देवता सम्बन्धिनी उपासना है। यश रूप से पशुओं में, ज्योति रूप में नक्षत्रों में, पुत्रादि प्रजा, अमृतत्व और आनंद रूप से उपस्थ में तथा सर्व रूप से आकाश में—ब्रह्म की उपासना करें।" ब्रह्म और उसके स्वरूप तथा उपासना और उसके स्वरूप आदि के विषय में उपनिषदों में संगत और असंगत ऐसी अटकलपच्ची का कोई अंत नहीं है।

(7) **असहिष्णुता**—अपने ही मत को सर्वोत्कृष्ट या अंतिम सत्य बताना और दूसरों के मतों का अपूर्ण अथवा मिथ्या घोषित करना सम्प्रदायवाद का एक प्रमुख लक्षण है। खंडन-मंडन की यह प्रवृत्ति यों तो उपनिषदों में सर्वत्र पाई जाती है, किंतु प्रख्यात ब्रह्मवेत्ता याज्ञवल्क्य इस प्रवृत्ति के श्रेष्ठ उदाहरण हैं। उन्होंने जनक वैदेह की राजसभा के अखाड़े में न केवल आर्त्तभाग, भुज्यु, उषस्त, कहोल, आरुणि आदि को भूलुंठित कर दिया, हार न मानने वाले शाकल्य की तो गर्दन ही गिरा दी।[51] महाभारत के अनुसार कहोल तब तक उसके यहाँ बंदी

रहे जब तक कि उनके पुत्र अष्टावक्र ने अपने पिता को विवाद में परास्त करने वाले को परास्त नहीं कर दिया। शालिनि, उदङ्क, बर्कु, गर्दभी विपीत, जाबाल एवं शाकल्य ने जनक को याज्ञवल्क्य की अनुपस्थिति में ब्रह्म के विषय में जो-जो उपदेश दिए, याज्ञवल्क्य ने उन सबकी अपूर्णता प्रतिपादित करके अपने मंतव्य की सर्वोपरिता सिद्ध की (बृ० उप० 4/2)। कैकेय अश्वजित ने उद्दालक, औपमन्यव प्रभृति से कहा ही था कि यदि तुम मेरे पास नहीं आते, तो तुममें से किसी का मस्तक गिर जाता, किसी की आँखें नहीं रहतीं, किसी के प्राण अतिक्रमण कर जाते इत्यादि (दे० छा० उप० 5/11-17)। इनके द्वारा प्रतिपादित अद्वैतवादी ब्रह्मज्ञान को न माननेवालों के प्रति कुछ इस प्रकार की दुर्भावनाएँ भी व्यक्त की गई हैं कि जो ब्रह्म को असत् मानता है, वह स्वयं भी असत् हो जाता है—(तैत्तिरीय 2/6), जो उसमें नानात्व देखता है वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है—(कठ० 2/1/10), जो यज्ञों या इष्टापूर्त कर्मों को ही सब कुछ मानकर स्वयं को पंडित मानता है, वह महामूर्ख जन्म-मरण को प्राप्त होता है, या स्वर्ग से च्युत होकर निम्नलोक को प्राप्त होता है— (मुंडक 1/2/7, 10), जो आत्मज्ञानी से स्पर्धा करता है वह सूख कर मर जाता है— (बृ० उप० 1/5/21)।[51]

ब्रह्म विषयक वाद-विवाद में आरुणि श्वेतकेतु ने पांचाल नरेश प्रवाहण से, गार्ग्य ने काशीनरेश अजातशत्रु से, औनमन्यव आदि ने कैकेय अश्वपति से परास्त होने पर उनका शिष्यतव स्वीकार किया था। इससे प्रकट होता है कि वाद-विवाद की तत्कालीन व्यापक प्रवृत्ति की एक विशेषता यह थी कि परास्त हुए ब्रह्मवेत्ता को विजेता का शिष्यत्व स्वीकारना होता था। यह प्रवृत्ति इन वाग्वीरों की परम्परा में मध्यकालीन भक्ति के आचार्यों तक की दिग्विजयी यात्राओं के रूप में लक्षित होती है।

श्वेता० उप० (1/2) में तत्कालीन अनेक वादों का उल्लेख है और आगे उनका सबका खंडन किया गया है। मांडूक्य उप० (4/83) में भी अनिश्चय-मूलक वादों को मूर्खतापूर्ण बताकर अपने मत का प्रतिपादन किया है।

(8) **गुरुवाद**—उपनिषत्कारों की स्पष्ट धारणा है कि आचार्य या गुरु के बिना कोई ब्रह्मवेता नहीं हो सकता। आचार्य से ही विद्या सफल होती है—आचार्यद्धैव विद्या— (छा० उप० 4/9/3)। सत्यकाम जाबाल वृषभ, अग्नि प्रभृति द्वारा उपदिष्ट होने पर भी, गुरु की स्वीकृति के बाद ही तुष्ट होता है। अतः गुरु के प्रति वैसी ही भक्ति रखनी चाहिए, जैसा कि देवता के प्रति—यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरु— (श्वेता० 6/23)। अर्थात् गुरु प्रकट ब्रह्म है।

(9) **धन की महत्ता**— सामान्य रूप से उपनिषत्कारों ने धन को अनित्य और ब्रह्म को नित्य बताकर यह प्रतिपादित किया है कि अनित्य वस्तु द्वारा नित्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। अर्थात् धन के द्वारा अमरता प्राप्त नहीं हो सकती, अतः वे स्वयं सर्वस्व त्यागी है। किंतु दूसरी ओर उनके इस उपदेश का तात्पर्य यह है कि मनुष्य के जीवन का लक्ष्य है—मोक्ष प्राप्त करना। जिस ब्रह्मज्ञान से

यह मोक्ष (या अमरता) प्राप्य है, वह यदि धन, दारा व पुत्रादि के त्याग से भी मिलता हो तो विवेकी पुरुष को उसे प्राप्त कर लेना चाहिए। तदुपरांत इन ब्रह्म-वेत्ताओं को अपनी नवीन सृष्टि (चेलाओं की जमात या संघ) के निर्वाह के लिए धन की आवश्यकता रहती ही थी। अतः गुरु से ब्रह्मज्ञ होने का प्रमाणपत्र मिलते ही वे निकटवर्ती राजा को ब्रह्मोपदेश देने का उपक्रम करते हैं। क्योंकि जिस धन की इन्हें आवश्यकता है वह राजा (या बड़े-बड़े धनिकों) के पास है, और राजा को अमर बनाने वाला ब्रह्मज्ञान इनके पास है। इस मनोवृत्ति का सचोट उदाहरण याज्ञवल्क्य है। जनक ने श्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता को सोने से मढ़े सींगों वाली एक हजार गायें उपहार में देने की घोषणा की। ब्रह्मवेत्ता एकत्रित हुए। याज्ञवल्क्य भी आए। उन्होंने इस वाद-विवाद में जय-पराजय के निर्णय की प्रतीक्षा न करके शिष्य को आदेश दिया कि वह गायों को ले जाए। इसके बाद भी याज्ञवल्क्य को जब-जब धन की आवश्यकता होती है, जनक को ब्रह्मोपदेश देने चला आता है। राजा पूछता है—याज्ञवल्क्य "कैसे आना हुआ ? पशुओं की इच्छा से या सूक्ष्मांत के लिए ?" याज्ञल्क्य का उत्तर है—'दोनों के लिए।' राजा उसे हजार मुद्रा" हजार गायें आदि देने का प्रस्ताव करता है। इस पर याज्ञवल्क्य का उत्तर है—धन नहीं "मेरे पिता का विचार था कि शिष्य को उपदेश द्वारा कृतार्थ किए बिना उसका लेना चाहिए—स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति (बृ० उ० 4/1)। इस समग्र घटना का अंतिम तात्पर्य यह निकलता है कि एक दिन जनक को अपना राज्य और अपना शरीर याज्ञवल्क्य को सौंप देना पड़ता है नमस्तेऽस्त्विमे विदेहा अयमहमस्मि - (बृ० उप० 4/2/4)।

जानश्रुति पौत्रायण को ब्रह्मोपदेश देने के बदले रैक्व ने अपार धन और राजकन्या का जो असाधारण दान लिया था (छा० उप०) वह भी यही सिद्ध करता है कि ब्रह्मज्ञान के बदले धन स्वीकारा जाता था। कोई भी धनिक अथवा राजा ब्रह्मज्ञानियों के संघ के पक्ष में अपनी अपार सम्पत्ति का त्याग या दान किए बिना मोक्षप्रद ब्रह्मज्ञान नहीं पा सकता था। इस प्रवृत्ति के कुछ अधिक सचोट प्रमाण जैनों एवं बौद्धों के वाङ्मय में पाए जाते हैं।

संक्षेप में निष्कर्ष यह है कि परवर्ती काल में देश की जनता में संन्यास, ब्रह्मज्ञान और मोक्ष प्राप्त करने की जो महामारी फैली उसके कीटाणु उपनिष-त्कारों ने पैदा किए थे।

उपनिषद् धर्म

तैत्ति० उप० (1/11) में समावर्तन -वेदाध्ययन पूरा करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश के लिए लौटने --के अवसर पर स्नातक को उपदेश दिया गया है कि --सत्य बोल। धर्म का आचरण कर। स्वाध्याय से प्रमाद न कर। आचार्य को प्रिय दक्षिणा देकर, प्रजातंतु, का छेदन न कर।······देवकर्म एवं पितृकर्म में प्रमाद न कर। माता, पिता, गुरु एवं अतिथि को देवतुल्य मानकर अनिन्दनीय कर्म

कर। जो हमारे (गुरुजनों, शिष्टजनों के) सुचरित हैं, वे ही तुम्हारे अनुकरणीय हैं, इतर नहीं। श्रेष्ठ ब्राह्मणों का आसन देकर सम्मान करना चाहिए। श्रद्धा से देना चाहिए, अश्रद्धा से नहीं'''यदि कर्म अथवा वृत्ति के विषय में कोई विचिकित्सा हो तो जो विवेकशील ब्राह्मण युक्त, अयुक्त, मृदु और धर्मशील हो, वे वहाँ जैसा व्यवहार करें, वैसा तुम्हें करना चाहिए—इत्यादि। आगे कहा गया है कि—यही उपदेश है, यही उपदेश है, यही वेदोपनिषद् है—एष उपदेश:। एषा वेदोपनिषत्॥

प्रकट है कि इस धर्मोपदेश के अधिकारी पात्र गृहस्थाश्रम में प्रवेश चाहने वाले स्नातक हैं, अरण्यवास की ओर उन्मुख मुंडक नहीं। दूसरे यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि यह 'वेदोपनिषत्' अर्थात् वेद (कर्ममार्ग) का यह धर्मोपदेश, धर्मविषयक उपनिषदों की सामान्य अवधारणा[52] यतिधर्म—के सुसंगत नहीं है। इसी प्रकार बृ० उप० (1/4 11-13) में दी गई वर्णोत्पत्ति और इसी उपनिषद् (1/4|14) में दी गई धर्मोत्पत्ति तथा देव, मनुष्य और असुर के प्रति प्रजापति द्वारा दिया गया क्रमश: दम, दान एवं दया का उपदेश, और ईशोपनिषद् (मंत्र-2) में व्यक्त कर्मरत रहकर सौ वर्ष तक जीवित रहने की अभिलाषा इत्यादि कुछ ऐसी बातें हैं जो निश्चय ही वैदिक परम्परा के अनुरूप हैं, और धर्मविषयक औपनिषदिक अवधारणा के प्रतिकूल हैं। अत: उपनिषदोक्त होने पर भी उपनिषद् धर्म के निरूपण में इन्हें आधार नहीं बनाया जा सकता।

उपनिषत्कारों को अभिप्रेत धर्म जिन उक्तियों में प्रतिपादित है, वे मुख्यत: वैयक्तिक आचार शुचिता से सम्बन्धित हैं। छा० उप० (2/23/1) में धर्म के तीन स्कंध बताए गए हैं—(1) यज्ञ, अध्ययन एवं दान, (2) तप और (3) ब्रह्मचर्य। इनमें से अंतिम दो का निरूपण हम पूर्ववर्ती पृष्ठों में कर चुके हैं। प्रथम स्कंध के जो तीन अंग हैं, उनमें से यज्ञ वस्तुतः आत्मयज्ञ है, अध्ययन सद्गुरु के सान्निध्य में रहकर ब्रह्मविद्या प्राप्त करने का द्योतक है, और दान अपनी सम्पत्ति के त्याग (अर्थात् गृहस्थ के त्याग) अथवा ज्ञान दान का। अपने शिष्य—देवकीपुत्र कृष्ण—के प्रति घोर आंगिरस का उपदेश है कि—जो तप, दान, आर्जव (सरलता), अहिंसा और सत्य वचन हैं, वे ही 'आत्मयज्ञ' की दक्षिणा हैं—(छा० उप० 3/17/3-4)। मुंडकोपनिषद् (3/1/5) में कहा गया है कि आत्मा सत्य, तप और ब्रह्मचर्य से सदा प्राप्य है। छा० उप० (5/10/9) में स्वर्ण के चोर, मद्यपी, गुरु पत्नि गामी एवं ब्रह्मघाती तथा इनके सहायकों को पतित कहा गया है।

तदुपरांत सत्य (प्रश्न 6/1), अहिंसा (छा० उप० 8/15/1), निर्वैर (ईश० 6), तप (तैत्ति० 3/2/1), त्याग (कैवल्य० 1/2), ब्रह्मचर्य (कठ० 1/2/15), ऐषणात्रय—(पुत्रैषणा, वित्तैषणा, एवं लोकैषणा) को त्याग भिक्षावृत्ति अपनाना (बृ० उप० 3/5/1) पाप कर्मों से निवृत्ति और मन, इंद्रिय तथा चित्त का समाहित होना—(कठ० 1/2/24) इत्यादि से सम्बन्धित जितने

भी विधान हैं वे सब व्यक्तिगत साधना में उपयोगी व्रत अथवा आचार हैं। जिनका 'मैं—मेरा' और 'तू– तेरा' के द्वैतभावाश्रित सामाजिक व्यवहारों से दूर का भी सम्बन्ध नहीं है। मेरे विचार से तो उपर्युक्त सत्य, अहिंसा आदि व्रत ही परवर्ती योग साधना में यम-नियम के अन्तर्गत स्वीकृत हुए हैं।

डॉयसन (दे० फिलॉसफी आफ दी उपनिषद्स पृ०362) प्रभृति कुछ पश्चिमी विचारकों ने इस सत्य का उद्घाटन किया है कि उपनिषत्कारों के अनुसार नीति (सामाजिक-सदाचार, सद्व्यवहार) न केवल पूर्णज्ञानी के अपितु साधक के लिए भी अनावश्यक हैं। भारतीय विद्वानों ने इसे—रागद्वेष से मुक्त, सर्वस्वत्यागी इन महाशयों के प्रति—एक भारी आक्षेप मानकर कुछ आडम्बरी व्याख्याओं द्वारा इसका बचाव किया है। उनका यह बचाव कितना निरर्थक है इसे इस एक वाक्य से ही समझ लेना होगा—(उपनिषदों के ज्ञान में नैतिक आचरण अंतर्निहित अथवा पूर्वनिहित है।[53] तात्पर्य स्पष्ट है कि ग्रंथकार ने जो नहीं लिखा है वह भी उसमें है। हमारे विचार से तथ्य है कि उपनिषत्कार समाज-लक्ष्यी शुभाशुभ (या पाप-पुण्य) कर्मों को अपनी आत्म-साधना में न केवल व्यर्थ मानते हैं - (दे० बृ० उप० 4/4/23), अपितु इस आधार पर वे धर्माधर्म और कृताकृत का भेद मानने को ही तत्पर नहीं हैं—(दे० कठो०1/2/14)।

सक्षेप में, उपनिषद् धर्म के विषय में महाभारतकार के इस गंतव्य को मैं एकदम प्रामाणिक एवं आधिकारिक मानता हूँ—

चतुर्थोपनिषद् धर्मः साधारण इति स्मृतिः।
संसिद्धै साध्यते नित्यं ब्राह्मणैर्नियतात्मभिः॥
संतोषमूलस्त्यागात्मा ज्ञानाधिष्ठानमुच्यते।
अपवर्गमति नित्यो यति धर्मः सनातन॥ शांतिपर्व 270/30-31
समाप्तं त्याग इत्येव सर्ववेदेषु निष्ठितम्॥ वही 210/45

अर्थात्—चतुर्थ (संन्यासाश्रम) ही उपनिषद धर्म है, जो साधारण धर्म है (अर्थात् उसमें वर्ण भेद अमान्य है)। जो संयतचित और तपः सिद्ध ब्रह्मनिष्ठ हैं, वे ही उसका साधन कर पाते हैं—अर्थात् उसमें अधिकार भेद मान्य है। संतोष उसका मूल है, त्याग उसकी आत्मा है और ज्ञान उसका आश्रय है। जिसमें मोक्षदायिनी बुद्धि नित्य आवश्यक है। वह यतिधर्म सनातन है। सब कुछ त्याग देने पर ही ब्रह्म की प्राप्ति होती है।

सांख्य

प्रवर्तक—सांख्य के प्रणेता कपिल मुनि माने गए हैं। इनके सम्बन्ध में भागवत पुराण (13/24/18-19), हरिवंश पुराण (3/81/88-89), म० भा० शांतिपर्व (101/3), श्वेता० उप० (5/2, 6/13) आदि में जो जानकारी उपलब्ध है, वह नितांत पौराणिक ढंग की है, अर्थात् उसके आधार पर इनके

पार्थिव जीवन के विषय में कोई निष्कर्ष निकालना असंदिग्ध न होगा। अश्वघोष (प्रथम शती) विरचित 'सौंदरनंद' महाकाव्य में इनके आश्रम की स्थिति हिमालय के पार्श्व में बताई गई है और कहा गया है कि शाक्यवंश की राजधानी 'कपिलवस्तु' का नामकरण इनके नाम के आधार पर और उसका निर्माण इनके आश्रम के स्थान पर सम्पन्न हुआ है।[54] किसी अन्य स्रोत से इस अवधारणा का खंडन नहीं होने के कारण हम कह सकते हैं कि कपिल उसी भूभाग से सम्बद्ध थे, जो औपनिषदिक् काल से, वस्तुत: उससे भी कुछ पहले से ही, व्रात्य समुदायों का अजेयगढ़ बन चुका था।

ध्यातव्य होगा कि कुछ विद्वान् कपिल को एक व्यक्ति न मान कर विशेषण मानते हैं। डॉ० गोविन्दचंद्र पांडेय लिखते हैं कि 'कपिल मुनि' इस संज्ञा में कदाचित् (ऋग्वेदोक्त) पिशङ्ग वस्त्रधारी मुनियों की ओर इंगित पाया जाता है।[55] तदुपरांत पूर्वोक्त श्वेता० उप० (5/2) में जो कपिल मुनि का उल्लेख है, आचार्यशंकर ने श्वेता० उप० (4/12) की उक्ति का आधार लेकर उसका अर्थ 'हिरण्यगर्भ' किया है—(दे० ब्र० सू० भाष्य 2/1/1)। याज्ञवल्क्य स्मृति में हिरण्यगर्भ को योग का आदि उपदेष्टा कहा गया है।[57] "हिरण्यगर्भो योगस्य-वक्ता नान्य: पुरातन:।" संभव है कि जैसे वैष्णवों ने कपिल को विष्णु का पाँचवाँ अवतार माना है, शैवों ने उन्हें शिव का अंशावतार माना है, वैसे ही योगियों ने उन्हें अपना आदिपुरुष मानकर हिरण्यगर्भ (सृष्टि क्रम में ईश्वर के बाद प्रथम पुरुष) का विरुद दिया हो, और ऋग्वेदोक्त पिशङ्गवसना मुनियों की परम्परा से सम्बद्ध होने के कारण उन्हें कपिल कहा गया हो।

यद्यपि सांख्य दर्शन को आस्तिक षड्दर्शनों में परिगणित करने की परम्पर है, तथापि कपिल मुनि और सांख्य दर्शन की आधारभूत मान्यताओं के अनार्यत्व में संदेह करना हमारे विचार से अयुक्त है।

कुछ विद्वानों ने कपिल को ऐतिहासिक व्यक्ति मानकर उनका समय 700 ई० पू० माना है, किंतु सांख्य दर्शन से सम्बन्धित आज जो सामग्री मिलती है उसमें परवर्ती लेखकों ने जैन व बौद्धों करके, उसकी प्राचीनता व प्रामाणिकता पर प्रश्नचिह्न लगा दिया है। कपिलाचार्य की शिष्य परम्परा में आसुरि पंचशिख, ईश्वर कृष्ण प्रभृति विशेष रूप से उल्लेख्य हैं।

उपनिषत्प्रभवत्वं—छा० उप० (8/8-11) में प्रजापति द्वारा विरोचन व इंद्र को ब्रह्मोपदेश देने की आख्यायिका है, और बृ० उप० (1/4/10) में वामदेव की पूर्वजन्म में मनु एवं सूर्य होने की अपनी स्मृति का कथन है। सांख्य सूत्रों (4/17-20) में क्रमश: असफल ब्रह्मवेत्ता, सफल ब्रह्मवेत्ता और पूर्वजन्मों के ज्ञाता के रूप में विरोचन, इंद्र व वामदेव के प्रमाण दिए गए हैं।

यों तो नवद्वारयुक्त कमलाकार शरीर को तीन गुणों से आवृत अथर्ववेद (8/43) में भी कहा गया है।[58] किंतु विद्वानों का विचार है कि यहाँ गुण शब्द का प्रयोग रस्सी के अर्थ में हुआ है। छा० उप० (6/4/1) में तीन देवताओं

अग्नि, जल एवं अन्न के क्रमशः तीन रंग बताए गए हैं—लोहित, शुक्ल एवं कृष्ण। आगे (6/4-6) में इन त्रिदेवों के त्रिवृत्करण[58] का निरूपण किया गया है। श्वेता० उप० (4/5) में अपने समान प्रजा की उत्पत्ति में निरत एक अजा (बकरी या प्रकृति) को लोहित, शुक्ल एवं कृष्ण वर्णात्मक कहा गया है—अजामेकं लोहितशुक्ल कृष्णां बह्वीप्रजाः सृजमानां सरूपाः ।। सांख्य के त्रिगुण (सत्, रज, एवं तम =शुक्ल, लोहित, कृष्ण), और उनके त्रिवृत्करण का सिद्धांत, तथा उनकी साम्यावस्था रूप प्रधान (प्रकृति) जो प्रजाओं की उत्पत्ति का मूलभूत कारण है, उक्त औपनिषदिक सामग्री का ही व्यवस्थित संस्करण है। किंतु ध्यान रहे कि सांख्य की प्रकृति स्वतंत्र और शाश्वत सत्ता है, यद्यपि उसमें क्रियाशीलता पुरुष के संयोग से ही आती है।

कठोपनिषद् (1/3/10-11) में आया है कि इंद्रियों से उनके विषय श्रेष्ठ हैं, विषयों से मन उत्कृष्ट है, मन से पर बुद्धि है, बुद्धि से पर महान् (महत्तत्त्व) है। महत्तत्त्व से अव्यक्त पर है, अव्यक्त से भी पुरुष पर है। पुरुष से पर और कुछ नहीं है, वही पराकाष्ठा है, वही परागति है। सांख्य की पदार्थ मीमांसा में उक्त सभी तत्त्व समाहित हैं।

प्रश्नोपनिषद् (6/2) में कहा गया है जिसमें सोलह कलाओं का प्रादुर्भाव होता है वह पुरुष शरीर के अंदर है। आगे (6/4) कहा गया है कि उस पुरुष ने प्राण को रचा, प्राण से श्रद्धा, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी, इंद्रिय, मन और अन्न को तथा अन्न से वीर्य, तप, मंत्र, कर्म और लोकों को एवं लोकों में नाम को उत्पन्न किया। सांख्य दर्शन में स्थूल शरीर में भोक्ता रूप से विद्यमान और पुनर्जन्म के लिए वर्तमान शरीर को त्याग कर नए शरीर में प्रवेश करने में सक्षम 'लिंग शरीर' की कल्पना की गई है, जो अठारह तत्त्वों से बना होता है—सप्तदशैकं लिंगम् (सां० सूत्र 3/9)। व्याख्याकारों के मत से ये अठारह तत्त्व पाँच तन्मात्राएँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और मन, अहंकार एवं बुद्धि हैं। कुछेक व्याख्याकार बुद्धि को सम्मिलित न करके सत्रह तत्त्व मानते हैं। जो हो, संभव है कि प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से प्रश्नोपनिषद् की सोलह कलाएँ सांख्य के लिंग शरीर के संयोजक तत्त्वों के निर्णय में उपकारक रही हों। तदुपरान्त सांख्य को मान्य पंचमहाभूतों की उक्त गणना भी उल्लेख्य है।

उपनिषत्कारों ने, जैसा हम देख चुके हैं, शरीर और आत्मा क्रमशः जड़ व चेतन दो मुख्य तत्त्व माने हैं, दोनों परस्पर विरुद्धधर्मा हैं। जड़ तत्त्व असत्, अचिद् एवं दुःखमय (निरानंद) है, एतद्विपरीत चैतन्य सत्, चिद् आनन्दमय है। सांख्य ने भी पुरुष व शरीर को पृथक्-पृथक् माना हैं - शरीरादिव्यातिरिक्तः पुमान् (सांख्य सूत्र 1/39), और प्रकृति के तीन गुणों सत्, रज एवं तम को क्रमशः सुख, दुःख और मोह से युक्त बताकर पुरुष को एतद्विरुद्ध गुणों से युक्त बताया है—त्रिगुणादि विपर्ययात्। (सां० सूत्र० 1/141)।

कठोपनिषद् (1/3/4) तथा बृ० उप० (4/3/8) के अनुसार शरीर

मन और इंद्रियों से युक्त अर्थात् देहात्मभाव को जीवात्मा भोक्ता होता है। अर्थात् वह कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व के भाव से युक्त होता है और शरीर रूप आश्रय के भेद से अनेक भी होता है। सांख्य का पुरुष भी प्रकृति का भोक्ता है—भोक्तृभावात् (सां० सूत्र 1/143), अनेक भी है—जन्मादिव्यवस्थातः पुरुष बहुत्वम् (सां० सूत्र 1/141)। ध्यान रहे कि उपनिषदों के जीव का कर्तृत्व व भोक्तृत्व यदि देहात्मभाव (अविद्या) के कारण हैं, तो सांख्य के पुरुष का कतृत्व एवं भोक्तृत्व अविवेक के कारण। दोनों में विशेष अंतर नहीं है। मुख्य अंतर यह हैं कि उपनिषदों के जीव का बहुत्व उनके आश्रय रूप शरीर के भेद के कारण है जबकि सांख्य के पुरुष का बहुत्व पारमार्थिक है।

(7) बृ० उप० (4/3/8) के अनुसार यह पुरुष जन्म लेते समय शरीर को आत्मभाव से प्राप्त होकर पापों से संश्लिष्ट हो जाता है, अर्थात् बंधन को प्राप्त हो जाता है। अर्थात् जड़ व चेतन के संयोग के जड़ के साथ चैतन्य का तादात्म्य-मूलक सम्बन्ध ही चैतन्य का बन्धन है, और इस सम्बन्ध का उच्छेद अथवा विघटन ही बंधन से मुक्ति है। उपनिषत्कार इसे ही ग्रंथि भेद कहते हैं—

संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः।
अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभाजावाज्ज्ञात्व देव्र मुच्यते सर्वपाशैः।।[59]

सांख्य के अनुसार भी पुरुष का यह बंधन मोक्ष प्रकृति के संयोग व वियोग-स्वरूप ही होता है—प्रकृतेरांजस्वात ससर्गत्यात् पशुवत्—(सां० सूत्र 3/72)। दोनों का सम्बन्ध विच्छेद ही मोक्ष है—द्वयोरेकतरस्य वौदासीन्यमपवर्गः।। (सां० सूत्र 3/65) अतः जिस प्रकार उपनिषदों का उपदेश विमोक्ष के लिए है, सांख्य का उपदेश भी विमोक्ष के लिए है—यद्वा तद्वा तदुच्छितिः पुरुषार्थस्तदुच्छितः पुरुषार्थः। (सां० सूत्र 6/70)।

यहाँ एक विशेष बात यह कही गई है कि उक्त प्रकृति व पुरुष के संयोग का हेतु पुरुष का विमोक्ष बताया गया है—पुरुष विमोक्ष निमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य।[60]

जैसा हम देख चुके हैं, छा० उप० (6/8/3-4) में 'अंकुर रूप कार्य से बीज रूप कारण का विचार करके 'मूल' (सबके एक कारण) तक पहुँचने की विचार पद्धति अपनाई गई है। सांख्य में भी इसी विचार पद्धति को अपनाया गया है—पारम्पर्यंतोऽन्वेषणा बीजांकुरवत्—(सां० सूत्र 1/22)। कार्य के प्रत्यक्ष होने से कारण की प्राप्ति होती है– कार्यदर्शनात्तदुणलब्धे– (वही 1/110)। कार्य से कारण का अनुमान उसके साहित्य से करना चाहिए—कार्यात् कारणानुमानं तत्साहित्यात्—(वहीः 1/135)—इत्यादि।

ध्यातव्य होगा कि सांख्य के 'कार्य-कारणवाद' में सत्कार्यवाद अपनाया गया है। अर्थात् कारण में कार्य की अव्यस्त सत्ता मानी गई है, अर्थात् व्यक्त कारण ही कार्य है और अव्यक्त कार्य ही कारण है।

उपर्युक्त विश्लेषण से प्रकट है कि यद्यपि सांख्य दर्शन में यत्र-तत्र कतिपय सुधार अपनाए गए हैं, तथापि उसका मूलभूत आधार औपनिषदिक चिंतन ही है, दोनों का लक्ष्य सृष्टि से पूर्व अथवा प्रलय के बाद की अवस्था को प्राप्त करना है।

आगे सांख्य की वैदिक परम्परा विरोधी तथा ऐसी अन्य प्रवृत्तियों को लक्षित किया जाएगा जिनका औपनिषदिक अवधारणाओं से साम्य भी हैं।

अनित्यतावाद—'कार्य-कारणवाद' में चाहे सत्कार्यवाद अपनाया जाए चाहे असत्कार्यवाद, या कोई और वाद, कार्य की स्वतंत्र और नित्य सत्ता नहीं हो सकती। अतः जिस प्रकार उपनिषत्कारों की दृष्टि में कार्य रूप होने से सृष्टि अनित्य है, सांख्य की दृष्टि से भी वह वैसी ही है—स्थिरकार्यासिद्धेः क्षणिकत्वम् (सांख्य सूत्र 1/34) अंतर यह है कि उपनिषदों के अनुसार ब्रह्म ही सत्य व नित्य है, शेष सब मिथ्या व अनित्य है, तो सांख्य के अनुसार पुरुष व प्रकृति दोनों सत्य हैं, इनसे भिन्न जो कुछ है वह असत्य है—प्रकृति प्ररुषयोरन्यत सर्वमनित्यम्—(वही 5/72), अर्थात् जो प्रकृति का परिणाम, या विस्तार है, वह असत्य है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जड़ सृष्टि का लय (नाश) प्रकृति (प्रधान) में होगा, जो जीवों के बीजरूप संचित कर्मों के फलभोग को सम्भव बनाने, (अंततः उनके उद्धार हेतु) पुनः-पुनः सृष्टि का सर्जन और विसर्जन (अथवा विस्तार व संकोच) करती रहती है। अतः सृष्टि का आत्यन्तिक विनाश सम्भव नहीं है। जो हो, हमारे लिए यहाँ सृष्टि का अनिन्य माना जाना ही महत्त्वपूर्ण है।

दुःखवाद—उपनिषत्कारों की घोषणा—नाल्ये सुखमस्ति—के अनुसार अनित्यतावाद के साथ दुःखवाद संलग्न है। एतदनुरूप सांख्य की भी मान्यता है कि—कहीं कोई सुखी नहीं है, यदि अपवाद स्वरूप कहीं कोई सुखी है भी तो उसका यह सुख अनित्य है।[61] उसका परिणाभ निश्चय ही दुःख में होना है। सांख्य के अनुसार व्यक्ति के जीवन में जरा-मरणादि दुःख तब तक रहते हैं जब तक कि लिंग शरीर (सूक्ष्म शरीर) से उसकी निवृत्ति नहीं हो जाती, अतः दुःख स्वाभाविक है—

तत्रं जरामरणकृतं दुखं प्राप्नोति चेतनः पुरुषः।
लिंगस्याविनिवृत्तेस्तस्माद दुखं स्वभावेन ॥ सां॰ कारिका 55

व्यक्ति के जीवन का लक्ष्य—दैविक, दैहिक एवं भौतिक त्रिविध तापों से मुक्ति पाना है—अथ त्रिविधं दुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्त पुरुषार्थः ॥ (सांख्य सूत्र 1/1)

वेद विरोध—एक तो सांख्य की प्रमाण-मीमांसा में 'शब्द' को प्रमाण माना गया है—(दे॰ सां॰ सूत्र 1/87, 101, 102)। दूसरे, श्रुति का विरोध होने (या करने) से कुतर्की को आत्मज्ञान लाभ न होने की बात कही गई है—(दे॰ सां॰ सूत्र 6/34)। अतः कतिपय विद्वान यह प्रस्थापित करने का प्रयत्न करते देखे जाते हैं कि सांख्य वेद-विरोधी नहीं है। किंतु सांख्य जिस 'शब्द' को प्रमाण

मानता है वह वस्तुतः आप्तजन (आत्मज्ञानी) का उपदेश मात्र है—आप्तोपदेशः शब्दः (सूत्र 1/101)। श्रुति शब्द का प्रयोग अनेकत्र स्वयं सांख्य के उपदेश के लिए ही किया गया है— श्रुतिरपि प्रधानकार्यत्वस्य ॥ (सूत्र 5/12)। अर्थात् जगत् को प्रधान का कार्य श्रुति (सांख्य-श्रुति) में कहा गया है। इससे प्रकट है कि सांख्य को मान्य 'शब्द' एवं 'श्रुति' उसकी निजी परम्परा से सम्बद्ध हैं। वास्तविक वेद (ऋक्, साम, यजु) और उनसे सम्बद्ध 'शब्द' के विषय में सांख्य का दो टूक निर्णय है कि— न नित्यत्वं वेदानां कार्यत्वश्रुतेः। न शब्दनित्यत्वं कार्यताप्रतीतेः ॥ (सांख्य सूत्र 5/45, 58)। अर्थात् वेद कार्यरूप होने से अनित्य हैं, शब्द (भी) कार्यरूप होने से अनित्य है। वेदों के अपौरुषेयत्व, नित्यत्व आदि का खंडन दृढ़तापूर्वक किया गया है—(दे० सूत्र 5/45-58)।

यज्ञ विरोध—सांख्य को अभीष्ट दुःख निवृत्ति जैसे लौकिक उपायों (धन-धान्य, पुत्र कलत्र) से सम्भव नहीं है, वैसे ही आनुश्रविक (वैदिक) उपायों से भी सम्भव नहीं है। क्योंकि वैदिक यज्ञानुष्ठान में अविशुद्धि, क्षय (फल की अनित्यता) तथा अतिशय (न्यूनाधिक्य, विषमता) विद्यमान हैं। अतः इसका (वैदिक कर्मकांड का) विपरीत मार्ग ही श्रेयान् है, और वह है—व्यक्त (जगत्), अव्यक्त (प्रधान), तथा 'ज्ञ' (पुरुष) का सम्यक् ज्ञान—

द्रष्टावदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः।
तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात् ॥ सांख्य कारिका 2

यही बात यत्किंचित् शाब्दिक फेर-फार के साथ सांख्य सूत्रों (1/82) में कही गई है—'नानुश्रविकादपि तत्सिद्धिः साध्यत्वेनावृत्तियोगाद पुरुषार्थत्वम्।' संक्षेप में उपनिषत्कारों की तरह सांख्य की भी मान्यता है कि मोक्ष की प्राप्ति में मात्र याज्ञिक कर्म ही नहीं, कोई भी बाह्यकर्म अनुपयोगी है—(दे० सांख्यसूत्र—4/22 1/85)।

देव विरोध—सामान्य रूप से सांख्य के दो उपभेद माने जाते हैं—(1) निरीश्वरवादी सांख्य और (2) सेश्वर सांख्य। किंतु सांख्य को मान्य ईश्वर वस्तुतः कौन है? यह आगे स्पष्ट हो जाएगा। यहाँ इतना ही उल्लेख्य है कि सांख्य ने ईश्वर को सभी प्रमाणों से असिद्ध घोषित किया है—ईश्वरासिद्धेः—(सांख्य सूत्र 1/99/, प्रामाणाभावान तत्सिद्धिः (सांख्य सूत्र 5/10)। अब जहाँ ईश्वर ही असिद्ध हो वहाँ देवताओं का तो प्रश्न ही नहीं उठ सकता। अतः जो अन्य इस प्रकार की नादानी (देवोपासना) करते हों, उन्हें अवश्य आगाह कर दिया गया है कि देवोपासना से केवल सांसरिक भोगों की ही प्राप्ति सम्भव है, कृतकृत्यता नहीं—(दे० सांख्य सूत्र 4/32)।

अहिंसा—जीव-हिंसा का विरोध इस समूची परम्परा का एक सामान्य लक्षण है। 'सांख्यतत्त्व कौमुदी' (का० 50) में कहा गया है कि बिना हिंसा के भोग सम्भव ही नहीं होता—'नानुपहत्य भूतानि विषयभोगः संभवति।' अर्थात्

जीवहिंसा से युक्त—अशुद्ध—साधन से शुद्ध हेतु की प्राप्ति नहीं हो सकती। अत आत्मकल्याण चाहने वाले को हिंसा व विषयभोग दोनों को त्याग देना चाहिए। पातंजल योग सूत्र (2/13) के व्यासभाष्य में सांख्याचार्य पंचशिख का जो मत उद्धृत है उसमें कहा गया हैं कि 'पशुयाग में हिंसा अवश्य होती है। बलि पशु को प्राण त्याग की असह्य यंत्रणा सहन करनी पड़ती है। इस क्लेशदान से पुण्य की समग्रता नहीं रहती।[62] इससे ऐसा प्रतीत होता है कि पशु-याग में आचरित हिंसा का सर्वप्रथम विरोध सांख्याचार्यों ने किया होगा।

भेद-भाव का विरोध - सांख्य ने धर्म या साधना-क्षेत्र में उत्तम, मध्यम एवं निकृष्ट—तीन प्रकार का अधिकारी भेद माना है—(दे॰ सांख्यसूत्र 6/22)। लिंग या जाति भेद उसे भी अमान्य है—पिशाचवदन्यार्थोपदेशेऽपि - (सूत्र 4/2) अर्थात् पिशाच के समान, अन्य भी यदि उपदेश को सुने तो उसे भी विवेक हो जाता है।

संन्यास—सांख्य के अनुसार त्रिविध दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति लौकिक उपायों से उतनी ही असम्भव है, जितनी कि स्नान से शीत निवृत्ति—(दे॰ सूत्र 1/4, 1/84)। इस प्रकार पहले तो लौकिक उपायों से दुःखनिवृत्ति सम्भव ही नहीं है, यदि कुछ समय के लिए सम्भव हो भी जाए तो पुनः उसी या अन्य दुःख की प्राप्ति देखी जाती है (सूत्र 1/2)। अतः दुःख-निवृत्ति का उपाय वासनाओं की तुष्टि या विषय भोग न होकर त्याग ही हो सकता है—न भोगाद्रागशान्तिर्मुनिवत्। विरक्तस्य तत्सिद्धेः। (सूत्र 4/27, 2/2)। ध्यातव्य होगा कि प्रिय वस्तु का किसी के द्वारा बलपूर्वक किया गया अपहरण वियोग हैं . जो दुःखपूर्ण है, और विवेकपूर्वक, स्वेच्छा से किया गया त्याग ही सच्चा त्याग है ·· जो सुखपूर्ण है···(दे॰ सूत्र 4/5)। अतः विवेकशील पुरुष को उपादेय (आत्म-तत्त्व) का ग्रहण और अनुपादेय (अनात्म) का त्याग 'हंसक्षीरवत्' कर देना चाहिए·· (दे॰ सूत्र 4/23)। तत्पश्चात अपने आश्रम (संन्यासाश्रम) के लिए विहित कर्मों का सम्पादन करना चाहिए—(दे॰ सूत्र 3/35)।

योग साधना—सांख्य का पुरुष वस्तुतः असंग है—असंगोऽयं पुरुषः इति —(सूत्र 1/15)। 'इस असंग पुरुष का जड़ प्रकृति के साथ जो अविवेकपूर्ण संग (सम्बन्ध) है वही बंधन है और उसका विच्छेद (असंग) ही विमोक्ष है'—(दे॰ सूत्र 3/30-32, 6/24-25, 29, 31)। प्रकृति के साथ पुरुष का बंधनरूप सम्बन्ध अविवेक (अज्ञान) से स्थापित होता है और तद्विपरीत ज्ञान से विच्छिन्न होता है—ज्ञानान्मुक्तिः। बंधो विपर्यात।। (सूत्र 3/23-24)। यह संयम विपर्यय से रहित कैवल्यप्रद अपरिशेषज्ञान 'नास्मि, न मे, नाहम्' के तत्त्वाभ्यास द्वारा सिद्ध होता है—

एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहम् इत्यपरिशेषम्।
अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्।। सां॰ का॰ 64

'सांख्यतत्त्व कौमुदी' के अनुसार 'नास्मि' का अर्थ है कि पुरुष सदा यह अनुभव करे कि मेरे अंदर कोई भी बाह्य या आध्यात्मिक व्यापार नहीं है, 'न मे' का अर्थ है—मेरे अंदर स्वामिता नहीं है, और कर्तृत्व का निषेध ही 'नाहम्' का रहस्य है।[63]

दूसरे, प्रकृति से पुरुष के उक्त सम्बन्ध को प्रगाढ़ या तादात्म्यमूलक बनाने में बहिर्मुखी चित्तवृत्तियों का विशेष योगदान रहता है। अतः चित्तवृत्तियों के बहिर्मुखी प्रवाह को निरुद्ध करने से उक्त बंधनरूप सम्बन्ध का शिथिल हो जाना स्वाभाविक है। आसन, छर्दि, विधारणा (प्राणायाम), धारणा एवं ध्यान आदि की जिस साधना से उक्त चित्तवृत्ति निरोध सिद्ध होता है, उसे ही योग कहते हैं —(दे० सांख्य सूत्र 3/30-32, 6/24-25, 29, 31)।

(ठ) **ईश्वरत्व प्राप्ति और सम्प्रदायवाद**—उपनिषत्कारों ने ब्रह्मज्ञानी का ब्रह्म ही हो जाना, अर्थात् साध्य के साथ साधक के तद्रूपता लाभ का सिद्धांत, स्वीकारा है। सांख्य भी मानता है कि बंधनों के कारणों का ज्ञाता दृष्टि से तद्रूप (या ब्रह्मस्वरूप) हो जाता है – विदित बंधकारणस्य दृष्ट्या तद्रूपम्—(सूत्र 1/155)। दूसरे, जैसा हम देख चुके हैं, जगतकर्ता एवं कर्मफलदाता के रूप में ईश्वर की पारलौकिक सत्ता को सांख्य ने सभी प्रमाणों से असिद्ध घोषित किया है—(दे० सांख्यसूत्र 1/92-95, 5/2-10)। सांख्य के अनुसार 'ईश्वर सर्वज्ञ है, सर्वकर्ता है' आदि श्रुतिवाक्य नित्य ईश्वर के लिए नहीं, अपितु 'सिद्ध पुरुष' के लिए कहे गए हैं—(सूत्र 3/56-57)। 'मुक्तात्मा' आदि विशेषणों से ईश्वर की जो प्रशंसा की गई है और उसके स्वरूप का जो वर्णन किया गया है वह वस्तुतः मुक्तात्मा (जीवन्मुक्त) की प्रशंसा है और उपासक की उपासना को सफल बनानेवाले उसके स्वरूप का वर्णन है—मुक्तात्मनः प्रशंसा उपासासिद्धस्य वा—(सूत्र 1/95)

उक्त मुक्तात्मा के सम्बन्ध में आगे कहा गया है कि वह जीवन में (जीवितावस्था में) ही मुक्त हो जाता है। उपदेश करने के योग्य होने और उपदेशक हो जाने से उसकी (जीवन्मुक्ति) सिद्ध है। श्रुति से भी यह सिद्ध है। यदि जीवन्मुक्त उपदेशक न बनें, अर्थात् ज्ञान लाभ होते ही यदि वे अपना शरीर त्याग दें तो अन्धेर फैल जाएगा—जीवन्मुक्तश्च। उपदेश्योपदेशहत्वात् तत्सिद्धिः। श्रुतिश्च। इतरथानन्धपरम्पर ।। सूत्र 3/78-8।

उक्त समस्त उक्तियों की पर्यालोचना से सिद्ध है कि सांख्य के अनुसार ऐसे सिद्ध पुरुष, या जीवन्मुक्त जो धर्मोपदेश करने के अधिकारी हैं और जो ऐसा करते भी हैं, वे ही ईश्वर हैं। यदि अधिकारी (चुने हुए) शिष्यों को योग दीक्षा ही देते हैं तो वे 'योगीश्वर' शिष्य प्रणालिका के ईश्वर बनते हैं, और यदि जगत् में अपने मत का प्रचार करते हैं तो जगदीश्वर बनते हैं।

पातंजलयोग सूत्र

'पातंजल योग' का एक विशेष अभिधान 'सेश्वर सांख्य' है, जो सांख्य से इसके ऐक्य एवं यत्किंचित अनैक्य का द्योतक है। तत्त्वचिंतन एवं साधना-पद्धति में सांख्य एवं योग के साम्य को देखते हुए यहाँ योग-दर्शन का विशेष परिचय अनावश्यक ही होगा। किंतु योग इस परम्परा की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है, अतः परम्परा सातत्य की रक्षा के लिए यहाँ उसकी एतदनुरूप कुछ प्रमुख प्रवृत्तियों का उल्लेख प्रासंगिक होगा।

दुःखवाद—परम्परानुरूप पतंजलि मुनि भी मानते हैं कि विवेकशील उस सब (विकाररूप सृष्टि) को दुःख (पूर्ण) ही देखते हैं[61]—दुःखमेव सर्वं विवेकिनः (योगसूत्र 2/15)। इस सूत्र के व्यासभाष्य में कहा गया है कि ऐसे चिकित्साशास्त्र में चार व्यूह मान्य हैं—(1) रोग, (2) रोग हेतु, (3) आरोग्य और (4) चिकित्सा—(भैषज्य), वैसे ही भव-रोग निवारक इस शास्त्र के भी यथा—(1) हेय (त्याज्ज दुःख), (2) हेय हेतु, (3) हान—(दुःखनिवृत्ति) और (4) हानोपाय—(दुःखनिवृत्ति का उपाय)। वस्तुतः दुःख बहुल संसार ही हेय है, प्रधान व पुरुष का संयोग ही हेय हेतु है, इस संयोग की आत्यन्तिक निवृत्ति ही हान है, और सम्यक् दर्शन (विवेक ख्याति) ही हानोपाय है।

जैसा हम देख चुके हैं, प्रकृति व पुरुष के सम्बन्ध रूप बंधन को प्रगाढ़ बनाने वाली मनुष्य की बहिर्मुखी चित्तवृत्तियाँ मानी गई हैं, और उनके निरोध से उक्त सम्बन्ध का विच्छेद सम्भव माना गया है। यह चित्तवृत्तिनिरोध अभ्यास एवं वैराग्य द्वारा साध्य है—अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः (योगसूत्र 1/12)।

योग साधना—चित्तवृत्तिनिरोधक अभ्यास की ही अपरसंज्ञा योग है—योगश्चित्तवृत्ति निरोधः (सूत्र 1/2)। इस योग साधना के मुख्य आठ अंग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—(सूत्र 2/29)। इनमें से प्रथम पाँच को बहिरंग अथवा क्रियायोग कहते हैं, अंतिम तीन को अंतरंग—(सूत्र 3/7-8)। योग साधना के उक्त आठों अंगों का निरूपण यहाँ अनावश्यक है, इस अनुशीलन के पूर्वापर संदर्भों को ध्यान में रखकर इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि—सांख्य जिसे 'महत्' कहता है, योग उसे ही चित्त कहता है। क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र एवं निरुद्ध ये चित्त की पाँच भूमियाँ हैं। प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, एवं स्मृति ये पाँच चित्तवृत्तियाँ हैं। व्याधि, स्त्यान, सशय, प्रमाद, आलस, अविरति, भ्रांतदर्शन, अलब्धभूमिकता एवं अनवस्थितता - ये नौ योग साधना के अंतराय हैं। इनके साथ ही चार अंतराय और हैं—दुःख, दौर्मनस्य, अंगमेजय, एवं श्वास-प्रश्वास। करुणा, मुदिता, मैत्री, एवं उपेक्षा चित्त के प्रसादन हैं (सूत्र 1/33)। चित्त को स्थिर करने के कुछ विशेष उपाय भी हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह—ये पाँच यम हैं, और शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर प्रणिधान ये पाँच नियम हैं।

समाधि के मुख्य दो भेद हैं—(1) संप्रज्ञात एवं (2) असंप्रज्ञात। प्रथम की चार भूमिकाएँ हैं—वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनंदानुगत एवं आस्मितानुगत। इनके भी कुछ उपभेद हैं।[65]

वैराग्य – दृष्ट एवं आनुश्रविक, अर्थात् लौकिक एवं पारलौकिक विषयों के प्रति रागरहित या तृष्णारहित होना ही वैराग्य है। इसके मुख्य दो भेद माने गए हैं- (1) अपरवैराग्य और (2) परवैराग्य। इहलोक और परलोक के प्रति रागरहित होना अपरवैराग्य है, स्वयं अपने चित्त के प्रति रागरहित होना परवैराग्य है। प्रथम की चार भूमिकाएँ हैं—यतमान संज्ञा, व्यतिरेक संज्ञा—एकेंद्रिय संज्ञा और वशीकरण संज्ञा। इन सबकी व्याख्याएँ भाष्यकारों ने दी हैं।[66] कुल मिलाकर तात्पर्य हैं—'नास्मि, न मे, नाहम्' का तत्त्वाभ्यास। पर-वैराग्यके उत्पन्न होने पर साधक अनुभव करता है कि मैंने प्राप्तव्य (आत्मज्ञान) को प्राप्त कर लिया है, मेरे क्लेश क्षीण हो चुके हैं, भवचक्र के आवागमन में डालने वाले धर्माधर्म निर्मूल हो चुके हैं, अब मुझे कुछ भी करणीय नहीं रहता। यही कृतकार्य होना है। अंत में इस विवेकज्ञान वृत्ति का भी निरोध हो जाता है।

ईश्वर-प्रणिधान—सांख्य से योग को मुख्य रूप से इस आधार पर भिन्न समझा जाता है कि प्रथम जहाँ ईश्वर को असिद्ध मानता है, द्वितीय उसका अस्तित्व स्वीकारता है, और 'ईश्वर प्रणिधान' के रूप में आराध्य के प्रति श्रद्धाभाव, या 'शरणागति', जो भक्ति का एक प्रमुख लक्षण है, को महत्त्व देता है, किंतु हमारे विचार से यह अवधारणा वस्तुस्थिति के सुसंगत नहीं है। क्योंकि योग-सूत्रों के अनुसार क्लेश, कर्म, विपाक एवं आशय (संस्कार) के संसर्ग से रहित पुरुष विशेष ही ईश्वर है। वह सर्वज्ञ है। वह पूर्वजन्माओं का भी गुरु है, क्योंकि वह कालविशिष्ट नहीं है—(अर्थात् वह ज्ञानवृद्ध है, वयोवृद्ध नहीं है)। उसका वाचक प्रणव है। उसके जप और भावन (अनुचिंतन) से चैतन्य का दर्शन और अन्तरायों का नाश होता है—(दे० योगसूत्र 1/24-29)। इन विधानों में से एक 'तस्य वाचकः प्रणवः' को छोड़ शेष सभी लौकिक गुरु के लक्षणों के ज्ञापक हैं। यदि परवर्ती शब्द साधना का संदर्भ स्वीकारा जाए तो उसका समाधान भी गुरु के पक्ष में हो जाएगा। 'ईश्वर प्रणिधान' की व्याख्या में वाचस्पति मिश्र का कथन है कि—परमगुरु के प्रति समस्त कर्मों का अर्पण ही प्रणिधान है—"ईश्वर प्रणिधानं तस्मिन्परमगुरौ सर्वकर्मार्पिणम्।" इससे स्पष्ट है कि योग दर्शन का ईश्वर वस्तुतः योगीश्वर, सिद्धपुरुष अथवा गुरु है।

टिप्पणी—अवैदिक परम्परा के जिस अंश का निरूपण हमने अब तक किया है वह, जैसा हम कह चुके हैं, सम्प्रति वैदिक माना जा चुका है। इसके वैदिक माने जाने के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष-छोटे तथा मोटे अनेक कारण हो सकते हैं। यथा संस्कृतभाषा (आर्यभाषा), यत्किंचित वैदिक मान्यताओं का सम्मिश्रण, वैदिक शब्दों एवं नामों के भ्रामक प्रयोग एवं व्यापार प्रचार आदि, किंतु मुख्य

कारण हैं 'व्रेद' शब्द का अर्थान्तर और अर्थ विस्तार ।[67] मेरे विचार से इन लोगों की पहली प्रवृत्ति वैदिक वाङ्मय में अवैदिक विचारों को जोड़ते रहने की रही, जैसा कि ऋक्, साम, यजु एवं ब्राह्मण ग्रंथों के कुछ अंशों से सिद्ध है। दूसरी प्रवृत्ति अपने विचारों के प्रतिपादक साहित्य में वैदिक अवधारणाओं के आंशिक समावेश की रही जैसा कि अथर्ववेद, आरण्यक एवं उपनिषदों में उपलब्ध वैदिक विचारों से सिद्ध है । तीसरी प्रवृत्ति वैदिक साहित्य के समानान्तर अपना साहित्य गढ़ने की रही, जैसा कि अथर्ववेद एवं शुक्ल यजुर्वेद के प्रणयन से सिद्ध है। वेदों की जो पचासों शाखाएँ बताई जाती हैं उनमें से अनेक के अवैदिक होने की भी चर्चा मिलती है। एतरेय ब्राह्मण, एवं शतपथ ब्राह्मण के कुछ अंश और आरण्यकों के मुख्य अंश इनके ब्राह्मण हैं। उपनिषद् इनकी संहिताएँ हैं। सांख्य कारिका, सांख्यसूत्र एवं योगसूत्र आदि इनका ऐसा सूत्र साहित्य है जिसमें वैदिक विचार नहीं वत् हैं।

ध्यातव्य होगा कि आरण्यक, उपनिषद्, सांख्य एवं योग के वैदिक होने का विचार निरापद नहीं है । महाभारत शांति पर्व (348/81-82 तथा 349/1, 64) में उक्त चारों को पाशुपत एवं पांचरात्रों (अवैदिक मतों) की ही परम्परा में बताया गया है । तत्पश्चात् तन्त्रवार्तिक (1/3/4) में कुमारिल भट्ट ने सांख्य व योग दोनों को जैन, बौद्ध आदि नास्तिक अवैदिक मतों की कोटि में रक्खा है—"सांख्य योग पांचरात्र पाशुपत शाक्य निर्ग्रन्थ परिगृहीत धर्माधर्म निबन्धनानि ।"[68] ब्रह्मसूत्र (2/1/1) के अपने भाष्य में शंकराचार्य ने कपिलतंत्र को अवैदिक कहा है—"कपिलस्य तंत्रं वेदविरुद्धम् ।।" 'न्याय कोश' में भीमाचार्य ने भी सांख्य को 'नास्तिक' बताया है । आधुनिक अधिकारी विद्वानों में से डॉ० गोविन्द चन्द्र पांडेय का मंतव्य है कि --"वस्तुत: सांख्य दर्शन के लिए वैदिक मूल नहीं खोजना चाहिए ।" (सांख्य कारिकादि में उपलब्ध वैदिक मार्ग के खंडन के अतिरिक्त) सांख्य दर्शन स्वयं अपना मूल अनादि श्रुति में नहीं, किंतु कपिल मुनि के उपदेश में मानता है । 'कपिल मुनि' इस संज्ञा में कदाचित् 'पिशङ्ग वस्त्रधारी' मुनियों की ओर इंगित पाया जाता है । सांख्य दर्शन की निरीश्वरवादिता, निवृत्तिपरायणता और श्रुति विरोध से इस संकेत का समर्थन होता है, और उसके मूल की श्रमण विचारधारा में खोज युक्तिसंगत प्रतीत होती है, न कि वैदिक विचारधारा में। किंतु यह निस्संदेह है कि उपनिषदों के सांख्य संदर्भ वैदिक क्षेत्र में श्रमण प्रभाव को विशद करते हैं । मुंडकोपनिषद् का नाम ही इस प्रसंग में अवधेय हैं, क्योंकि मुडक का साधारण अर्थ श्रमण ही होता है ।······गुरु-शिष्य परम्परा में संरक्षित एवं व्यवस्थित आध्यात्मिक विज्ञान के रूप में योग विद्या-सांख्यादि श्रमण संप्रदायों में उद्भूत और परिपुष्ट हुई ।[69]

डॉ० पांडेय के उक्त वक्तव्य में उपनिषदों के वैदिक होने का जो निर्देश है वह हमें अग्राह्य है । उपनिषद् कितने वैदिक हैं ? यह हम देख चुके हैं । सांख्य

की परम्परा प्राचीन है, इसमें 'संदेह नहीं किंतु उसे उपनिषदों से पहले की मानना और उपनिषदों पर उसका प्रभाव मानना अत्युक्ति है। श्वेताश्वतर उपनिषद् पर उसका विशेष प्रभाव इसलिए है कि वह शैव तांत्रिक योग की, सांख्य के बाद की, उपनिषद् है। मुंडक एवं मांडूक्य उपनिषदें बुद्ध के बाद की प्रतीत होती हैं। छांदोग्य, बृहदारण्यक, ईश, कठ, केन आदि जो प्राचीन उपनिषदें हैं, वे सांख्य से पूर्व की हैं, और सांख्य पर उनका प्रभाव लक्षित होता है। अतः परम्परा का क्रम वही रहेगा, जिसे हमने अपनाया है। आगे इस परम्परा के ऐसे साम्प्रदायिक मतों का परिचय दिया जाएगा जो नास्तिक मतों के रूप में परम्परा से मान्य है।

चार्वाकमत

प्रवर्त्तक—माध्वाचार्य संवादित 'सर्व दर्शन संग्रह' में नास्तिक शिरोमणि चार्वाकों को बार्हस्पत्य, अथवा बृहस्पति के मतानुयायी कहा गया है, और 'चार्वाक दर्शन' को बृहस्पति द्वारा उपदिष्ट बताया गया है।[70] तदुपरांत ब्रह्मसूत्र (3/3/53) के भास्कर भाष्य, शांकर भाष्य, गीता (16/11) की नीलकंठी, श्रीधरी तथा मधुसूदनी टीकाओं और 'अद्वैत ब्रह्मसिद्धि' आदि में चार्वाकमत के जो सूत्र उद्धृत हुए हैं, उनके कर्त्ता बृहस्पति बताए गए हैं। अतः इस विषय में विशेष विवाद नहीं है कि चार्वाक मत के आदिप्रवर्त्तक बृहस्पति थे। किंतु संस्कृत वाङ्मय में अनेक बृहस्पतियों के उल्लेख मिलते हैं।[71] चार्वाक मत के प्रवर्त्तक बृहस्पति कौन-से हैं? इसका ठीक निर्णय कर पाना सरल नहीं है। स्वयं ऋग्वेद में ही दो बृहस्पतियों के उल्लेख हैं—(1) आंगिरस बृहस्पति और (2) लौक्य बृहस्पति। लौक्य बृहस्पति के कथनानुसार असत् से सत् की उत्पत्ति हुई है—देवानां पूर्व्ये युगेऽ सतः सदजायत (ऋ० 10/72/2)। दुर्गासप्तसती के टीकाकार नागोजी भट्ट ने सत् का अर्थ चैतन्य और असत् का अर्थ जड़ किया है—सत् ब्रह्मवर्गः असत् जड़वर्गः (1/63)। जैसा हम आगे देखेंगे चार्वाक भी 'भूतचतुष्टय' के संघात से चैतन्य की उत्पत्ति मानते हैं। अतः डॉ० पाठक के विचार से ऋग्वेद के लौक्य बृहस्पति ही चार्वाक मत के आदि प्रवर्त्तक सिद्ध होते हैं।[72]

बृहस्पति के अतिरिक्त चार्वाक मत के उपदेशकों या आचार्यों के रूप में चार्वाक (बृहस्पति के शिष्य), पुरंदर, कम्बलाश्वतर, भागुरि एवं चार्वाक दर्शन के एक मात्र स्वतंत्र ग्रंथ तत्त्वोपप्लवसिंह के रचयिता जयराशि भट्ट के नाम उल्लेख्य हैं। 'रामायण' में श्री राम को एक चार्वाक साधू द्वारा उपदेश देने से सम्बन्धित आख्यान है। महाभारत शांतिपर्व (38/22-39) के अनुसार चार्वाक नामक राक्षस भी था जो दुर्योधन का मित्र और पांडवों का शत्रु था।

परम्परा एवं प्रभाव—चार्वाकमत की परम्परा अत्यंत प्राचीन है। यदि असत् से सत् की उत्पत्ति मानना ही इस मत का मूल है, तो उसका प्रनम उल्लेख

ऋग्वेद (10/72/2) में लौक्य बृहस्पति के उक्त कथन में हुआ है। छान्दोग्य उप० (6/2/1) में कहा गया है कि आरंभ में एकमात्र अद्वितीय सत् ही था। उसी के विषय में कुछ ऐसा कहते हैं कि आरंभ में एकमात्र अद्वितीय असत् ही था। उस असत् से सत की उत्पत्ति हुई ई।[73] आगे (6/2/2) असत् से सत् की उत्पत्ति की धारणा का खंडन करके सत्वेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। की स्थापना की गई है। तैत्ति० उप० (2/7/1) में कहा गया है कि पहले असत् ही था, उसी से सत् की उत्पत्ति हुई है।[74] बृह्मदारण्यक उप० (2/4/12) में याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को अमृतत्त्व का प्रथम उपदेश तो इन्हीं शब्दों में दिया है कि—विज्ञानधन एव एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्ति।

अर्थात् यह इन भूतों से प्रकट होकर उन्हीं के साथ नाश को प्राप्त हो जाता है, देहेन्द्रिय से मुक्त होने पर (मर जाने पर) उसकी कोई संज्ञा नहीं रहती। कठ० उप० (1/20) में कहा गया है कि मृतात्मा के विषय में कोई कहते हैं कि 'वह रहता है', कोई कहते हैं कि 'नहीं रहता'—अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके। इन समस्त विधानों की पर्यालोचना से प्रकट है कि उपनिषत्काल में भी असद्वादी थे, और उपनिषत्कार उनके सिद्धांतों से अनभिज्ञ नहीं थे। कुछ तो उनके समर्थक भी थे।

यह हम कह चुके हैं कि उस समय आत्मा, आत्म एवं आत्मन् आदि शब्दों के अर्थ थे—मैं, चैतन्यात्मा, शरीर, मेरा आदि। छान्दोग्य उपनिषद के एक आख्यान के अनुसार देवराज इन्द्र और दैत्यराज विरोचन ने प्रजापति से ज्ञानोपदेश की प्रार्थना की। प्रजापति के उपदेशानुसार जल से भरे शकोरे में अपना-अपना प्रतिविम्ब देखकर इन्द्र और विरोचन ने कहा—"भगवन्! हम अपने इस समस्त आत्मा (शरीर) को लोम और नखपर्यन्त ज्यों का त्यों देख रहे हैं।" प्रजापति ने कहा—"यही आत्मा है, अमृत है, यह अमृत और अभय है, यही ब्रह्म है।"

तत्पश्चात प्रजापति ने सोचा कि देवता या असुर जो कोई ऐसे निश्चय वाले होंगे उन्हीं का पराभव होगा—एतदुपनिषदो भविष्यन्ति देवा वा सुरा वा ते पराभविष्यन्तीति। किंतु इससे क्या? विरोचन तो शांतचित्त हो असुरों में पहुँचा और उनको यह आत्मविद्या सुनाई—"इस लोक में आत्मा (देह) ही पूजनीय है, और आत्मा ही सेवनीय है। आत्मा (शरीर) की ही पूजा और परिचर्या करने वाला पुरुष इहलोक व परलोक को प्राप्त कर लेता है। (दे० छा० उप० 8/8/1-4)। आगे कहा गया है कि इसी से इस लोक में जो दान नहीं देता, श्रद्धावान नहीं होता और यजन नहीं करता उसे शिष्टजन आसुरी स्वभाववाला—(आसुर) कहते हैं. यही असुरों की उपनिषद् है (8/8/5)। कहना न होगा कि विरोचन के उक्त वक्तव्य में एक परलोक शब्द को छोड़ शेष जो कुछ है वह चार्वाकमत के अनुरूप हैं। इससे प्रकट है कि उपनिषत्काल में असद्वाद का प्रचार था। इस

असद्वाद के आदि उपदेष्टा भले आर्य देवताओं (ब्राह्मणों) के पक्षधर (बृहस्पति या प्रजापति) रहे हों, या कहे गए हों, इनके लक्षित श्रोता एवं अनुयायी असुर थे। अतः इस असद्वाद को असुरों की उपनिषद् कहा गया। इसके वक्ता (प्रजापति) का निहिताशय अज्ञानी शत्रु को मोह में फँसाकर उसके पराभव का मार्ग प्रशस्त करना है—इत्यादि।

ध्यातव्य होगा कि उपनिषदों में मुख्यरूप से आत्मा या पुरुष का अर्थ चैतन्य सत्ता लिया है, तो चार्वाकों ने जैसा, आगे स्पष्ट हो जाएगा आत्मा या पुरुष का अर्थ चैतन्यविशिष्ट काय लिया है।[75] उपनिषदों का आत्म नित्यमुक्त, ध्रुव, अपरिवर्तनशील, अपरिणामी आदि है, अतः उनकी आत्मज्ञान साधना में शुभाशुभ बाह्यकर्म, या पाप-पुण्य, अनुपयोगी हैं, तो चार्वाकों का चैतन्यविशिष्ट देह अंततः जड़ है, अतः उसके संदर्भ में भी शुभाशुभ कर्म और उनके शुभाशुभ फल का कोई उपयोग नहीं रहता। उपनिषत्कार 'नेति-नेति' का प्रयोग अनात्मतत्त्व की पारमार्थिक सत्ता के निषेध के लिए करते हैं, चार्वाक आत्मा, परमात्मा, परलोक के अस्तित्व और शुभाशुभ कर्मों के फल आदि के संदर्भ में करते हैं। उपनिषत्कार मृत्यु के बाद (विदेह मुक्ति के बाद) नाम-रूपरहित एकीभूत (निर्विशेष) आत्मा का अस्तित्व मानते हैं—जैसे समुद्र में मिल जाने पर नदी का और पानी में धुल जाने पर नमक का रहता है। चार्वाक चैतन्यविशिष्ट काय की उत्पत्ति एवं लय क्रमशः भूतचतुष्टय से एवं में मानते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मृत्यु के बाद आत्मा का अस्तित्व मानने से उपनिषद् सद्वादी या आस्तिक हैं, और ऐसा न मानने से चार्वाक असद्वादी या नास्तिक हैं। सम्भव है कि कठोपनिषद् की उपर्युक्त उक्ति अस्तीत्ये के नायमस्तीति चैके में इन्हीं का उल्लेख है। यद्यपि दोनों मूलतः अवैदिक हैं, किंतु परस्पर विरोधी हैं। एक की दृष्टि में इहलोक मिथ्या है तो दूसरे की दृष्टि में इहलोक से आगे सब मिथ्या है।

पौराणिक आख्यानों के अनुसार बृहस्पति एक ओर देवताओं (आर्य ब्राह्मणों) के गुरु हैं, दूसरी ओर प्रत्यक्ष रूप से या दैत्यगुरु उशनस् के छद्मवेश में वे असुरों के प्रति नास्तिकमत (चार्वाकमत) के उपदेष्टा भी हैं। पुराणों में इस स्थिति का समाधान इस रूप में दिया गया है कि श्रौत धर्म, कर्म एवं तप-त्याग को अपना कर दैत्यगण जब देवताओं को परास्त करने अथवा स्वर्गादि के अधिकारी बनने में समर्थ होने लगे तब उन्हें विमोहित करके सन्मार्ग (वैदिकमार्ग) से परिभ्रष्ट करने के लिए इस वेद विरोधी मार्ग का उपदेश दिया। ताकि एक ओर वेदों की पवित्रता सुरक्षित रह सके, दूसरी ओर असुरों के पराभव का मार्ग प्रशस्त हो सके।

विष्णु पुराण (3/17/41, 3/18/3-55) के कथनानुसार दैत्यों से त्रस्त हुए देवताओं द्वारा प्रार्थित नारायण ने 'मायामोह' नामक एक पुरुष को अपने शरीर से उत्पन्न किया और देवों के हितों की रक्षा का कार्य उसे सौंपा। उसने दैत्यों को सन्मार्ग से विमुख करनेवाला पहला उपदेश इस प्रकार दिया—"वैदिक

धर्म-कर्म वस्तुतः धर्म के अंग नहीं है, क्योंकि यज्ञों में पशुओं की हिंसा की जाती है, जबकि अहिंसा ही एकमात्र श्रेष्ठ धर्म हैं। वेद धूर्तों के प्रलाप हैं।" इस मत का जिन्होंते अनुसरण किया वे चार्वाक नाम से समाख्यात हुए। जिनका समाधान इस उपदेश से नहीं हुआ उनके प्रति यह उपदेश दिया गया कि—"संसार में जो ये दृष्ट पदार्थ हैं, तत्त्वतः वे हैं ही नहीं। यह दृष्ट जगत् तो भ्रममात्र है—ऐसी भावना करो। उपदेश मात्र से बोध हो जाने पर भी 'बोध करो,' 'बोध करो'—ऐसी पुनरुक्ति करता गया। इस उपदेश को यथ.र्थ मानकर जिन्होंने अपनाया वे बौद्ध कहे गए। इससे भी जिनके मन का समाधान न हुआ उनके प्रति मायामोह ने यह उपदेश दिया कि 'हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता, एक भी है और अनेक भी है। नित्य भी है और अनित्य भी है। किसी पदार्थ को निश्चित न समझना ही श्रेष्ठ धर्म है। इसी में प्रवृत्ति करने के तुम योग्य हो अर्थात् अर्हत् हो।" इस उपदेश को सत्य मानने वाले दैत्य 'आर्हत्' नाम से प्रसिद्ध हुए।

कहना न होगा कि उक्त तथा भागवतादि पुराणों के ऐसे ही आख्यानों में यद्यपि वक्ता एवं श्रोता के नाम देशकालानुरूप बदलते रहते हैं, तथापि उनका निहिताशय वही हैं जो छांदोग्य उपनिषद् के प्रजापति और इंद्र-विरोचन आख्यान का है। हमारे विचार से परवर्ती साहित्य के ऐसे आख्यानों में वक्ता व श्रोता के नामों में किया गया परिवर्तन इस परम्परा के परवर्ती प्रवाह का द्योतक होता है। इस दृष्टि से देखने पर उपनिषद चार्वाक, बौद्ध एवं जैन अवैदिक परम्परा से सम्बद्ध होते हैं, फिर चाहे वे परस्पर एक दूसरे के विरोधी हो या अविरोधी।

सिद्धांत पक्ष—चार्वाकमत के सिद्धांत पक्ष का निरूपण इस स्पष्टीकरण के बाद करना उचित होगा कि यह परम्परा यद्यपि अत्यंत प्राचीन है, तथापि जयराशि भट्ट (8वीं शती) कृत 'तत्त्वोपप्लवसिंह' इनका एकमात्र उपलब्ध स्वतंत्र ग्रंथ है, और इसमें भी चार्वाकों की प्रमाण-मीमाँसा तथा जैन, बौद्ध, वेदांत आदि मतों का खंडन ही मुख्य है। फलतः इनके सिद्धांत पक्ष के निरूपण के लिए आज ब्रह्मसूत्रों के भाष्य, सर्वसिद्धांत संग्रह, सर्वमतसंग्रह, षड्दर्शन संग्रह आदिग्रंथों में इनके नाम से उद्धृत सामग्री पर निर्भर रहना पड़ता है। मैंने यहाँ डॉ० सर्वानंद पाठक कृत चार्वाक दर्शन की शास्त्रीय समीक्षा में संकलित 'बार्हस्पत्य सूत्र' और 'सर्वदर्शन संग्रह' का आधार लिया है। ध्यातव्य यह है कि उक्त ग्रंथों में चार्वाकमत को पूर्वपक्ष या प्रतिपक्ष के रूप में उद्धृत किया गया है। अतः सम्भव है कि इन ग्रंथों में चार्वाकों के कथनों को यत्किंचित विकृत करके या उनके मूलभूत संदर्भ को उपेक्षित करके इस प्रकार प्रस्तुत किया गया हो, जिससे उनका खंडन सरल और सम्भव हो सके।

हमारे विचार से चार्वाक भी अपने ढंग के कारणवादी हैं। वे अनुमानाश्रित अप्रत्यक्ष कारण को न मानकर एकमात्र प्रत्यक्ष—इंद्रिय ग्राह्य—कारण को ही

सत्य मानते हैं। अतः उनकी प्रमाण मीमांसा में वे एकमात्र प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं—प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणम्। (वा० सूत्र 20)। अनुमान उनकी दृष्टि में या तो प्रमाण है ही नहीं—अनुमानमप्रमाणम्—(वा० सूत्र 6) या फिर लोक प्रसिद्धि की सीमा तक अदृश्य पदार्थों की सत्ता सिद्ध करने तक ही उपयोगी है। अर्थात् दूरदेश गया व्यक्ति दिखाई नहीं देता, इसलिए वह नहीं है और उसकी पत्नी विधवा है—इस हद तक वे प्रत्यक्षवादी नहीं हैं। यहाँ वे यह मान लेंगे कि दिखाई न देने पर भी उस व्यक्ति का अस्तित्व है और उसकी पत्नी सधवा है। अनुमान का इतना या इस प्रकार का उपयोग उन्हें मान्य है। अतीन्द्रिय सत्ता का अस्तित्व सिद्ध करनेवाला अनुमान उन्हें अग्राह्य है। अर्थात् जैसे घट रूप कार्य का कर्त्ता कुंभकार होता है वैसे ही सृष्टिरूप कार्य का कर्त्ता ईश्वर होना चाहिए—यह अनुमान उन्हें अग्राह्य है।

चार्वाक सृष्टि-रचना के कारणभूत चार महाभूतों को मानते हैं। उसके मतानुसार पृथ्वी, जल, तेजस् (अग्नि) और वायु—ये चार ही तत्त्व समग्र सृष्टि के कारण हैं। इन्हीं के यथायोग्य संयोग से चक्षुरादि इंद्रियाँ और उनके रूपादि विषय उत्पन्न होते हैं।[76] अन्न के जिन दानों और वनस्पतियों के जिन रसों से मदिरा बनती है, वे स्वयं मादक नहीं होते, किंतु उनके यथायोग्य सम्मिश्रण की प्रक्रिया से जैसे उनमें मादकता उत्पन्न होती है, वैसे ही भूत-चतुष्टय के संघात से शरीर में चैतन्य की उत्पत्ति होती है।[77] अतः चैतन्य की उत्पत्ति के लिए किसी अतीद्रिय कर्ता की अपेक्षा नहीं है। प्राणियों की उत्पत्ति में काय क्रीड़ा के अतिरिक्त कोई अन्य कारण नहीं है। काम एव प्राणीनां कारणम्—(वा० सूत्र 16)। शरीरेंद्रिय से पृथक् किसी स्वतंत्र आत्मा का अस्तित्व नहीं है—शरीरेंद्रिय संघात एव चेतनः क्षेत्रज्ञः·· (वा० सूत्र 15)। ईश्वर और परलोक प्रत्यक्ष नहीं है अतः वे नहीं हैं···नास्तिपरलोकः (सूत्र 29)। धार्मिक कृत्यों का कोई प्रत्यक्ष फल नहीं देखा जाता, अतः उन्हें नही करना चाहिए।[78] मरने पर भूत चतुष्टय अपने-अपने कारणरूप महाभूतों में लय हो जाते हैं, कुछ भी शेष नहीं रहता। अतः मृत्यु ही अपवर्ग (या मोक्ष) है...मृत्युरेवापवर्गः (सूत्र 30)। पुनर्जन्म नहीं होता।

संसार के सुख ही स्वर्गीय सुख हैं। काँटा लगने से जो दुःख होता है, वही नारकीय पीड़ा है। प्रत्येक जीव को अपना जीवित रहना प्रिय लगता है, अतः वही सत्य है। लोकायत शास्त्र ही प्रमाण है, और लौकिक मार्ग का अनुसरण ही कल्याण कर है।[79] काँटों की तीक्ष्णता[80] मृग व पक्षियों की विचित्रता, ईख की मधुरता, नीम की तिक्तता आदि के रूप में जो वैचित्र्य है वह सब स्वाभाविक है।

एकमात्र काम अथवा काम और अर्थ—दो पुरुषार्थ हैं।[81] इंद्रिय सुख ही वास्तविक सुख हैं, उनके साथ अनिवार्य रूप से लगे हुए दुःखों को देखकर उन्हें त्यागना वैसा ही मूर्खतापूर्ण है जैसाकि मृगों के भय से खेती करना त्यागना देना।

परलोक के काल्पनिक सुखों के व्याहमोह में पहुँचकर लौकिक सुखों का त्यागना वैसा ही मूर्खतापूर्ण है जैसा कि कल्पना के मोर के लिए हाथ में आए कबूतर को त्याग देना। बुद्धिमानी इसी में है कि—जब तक जीओ, सुख से जीओ—

यावज्जीवेत्सुखं जीवेदृणं कृत्वा धृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥ बा० सूत्र 46
स्वदारपरदारेषु यथेच्छ विहरेत्सदा। सर्वदर्शन संग्रह

अर्थात् अपनी हो या पराई, सम्पत्ति और सुंदरी के निर्बाध भोग में ही जीवन का सच्चा सुख है।

वेद और यज्ञादि का विरोध—चार्वाकमत के अनुसार वेद-त्रयी धूर्तों का प्रलाप है—धूर्त्तप्रलापस्त्रयी—(सूत्र 33)। तीनों वेदों के कर्ता—भंड, धूर्त और निशाचर थे जिन्होंने जर्भरी, तुर्फरी आदि निरर्थक शब्द प्रयुक्त करके लोकवंचना की है—(सूत्र 48)।

क्योंकि स्वर्ग, मोक्ष, परलोकगामी आत्मा नहीं हैं, अतः वर्णाश्रम के कर्मों के पालन का कोई फल नहीं है (सूत्र 39)। अग्निहोत्र, तीनों वेदों का आचार पालन, दंडधारण करना, संन्यास लेना और ललाट पर भस्म लगाना आदि कर्म बुद्धि और पुरुषार्थ से हीन लोगों की आजीविका के लिए विधाता ने बनाए हैं (सूत्र 40)। यदि यज्ञ में हिंसित पशु को स्वर्ग मिलता है तो यजमान अपने पिता का वध क्यों नहीं करता? ताकि उसे अनायास ही स्वर्ग मिल जाए (सूत्र 41)। यदि श्राद्धकर्म से मृतात्मा को स्वर्ग में तृप्ति व पुष्टि हो जाती हैं तो यात्रा पर जानेवालों को घर से भोजन देने की क्या आवश्यकता है? (सूत्र 42) इत्यादि।

श्रमणों का विरोध—चार्वाकों ने न केवल वेद और वैदिक धर्म-कर्म की तीखी आलोचना की है, श्रमणों के तप-त्याग की भी वैसी ही भर्त्सना की है—

नग्न श्रमणक दुर्बुद्धे कायाक्लेशपरायण।
जीविकार्थे विचारस्ते केन त्वमसि शिक्षित॥ बा० सूत्र 1

अर्थात्—हे नग्न अर्हत्! और भिक्षु! तुम अपनी मंदबुद्धि के कारण ही कायाक्लेश को अपनाते हो। किसने तुम्हें जीवन यापन का यह उपाय बताया है?

समीक्षात्मक निष्कर्ष

चार्वाकमत को सामान्यतः धर्माधर्म में अंतर न करनेवाला भोगवादी दर्शन माना जाता है। कहना न होगा ऐसा कोई भी मत कभी भी सामाजिक मान्यता प्राप्त नहीं कर सकता। चार्वाक न केवल मान्य उप-षड्दर्शनों[82] (नास्तिक मतों) में अग्रगण्य है, उसकी लोकायत संज्ञा उसके लोक में व्याप्त—लोकेषु आयतम्—होने की परिचायक है। उसकी अकाट्य तर्कमीमांसा को दाद देते हुए माधवाचार्य ने

लिखा है कि—दुरुच्छेद हि चार्वाकस्य चेष्टितम्। प्रायेण सर्वप्राणिनस्तावत्। अर्थात् चार्वाक मत का खंडन करना भी कठिन है। प्राय: संसार में सभी प्राणी तो इसी लोकोक्ति पर चलते हैं। तदुपरांत कौटिल्य के अर्थशास्त्र में कहा गया है कि बृहस्पति के अनुयायी वार्ता एवं दंडनीति में मानते थे—वार्ता दंडनीतिश्चेति बार्हस्पत्या:। भास के 'प्रतिमा' नाटक में बृहस्पति के अर्थशास्त्र का उल्लेख है। ऋग्वेद के लोक्य बृहस्पति, अर्थशास्त्र के रचयिता बृहस्पति और बार्हस्पत्य सूत्रों के रचयिता बृहस्पति एक ही नहीं हो सकते—एक परम्परा से सम्बद्ध हो सकते हैं। जो हो, कौटिल्य के कथन का समर्थन बार्हस्पत्य सूत्रों से भी होता है। दंडनीतिरेव विद्या। अत्रैव वार्तान्तिर्भवति ॥ (सूत्र 31, 32)। अर्थात् दंडनीति से भिन्न कोई विद्या नहीं है। वार्ता—कृषि, वाणिज्य, पशुपालन एवं व्यापार इसी के अंतर्गत हैं। कहना न होगा कि दंडनीति की सार्थकता नीति के समुचित पालन को सम्भव बनाने में है। वार्ता तो है ही अर्थशास्त्र। चार्वाकों ने पारलौकिक परमेश्वर को नहीं माना। किंतु लोक-व्यवहार के शुभाशुभ कर्मों के लिए पुरस्कार व दंड देने में समर्थ राजा को उन्होंने ईश्वर की संज्ञा दी है—लोकसिद्धो राजा परमेश्वर:।[83]

उक्त संदर्भों से प्रकट होता है कि अर्थ व काम के अनियन्त्रित भोग का प्रचार ही चार्वाकमत का प्रतिपाद्य न रहा होगा, जैसा कि उनके प्रतिपक्षियों द्वारा कहा गया है। तदुपरांत चार्वाकों में धूर्त और सुशिक्षित, सामान्य और प्रगल्भ आदि नामों से अभिहित दो, अथवा पाखंड, धूर्त और सुशिक्षित और सुशिक्षिततर नामों से अभिहित चार सम्प्रदाय होने के उल्लेख हैं।[84] संभव है प्रतिपक्षियों ने धूर्तों के मत को ही चार्वाकमत के रूप में प्रस्तुत किया हो। रामायण, महाभारत में चार्वाकमत के उपदेशक प्राय: संन्यासी हैं, किंतु जैनों के वाङ्मय में चार्वाकमत के पक्षधर राजा भी हैं।[85] इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि चार्वाक मतानुयायी संन्यासी और गृहस्थ दोनों रहे होंगे। गृहस्थों में अर्थ व काम का उपभोग निश्चय ही अर्थनीति, समाजनीति एवं दंडनीति द्वारा नियंत्रित रहा होगा। यदि यह सत्य है, जैसा कि आधुनिक गवेषी विद्वान मानते भी हैं, तो नास्तिक शिरोमणि होने पर भी चार्वाक वैदिक मत के अधिक निकट माने जाएँगे। क्योंकि वैदिक धर्म, जैसा हम आगे देखेंगे, अर्थ, काम व धर्म के त्रिवर्ग को सर्वाधिक महत्त्व देता है। अर्थात् वैदिक धर्म अर्थ व काम का नियंत्रण धर्म (जिसमें सभी नीतिशास्त्र सम्मिलित हैं) द्वारा करता है, तो चार्वाक धर्म की जगह नीति (अर्थनीति, समाजनीति एवं दंडनीति) द्वारा अर्थ व काम के नियंत्रण को महत्त्व देते हैं। इससे लौकिक धरातल पर दोनों के मध्य का अंतर नहीं वत् ही रहेगा। मुख्य मतभेद परलोक, पारलौकिक ईश्वर का अस्तित्व, यज्ञ, और वर्ण व्यवस्था के सैद्धांतिक पक्ष तक ही सीमित होगा।

वैदिक कर्म, वर्ण एवं देवतादि के विरोध को लेकर चार्वाक श्रमणों के निकट होंगे, शेष बातों में दोनों के मार्ग विपरीत दिशाओं में हैं। अर्थात् चार्वाकों का

लौकिक मार्ग और श्रमणों का आध्यात्मिक मार्ग, आचार व विचार दोनों दृष्टियों से परस्पर विरोधी हैं।

कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि चार्वाकों का अभ्युदय होने पर अनार्य परम्परा मुख्य दो प्रतिस्पर्धी धार्मिक प्रवाहों में विभक्त हुई। वैदिक परम्परा के साथ देखने पर कहना होगा कि धार्मिक क्षेत्र में ऐसी त्रयी अस्तित्व में आई जिसकी प्रत्येक इकाई शेष दो की विरोधी है, अथवा प्रतिपक्षी है।

इस अनुशीलन के अनुसार अनार्य परम्परा का एक प्रमुख लक्षण सम्प्रदाय-वाद फैलाना है। चार्वाक अनार्य परम्परा से सम्बद्ध हैं। अतः सम्प्रदाय भेद इनमें भी होना चाहिए। जैसा हम ऊपर निर्देश कर चुके हैं, गवेषक विद्वानों के अनुसार इनमें भी सम्प्रदायभेद था। एक सम्प्रदाय यदि चार भूतों की सत्ता मानता था, तो दूसरा पाँच की। इनके अतिरिक्त भी इनमें पाखंडी, धूर्त, सुशिक्षित औr सुशिक्षिततर आदि सम्प्रदाय थे। किंतु इस सवके बावजूद ध्यातव्य यह है कि चार्वाकों ने धर्मो-पदेशकों के ईश्वर वन जाने को अमान्य किया, उससे इनमें सम्प्रदायवाद नीति-विषयक मतभेद से अधिक महत्त्वपूर्ण या प्रभावशाली नहीं हो सकता था, और न नित्य नए-नए मुखौटे पहनकर शाखा-उपशाखाओं के रूप में अपना विस्तार ही कर सकता था। पारलौकिक ईश्वर को भी अमान्य कर देने पर एक धार्मिक सम्प्रदाय के रूप में अपनी अस्मिता बनाए रखना संभव नहीं था अत: इसका भविष्य वहीं हुआ जो होना था।

आजीवक मत

परिस्थिति-परिचय—पूर्ववर्ती विवरण से, न्यूनाधिक रूप में, यह स्पष्ट हो जाता है कि, एकमात्र चार्वाकों को छोड़कर, आर्येतर परम्परा के सभी धार्मिक संस्थानों में जीवन का लक्ष्य 'मोक्ष' माना गया है। मोक्ष निश्चय ही एक वैयक्तिक उपलब्धि है, जो 'आत्मानं विद्धि' के लक्ष्य को सिद्ध करनेवाली एकांतिकी एवं अंर्तमुखी साधना द्वारा ही सम्भव है। संक्षेप में इस समूची परम्परा के आचार-विचार एवं साधना-पद्धति का केंद्रबिंदु अकेला व्यक्ति है। साधक का आत्मोद्धार ही सब कुछ है। स्वभावतः इस लक्ष्य की प्राप्ति में उप-कारक आचार-विचार ही उनके लिए धर्मसर्वस्व हैं, एतदतिरिक्त जो कुछ भी है वह सव त्याज्य है, यहाँ तक कि अपनी वृत्ति भी। अतः यह निवृत्ति मार्ग है।

दूसरे, जैसा हम देख चुके हैं, इस समूची परम्परा में विचार का विषय सृष्टि का 'आदि कारण' है। निश्चय ही उसका कोई द्रष्टा नहीं हो सकता और इसलिए उससे सम्बन्धित ज्ञान इंद्रियप्रत्यक्ष नहीं हो सकता। उसके सम्बन्ध में जो कुछ भी कहा जाएगा वह एक अनुमान से अधिक नहीं हो सकता। अतः पहले तो 'अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके' की स्थिति से नहीं बचा जा सकता। तदुपरांत इनके द्वारा स्वीकृत तर्कपद्धति या पद्धतियाँ और प्रमाणमीमांसा प्रतिपाद्य विषय के सर्वथा सुसंगत हैं--यह भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा

सकता। यथा कार्य रूप घट, पट के उदाहरण से अथवा पिंड की उत्पत्ति, वृद्धि एवं क्षय के उदाहरण से ब्रह्मांड को भी वैसा ही कार्य मान लेना अपने-आप में एक अनुमान है। ब्रह्माण्ड के इस अनुमानित कार्यत्व के आधार पर उसके कारण का अनुमान तो अनुमानाश्रित अनुमान ही हुआ। पुन: स्वीकृत प्रमाणमीमांसा एवं तर्कपद्धति के भेद से, उनके उपयुक्त-अनुपयुक्त प्रयोग से अथवा वैयक्तिक विचार वैशिष्ट्य आदि कारणों से एतद्विषयक कोई सर्वमान्य मंतव्य आज तक तो अस्तित्व में नहीं आ पाया है, आगे आ पाएगा—इसमें संदेह है। अर्थात् प्रतिपाद्य विषय के स्वरूपादि के सम्बन्ध में मतभेद होना अपरिहार्य है। जिसे ये लोग प्रत्यक्ष कहते हैं वह व्यक्ति के अंत:करण का विषय है, अर्थात् रहस्यानुभूति है, अत: अबौद्धिक है।

तीसरे, जैसा हम देख चुके हैं, इस परम्परा में, चार्वाकों को छोड़कर, जीवन्मुक्ति प्राप्त (सिद्ध पुरुषों), आत्मज्ञानियों का न केवल ब्रह्मस्वरूप हो जाना माना है, अपितु शिष्यों को दीक्षा देने, धर्मोपदेश करने और शिष्यों या अनुयायियों के संघ स्थापित करने आदि के अबाधित अधिकार देकर उनके ईश्वर पद पर प्रतिष्ठित होने का मार्ग प्रशस्त किया गया है। ध्यातव्य होगा कि 'ईश्वर' शब्द का प्रयोग उन दिनों निग्रह एवं अनुग्रह करने में समर्थ अर्थात् दंडित और पुरस्कृत करने में समर्थ व्यक्ति के लिए होता था। फलत: राजनीति के क्षेत्र में राजा और धर्मक्षेत्र में (अपने अनुयायियों के मध्य में) धर्मोपदेशक ईश्वर पद वाच्य हुए। इस युग के धर्मोपदेशकों की एक प्रमुख प्रवृत्ति ऐसा 'तर्क जाल' तैयार करना थी, जिसमें छोटी-मोटी सभी प्रकार की मछलियों को सफलता पूर्वक फँसाया जा सके। अर्थात् न केवल वाद—प्रमाणपुष्ट और न्यायसंगत ढंग से विचारों के प्रतिपादन द्वारा—अपितु जल्प अथवा वितंडा के छलछद्म द्वारा भी, अपने पूर्ववर्ती मतवादियों अथवा प्रतिपक्षियों को घेर कर निग्रह स्थान में लाकर परास्त करना उनकी प्रमुख प्रवृत्ति थी। अर्थात् तत्कालीन वाद-विवाद के आयोजनों में सत्य की प्रतिष्ठा नहीं, अपितु अपनी विजय और प्रतिपक्ष की पराजय ही सब कुछ होती थी। तर्क से हो या कुतर्क से, प्रतिपक्ष की पराजय को ही अपने मत की श्रेष्ठता का प्रतिपादक मान लिया जाता था।

उपर्युक्त सभी प्रवृत्तियों का स्वाभाविक चित्रण उपनिषदों में लक्षित होता है, जैसा कि हम पूर्ववर्ती पृष्ठों में लक्ष्य कर चुके हैं। इन प्रवृत्तियों के क्रियान्वयन से धर्मक्षेत्र में जिस अराजकता का सर्जन हुआ उसका निरूपण आगे के पृष्ठों में होता रहेगा, यहाँ हम केवल संन्यास, वाद-विवाद एवं मतवाद को ही लेते हैं।

(1) **संन्यास**—जैसा हम देख चुके हैं, उपनिषत्कारों एवं सांख्य तथा योग के प्रणेताओं के अनुसार लौकिक जीवन दु:खमय था, मोक्ष जीवन का लक्ष्य था, जो संन्यास से ही प्राप्य था। आबालवृद्ध नर-नारियों को बिना किसी भेद-भाव के संन्यास लेने की न केवल छूट थी, अनेक सुविधाएँ भी दी जातीं थीं। यथा—राजा का दास भी यदि भिक्षु बनकर कषाय चीवर पहन ले और थोड़े-से भोजन,

आवास एवं एकांत जीवन से संतुष्ट रहे, तो राजा उसके लिए भी सम्मानित स्वागत, चीवर, पात्र, आवरण, भैषज्य और रक्षा आदि की व्यवस्था करेगा (डायलाग्स ऑफ दी बुद्धा: 77)। सामान्य जनता को भी यह भली भाँति जता दिया गया था कि संन्यासी (सर्वस्वत्यागी होने से) परमादरणीय हैं, इनको भोजन-वस्त्र का दान देने वालों को स्वर्ग अवश्य मिल जाएगा। अत: भक्तिभाव के साथ यथाशक्ति दान उन्हें देना चाहिए।

एक तो 'अनियत वृत्ति' व्रात्य समाज की विशेपता थी ही, दूसरे उनके धर्मोपदेशकों ने भी निवृत्तिमय जीवन का उपदेश दिया। उपर्यक्त सुविधाएँ थीं ही। अबोध जनता पर इस सब का जो प्रभाव पड़ना था, वह पड़ा। फलत: 'वे (संन्यासी या परिव्राजक) श्रावस्ती नगरी में मिले-जुले ठट्ठ में भिक्षा के लिए निकलते थे और "अपने भिन्न-भिन्न मतों का प्रतिपादन करते हुए और एक-दूसरे के साथ शब्दों के रूप में मुँह के हथियार से (मुखसंस्थिति) लड़ते जाते थे।"[86] डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी लिखते हैं कि, "इस प्रकार ब्राह्मण धर्म की सामान्य व्यवस्था में (मेरे विचार से व्रात्य ब्राह्मणों की सामान्य व्यवस्था में) लगभग आधे से अधिक समाज के लिए संसार से विरत होकर सत्य की जिज्ञासा में ज्ञानियों के पथ प्रदर्शन में भिक्षु या तपस्वी का जीवन व्यतीत करना विधिवत् था। अनिकेतन विचरने वाला यह समुदाय विविध धार्मिक सम्प्रदायों में संगठित था, जो अपने-अपने आचार्यों द्वारा आनुशिष्ट मत और तप के विभिन्न मार्गों का अनुसरण करते थे।"[87] अर्थात् 'ब्राह्मण को धन केवल भिक्षा का' सिंहनाद चतुर्दिक् गूँजने लगा और अमरवेल की तरह परावलम्बी जीवन व्यतीत करने वालों का व्यापक समाज (समुदाय) अस्तित्व में आया जिसकी तत्कालीन एक संज्ञा 'आजीवक' (अर्थात् आजीविका हेतु भिक्षु बनने वाला) थी।

ब्राह्मण (आर्य), जैन एवं बौद्धों के धर्मग्रंथों में वृत्ति, वेश, आहार, तप के प्रकार, रहन-सहन एवं आचार-विचार के भेदोपभदों का निरूपण हुआ देखा जाता है। अंगुत्तर निकाय (4/35) में बौद्धेतर भिक्षुओं के प्रमुख दो भेद बताए गए हैं—(1) ब्राह्मण और (2) अञ्ञातित्थिय अर्थात् अन्य (बौद्धेतर) भिक्षु। सम्भवत: इन्हीं को कालांतर में 'ब्राह्मण श्रमण' अथवा 'समण ब्राह्मण' कहा गया है। धर्म की व्याख्या करते हुए अशोक के शिलालेखों में जिन 'ब्राह्मण समणानं' को दिए गए दान को धर्म कहा गया है, वे ब्राह्मण श्रमण सम्भवत: ये ही हैं। उल्लेख्य होगा कि 'समण ब्राह्मण' अथवा 'ब्राह्मण श्रमण' के सामासिक का अर्थ सामान्यत: ब्राह्मण और श्रमण किया जाता है और 'ब्राह्मण' शब्द का अर्थ आर्य व्यवस्था के ब्राह्मण लिया जाता है। किंतु हम यह देखते आ रहे हैं कि व्रात्यों के अपने ब्राह्मण होते थे। वेदों में जिन्हें यति एवं मुनि कहा गया है, उन्हीं में से धर्मज्ञों अथवा धर्मोपदेशकों को उपनिषदों में (सच्चा) ब्राह्मण, ब्राह्मण बंधु, चरक, आचार्य एवं गुरु आदि कहा गया है, और बाद के साहित्य में उन्हीं को चरकाचार्य, वादशील, ब्राह्मण, परिव्राजक अथवा 'ब्राह्मण समणा' कहा गया

है। परम्परागत ऐक्य, विचार साम्य आदि से तो हमारे मत की पुष्टि होती ही है, क्षेत्र की दृष्टि से भी परिव्राजकों, आजीवकों, समणों, चरकों एवं श्रमण ब्राह्मणों या वादशील ब्राह्मणों की जन्मभूमि और कर्मभूमि बिहार एवं पूर्वी उत्तर प्रदेश में ही निश्चित होती है, और यही वह क्षेत्र है जो सदियों तक व्रात्य परम्परा का अजेय गढ़ रहा है।

'अंगुत्तर निकाय' की ही एक अन्य उक्ति में परिव्राजक सम्प्रदायों की नामावली इस प्रकार दी गई है : (1) आजीवक, (2) निगंठ (निर्ग्रन्थ), (3) मुंड साधक, (4) जटिलक, (5) परिव्राजक, (6) मगंडिक, (7) तेदंडिक (त्रिदंडिक), (8) अविरुद्ध, (9) गौतमक और (10) देवधम्मिक (देवताओं के धर्म का पालन करने वाले=वैदिक ?)। 'चुंद सुत्तं' (सुत्त निपात-5) में चार प्रकार के श्रमण बताए गए हैं—(1) मार्गजिन, (2) मार्गदेशक, (3) मार्गजीवी और (4) मार्ग-दूषक। इन मार्ग-दूषकों के विषय में कहा गया है कि—

छदनं कत्वान सुब्बतानं पक्खन्दि दूसको कुल पगब्भो।
मायावी असञ्ञातो पलापो पतिरूपेन चरं स मग्गदूसी ।।[88]

अर्थात् जो सुव्रतों का रूप धारण करके मौके की तलाश में रहता है, जो कुलदूषक, प्रगल्भी, मायावी और प्रलापी है, (किंतु) साधुओं का रूप धारण करके विचरण करता है, वह मार्गदूषक है। पाणिनि ने अष्टाध्यायी[89] में उंछवृत्ति, सार्ववर्णकों, नैकटिक, कौक्कुटिक आदि परिव्राजकों के जो भेद निर्दिष्ट किए हैं, उनमें एक कपटी भिक्षु (अ० सूत्र 5/2/76)भी है, जो 'दाण्ड-जिनिक' कहे जाते थे— क्योंकि वे दिखावे के लिए ही दंड और अजिन धारण करते थे। ऐसे ही एक अन्य कपटी भिक्षु 'आय:शूलिक' (सूत्र 5/2/76) कहे जाते थे। अन्य ग्रंथों में भी कपटी साधुओं के उल्लेख मिलते हैं। इससे प्रकट होता है कि गेरुए कपड़ों में भी कुछ 'उत्सेधजीवी' अर्थात् लूट-मार और उत्पीड़न द्वारा जीविका चलाने वाले (व्रात्य) होते थे। ध्यान होगा कि उ० प्र० के 'वैरगिया नाले' के ऐसे ही साधु के वेश में रहने वाले ठगों को अंग्रेजों ने मिटाया था।

वाद-विवाद - प्रमुख रूप से देश के पूर्वी प्रदेशों के तत्कालीन धार्मिक जीवन की एक प्रमुख विशेषता मतवादियों के मध्य यत्र तत्र सर्वत्र आए दिन होते रहने वाले 'वाद-विवाद' थे। इनके विषय में हम पूर्ववर्ती पृष्ठों में भी बहुत कुछ कह चुके हैं, अत: यहाँ इस प्रवृत्ति का संक्षिप्त परिचय ही पर्याप्त होगा। जैसा उपनिषदों के राजा जनक, प्रवाहण जैवलि आदि के आख्यानों तथा जैनों एवं बौद्धों के वाङ्मय में निरूपित प्रसंगों से सिद्ध होता है मतवादियों के ये वाद-विवाद राजाओं की राज्यसभाओं, या राज्य परिषदों अथवा संघागारों, समयप्पवादक शालाओं, उद्यानों अथवा अन्य सार्वजनिक स्थानों में आयोजित किए जाते थे। यथा श्रावस्ती में रानी मल्लिका का उद्यान, वैशाली के बाहर

महावन में लिच्छवियों द्वारा निर्मित कूटागार, चम्पा की रानी गगरा की पुष्करिणी का सुरभित चंपक उद्यान।[90] और राजगृह का मोर-निवाय नामक स्थान[91] आदि ऐसे स्थान थे जहाँ उक्त प्रकार के वाद-विवाद सार्वजनिक रूप से आयोजित होते थे।

'कस्सप सीहनाद सुत्त' [92] में श्रमण ब्राह्मणों (चरकाचार्यों) के विषय में कहा गया है कि "वे शास्त्रार्थ में पटु, सूक्ष्मबुद्धि, अनुभवी, बाल की खाल निकलने वाले और अपनी मेधा से प्रतिपक्षियों के मतों की धज्जियाँ उड़ाते हुए इधर-उधर विचरते थे।" मेरे विचार से आकस्मिक रूप से भी ऐसे दो-चार वाग्वीरों के एकत्रित हो जाने पर उनके मध्य वाग्युद्ध का आयोजन स्वाभाविक होता होगा। पालि साहित्य में वात्स्यायन (परिव्राजक), उपालि (गृहपति) और सच्चक निगंठ-पुत्र आदि ऐसे भयंकर तार्किकों के उल्लेख हैं जो उनके आह्वान को स्वीकार करनेवाले वाग्वीर की शोध में रहते थे।[93] सच्चक निगंठपुत्र का दावा था कि "यदि मैं अचेतन स्तम्भ से भी शास्त्रार्थ प्रारम्भ करूँ तो वह भी मेरे वाद के मारे कम्पित हो जाएगा, मनुष्य की तो बात ही क्या ?" (मज्झिम० 1/4/5)।

ध्यातव्य होगा कि वादशीलों के ये वाद उनकी विजिगीषा से प्रेरित होते थे जिज्ञासा से नहीं, अतः उनमें तर्क (किंतु मुख्य रूप से जल्प व वितंडा) का प्रयोग होता था। स्वमत के प्रतिपादन में वे 'नेति-नेति' के कवच को नहीं त्याग सकते थे।

मतवाद—ब्रह्मज्ञानी का ब्रह्म ही हो जाना और क्लेश कर्म विपाक और आशय से अपरामृष्ट व्यक्ति का ईश्वर हो जाना, इस परम्परा में प्रकारांतर से (चार्वाकों को छोड़) सभी को मान्य था—यह हम देख चुके हैं। वस्तुस्थिति यह प्रतीत होती है कि आत्मज्ञान लाभ, स्वप्न स्थिति, मोक्ष, मुक्ति, ग्रंथि-विच्छेद, निर्वाण—कुछ भी कहें—के सिद्ध या प्राप्त होने पर साधक कृतकार्य हुआ माना जाता था। अर्थात् प्राप्तव्य (लक्ष्य) को प्राप्त कर लेने पर अब उसके लिए न तो कुछ और प्राप्तव्य रहता था, न कुछ करणीय। अतः ब्रह्म-लक्षण प्राप्त व्यक्ति के लिए अपनी इहलीला समेटकर अनंत में लीन हो जाने, शरीर को त्याग देने का मार्ग प्रशस्त हो जाता था, और वह समाधि ले लेता था। किंतु कालांतर में इस प्रकार की मुक्ति (विदेह मुक्ति) को स्वार्थपूर्ण अथवा अपूर्ण बताया गया, और यह निश्चय किया गया कि ऐसे व्यक्तियों को मुक्तिलाभ के साथ ही देहत्याग न करके प्रकृत रूप से आने वाली मृत्यु तक जीवित रहकर अन्य के उद्धार में उपकारक धर्मोपदेश का कार्य निष्काम भाव से करना चाहिए। इस स्थिति का अधिकारियों ने कम किंतु अनधिकारियों ने विशेष लाभ उठाया। परिणाम जो होना था सो हुआ।

श्वेता० उप० (1/2) में कहा गया है कि कुछ लोग काल को, कुछ स्वभाव को, कुछ नियति को, कुछ यदृच्छा को, कुछ पंचमहाभूतों को, कुछ पुरुषों, कुछ इन सबके समवाय को और कुछ आत्मा को जगत् का करण बताते हैं। आगे इन

सभी मान्यताओं का एक-एक करके खंडन करने के बाद रुद्र को सृष्टि का आदि-कारण सिद्ध किया गया है।[94] जैनों एवं बौद्धों के साहित्य में भी इस स्थिति का चित्रण यत्र तत्र सर्वत्र पाया जाता है। कस्सपसींहनाद सुत्त (दीघ० 1/8) में कहा गया है कि अनेक समण ब्राह्मण, परिव्राजक (परिब्बाजक), तार्किक (तक्की) और मीमांसक (वीमंसी) इधर-उधर घूमा करते थे, जो लोक और आत्मा के विषय में शाश्वतवाद और अशाश्वतवाद के विषय में न जाने क्या-क्या परस्पर विरोधी और व्यावहारिक उपयोगिता से शून्य बातें बिना जाने, बिना देखे—(अजानतं, अपस्सतं)—किया करते थे। मांडूक्य उपनिषद् का कथन है कि आत्मा है, नहीं है, है भी और नहीं भी है, तथा है नहीं है—इस प्रकार क्रमशः चल, स्थिर, उभयरूप और अभावरूप कोटियों से मूर्खलोग ईश्वर को आच्छादित ही करते हैं (मांडू० उप० 4/83)। उदान (पालि संस्करण, पृ० 66-67) के जच्चंद्धवग्ग (4, 5, 6) में कहा गया है कि—सम बहुला नाना-तित्थिया समण ब्राह्मणा परिब्बाजिका नाना दिट्ठिका नानाखतिका नाना रुचिका नानादिट्ठ निस्सयनिस्सिता॥ अर्थात्—श्रमण-ब्राह्मणों के बहुसंख्यक अनेक सम्प्रदाय थे जो परिव्राजक धर्म के मानने वाले, अनेक दिट्ठि (दार्शनिक मतों), अनेक खंति (क्षांति), अनेक विश्वासों, अनेक रुचियों और अनेक प्रकार के निस्सयों (आश्रय=व्यवस्था) वाले थे।

त्रिपिटकों में, बुद्ध के समय में, बासठ मिथ्यादृष्टियों के प्रचलित होने के उल्लेख हैं। 'ब्रह्मजाल सुत्त' (दीघ० 1/1) के अनुसार इन बासठ मिथ्यादृष्टियों के मुख्य दो भाग थे—(1) पूर्वकल्पिक (पुब्बंत कलिपका), और (2) अपरांत कल्पिक (अपरंत कल्पिका)।

पूर्वकल्पिक दृष्टियाँ, लोक और आत्मा के 'आदि' का विचार करनेवाली थीं। इनके पांच भेद थे—(1) शाश्वतवाद के अनुसार आत्मा और लोक नित्य, अपरिणामी, कूटस्थ एवं अचल हैं। (2) नित्यता—अनित्यतावाद के अनुसार आत्मा और लोक अंशतः नित्य और अंशतः अनित्य हैं। (3) सांत-अनंतवाद के अनुसार लोक सांत एवं परिच्छिन्न भी है और अनंत एवं अपरिच्छिन्न भी है। साँत और अनंत, परिच्छिन्न और अपरिच्छिन्न, तथा न शांत न अनंत, न परिच्छिन्न और न अपरिच्छिन्न भी। (4) अपराविक्षेपवाद के अनुसार सब कुछ अनिश्चित है। अतः वे अपने मत का प्रतिपादन—इस प्रकार की संदिग्ध भाषा में करते थे कि "यह भी मैंने नहीं कहा, वह भी मैंने नहीं कहा, अन्यथा भी नहीं, ऐसा नहीं है—यह भी नहीं, ऐसा नहीं है, यह भी नहीं कहा।" और (5) अकारणवादी के अनुसार आत्मा और लोक न शाश्वत हैं, न अशाश्वत हैं, न स्वकृत हैं और न परकृत, अपितु अकारण उत्पन्न अथवा अधीत्यसमुत्पन्न हैं।"

ध्यातव्य होगा कि पूर्वकल्पिक दृष्टियों के उक्त प्रथम चार भेदों में से प्रत्येक के प्रतिपादन में चार-चार आधार (या प्रमाण), और अंतिम के प्रतिपादन में दो आधार अपनाए गए हैं। इन आधारों की संख्या के आधार पर ही उक्त पूर्व-

कल्पिक दृष्टियों की कुल संख्या अठारह बताई गई है।

अपरांत कल्पिक दृष्टियों के भी पाँच भेद माने गए हैं—(1) संज्ञीवाद के अनुसार मृत्यु के बाद आत्मा संज्ञी (मैं हूँ—इस प्रकार का ज्ञान रखनेवाला) रूप में रहता है। (2) असंज्ञीवाद के अनुसार मृत्यु के बाद आत्मा असंज्ञी (निर्विशेष) रूप में रहता है। (3) नैव संज्ञित्व नैव असंज्ञित्ववाद के अनुसार मृत्यु के बाद आत्मा नैव संज्ञी नैव असंज्ञी रहता है। इसमें पूर्वोक्त दोनों मंतव्यों का वैकल्पिक संमिश्रण किया गया है। (4) उच्छेदवादपूर्वोक्त धूर्त चार्वाकों के मत सदृश है। और (5) दृष्टधर्मनिर्वाणवाद के अनुसार प्राणी का इसी संसार में देखते-देखते निर्वाण हो जाता है इत्यादि।[95]

ध्यातव्य होगा कि अपरांतकल्पिक दृष्टियों के उक्त भेदों में से प्रथम के प्रतिपादन में सोलह, द्वितीय व तृतीय के प्रतिपादन में आठ-आठ, चतुर्थ के प्रतिपादन में सात और अंतिम के प्रतिपादन में पाँच धारणाएँ अपनाई गई हैं, और इन धारणाओं की संख्या के आधार पर इनकी कुल संख्या चवालीस कही गई है। प्रथम कोटि की अठारह दृष्टियों के योग से यह संख्या बासठ हो जाती है।

इन दृष्टियों के विचारपूर्वक अवलोकन से प्रकट होता है कि चाहे उनकी संख्या बासठ कही जाए, चाहे उन्हें उपर्युक्त दश भागों में या दो भागों में विभक्त करके देखा जाए उनके मूल में उपनिषदों का 'नेति-नेति वाद', असद्वाद या आकाशवाद स्पष्टतः लक्षित है। मेरे विचार से तो यह सब असद्वाद का ही सूक्ष्मातिसूक्ष्म निरीक्षण, परीक्षण और विस्तरण है। अर्थात् 'नेति-नेति' के आधार पर यथासम्भव कितनी परिकल्पनाएँ या सम्भावनाएँ सम्भावित हैं इसी का विश्लेषण इनमें मुख्यतः हुआ है।

जैनों के धर्मग्रंथों में तीन सौ त्रेसठ जैनेतर मतों के उस समय (महावीर के समय) प्रचलित होने के उल्लेख हैं।[96] वहाँ भी इन समस्त मतों को चार भागों में विभक्त किया गया है—(1) क्रियावाद के अनुसार आत्मा का अस्तित्व है और वह (आत्मा) कर्मों से प्रभावित होती है। यद्यपि यहाँ इसे जैनेतर मत कहा गया है किंतु महावग्ग (6/3/1/2) एवं सूत्रकृतांग (1/12/21) में स्वयं महावीर को क्रियावादी कहा गया है। विद्वानों का विचार है कि न्याय, वैशेषिक इसी वर्ग में आते हैं, यद्यपि वहाँ इनका उल्लेख नहीं है। (2) अक्रियावाद—प्रथम का निषेधस्वरूप है, बौद्धों का क्षणिकवाद, वेदांत, सांख्य, योग, इसी वर्ग में गिने जाने योग्य हैं। (3) अज्ञानवाद के अनुसार मोक्ष ज्ञान से नहीं प्रत्युत कर्म (या तप) से साध्य है, और (4) विनयवाद के अनुसार मोक्ष प्राप्ति के लिए विनय (नियम, शील) ही उपयुक्त उपाय है।

टीकाकारों के अनुसार क्रियावादियों के 180, अक्रियावादियों के 84, अज्ञानवादियों के 67, और विनयवादियों के 32 सम्प्रदाय थे। इन कथनों में मतों की संख्या के सम्बन्ध में अतिशयोक्ति सम्भव है, किंतु तत्कालीन धार्मिक

जगत् की जिस प्रवृत्ति को लक्षित किया गया है उसकी सत्यता में संदेह करना व्यर्थ है।

'ललितविस्तर' में बुद्ध का कथन है कि, "मैं ऐसे लोगों के मध्य जन्मा हूँ जिनकी बौद्धिक मुक्ति की कोई सम्भावना नहीं है। मेरे चारों ओर सत्य के उद्घाटकों के समूह हैं और उनकी कामनाएँ अनंत हैं। मेरा जन्म ऐसे समय हुआ है जब उनकी सामर्थ्य उनकी शारीरिक आवश्यकताओं के पंजे में कराह रही है। मूर्ख व्यक्ति पवित्रता और तप के विभिन्न उपायों से अपने शरीर के परिष्कार का प्रयत्न करते हैं, और चाहते हैं कि उनके अनुयायी भी यही करें। उनमें से कुछ तो अपने मंत्रों के अर्थ तक नहीं जानते, कुछ हाथ चाटते हैं, कुछ अत्यंत गंदे रहते हैं, कुछ के अपने मंत्र ही नहीं हैं, कुछ विभिन्न स्रोतों के पीछे भागते हैं। गाय, हिरन, घोड़े, सुअर, बंदर या हाथी की पूजा करने वाले भी कुछ लोग हैं। कुछ लोग पैर मोड़कर एक स्थान पर चुपचाप बैठ जाते हैं और महानता प्राप्त करना चाहते हैं। इसके अतिरिक्त अनेक धुआँ या अग्नि पीकर सूर्य की ओर ताकते रहकर, पंचाग्नि जलाकर, एक पैर पर खड़े रहकर, एक हाथ सदा ऊपर उठाए रखकर या घुटनों के बल चलकर अपने तप की सम्पूर्ति करना चाहतेहैं।[97]

मैत्रायणी उपनिषद् (मंत्र 7-8) में कहा गया है कि जो नगर के याजक हों, जो अयाज्य जातियों के लोगों को यजन करानेवाले हों, जो शूद्र के शिष्य हों, शूद्र जाति के शास्त्रों के ज्ञाता हों, जो चाट, नट, भट, परिव्राजक (साधु), नाटक के पात्र बनने वाले हों, जो राज के कार्य करने में पतित, अत्याचार करनेवाले रहे हों; पुनः जो यक्ष, राक्षस, भूत, गण, पिशाच, नाग आदि की बला दूर करने का दावा करते हों, जो दिखावे के लिए काषायवस्त्र धारण करते हों, कानों में कुंडल पहनकर घूमते हों, जो कपाल धारण करते हों, पुनः जो मिथ्या तर्क एवं दृष्टांतों द्वारा और इंद्रजाल द्वारा वैदिक मर्यादा में रहने का दंभ भरते हों, उनके साथ नहीं रहना चाहिए। क्योंकि वे प्रकट चोर हैं, और स्वर्ग से भ्रष्ट करने वाले हैं। नैरात्म्यवाद के छल द्वारा और मिथ्या दृष्टांत एवं तर्क द्वारा सामान्य लोग भ्रमित हो जाते हैं, वस्तुतः ये लोग वेद बाह्य हैं।

कहना न होगा कि 'ललितविस्तर और 'मैत्रायणी उपनिषद्' के उक्त वक्तव्यों के लक्ष्य एक ही धार्मिक परम्परा के लोग हैं और यह परम्परा है—पूर्वी प्रदेशों में पल्लवित, पुष्पित एवं फलीभूत होनेवाली व्रात्य परम्परा।

मज्झिम निकाय (1/3/10) में बुद्ध के पूर्ववर्ती छः प्रमुख धर्मोपदेशकों (तीर्थंकरों) का उल्लेख है—पुराण कस्सप, मक्खलि गोसाल, अजित केसकम्बल, पकुधकच्चायन, संजय वेलठ्ठिपुत्त और निगंठ नाथपुत्त। इन समण ब्राह्मणों को यहाँ संघनेता, गणनेता, गणाचार्य, त्राता, यशस्वी तीर्थंकर (धर्मोपदेशक), बहुसंख्यक समाज में परमादरणीय आदि कहा गया है।[98] संयुत्तनिकाय (1/69) में बुद्ध भगवान को उक्त तीर्थंकरों से उम्र में छोटा कहा गया है और जैनग्रंथों में मक्खलि गोसाल (आजीवक) को महावीर का समकालीन बताया गया है। बौद्ध

और जैन दोनों के साहित्य में उक्त तीर्थंकरों के मतों का निरूपण पूर्ववर्ती अथवा समकालीन मतों के रूप में किया गया है। अतः यहाँ उनके मतों से भी अवगत हो लेना प्रासंगिक होगा।

पुरण कस्सप—इनके वैयक्तिक जीवन के विषय में प्रमाणपुष्ट सामग्री का अभाव है। दीघनिकाय (1/1-2) की अपनी 'सुमंगल विलासिनी' टीका में आचार्य बुद्ध घोष ने कहा है कि ये दासपुत्र थे। किसी समृद्ध परिवार के 99 दासों में सम्मिलित होकर इन्होंने उनकी संख्या को पूरे सौ किया, अतः 'पुरण' कहे गए, कस्सप इनकी उपाधि थी। किसी कारणवश जब इन्हें स्वामी के घर से भागना पड़ा तो मार्ग में चोरों ने इनके वस्त्र छीन लिए। तृणों से अंगों को आच्छादित करके जब ये निकटवर्ती गाँव में पहुँचे तो इन्होंने अपना परिचय दिया कि "मेरा नाम पूर्णकाश्यप बुद्ध है। पूर्ण इसलिए कि मैंने सारी विद्याओं को पढ़ा है, 'काश्यप' इसलिए कि मैं ब्राह्मण हूँ और बुद्ध इसलिए कि मैंने सारी बुरी इच्छाओं का दमन किया है।" लोगों ने इन्हें संन्यासी मानकर समादृत किया और इन्होंने पाँच शिष्यों को मूँड़कर अपना मत स्थापित किया। एक बौद्ध धारणा के अनुसार बुद्ध के परि-निर्वाण के सोलहवें वर्ष में इन्होंने श्रावस्ती के निकट जल समाधि ली थी।

एक बार राजा अजातशत्रु के यह पूछने पर कि संन्यासी होने का इहलोक में प्रत्यक्ष लाभ क्या है, इनका उत्तर था, "राजन ! कर्म करते या कराते, छेदन करते या कराते, ... जीव हिंसा करते, बिना दिए लेते, सेंध मारते, गाँव लूटते, चोरी-बटमारी करते, परस्त्री गमन करते, झूठ बोलते भी पाप नहीं किया जाता। छुरे के तेज चक्र द्वारा (काटकर) जो (यदि) धरती के लोगों (जीवों) के माँस का खलियान बना दें, माँस का पुंज खड़ा कर दें, तो इसके कारण उसको (ऐसा करनेवाले को) पाप नहीं लगेगा। इसी प्रकार दान देने या दिलाने, यज्ञ करने या कराने में भी कोई पुण्य नहीं है। दान, दम, संयम, सत्य कथन से न पुण्य है न पुण्य का आगमन।"[99] इनके इस मत को अक्रियावाद के नाम से जाना जाता है।

शीलांक ने सूत्रकृतांग (1/1/13) की अपनी टीका में इसे अकारकवाद कहा है और सांख्य के पुरुष (या वेदान्तियों की आत्मा) के अकर्तृत्व तथा असंगतता जैसा बताया है। यद्यपि कतिपय विद्वान, शीलांक के मंतव्य से असहमत हैं, तथापि यह सत्य है कि उपनिषदों का आत्मा और सांख्य का पुरुष कर्म-अकर्म या पुण्य-अपुण्य से अप्रभावित (कूटस्थ) माने गए हैं। ललितविस्तर (अध्याय-1) के अनुसार अवंती का राजा चंडप्रद्योत इसी सम्प्रदाय का अनुयायी था। इस सम्प्रदाय के साधक समाधि, व्रत, तपश्चर्या आदि पर विशेष जोर देते थे। तमिल साहित्य में इनका सम्बन्ध आजीवक मत से बताया गया है।[100]

मक्खलि गोसाल—आचार्य बुद्धघोष (सुमंगल विलासिनी टीका दीघ० 1/143-44) के अनुसार गोसाल भी दासपुत्र थे। 'गोबहुल' नामक किसी ब्राह्मण

की गोशाला में इनका जन्म हुआ था, इसलिए ये 'गोसाल' कहे गए। पंकिल मार्ग से तेल लेकर आते समय जब ये फिसल गए और इस पर क्रोधित हुए स्वामी ने इनकी धोती को पकड़कर खींचा तब ये नग्नावस्था में ही भाग खड़े हुए और पुरण कस्सप की तरह संन्यासी हो गए।

जैन स्रोतों (दे० भगवती सूत्र 15/1) के अनुसार ये किसी मंख (अर्थात् भिक्षु) के पुत्र थे, जो चित्र दिखाकर भिक्षाटन करता था। इनके द्वारा अपमानित 'वेश्यायन' नामक किसी बाल तपस्वी ने इन पर तेजोलेश्या छोड़ी। महावीर स्वामी ने उससे इनकी रक्षा की और ये उनके शिष्य हो गए। नालंदा में कई वर्षों तक साथ रहने के बाद जब दोनों में अनबन हो गई तब गोसाल आजीवक हो गए। एक मत से ये मगध के निवासी थे, दूसरे मतानुसार आजीवक हो जाने के बाद ये श्रावस्ती में हालाहला नामक किसी धनाढ्य कम्हारिन के घर रहते थे मगध में अपने मत का प्रचार करते थे। हालाहला इनके मत के प्रचार हेतु धन जुटाती थी। बहुत समय के बाद श्रावस्ती में जब ये पुनः महावीर से मिले तो दोनों में झगड़ा हुआ और महावीर द्वारा इन पर छोड़ी गई तेजोलेश्या के प्रभाव से ज्वराक्रांत होने पर इनकी मृत्यु हो गई।

संदक सुत्तंत (मज्झिम० 2/3/6) के अनुसार आजीवक तीन आचार्यों को अपना मार्गदर्शक मानते थे—किस्ससंकिच्च (कृश सांस्कृत्य), नंदवच्छ (नंदवत्स) और मक्खलि गोसाल (मस्करी गोशाल)। जैन स्रोतों के अनुसार आजीवक मत के प्रवर्त्तक आचार्य कुंडियानन थे, गोसाल उनकी शिष्य परम्परा में सातवें थे।[101] स्वयं गोसाल के छः दिशाचर शिष्य थे…ज्ञान, मलंद, कर्णिकार, अच्छिद्र, अग्निवैश्यायन और गोमायुपुत्र अर्जुन।

दीर्घनिकाय (हिंदी अनु०, पृ० 20) के अनुसार राजा अजातशत्रु के उक्त प्रश्न के उत्तर में गोसाल ने अपने मत का निरूपण इन शब्दों में किया था—"राजन्! सत्त्वों के क्लेश का हेतु नहीं है, प्रत्यय नहीं है। बिना हेतु और बिना प्रत्यय के सत्त्व क्लेश को प्राप्त होते हैं। सत्त्वों की शुद्धि का भी कोई हेतु नहीं है, बिना हेतु के और बिना प्रत्यय के सत्त्व शुद्ध होते हैं। अपने भी कुछ नहीं कर सकते, पराए भी कुछ नहीं कर सकते। कोई पुरुष भी कुछ नहीं कर सकता। बल नहीं है, वीर्य नहीं है। पुरुष का भी कोई पराक्रम नहीं है। सभी सत्व, सभी प्राणी, सभी भूत और सभी जीव अपने वश में नहीं हैं। निर्बल और निर्वीर्य वे भाग्य और संयोग के फेर से छः जातियों में उत्पन्न होकर सुख और दुःख भोगते हैं। दुःख और सुख द्रोण (माप) से तुले हुए हैं। संसार में घटना-बढ़ना उत्कर्ष-अपकर्ष नहीं होता।" जैसे सूत का गोला सूत की लम्बाई के बराबर दूरी तक जाकर स्वतः स्थिर हो जाता है, वैसे ही जीव चौरासी लाख योनियों में अपना संस्करण पूरा करने पर स्वतः ही शुद्ध हो जाता है। जीव के संक्लेश एवं विशुद्धि की प्रक्रिया के मूल में 'नियति-संगति-भाव-परिणाम' का नियमन विद्यमान रहता है इत्यादि।

अंजातशत्रु ने गोसाल के मत को 'संसार विशुद्धि' का मत बताया है, आधुनिक विद्वान इसे नियतिवाद की संज्ञा देते हैं। डॉ० गोविंदचंद्र पांडेय के अनुसार "वस्तुतः गोसाल के मत में जन्म-मरण, सुख-दुःख, संसार और मोक्ष सब अतीत कर्म के ऊपर निर्भर हैं। कर्म सर्वथा नियत और परम कारण है। ऐसा प्रतीत होता है कि गोसाल समस्त संचितकर्म को प्रारब्ध कर्म के समान यथाकाल पाकोमुख और सर्वथा अपरिहार्य मानते थे। पुरुषार्थ सर्वथा तुच्छ और हेय है।"[102]

आजीवकों के अनुयायियों के मुख्य दो भेद होते थे तापस और उपासक, उपासक सम्भवतः गृहस्थ होते थे। तापस तप को विशेष महत्त्व देते थे और संन्यासी होते थे। आचार्य नरेंद्रदेव के अनुसार "ये पंचाग्नि तापते थे, उत्कुकिट (उकडू बैठनेवाले) थे और हवा में झूलते रहते थे · "

(दे० बौद्ध धर्म दर्शन, पृ० 4)

'महानारद कस्सप' जातक में मिथिला के निकट मृगवन में अपने अनेक शिष्यों के साथ रहने वाले गुणकस्सप नामक तापस का प्रसंग वर्णित है, जिसने विदेह राज अंगीति को अपने मत का परिचय इन शब्दों में दिया था—"हे राजन्! धर्माचरण से भला या बुरा कोई फल नहीं मिलता। परलोक नाम की कोई वस्तु नहीं है। कौन व्यक्ति वहाँ से लौटकर यहाँ आया है? सभी जीव समान हैं, न किसी से सत्कार लेना चाहिए न किसी को देना चाहिए। शक्ति या साहस नाम की कोई चीज नहीं है। शौर्य अथवा वीर्य हो ही कैसे सकता है, जब सभी नियति के वश में हैं। ·········सभी प्राणियों को जो मिलना चाहिए वह मिल ही जाता है, फिर दान से क्या लाभ? दान से कुछ लाभ नहीं होता है—दाता असहाय तथा दुर्बल होता है। जो दाता है वह मूर्ख है, दान लेने वाला ही चतुर है इत्यादि (दे० जातक 6, पृ० 225)।[103] इसी जातक में विदेह-राजकुमारी रूजा द्वारा इस मत का खंडन कराया गया है।

पाणिनि के एक सूत्र (अष्टाध्यायी 6/1/154) में 'वेणु' वाचक 'मस्कर' शब्द में इनि प्रत्यय जोड़कर वेणु (या बाँस की लाठी) जिसके हाथ में हो ऐसे परिव्राजक के लिए प्रयुक्त 'मस्करिन्' शब्द की व्युत्पत्ति का निर्देश है—मस्कर-मस्करणौ वेणुपरिव्राजकयो' —किंतु महाभाष्यकार पंतजलि का कथन है कि 'मस्करी' वह साधु नहीं है जो हाथ में मस्कर (बाँस की लाठी) लेकर चलता हो। फिर क्या है? मस्करी वह है जो यह उपदेश देता है कि "कर्म मत करो, शांति का मार्ग ही श्रेयस्कर है···"

न वै मस्करोऽस्यास्तीति मस्करी परिव्राजकः। किं तर्हि। मा कृत कर्माणि मा कृत कर्माणि शान्तिर्वः श्रेयसीत्याहातो मस्करी परिव्राजकः॥ (तहाभाष्य 6/1/154)।

विद्वानों का विचार है कि संस्कृत शब्द 'मस्करी' का ही पालिरूप 'मक्खलि' है, अतः उक्त सूत्र और उसके भाष्य में मक्खलि गोसाल के मत का ही निर्देश

हुआ प्रतीत होता है ।

महाभारत (शांतिपर्व 177) में मंकिऋषि प्रोक्त 'मंकिंगीता' का उपदेश निरूपित किया गया है, तदनुसार—

न चैवाविहितं शक्यं दक्षेणापिहितुं धनम् ।
युक्तेन श्रद्धया सम्यगीहां समनुतिष्ठता ।। 177/9
शुद्धंहि देवमेवेदं हठेनैवास्ति पौरुषम् ।। 177/12

अर्थात्—मनुष्य कैसा ही चतुर क्यों न हो जो उसके भाग्य में नहीं है, उस धन को वह श्रद्धापूर्वक भली भाँति प्रयत्न करके भी नहीं पा सकता । यह केवल दैव की ही लीला है, हठपूर्वक किए गए पुरुषार्थ से क्या होता है ?

कैयट के 'प्रदीप' में कहा गया है कि मस्करी लोग काम्य कर्मों के त्याग की शिक्षा देते थे ।[104] अशोक के पौत्र दशरथ ने गया के निकट की 'बराबर' (या बर्बर) पहाड़ी में अनेक गुफाएँ बनवाकर आजीवकों को दान में दी थीं । महाकवि कुमारदास (छठा शतक) विरचित 'जानकीहरण (10/76) में रावण के कृत्रिम साधु के वेश को 'मस्करी रूप' कहा गया है । इस सबसे इनके मत की व्यापक प्रसिद्धि एवं दीर्घकालीन परम्परा का अनुमान किया जा सकता है ।

अजित केसकम्बल—इनके वैयक्तिक जीवन के विषय में कुछ ज्ञात नहीं हैं । 'अजित' उनका नाम था, और केसकम्बल उनकी उपाधि थी, जो सम्भवत: बालों का कम्बल प्रयोग में लाने के कारण मिली होगी । दीर्घनिकाय (सामञ्ञफल सुत्तं) के अनुसार अजातशत्रु के प्रति उन्होंने अपने सिद्धांतों का निरूपण इन शब्दों में किया था—"महाराज, न दान है, न यज्ञ है, न होम है, न सुकृत, न दुष्कृत, न कर्म का फल विपाक है । न यह लोक है, न परलोक है, न माता है, न पिता है, न औपपातिक सत्त्व (अयोनिज दैवी सत्ता), है, न ऐसे श्रमण ब्राह्मण हैं, जिन्होंने अभिज्ञाबल से इहलोक-परलोक का साक्षात्कार किया है—(या साक्षात्कार के बाद उपदेश दिया है) । मनुष्य (देह) पर-महाभूतों के संमिश्रण से बना है, उसके मरने पर पृथ्वी तत्त्व महापृथ्वी में, जल तत्त्व महा-जल में, तेज तत्त्व महातेज में, वायु तत्त्व महावायु में और इंद्रियाँ आकाश में विलय हो जाती हैं । मनुष्य मृतक को खाट पर रखकर ले जाते हैं, उसकी निंदा-प्रशंसा करते हैं । हड्डियाँ कबूतर की तरह उजली हो (बिखर) जाती हैं, और सब कुछ भस्म हो जाता है । मूर्ख लोग दान देते हैं, उसका कोई फल नहीं होता । आस्तिकवाद मिथ्या है । मूर्ख और पंडित सभी शरीर के नष्ट होते ही उच्छेद को प्राप्त हो जाते हैं । मरने के बाद कोई नहीं रहता ।"

विद्वानों ने अजित के इस मत को जड़वाद, उच्छेदवाद, विशुद्ध भौतिकवाद आदि कहा है और उसे चार्वाक मत के समतुल्य बताया है । डॉ० हवलदार त्रिपाठी[105] के अनुसार अजित केसकम्बल व्रात्यों में अग्रणी थे । ये तपस्या में लीन होकर वर्षों खड़े ही रह जाते थे । ''''''यह बड़ी तत्परता से वैदिकी हिंसा का

विरोध तथा कड़ाई के साथ सदाचार का पालन करता था। इसलिए लोक में यह सम्प्रदाय सत्कार एवं सम्मान का पूर्णपात्र था। 'वत्स' देश (राजधानी कोसाम्वी) का तत्कालीन राजा उदयन इसी सम्प्रदाय का उपासक था।[106]

पकुध कच्चायन – इनके भी व्यक्तिगत जीवन के विषय में कुछ ज्ञात नहीं है, कहा जाता है कि ककुध नामक वृक्ष के नीचे इनका जन्म होने से इन्हें 'प्रकुध कात्यायन' नाम दिया गया। उनका मत था कि जो सत् है उसका विनाश नहीं हो सकता और जो असत् है उससे कुछ उत्पन्न नहीं हो सकता—सतो नत्थि विनासो, असतो नच्चि सम्भवो। अतः दीर्घनिकाय (सामञ्ञफल सुत्त) में राजा अजातशत्रु के प्रति इन्होंने अपने मत का प्रतिपादन इन शब्दों में किया—"राजन्, न तो कोई स्रष्टा है, न कोई सृष्टि है। यह सात काय (समूह, तत्त्व) अकृतः अकृत के समान, अवध्य, कूटस्थ, स्तम्भवत् अचल हैं। ये चल नहीं होते, विकारग्रस्त नहीं होते, न एक-दूसरे को हानि पहुँचाते हैं। कौन-से सात ? पृथ्वीकाय, आपकाय, तेज काय, वायुकाय, सुख-दुःख और जीवन—ये सात काय हैं। यह सात काय अकृत (निर्विकार, अविकृत) हैं, सुख-दुःख के योग्य नहीं हैं। यहाँ न हन्ता है, न घातयिता, न सुनने वाला, न सुनाने वाला, न जानने वाला, न जतलाने वाला। जो (यदि) तीक्ष्ण शस्त्र से किसी का शीश काट दिया जाए तो भी कोई किसीको प्राण से नहीं मारता। क्योंकि शस्त्र तो सात कायों से अलग विवर (शून्य स्थान) में गिरता है।"

विद्वानों ने प्रकुध कात्यायन के उक्त मत को अकृतवाद, अक्रियावाद बताया है, और चार्वाकमत तथा केसकम्बल के मत से तुलनीय माना है। किंतु हमारे विचार से यह इन दोनों से भिन्न है। क्योंकि प्रथम तो इसमें सात तत्त्वों को अकृत = अविकृत = निर्विकार = अपरिणामी अर्थात् पारमार्थिक सत्य माना गया है, दूसरे इनके मध्य भी खाली स्थान (विवर, जिसमें शस्त्र पड़ता है) है, जो स्वभावतः अकृत ही होगा। तीसरे इनके सात (या आठ) तत्वों में से चार (महाभूत) स्थूल हैं, शेष तीन (या चार) सुख, दुःख-जीवन (यदि चार मानें तो शून्य या आकाश, विवर) सूक्ष्म तत्व हैं। प्रथम चार को 'रूप' और अंतिम को 'नाम' अथवा क्रमशः जड़ व चेतन की संज्ञाएँ दी जा सकतीं हैं। अतः यह भौतिकवाद नहीं है। गौड़पादाचार्य के अजातवाद का प्रथम विचार इसमें विद्यमान है। बुद्ध के 'नाम-रूप' की भी पूर्व भूमिका इसमें है।

संजय वेलट्ठिपुत्र दीर्घनिकाय (सामञ्ञफलसुत्त) के अनुसार इन्होंने राजा अजातशत्रु के प्रति अपने मत का उपदेश करते हुए कहा—हे, "राजन्! यदि आप पूछें - क्या परलोक है ? और मैं जानूँ कि परलोक है, तो आपको बताऊँ कि परलोक है। मैं ऐसा भी नहीं कहता, वैसा भी नहीं कहता और दूसरी तरह से भी नहीं कहता। मैं यह भी नहीं कहता कि यह नहीं है, यह भी नहीं कहता कि 'यह यह नहीं है।' परलोक नहीं है। परलोक है भी, और नहीं भी। परलोक न है और न नहीं है। इसी प्रकार औपपातिक प्राणी (देवता) हैं,

नहीं, हैं, हैं भी और नहीं भी, न हैं और न नहीं हैं। इसी प्रकार अच्छे-बुरे कर्मों के फल हैं, नहीं हैं, हैं भी और नहीं भी हैं, न हैं और न नहीं हैं। इसी प्रकार तथागत (मुक्त पुरुष) मरने के बाद होते हैं, नहीं होते हैं इत्यादि। तात्पर्य यह है कि परलोक, देवता, कर्मफल और मुक्तात्मा के विषय में संजय वेलट्ठिपुत्र अस्ति, नास्ति, अस्ति च नास्तिच तथा न अस्ति न नास्ति की चारों कोटियों में से एक भी विधान करने के पक्ष में नहीं हैं।

कहना न होगा कि ऊपर जिसे अपराविक्षेपवाद कहा गया है, वह भी इसी चतुष्कोटिविनिर्मुक्त के समान है और ये दोनों 'उपनिषदों' के नेति-नेतिवाद के तर्कपटुता प्रदान करने वाले विकासात्मक रूप हैं जिनमें वक्ता स्वयं किसी प्रकार के निर्णायक विधान से दूर रहता है, दूसरों (प्रतिपक्षियों) के प्रहारों से सुरक्षित रहता है, और स्वयं दूसरों के विचारों का तार्किक खंडन करने के लिए मुक्त रहता है। उपनिषदों एवं परवर्ती तांत्रिक मतों की अनिर्वचनीयता और गुरु का मौनाख्यान इसी के रूपांतर हैं।

ध्यातव्य होगा कि सारिपुत्र और महामौद्गल्यायन जो बुद्ध भगवान के अग्रणी शिष्य थे, वे प्रारम्भ में संजय वेलट्ठिपुत्र के ही शिष्य थे। जैनों का स्याद्-वाद और बौद्ध चिंतकों का चतुष्कोटि विनिर्मुक्तवाद संतों के विलक्षणवाद या पक्षापक्षरहितवाद आदि, अनार्यों के असद्वाद या आकाशवाद या नेति-नेतिवाद के ही सम्प्रदाय भेदानुसारी रूपांतर हैं। ये सभी तपस्वी हैं, अतः इनकी सार्वत्रिक नहीं-नहीं का तात्पर्य पारमार्थिक सत्ता के अस्तित्व का निषेध नहीं है, उसके स्वरूपादि के विषय में अपनी अज्ञानता का निर्देश-भर है। अतः ये चार्वाकों की कोटि के नास्तिक नहीं हैं।

निग्गंठनाथपुत्त—निर्ग्रंथ ज्ञातपुत्र से तात्पर्य जैनों के अंतिम तीर्थंकर महावीर स्वामी से है। दीर्घनिकाय (1/2) के पूर्वोक्त सामञ्ञफलसुत्त में जैनों की पूर्व परम्परा में स्वीकृत चातुर्यामों का कुछ अशुद्ध रूप में निरूपण किया गया है और कहा गया है कि इन चार प्रकार के संवरों से संवृत निग्गंथ थे। जैन धर्म पर हम आगे कुछ विस्तार से विचार करेंगे इसलिए यहाँ विशेष विस्तार अनपेक्षित है। यों भी जैन एवं बौद्ध अपनी गणना आजीवकों में नहीं करते।

निष्कर्ष—आजीवकों से सम्बन्धित उक्त विवरण से निष्पन्न निष्कर्षों को संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

(1) यह हम देख चुके हैं कि ललितविस्तर (अध्याय 1) के अनुसार वत्स देश का तत्कालीन राजा उदयन अजित केसकम्बल के मत का अनुयायी था और अवंती देश का राजा चंडप्रद्योत पुरणकस्सप के अक्रियावाद का। तदुपरांत मज्झिम निकाय के अनुसार पांडुपुत्र, जो राजगृह के एक रथकार के पुत्र थे, एक आजीवक उपासक थे। वे अपने पिता की कर्मशाला में रथ निर्माण के कार्य को ध्यानपूर्वक देखते थे। साथ ही बिंदुसार की राजसभा में एक आजीवक के ज्योतिषी नियुक्त होने के उल्लेख हैं—(दे० महावंश टीका, पृ० 109, दिव्यदानः,

पृ० 370-71)। श्रावस्ती की 'हालाहला' कुम्हारिन गोसाल की उपासिका थी। इस सबसे प्रकट है कि आजीवकों के मुख्य दो वर्ग रहे होंगे—(1) तापस जिनका हमने ऊपर परिचय दिया है, और (2) उपासक—जिनके विषय में विशेष जानकारी का अभाव है। किंतु इतना निश्चित है कि तापसों के छोटे-मोटे पचासों समूह थे, जो गुरु-शिष्य की जमात के रूप में भिक्षा पर जीवन व्यतीत करते थे।[107] सम्भवतः उपासक वर्ग उन गृहस्थों का था जो उक्त तापसों के जीवन निर्वाह हेतु दान या भिक्षा देकर अपना परलोक सुधार लेना चाहते थे।

(2) आजीवकाचार्यों के वैयक्तिक जीवन, उनके कुल, जाति, मात-पिता, सामाजिक स्थिति आदि के विषय में निर्णायक सूचनाओं का अभाव है। मनुष्य के बालों का कम्बल रखने से केशकम्बल, प्रकुध वृक्ष के नीचे या गोशाला में जन्म लेने से क्रमशः प्रकुध कात्यायन एवं गोशालक, और सभा में जन्म लेने से सभिय इत्यादि के रूप में उपलब्ध इनके परिचय अतार्किक हैं, मनगढ़ंत हैं। इनका 'दास-पुत्र' होना संगत हो सकता है। ये स्वयं अपने-आप को राजन्यबंधु, या ब्रह्मबंधु न बताकर 'समण ब्राह्मण' बताते हैं, जो सम्भवतः ब्राह्मणबंधु का ही एक विकल्प हैं। ये अक्षत्रिय हैं इसमें संदेह नहीं। संन्यासी और धर्मोपदेशक होने से सम्भवतः इन्होंने स्वयं को 'समण ब्राह्मण' कहा है।

(3) उपनिषदों के अश्वपति कैकेय, जनक वैदेह, प्रवाहण पांचाल, अजात शत्रु काशी नरेश जैसे राजन्य बंधु अथवा उषस्ति और याज्ञवल्क्य जैसे राज-पुरोहित आजीवकों के धर्मोपदेशकों में से सर्वथा अदृश्य हैं। जितने भी धर्मोपदेशक हैं वे सब कठोर तप या कायाक्लेश को परमावश्यक मानने वाले हैं।

(4) उपनिषदों के चरक या ब्राह्मणबंधु ज्ञानार्जन के हेतु से इधर-उधर घूमते हैं। सामान्य जनता में वे प्रायः धर्म का उपदेश देते नहीं प्रतीत होते। सम्भवतः आजीवकाचार्य ऐसे पहले धर्मोपदेशक हैं जिन्होंने घूम-फिर कर सामान्य जनता में अपने मत का प्रचार किया।

(5) आजीवकाचार्यों के धर्मोपदेशों की प्रमाणपुष्ट सामग्री न तो संस्कृत में सुरक्षित है न किसी अन्य लौकिक भाषा में। इनके धार्मिक विचारों की प्रति-पादक या निर्देशक जो कुछ सामग्री आज उपलब्ध है वह बौद्ध एवं जैनों के साहित्य में प्रतिपक्षी मतों के विचार के रूप में हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि इनके धर्मोपदेश मूलतः तत्कालीन लोकभाषा में होते होंगे और केवल मौखिक रहते होंगे। अपने उपदेशों को लिपिबद्ध करके सुरक्षित रखने की तमन्ना इनमें रही प्रतीत नहीं होती। यह स्थिति संस्कृत को अपनाने से पूर्व की स्थिति के समान कही जा सकती है।

(6) यह हम पहले से कहते आ रहे हैं कि तत्कालीन दार्शनिक वाद-विवादों में पराजित पक्ष अपने विजेता का शिष्यत्व स्वीकार करके ही अपने प्राणों की रक्षा कर सकता था। अर्थात् अपने मत को त्याग कर विजेता के मत को

अपना लेने की शर्त पर ही उसका शिर उसके स्कंधों से जुड़ा रह सकता था। इसका तात्पर्य यह हुआ कि किसी भी आचार्य का दर्शन या मतवाद केवल तब तक जीवित और सुरक्षित था जब तक कि वह किसी प्रतिद्वन्द्वी से वाद-विवाद में परास्त नहीं हो जाता। जैसे ही वह परास्त हो जाता अपने मत को त्यागकर, अपने समस्त अनुयायियों के साथ, विजेता के मत में दीक्षित हो जाता। इस प्रकार जहाँ एक ओर नित्य नए-नए मतवादों के उत्पन्न होने और फूलने-फलने का अवकाश था, वहीं दूसरी ओर उनके समूल नष्ट होते रहने की भी सम्भावनाएँ थीं।

(7) इन आजीवकों ने लोकसभा में अपना तप-त्याग का उपदेश सामान्य जनता तक पहुँचाकर यह स्थिति उत्पन्न कर दी कि अब भविष्य का कोई धर्मोपदेशक न तो ऐसी भाषा (संस्कृत) अपना सकता है जिसे सामान्य जन न समझ सकता हो और न वह उपनिषदों के राजाओं की तरह स्वयं राजसुख भोगते हुए दूसरों के बालकों को यति (संन्यासी) बनने का उपदेश देने की हिम्मत कर सकता है। अब यदि किसी राजन्यबंधु को धर्म की बागडोर पुन: अपने हाथ में लेनी है तो औपनिषदिक् राजाओं की तरह अपनी राजसभा या राजपरिषद् में वाग्वीरों के वाग्युद्ध का आयोजन करके, न्याय अपने हाथ में लेकर, स्वयं राजसिंहासन पर विराजमान रह कर जैसे सरल उपाय से नहीं, अपितु पार्श्व, महावीर और बुद्ध की तरह अपना घर-द्वार उजाड़कर, सुख-समृद्धि को त्याग कर, तप-त्याग का मार्ग अपनाकर, दर-दर भटककर, आभिजात्य लक्षणों व संस्कारों को त्याग कर, और असंस्कृत भाषा बोलकर ही। मेरे विचार से यही वह स्थिति है जिससे सामंजस्य रखकर महावीर और बुद्ध को अपना कार्य करना था।

जैनधर्म

परम्परा परिचय—कुछ समय पूर्व यह एक सामान्यधारणा थी कि जैनधर्म वर्धमान महावीर द्वारा प्रवर्तित है और वह वैदिक धर्म की प्रतिक्रिया स्वरूप है। किंतु आधुनिक शोध सामग्री और तुलनात्मक अध्ययनों से उक्त धारणा निरस्त होती जा रही है, और उसके स्थान पर यह प्रस्थापित होता जा रहा है कि जैनधर्म का मूल वैदिक धर्म से प्राचीन तो हो सकता है, अर्वाचीन नहीं। जैनधर्म की प्राचीनता एवं उसके मूलभूत स्रोत की परिचायक सामग्री को मुख्य तीन भागों में विभक्त करके देखा जा सकता है—(1) प्राग्वैदिक, (2) ऋग्वैदिक और (3) इतर सामग्री। यहाँ इसी क्रम से उसका अवलोकन किया जाएगा।

प्राग्वैदिक सामग्री—जैसा हम इस अनुशीलन के प्रथम अध्याय में देख चुके हैं—सिंधु उपत्यका के अवशेषों में अनेक नग्न चित्र एवं नग्न मूर्तियाँ मिली हैं, जो सम्भवत: सिद्धि प्राप्त योग साधकों की हैं। सिंधु उपत्यका में प्राप्त मुद्राओं पर अंकित चित्रों से यह भी प्रकट है कि सिद्धि प्राप्त योगियों की प्रतिमाएँ सम्बन्धित

समाज में पूज्य रही होंगी।

यों तो गवेषक विद्वानों ने वैदिक वाङ्मय में भी कुछ ऐसी उक्तियां खोज निकाली हैं, जिनके कथ्य को योग का बोधक माना गया है, किंतु तथ्य यही है कि रहस्यमयी, अंतर्मुखी, ऐकांतिकी योग साधना और उससे सम्बन्धित तप-त्याग अवैदिक हैं। इसके विपरीत हम यह देखते हैं कि सिंधु सभ्यता के चित्रों व मूर्तियों में लक्षित नग्नता, मूर्तिपूजा, योग साधना, अवैदिक पूजा-पद्धति, वृक्षपूजा, नाग-पूजा और तप-त्याग इत्यादि ऐसी अनेक बातें हैं जो जैनियों के आचार-विचार एवं योग साधना से मेल खाती हैं। यह हम कह चुके हैं कि जैन विचारों के अनुसार सिंधु उपत्यका में उपलब्ध मुद्राओं पर अंकित बैठे देवों के साथ-साथ खड़े देवों के चित्र जैन योग की कायोत्सर्ग अवस्था के द्योतक हैं।

डॉ० मोहनलाल मेहता के अनुसार प्राग्वैदिक सैंधव सभ्यता ही मूलभूत द्राविड़ सभ्यता है, और जैन संस्कृति के साथ उसकी अनेक समानताएँ हैं। यथा—'दोनों ही सरल, स्पष्ट, तथा निराशावादी दृष्टिकोणवाली संस्कृतियाँ हैं।········ दोनों ही धर्म, अनीश्वरवाद और आत्मा एवं भौतिक पदार्थों के बीच द्वंद्व को मानते हैं। दोनों ही पुनर्जन्म और कर्मवाद के सिद्धांत का प्रतिपादन करते हैं।[108] डॉ० मेहता के विचारानुसार मूलतः ये सारी बातें अवैदिक हैं। वे आगे लिखते हैं कि वेदों में अनास्थाशील सम्प्रदायों के अर्हत एवं आर्हत् चैत्य महावीर और बुद्ध के भी पूर्व विद्यमान थे, और उन अर्हतों के अनुयायी 'व्रात्य' कहे जाते थे। "उनके (व्रात्यों के) अपने धर्मस्थान, अवैदिक पूजन तथा धार्मिक पथ-प्रदर्शक थे। वे अहिंसक थे तथा उनकी प्रथाएँ बलिहीन थीं। ये ही वे लोग थे जिनके साथ आर्यों को भारतवर्ष में बसने के लक्ष्य से जूझना पड़ा था।[109] स्पष्ट है कि डॉ० मेहता के अनुसार वर्तमान जैनधर्म का विकास सैंधव सभ्यता की योग साधना से होने की सम्भावना है।

जैनधर्म के मूल स्रोत के सम्बन्ध में इस प्रकार की सम्भावना व्यक्त करने-वाले डॉ० मेहता अकेले नहीं हैं। श्री दलसुख मालवणिया लिखते हैं कि मोहें-जोदड़ो और हड़प्पा में जो सामग्री मिली है, उसपर से विद्वानों का अनुमान है कि इस प्राचीन भारतीय संस्कृति (सैंधव संस्कृति) में योग को अवश्य स्थान प्राप्त था। ·· दूसरी ओर जैन-बौद्धों में (सैंधव सभ्यता के जैसा ही) वैदिक आर्यों के यज्ञों का विरोध था और योग का महत्त्व था। ऐसी परिस्थिति में यदि जैनधर्म को तथाकथित सिंधु संस्कृति से भी सम्बद्ध किया जाए तो उचित ही होगा।"[110]

डॉ० भगवानदास तिवारी का कथन है कि जैन तीर्थंकरों में से एकमात्र ऋषभदेव की मूर्ति के सिर पर कुटिल केश रचना दिखाई देती हैं, जो नृतत्त्वशास्त्र की दृष्टि से अनार्यों की शरीर रचना का अंग है। इस आधार पर ऋषभदेव के प्राग्वैदिक कालीन अनार्य और श्रमण (जैन) संस्कृति के आर्येतर तथा वैदिकपूर्व होने का अनुमान किया जा सकता है। डॉ० तिवारी का यह भी सोचना है कि

मोहेंजोदड़ो की खुदाई में प्राप्त कायोत्सर्गयुक्त ध्यानस्थ मूर्तियों के नीचे बैल का चित्र अंकित है। इस बैल के चित्र या वृषभ चिह्न के पीछे कहीं ऋषभदेव अर्थ तो प्रच्छन्न नहीं है? यदि कायोत्सर्ग वाली मूर्तियाँ जैन मुनियों अथवा ऋषभदेव की मूर्तियाँ हैं तो कहीं मोहेंजोदड़ो कालीन भारतीय संस्कृति सुसंस्कृत श्रमण संस्कृति की आदर्श समाज व्यवस्था का प्रमाण तो नहीं है? इत्यादि। कहने का तात्पर्य यह है कि जैन और जैनेतर अनेक विद्वानों ने जैनधर्म के मूल स्रोत के रूप में सैंधव सभ्यता के धार्मिक विश्वासों के होने की सम्भावना व्यक्त की है, जो कम से कम विचारणीय अवश्य है।

ऋग्वैदिक सामग्री—यह हम देख चुके हैं कि वैदिक वाङ्मय में आर्यपूर्व प्रजाओं को दस्यु, दास, व्रात्य एवं असुर आदि संज्ञाएँ मुख्यत: उनकी अनियत वृत्ति, आर्यधर्म विरोधी प्रकृति एवं प्रवृत्ति को लक्ष्य करके दी गई हैं। उनकी धार्मिक आस्थाओ, किंतु विशेषकर उनके साधना मार्ग और साधक के बाह्यवेश को लक्ष्य करके उन्हें जो संज्ञाएँ दी गई हैं, उनमें से उल्लेख्य हैं—शिश्नदेव:, यति, मुनि, वातरशना मुनि आदि। इनमें से प्रथम पर हम पीछे विचार कर चुके हैं, द्वितीय व तृतीय पर आगे विचार करेंगे, यहाँ 'वातरशना मुनि' अर्थात् 'नग्न-मुनि' को लक्ष्य करना प्रासंगिक है। 'वातरशना' मुनि से सम्बन्धित ऋग्वेद का यह वक्तव्य महत्त्वपूर्ण है—

मुनयो वातरशना: पिशंगावसते मला।
वातस्यानु ध्राजिं यन्ति यद्देवासो अविक्षत॥
उन्मादिता मौनेयेन वार्ता आतस्थिमा वयम्।
शरीरेदस्माकं यूयं मर्तासो अभि पश्यथ॥

ऋग्वेद (10/136/2-3) की इन ऋचाओं के अर्थ के विषय में कुछ मत-भेद हैं। किंतु इस विषय में मतैक्य है कि इनमें नग्न रहने वाले साधकों के विशेष लक्षणों का निरूपण हुआ है। सायण भाष्य की सहायता लेकर डॉ० हीरालाल जैन ने इनका यह अर्थ स्वीकारा है कि 'अतीद्रियार्थदर्शी' वातरशना मुनि मल धारण करते हैं, जिससे वे पिशंग वर्ण दिखाई देते हैं। जब वे वायु की गति को प्राणोपासना द्वारा धारण कर लेते हैं, अर्थात् रोकते हैं, तब वे अपने तप की महिमा से दिव्यमान होकर देवतास्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं। (वे कहते हैं कि) सर्व लौकिक व्यवहार को छोड़कर हम मौनवृत्ति से उन्मत्तवत् (उत्कृष्ट आनंद सहित) वायु भाव को (अशरीरी ध्यान वृत्ति को) प्राप्त होते हैं, और तुम साधारण मनुष्य हमारे बाह्यशरीर मात्र को देख पाते हो, हमारे सच्चे आभ्यंतर स्वरूप को नहीं।"[111] ध्यातव्य होगा कि उक्त ऋचाओं से पूर्व की ऋचा (ऋ० 10/136/1) में 'केशी' की स्तुति इन शब्दों में की गई है—

केश्यग्निं केशी विषं केशी बिभर्तिरोदसी।
केशी विश्वं स्वदृशे केशीदं ज्योतिरुच्यते॥

अर्थात्---केशी ही अग्नि, जल, स्वर्ग तथा पृथ्वी को धारण करता है। केशी समस्त विश्व के तत्त्वों का दर्शन कराता है। वही प्रकाशमान ज्योति कहलाता है।

विद्वानों की धारणानुसार 'केशी' शब्द का एक अर्थ केशधारण करनेवाला अथवा जटाजूट-धारी होता है। जैनों के 'पद्मपुराण' (3/288)[112] और हरिवंश पुराण' (9/204) में ऋषभदेव को जटाधारी बताया गया है।[113] ऋग्वेद (10/102/6) में चोरों द्वारा अपहृत ऋषियों की गायों को लौटाने के लिए मुद्गल ऋषि द्वारा 'केशी वृषभ' को अपना सारथी बनाने की बात कही गई है। इस ऋचा में केशी और वृषभ शब्द एक साथ प्रयुक्त हुए हैं।[114] सायणाचार्य के कथनानुसार 'केशी प्रकृष्ट केशो वृषभः' है। इससे 'केशी और वृषभ' की एकता सिद्ध होती है। डॉ० हीरालाल जैन के अनुसार उक्त केशी स्पष्टतः पूर्वोक्त वातरशना मुनियों के अधिनायक ही हो सकते हैं। वेदोक्त 'वृषभ' और जैनों के 'ऋषभ' पर्यायवाची शब्द हैं। अतः सम्भव है कि केशी वृषभ जैनों के केसरियानाथ ऋषभ तीर्थंकर ही हो।[115]

उल्लेख्य होगा कि जैनों के तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के सुप्रसिद्ध शिष्य को केशी, केशिन् अथवा केशीकुमार कहा गया है और वाल्मीकि रामायण (दे० उत्तरकांड) में सुपार्श्व तथा केशी को असुर बताया गया है जो उनके अनार्यत्व का बोधक है।

इतर सामग्री—तैत्तिरीय आरण्यक (1/23/2, 1/24/4) में 'वातरशन्' मुनियों के उल्लेख हैं। ऐतरेय ब्राह्मण (6/33/3) में ऐतश मुनि को उनका पुत्र प्रलापी अथवा मनोविकृत कहता है, जो उनके अनर्गल कथनों से सार्थक प्रतीत होता है। अथर्ववेद (2/5/3, 7/74/1), शत०ब्रा० (9/5/2/15), बृ० उप० (3/4/1, 4/4/25) तथा अन्यान्य ग्रंथों में भी सर्वस्व त्यागी तपोनिष्ठ मुनियों एवं यतियों के वर्णन हैं। किंतु प्रस्तुत संदर्भ में भागवत पुराण (5/3-6) का ऋषभ आख्यान विशेष रूप से अवधेय है।

भागवत पुराण (5/3/20) के अनुसार आग्नीध्र के पुत्र नाभि की भगवान विष्णु के समान पुत्र प्राप्त करने की कामना परिपूर्ण करने के लिए विष्णु महारानी मरुदेवी के गर्भ से दिगम्बर संन्यासी और ऊर्ध्वरेता मुनियों का धर्म प्रकट करने के लिए शुद्ध सत्त्वमय विग्रह से प्रकट हुए—

"बर्हिषि तस्मिन्नेव विष्णुदत्त भगवान परमर्षिभिः प्रसादितो नाभेः प्रिय चिकीर्षया तदवरोधायने मेरुदेव्यां धर्मान्दिर्शयितु कामो वातरशनानां श्रवणानाम-मृषीणामूर्ध्वमन्थिनां शुल्कया तनुवावततार ॥"

राजा नाभि ने अपने इस पुत्र का नाम 'ऋषभ' रखा (भा० पु० 5/4/2)। ऋषभ (जो विष्णु के अवतार कहे गए हैं) ने अनेक वर्षों तक शासन भी किया, उनके सौ पुत्र हुए जिनमें सबसे बड़े का नाम था—भरत। संसार से वैराग्य उत्पन्न होने पर उन्होंने अपने प्रजाजनों एवं पुत्रों को उपदेश दिया कि वैदिक

एवं लौकिक कर्म बंधन के कारण हैं। अतः सर्वथा त्याज्य हैं—(दे० भागवत 5/5/5-17)। तत्पश्चात् उन्होंने अपने ज्येष्ठपुत्र भरत को राज्यभार सौंपकर निवृत्तिपरायण महामुनियों को परमहंसोचित वैराग्यरूप धर्म की शिक्षा देने के लिए संन्यास ले लिया। उनके विरक्त स्वरूप का निरूपण करते हुए भागवतकार कहता है कि—

उर्वरित शरीरमात्रपरिग्रह उन्मत्त इव गगन परिधानः प्रकीर्ण केश आत्मन्यारोपिता हवनीयों ब्रह्मावर्तात्प्रवव्राज। जड़ान्धमूक बधिरपिशाचान्मादकवदवधूतवेषोऽभिभाष्यमाणोऽपि जनानां गृहीतमौनवृतस्तूष्णीं बभूव। ·····परागवलम्बमान कुटिल जटिल कपिशकेशभूरिभारोऽवधूत मलिन निजशरीरेण गृहगृहीतं।[116]

अर्थात्—उन्होंने केवल शरीर मात्र का परिग्रह रक्खा और सब कुछ घर पर रहते ही छोड़ दिया। अब वे वस्त्रों का भी त्याग करके दिगम्बर हो गए। इस समय उनके बाल बिखरे हुए थे। उन्मत्त के जैसा उनका वेश था। इस स्थिति में वे आह्वनीय (अग्निहोत्र की) अग्नियों को अपने में लीन करके संन्यासी हो गए, और ब्रह्मावर्त देश से बाहर निकल गए। वे सर्वथा मौन हो गए थे, कोई बात करना चाहता तो बोलते नहीं थे। जड़, अंधे, बहरे, गूंगे, पिशाच और पागलों की-सी चेष्टा करते हुए वे अवधूत बने, जहाँ-तहाँ विचरने लगे। ······ उनके मुख के आगे जो भूरे रंग की लम्बी-लम्बी लटें लटकती थीं, उनके महानभार और अवधूत के समान धूलिधूसरित देह के कारण वे ऐसे जान पड़ते थे मानो उन्हें भूत लग बैठा हो।

आगे कहा गया है कि ऋषभ ने योगियों को देह त्याग (जैनों की संलेखना) का उपदेश दिया था (भा० पु० 5/6/6)। उनके द्वारा प्रवर्तित धर्म में स्नान न करना, आचमन न करना, अशुद्ध रहना, केश नुचवाना, ईश्वर का तिरस्कार करना आदि बातों का समावेश था—(वही 5/6/10)। भगवान विष्णु का यह अवतार रजोगुण से भरे हुए लोगों को मोक्षमार्ग की शिक्षा देने के लिए ही हुआ था— अयमवतारो रजसोपप्लुत कैवल्योपशिक्षणार्थः। (वही 5/6/12)। डॉ० हीरालाल जैन का सुझाव है कि यहाँ 'रजसोपप्लुत' का अर्थ रजोधारण-मलधारण की वृत्ति भी लिया जा सकता है, जो जैन मुनियों के आचार में अस्नान, अदंतधावन, मल परीषह आदि के अनुरूप ही होगा।[117]

भागवतकार के अनुसार जिस प्रकार कुम्हार का चाक स्वयं चलता है उसी प्रकार ऋषभ का शरीर भी। वे कोंक, वेंकट, कुटक आदि दक्षिणी प्रदेशों में गए और वहाँ के राजाओं ने उनके धर्मोपदेश को अपनाया। कहना न होगा कि सतत भ्रमणशील रहकर धर्मोपदेश करते रहना उपनिषदोक्त चरकाचार्यों का सामान्य लक्षण है। जो हो, उल्लेख्य यह है कि यदि ऋग्वेदोक्त केशी वृषभ और वातरशना मुनियों, जैनों के ऋषभदेव और अचेलक श्रमणों तथा भागवत पुराण के ऋषभ और वातरशना श्रमणों में कोई तात्त्विक सम्बन्ध है, जैसा कि सम्भव है, तो इस परम्परा को उपर्युक्त रूप में देखने में कोई वैचारिक असंगति लक्षित

नहीं होती।

यह हम कह चुके हैं कि महाभारत एवं रामायण आदि ग्रंथों में सुपार्श्व, चंद्र एवं सुमति, जो जैन तीर्थंकरों के नामों से साम्य रखते हैं, और केशी (पार्श्वनाथ के प्रमुख शिष्य का नाम) आदि को असुरों अथवा दैत्यों में परिगणित किया गया है। मनुस्मृति (अध्याय 10) में लिच्छवि, नाथ, मल्ल आदि को व्रात्य कहा गया है। विष्णुपुराण (अध्याय 17), मत्स्यपुराण (अ० 24), पद्मपुराण (अ० 1) और देवी भागवतपुराण (4/13) आदि में कहा गया है कि देवताओं के गुरु बृहस्पति की सहायता के लिए भगवान विष्णु ने स्व-शरीर से मोहमाया नामक एक दिगम्बर साधु को उत्पन्न किया और उससे दैत्यों के प्रति जैनधर्म का उपदेश कराया। इन समस्त संदर्भों से जैनों के अनार्य स्रोत की धारणा बलवती होती है। इसके विपरीत जैनों के 'ऋषिभाषित' (दे० अध्ययन 29 व 31) ग्रंथ में पार्श्वनाथ और महावीर स्वामी की तरह ही असित देवल, रामपुत्त, अंगिरस, मंखलिपुत्र गोसाल, याज्ञवल्क्य, शाक्यपुत्र (बुद्ध) आदि को 'अर्हत् ऋषि' कहा गया है, और 'कल्पसूत्र' तथा 'अंतगड़दसाओ' आदि ग्रंथों में मल्ल, लिच्छवि, उग्र एवं भोग आदि जातियों को जैनधर्म में श्रद्धावान बताया गया है। इस सबसे प्रकट है कि जैनधर्म के मूल स्रोत एवं उसकी परम्परा के विषय में वैदिकों और जैनों की अवधारणाओं में सुसंगति का ऐकांतिक अभाव नहीं है।

तीर्थंकर - जैनधर्म के अनुसार तीर्थंकरों की संख्या चौबीस है। ऋषभदेव (या आदिनाथ) प्रथम तीर्थंकर थे, और महावीर स्वामी अंतिम। ऋषभदेव के विषय में हम ऊपर बहुत कुछ कह चुके हैं। पार्श्व और महावीर को छोड़ शेष के विषय में ऐतिहासिक सामग्री का अभाव है। यहाँ प्रासंगिकता के आधार पर नमिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्व और महावीर का संक्षिप्त परिचय पर्याप्त होगा।

नमिनाथ—हिंदू पुराणों के अनुसार मिथिला के जनक वंश में 'नमि जनक' नाम का भी एक राजा हुआ था। जैनों का विश्वास है कि यह नमि जनक ही उनके इक्कीसवें तीर्थंकर नमिनाथ हैं, ये ही जनक वंश के पूर्व पुरुष हैं। उत्तराध्ययन (9/14) में इनके निस्पृह स्वभाव अथवा प्रवज्या का निरूपण इन शब्दों में किया गया है।

सुहं वेसामो जीवानो जे सिं मोंणत्थि किंचण।
मिहिलाए इज्झमाणीएण में ड्ज्झई किंचण॥

कहना न होगा कि यह उक्ति जनक वैदेह की इस उक्ति का भावानुवाद है कि—

अनंतमिव मे वित्तं यस्य मेनास्ति किंचन।
मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दह्यति किंचन॥ शां० पर्व 178/2

नेमिनाथ—जैनों की धारणानुसार शौरीपुर के यादव वंशी राजा अंधकवृष्णि के दो पुत्र थे—(1) समुद्रविजय और (2) वासुदेव। प्रथम के पुत्र थे नेमिनाथ और द्वितीय के थे कृष्ण। इस प्रकार नेमिनाथ और कृष्ण चचेरे भाई थे। नेमिनाथ ने अपने विवाह के समय बारात के भोजन के लिए मारे जाने वाले पशुओं के समूह को देखकर वैराग्य ले लिया था। इन्हीं का अपरनाम तार्क्ष्य अथवा अरिष्टनेमि है। महाभारत के शांतिपर्व (अध्याय 288) में इनके द्वारा राजा सगर को दिया गया 'मोक्षमार्ग' का वैराग्यप्रेरक उपदेश अंकित है। कहा जाता है कि छान्दोग्योपनिषदोक्त कृष्ण के गुरु घोर आंगिरस और अरिष्टनेमि एक ही व्यक्ति थे।

उपर्युक्त दोनों तीर्थंकरों का ऐतिहासिक व्यक्ति होना असंदिग्ध नहीं है, किंतु इन दोनों के आख्यानों से जैन यदि अपनी परम्परा को औपनिषदिक परम्परा से सम्बद्ध करना चाहते हैं, तो इसमें कोई विसंगति भी नहीं है।

पार्श्वनाथ—जैनों के तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता अब निर्विरोध रूप से स्वीकार्य हो चुकी है। ये बाराणसी के राजा अश्वसेन (या आश्वपति) और रानी वामा के पुत्र थे। इनका जीवनकाल 877 ई० पू० से 777 ई० पू० तक का माना गया है। तीस वर्ष की अवस्था में इन्होंने संन्यास लिया था और तिरासी दिनों की कठोर तपस्या के बाद केवलज्ञान प्राप्त किया था। शेष जीवन के सत्तर वर्षों तक इन्होंने भ्रमणशील रहकर अपने मत का प्रचार किया, अंत में सम्मेत पर्वत शिखर पर मोक्ष प्राप्त किया। इनका धर्मोपदेश 'चातुर्याम संवरवाद' के नाम से प्रख्यात है, जो इस प्रकार है।

1. सर्व प्राणिघात (हिंसा) से विरति।
2. सब प्रकार के असत्य भाषण से विरति।
3. सभी अदत्तदान (चोरी) से विरति, और
4. सभी बहिर्धा आदान अर्थात् परिग्रह (संग्रह) से विरति।[118]

'स्थानांग सूत्र' (266) के कथनानुसार भरत एवं ऐरवत प्रदेश में प्रथम और अंतिम दो तीर्थंकरों को छोड़कर शेष सभी ने चातुर्याम धर्म का ही उपदेश किया था। इससे प्रकट है कि पार्श्व के उपदेश में कोई नवीनता नहीं है। जिन दो बातों को लेकर पार्श्वनाथ का देश के धार्मिक इतिहास में विशेष महत्त्व है, वे निम्नलिखित हैं—

(1) पार्श्वनाथ से पूर्व अहिंसा का महत्त्व एकांत साधक के वैयक्तिक आचरण तक परिसीमित था। अर्थात् वह यतियों, मुनियों, योगियों, परिव्राजकों, श्रमणों की तपस्या का एक अंग थी। सामाजिक जीवन में उसके व्यवहार व महत्त्व का प्रचार सर्वप्रथम पार्श्व द्वारा किया गया।

(2) अब तक के हमारे अनुशीलन से इस परम्परा में मुख्यत: दो प्रकार के धर्मोपदेशक दृष्टिगत होते हैं। एक तो वे जो जंगल में अपना आश्रम बनाकर

रहते थे और जिज्ञासु जन अपनी-अपनी जिज्ञासा लेकर उनके आश्रम पर जाते थे। दूसरे वे जो तपस्या या ज्ञानप्राप्ति के बाद सतत भ्रमणशील रहकर अपने-अपने मत का प्रचार करते थे, और अन्य मतावलम्बियों के साथ वाग्युद्ध (वाद-विवाद) में दो-दो हाथ कर लेने के लिए भी तत्पर रहते थे। इन दोनों प्रकारों के धर्मोपदेशकों का अपना-अपना शिष्य समुदाय होता था। किंतु लक्ष्य योग्य यह है कि उनके शिष्यों व अनुयायियों की परम्परा को दीर्घजीवी बनाने वाली कोई व्यवस्था उन्होंने नहीं अपनाई। अतः व्यक्तित्वसम्पन्न व्यक्तियों के उदय-अस्त के साथ-साथ इन साम्प्रदायिक संगठनों का भी उदय-अस्त होता रहता था।[119]

प्राप्त उल्लेखों के आधार पर पार्श्वनाथ ऐसे पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने संन्यासियों की वृत्ति की अनियमितता को कम करने के लिए उन्हें प्रवृत्ति-मार्गियों से जोड़ा। अर्थात् उन्होंने अपने अनुयायियों के चार गण स्थापित किए—(1) साधुशिष्य, जिनकी संख्या सोलह हजार थी, (2) साध्वीशिष्या, जिनकी संख्या अड़तीस हजार थी, (3) श्रावक, जिनकी संख्या चौंसठ हजार थी, और (4) श्राविका, जिनकी संख्या तीन लाख उन्तालीस हजार थी। प्रथम दो गण तापसों (संन्यासियों) के हैं, दूसरे दो, उपासकों (गृहस्थों) के।

पार्श्व की उक्त व्यवस्था का तात्कालिक परिणाम सम्भवतः अधिक विभाजनकारी सिद्ध न हुआ होगा क्योंकि पूर्वी प्रदेश की तत्कालीन सामान्य जनता यक्षपूजा, वृक्षपूजा, नागपूजा आदि मूलक लोकधर्म का पालन करते हुए सभी सम्प्रदायों के परिव्राजकों का समान आदर करती थीं। किंतु पार्श्व की उक्त व्यवस्था का दीर्घकालीन परिणाम, मेरे विचारानुसार, यह निकला कि अब सम्प्रदाय के प्रमुख धर्मोपदेशक के लिए अपने शिष्यों अथवा अनुयायियों के, तापस एवं उपासक नामक, दो वर्ग खड़े करना और दोनों को संयोजित करने वाली व्यवस्था देना आवश्यक हो गया। इस व्यवस्था में गृहस्थ जीवन व्यतीत करने वाले उपासक अब अपने धर्म-कर्म के लिए तापसों के उस विशेष वर्ग या सम्प्रदाय पर निर्भर हुए जिनसे उन्होंने दीक्षा ली हो, और इसके लिए उन्हें दान, भिक्षा अथवा दक्षिणा देना आवश्यक हो गया। फिर भी तत्कालीन जनता असंख्य भिक्षुओं के पालन में असमर्थ थी, अतः उन्हें राजाश्रय पाने की आवश्यकता बनी रहती थी।

मेरे विचार से, पार्श्व की यही वह प्रमुख भूमिका है जिस पर आगे चल कर महावीर एवं बुद्ध के सम्प्रदायों की आधारशिलाएँ रखी गईं। सम्भवतः पार्श्व के उक्त प्रयत्न के फलस्वरूप ही संन्यासियों का सम्प्रदायवाद गृहस्थों के सामाजिक जीवन में प्रविष्ट हुआ!

महावीर—जैनों के चौबीसवें और अंतिम तीर्थंकर महावीर का जन्म वैशाली के कुंडग्राम (नालंदा के निकट जि० पटना) नामक स्थान में ज्ञातृवंश के क्षत्रिय सिद्धार्थ एवं त्रिशला नामक दम्पत्ति के पुत्र के रूप में 599 ई० पू० में हुआ

था। इनके माता-पिता पार्श्वनाथ के अनुयायी थे। इनका बचपन का नाम वर्धमान था। लौकिक स्तर की इनकी शिक्षा-दीक्षा का कोई उल्लेख नहीं मिलता। श्वेताम्बरों के अनुसार यशोदा नामक किसी सामंत कन्या से इनका विवाह हुआ था, जिससे उन्हें प्रियदर्शना नामक कन्या की प्राप्ति हुई, जिसकी शादी महावीर की बहिन सुदर्शना के पुत्र जामाली के साथ हुई थी।

तीस वर्ष की अवस्था में संसार से विरक्ति हो जाने पर अशोक वृक्ष के नीचे अपने वस्त्रालंकारों को उतार कर और पाँच मुट्ठियों में सिर के बालों को उखाड़कर वे अनागार (गृहत्यागी) हो गए। बारह साल की कठोर तपस्या के बाद जृम्भिक ग्राम के निकट ऋजुकूला नदी के उत्तर तट पर शाल वृक्ष के नीचे इन्हें सर्वज्ञता (अथवा कैवल्य ज्ञान) प्राप्त हुई। पुरी नामक ग्राम में इन्होंने अपना पहला धर्मोपदेश दिया और चातुर्मास को छोड़ जीवन के शेष तीस वर्षों तक सतत भ्रमणशील रहकर धर्मोपदेश करते रहे। ई॰ पू॰ 527 में 72 वर्ष की आयु में पावापुरी में उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया। धार्मिक क्षेत्र में इनके दो प्रबल विरोधी थे - मंखलि गोसाल और जामाली (उनका कथित जमाई)।

प्रचार क्षेत्र—जैनस्रोतों के अनुसार महावीर स्वामी के भ्रमणक्षेत्र में अधिक नालंदा, अंगदेश की राजधानी चंपा नगरी, मगध की राजधानी राजगृह, विदेह की राजधानी मिथिला, उनकी जन्मभूमि बैशाली, राढ़ का जंगली प्रदेश एवं श्रावस्ती तथा इनके इर्द-गिर्द के क्षेत्रों का समावेश था। उल्लेख्य होगा कि वैदिकों ने इन क्षेत्रों को अनार्य एवं अपवित्र बताया है, इसके विपरीत जैन-साहित्य में इन्हें आर्यप्रदेश, मध्यप्रदेश एवं पवित्र बताया गया है।[120]

उपदेश तथा संघ-निर्माण—महावीर स्वामी के उपदेश मौखिक थे, और उस समय उन्हें लिपिबद्ध करने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया। अतः उनके मूलभूत उपदेश क्या थे, यह जानने का आज कोई आधार नहीं है। किंतु जैसा हम ऊपर देख चुके हैं महावीर पार्श्व की परम्परा में थे। जैनपंडितों के कथनानुसार पार्श्व के उपदेश से महावीर का उपदेश दो बातों में भिन्न था। एक तो यह कि पार्श्व द्वारा उपदिष्ट चार यमों (व्रतों) में महावीर ने 'ब्रह्मचर्य' नाम का एक व्रत और जोड़कर व्रतों की संख्या पाँच कर दी, और दूसरी यह कि पार्श्व ने साधुओं को अल्प वस्त्र धारण करने की छूट दी थी, महावीर ने वस्त्र धारण का निषेध किया। कहना न होगा कि व्रतादि से सम्बन्धित उक्त सभी बातें वैयक्तिक आचारमीमांसा मात्र हैं।

महावीर ने पार्श्व द्वारा प्रस्तावित संघ व्यवस्था को यथावत् अपनाया। कहा गया है कि उनका बृहत्संघ भी चतुर्विध था। जिसमें चौदह हजार साधू, छत्तीस हजार साध्वियाँ, एक लाख उनसठ हजार श्रावक और तीन लाख अठारह हजार श्राविकायें थीं। इस व्यवस्था में प्रथम दो वर्ग परिव्राजकों (तापसों) के हैं, अंतिम दो श्रावकों (उपासकों या गृहस्थों) के।

प्रस्तुत संदर्भ में उल्लेख्य यह है कि परिव्राजकों को महावीर के पंचव्रतों—

अहिंसा, अमृषा, अचौर्य, अमैथुन एवं अपरिग्रह—का पालन महाव्रतों के रूप में (बिना किसी प्रकार की छूट-छाट के चुस्त रूप में) करना था, जबकि गृहस्थों के अणुव्रतों के रूप में—(अर्थात् आवश्यक छूट-छाट या ढिलाई के साथ)। संभवतः यहीं से निवृत्तिमूलक धर्म की इस परम्परा में प्रवृत्ति को सम्मिलित किया गया।

श्वेताम्बर एवं दिगम्बर का भेद—पार्श्व और महावीर के उपदेशों के अंतर को ऊपर लक्षित किया जा चुका है। उत्तराध्ययन सूत्र (अ० 23) के अनुसार एक बार श्रावस्ती में पार्श्व परम्परा के प्रसिद्ध आचार्य केशी और महावीर स्वामी के प्रमुख शिष्य गौतम इंद्रभूति के मध्य आपसी उक्त मतभेदों को मिटाने के उद्देश्य से संवाद हुआ था, जिसमें महावीर के पंचव्रतों की बात तो उभयपक्षों को मान्य हुई, किंतु वस्त्र धारण करने या न करने के विवाद का कोई समाधान न निकला। इससे दोनों का अंतर तो कम हुआ, किंतु भेद बना रहा। एक मान्यता के अनुसार भद्रबाहु (मृत्यु 297 ई० पू०) और स्थूलभद्र (मृत्यु 252 ई० पू०) के पारस्परिक मतभेदों के कारण ये दो सम्प्रदाय अलग हुए, तो दूसरी धारणा के अनुसार महावीर के निर्वाण के 609 वर्ष बाद अर्थात् 82 ई० में, वे अलग-अलग हुए। प्रारम्भ में दोनों का अंतर आचारमूलक था, कालांतर में विचारों में भी कुछ अंतर आ गया।

जैन साहित्य का संकलन—जैनों की धारणानुसार महावीर स्वामी ने 12 अंगों एवं 14 पूर्वों का उपदेश इंद्रभूति गौतम को दिया था जो भद्रबाहु (ई० पू० 325-297) तक कंठस्थ रूप में सुरक्षित रहा। भद्रबाहु 310 ई० पू० में मगध में पड़े भीषण अकाल के कारण अपने शिष्यों सहित जब दक्षिण में चले गए तब स्थूलभद्र ने पाटलिपुत्र में श्रमण संघ का आयोजन करके ग्यारह अंगों को पूर्णतः और 'दृष्टिवाद' नामक बारहवें अंग को अंशतः संकलित किया। 14 पूर्वों का ज्ञान विलुप्त हो गया, जो अंश मिल सका उसे बारहवें अंग में संकलित किया गया। ध्यातव्य होगा कि दक्षिण से लौटने पर भद्रबाहु (दिगम्बर) ने स्थूलभद्र (श्वेताम्बर) के उक्त संकलन को अप्रामाणित करार दिया। जब यह साहित्य पुनः लुप्त होने लगा तो 298 ई० के लगभग मथुरा एवं वल्लभी में श्रमण संघ के अलग-अलग आयोजन किए गए, और इनमें जो जिसको याद था, वह संकलित किया गया। फलतः पाठान्तरों का समावेश तो हुआ ही, कोई स्थायी या सर्वमान्य परिणाम भी नहीं निकला। तत्पश्चात् 453-54 ई० में अर्थात् महावीर के निर्वाण के लगभग 980 वर्ष बाद देवर्द्धिगणि (देवधर्मा) की अध्यक्षता में वल्लभी (भावनगर, गुजरात) में जो मुनि सम्मेलन बुलाया गया, और उसमें जो 45-46 ग्रंथ, सम्भवतः पहली बार, लिपिबद्ध किए गए, वे ही आज अर्थ रूप में महावीर प्ररूपित (किंतु ग्रंथ रूप में गणधरों व स्थविरों द्वारा ग्रंथित) होने के नाते महावीर प्रणीत प्रामाणिक ग्रंथों के रूप में मान्य हैं। इसमें अधिकांश साहित्य श्वेताम्बरों का है। बारह आगम,

जो इनका प्राचीनतम साहित्य हैं, श्वेताम्वरों के ही माने गए हैं, दिगम्बर इन्हें अप्रामाणिक ही मानते हैं ।

जैनों का आज जो अपरिमित साहित्य पाया जाता है, वह आगम अथवा अंग, उपांग. प्रकीर्ण और सूत्रों की व्याख्यास्व रूप होने से प्रामाणिक माना गया है, और उसका अधिकांश उस समय रचा गया हैं जब कि परिव्राजकों ने सतत भ्रमणशील रहना छोड़कर शहरों में वनी भट्टारक गाद्दियों या मठों में जमकर रहना प्रारम्भ कर दिया था—अर्थात् छठी शताव्दी और उसके वाद । इसमें भी 10 वीं शताव्दी तक वहुत कम साहित्य लिखा गया अधिकांश साहित्य 11वीं सदी से 18वीं सदी के मध्यकाल का सर्जन है ।[121]

जैनों की जो न्यायमीमांसा है, और उनका जो दार्शनिक तत्वचिंतन है, वह सब वस्तुत: कुंदकुंद, उमास्वाति, भट्ट अकलंक, समंतभद्र एवम् वादिराज प्रभृति आचार्यों का प्रदेय है । ध्यातव्य होगा कि जिस प्रकार ब्राह्मणों के वाङ्-मय में वेद, वेदाङ्ग, श्रुति, स्मृति एवं पुराण आदि की शृंखला है, जैनों ने अपने साहित्य को आगम, श्रुत, सूत्र, स्मृति, अंग, न्याय, पुराण आदि के रूप में ठीक वैदिक परम्परा के साहित्य रूपों के समानान्तर रूपों में प्रस्तुत किया है । सच यह है कि जैन लेखकों ने अपने नवसाहित्य सर्जन में वैदिक-अवैदिक अनेक परम्पराओं से लाभ उठाया है ।

जैसाकि इस अनुशीलन के प्रारम्भिक पृष्ठों में हमने संकेत किया है अन्तस्साधनामूलक इस परम्परा का ज्ञान गूढ़ होने से अर्थात् सामान्यजनोपयोगी न होने से, अधिकारी गुरु और योग्य शिष्य के मध्य संवाद द्वारा ही दिया-लिया जाता था । सामान्यजनों के समक्ष केवल आचार शुद्धि से सम्बन्धित बातें ही प्रकट की जा सकती थीं । जैनों ने इस परम्परा का दूर तक निर्वाह किया है ।

मेरा अनुमान है कि अपने मौखिक साहित्य को लिपिवद्ध और व्यवस्थित करने और नया साहित्य लिखने का निर्णय जैनों को इसलिए लेना पड़ा होगा कि एक या दूसरे प्रकार के कर्मकांड, कथा-वार्ता, पूजा-पाठ, तीर्थ-व्रत, रूढ़ि, परम्परा, मेला, दर्शन, मांगलि.. प्रसंगों में शास्त्रीय विधि, सामूहिक उत्सव, पर्व आदि की व्यवस्था दिएं विना, और उसकी शास्त्रोक्त महत्ता के आश्वासन के विना प्रवृत्तिमूलक धर्म पहले तो टिक ही नहीं सकता, यदि कुछ समय के लिए टिकता भी है तो उसका अनुयायी समुदाय उक्त वातों से युक्त प्रवर्त्तमान अन्य समानान्तर धर्म के प्रभाव से बच नहीं सकता । जैनों को इस प्रकार का भय बौद्धों और ब्राह्मणों दोनों से था । अत: मौखिक जमा-उधार से अपना व्यवहार चलाना उनकी अस्मिता को दाँव पर लगाने के वरावर होता । सारांश यह है कि जैनों के अहिंसावाद से प्रभावित क्षत्रियों ने तलवार को, और वैश्यों ने खेती को त्याग कर तराजू को अपना लिया और उसके फलस्वरूप जब वे क्रमश: हजारीमल, लखपतिचंद, करोड़ीमल और लखमीपति वने तब उन्होंने

जगह-जगह जिनालय, चैत्यालय, देरासर खड़े किए, और तब अपरिग्रही परिव्राजकों ने अपने कष्टप्रद अरण्यवास को त्याग कर उनमें 'वसतीवास' किया और इन गृही देवताओं की आवश्यकताओं के अनुरूप नया साहित्य लिखा ।[122]

प्रभाव

जैनों ने जब तक कुछ नहीं लिखा तब तक नहीं लिखा, किंतु जब एक बार लिखना प्रारम्भ कर दिया तो इतना लिख मारा कि अपने साहित्य भंडार को बौद्धों व ब्राह्मणों के समृद्ध साहित्य के समतुल्य बनाकर ही दम लिया। अर्धमागधी, शौरसेनी एवं महाराष्ट्री प्राकृतों, संस्कृत, अपभ्रंश और हिंदी में विरचित जैनों के विपुल साहित्य और उसमें निरूपित आचार-विचारों के विषय में जो कुछ यत्किंचित मेरे देखने में आया है, उससे फलित होता है कि जैन लेखकों ने कहीं-कहीं तो सार संकलन की (जैसी) नीति अपनाई है, कहीं-कहीं अन्य परम्पराओं की अवधारणाओं को अपना रूप-रंग देकर प्रस्तुत करने की चेष्टा की है और कहीं-कहीं अपने स्याद्वाद को व्यावहारिक और उपादेय सिद्ध करने के प्रयत्न में परस्पर विरोधी अवधारणाओं में भी संगति बिठाने की चेष्टा की है। तदुपरांत यह धर्म आद्योपांत किसी एक निश्चित धारणा को लेकर चलनेवाला, रूढ़ियुस्त धर्म न रहकर देश-कालसापेक्ष सुधार अपनानेवाला विकासशील धर्म रहा है। अतः जहाँ एक ओर उसमें वैयक्तिक अंतस्साधना, तप, त्याग, नैष्कर्म्य, आत्मोद्धार, मोक्ष, अनेकांतवाद, आत्मवाद आदि का निर्गुणवाद है, वहीं दूसरी ओर देवतावाद, परलोकवाद, मूर्तिपूजा, कर्मवाद, तीर्थ-व्रत आदि का सगुणवाद भी है, और तीसरी ओर तांत्रिकों का शक्तिवाद, तांत्रिक योग, भक्ति, मंत्र, पूजा-पाठ इत्यादि का भी अस्तित्व है। अब क्योंकि उनकी परम्परा अत्यंत प्राचीन सिद्ध होती लगती है, अतः वे यह भी कह सकते हैं कि दूसरों ने ही हमारी मान्यताओं से लाभ उठाया है। किंतु दूसरी ओर उनका साहित्य बहुत बाद में लिखा गया है, इस तथ्य के प्रकाश में, उपर्युक्त सामग्री के लिए प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में, उनके साहित्य को अनेक परम्पराओं से प्रभावित सिद्ध किया जा सकता है। मेरा यहाँ सीमित उद्देश्य है, अतः इतनी गहराई में नहीं उतर सकता। मेरे विचार से जैनधर्म मूलतः निवृत्तिमूलक है। अतः यहां सर्वप्रथम उसके इस प्रमुख पक्ष को सही प्ररिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करना मुझे इष्ट है। और इसके लिए उस पर उपनिषद्, सांख्य एवं योगादि के प्रभाव का अवलोकन आवश्यक है।

उपनिषदादि का प्रभाव - सामान्यतः उपनिषदों को आस्तिक और जैन तथा बौद्धों को नास्तिक होने का निर्णय दिया जाता है, और माना जाता है कि उपनिषदों का गूढ़ चिंतन न केवल सामान्यजनों की मोटी समझ से परे था, उनके लिए अनुपयोगी भी था। इसके विपरीत जैनों एवं बौद्धों ने गूढ़ दार्शनिक चिंतन की गुत्थियों से शून्य सत्य, अहिंसा, अस्तेय आदि सदाचारों का उपदेश देकर सामान्यजनोपयोगी और सरल, सुलभ धर्म का उपदेश दिया। अथवा यों कहिए

कि जैन व बौद्धधर्म उपनिषदों की प्रतिक्रिया में जन्मे लोकधर्म हैं और वे उपनिषदों के विरोधी हैं। हमारे विचार से यह धारणा निर्मूल है। इन तीनों के दार्शनिक चिंतन में जो थोड़ा-सा अंतर हैं, वह हमें स्वीकार्य है, किंतु वह अपनी-अपनी अलग पहचान बनाने की युक्ति से अधिक प्रभावशाली नहीं हैं। वस्तुस्थिति यही है कि ये तीनों बिहार प्रांत (मगध जनपद) के राजन्य बंधुओं द्वारा प्रचारित मोक्षप्रद 'निवृत्तिमार्ग की ही अलग-अलग आवृत्तियाँ हैं। अतः इनकी धार्मिक अवधारणाओं की एक सामान्य भूमिका जितनी स्वाभाविक है, विरोध उतना स्वाभाविक नहीं है।

यह हम देख चुके हैं कि उपनिषदों में किसी एक ही विचारधारा का प्रतिपादन न होकर अनेक सम्भावनाओं का प्रतिपादन हुआ है। आगे के विचारकों ने इन्हीं सम्भावनाओं में से एक या एकाधिक का समन्वय या उनमें यत्किंचित संस्कार करके अपने-अपने मत खड़े किए हैं। हमारे विचार से जैन भी इसके अपवाद नहीं हैं। किंतु एक ओर तो उपनिषदों के विषय में यह धारणा बद्धमूल हो गई है कि उनमें ब्रह्माद्वैत का ही प्रतिपादन हुआ है, दूसरी ओर जैनों ने अनेकांतवाद या स्याद्वाद का सहारा लेकर सांत-अनंत, नित्य-अनित्य, एक-अनेक, स्वर्ग-मोक्ष, जड़-चेतन आदि की परस्पर विरोधी लक्षणों वाली मान्यताओं में जो संगति बिठाई है, वही उनके तत्त्वचिंतन की विशेषता बन गई है। अर्थात् जैनों ने उपनिषदों का खंडन नहीं किया है, उनकी तत्त्वमीमांसा के विपरीत लक्षणवाले तत्त्वों के मध्य संगति स्थापित करने का प्रयत्न किया है। मेरे विचार से जैनों की इस प्रवृत्ति को उपनिषदों का विरोध, प्रतिक्रिया या खंडन जैसी भेदक संज्ञाएँ न देकर उनके स्याद्वाद के अनुरूप समन्वय-सामंजस्य, संयोजन अथवा मेल-मिलाप, घालमेल और लीपापोतीं जैसी सार्थक संज्ञाएँ देनी चाहिए।

अवलोक्य है कि उपनिषदों के अनुरूप ही जैन भी सृष्टि के कारण की शोध का लक्ष्य लेकर चले हैं—

> ण भवो भंगविहीणो भंगो वा णात्थि संभव विहीनो।
> उत्पादो वि य भंगो ण विणा धोव्वेण अत्थेणु।।[123]

अर्थात्—उत्पत्ति के बिना नाश और नाश के बिना उत्पत्ति सम्भव नहीं है। उपत्ति और नाश दोनों का आश्रय कोई पदार्थ होना चाहिए।

जैन यह मानते हैं कि कारण ही कार्यरूप में परिणत होता है,[124] किंतु इससे यह न मान लेना चाहिए कि वे अविकृत परिणामवादी हैं, और सृष्टि को सत्य मानते हैं। उनके यहाँ प्रत्येक पदार्थ उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्य (उत्पत्ति, विनाश और स्थिरता लक्षणत्रय) से युक्त होता है। अतः प्रत्येक पदार्थ को वे कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य बताकर उपनिषत्कारों की तरह संसार को सर्वथा अनित्य तो नहीं, किंतु परिवर्तनशील नित्य मान लेते हैं।

उपनिषदों की तरह जैनों ने भी चेतन और जड़ (जीव और अजीव) दो

तत्त्व माने हैं। दोनों के संयोग को बंधन और वियोग को मोक्ष माना है। किंतु एक तो उन्होंने सांख्य के पुरुष की तरह जीवों को असंख्य और सदाकाल स्वतंत्र माना है। दूसरे उसके (जीव के) कर्ता, भोक्ता आदि दस लक्षण और अनेक भेदोपभेद बताकर अपनी आत्माविषयक मान्यता को विलक्षण बना दिया है। फिर भी आत्मा के स्वरूप या लक्षणों का निरूपण औपनिषदिक् अवधारणाओं के अनुरूप ही किया गया है। आचारांग (1/3/3) में कहा गया है कि सर्वलोक में किसी के द्वारा आत्मा का छेदन, भेदन, दहन, हनन नहीं होता।[125] आचारांग (1/5/6) में आगे कहा गया है कि आत्मा "अतींद्रिय है। तर्क के द्वारा उसे जाना नहीं जा सकता, मति के द्वारा उसे पाया नहीं जा सकता। वह न दीर्घ है, न ह्रस्व, न गोल, न त्रिकोण, न चौरस, न मंडलाकार, न काला, न लाल, न पीला, न हरा, न श्वेत, न सुगंधित, न दुर्गंधित, न कडुआ, न खट्टा, न कसैला, न मीठा, न कठोर, न कोमल, न भारी, न हल्का, न ठंडा, न गर्म, न चिकना, न रूक्ष, न स्त्री, न पुरुष, न नपुंसक। न उसका शरीर होता है, न मृत्यु, न पुनर्जन्म। उसके लिए कोई शब्द, कोई रूप और उपमा नहीं है।" कहना न होगा कि आत्मा के विषय में उपनिषदों में यही सबकुछ कहा गया है।[126] आचारांग की ही एक अन्य उक्ति (1/4/4) में आत्मा के ही निषय में कहा गया है कि जिसका आदि-अंत नहीं है उसका मध्य भी कैसे हो सकता है— "जस्स नत्थि पुरा पच्छा मज्झे तस्स कओ सिया।" माण्डूक्योपनिषद् में ठीक इसकी समानांतर उक्ति पाई जाती है—आदावन्ते च यन्नास्तिवर्तमानेऽपि तत्तथा।"[127]

उपनिषत्कारो ने 'यह देह ही मैं हूँ' इस देहात्मभाव को अज्ञानजन्य और इसलिए सर्वथा त्याज्य बताया है। सांख्यकारिकाओं में भी आत्मज्ञानी के लिए 'अहंता-ममता' के त्याग को आवश्यक बताया गया है—

> एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहम् इत्यपरिशेषम्।
> अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्॥ (कारिका 64)

जनों के 'प्रवचनसार' (गाथा 160-61) में आत्मज्ञानी के उक्त लक्षणों को इन शब्दों में व्यक्त किया गया है—

> णाहं देहो ण मनो ण चैव वाणी, ण कारणंतेसिं।
> कत्ता ण वा कारयिदा अनुमंता तैव कर्तृणाम॥
> णाहं होमि परेसिं ण मे परे णत्थि नज्झमिह किंचि इति।
> णिच्छिदो जिदिन्दो जादो जधजादरूप धरो॥

अर्थात् न मैं देह हूँ, न मन हूँ, न वाणी हूँ, न उसका कारण हूँ। मैं कर्त्ता नहीं हूँ, न करानेवाला हूँ और न कर्त्ता का अनुमोदक हूँ। मैं दूसरों का नहीं हूँ, दूसरे मेरे नहीं है। इस लोक में मेरा कुछ भी नहीं है। ऐसे निश्चयवाला जितेंद्रिय पुरुष सत्य के मूलभूत स्वरूप को धारण करनेवाला होता है।

कहना न होगा कि बृहदारण्यकोपनिषद् (2/4) के 'याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी सम्वाद' का प्रतिपाद्य भी आत्मज्ञानी की यही 'अहंता-ममता' शून्यता है।

जैनों के तत्त्वार्थसूत्र (6/3) में कहा गया है कि व्यक्ति शुभ कर्मों से पुण्यवान और अशुभ कर्मों से पापी बनता है—'शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य।' बृ० उप० (3/2/13) में भी यही कहा गया है—'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणाभवति पापः पापेनेति ॥'

क्योंकि शेष बातें आगे के विवरण से स्पष्ट हो जाएँगी, अतः यहाँ संक्षेप में इतना संकेत ही पर्याप्त होगा कि सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, तप, त्याग, गुरु, निष्कामता, नैष्कर्म्य इत्यादि विषयक दोनों—उपनिषदों व जैनों—की अवधारणाओं में कोई मूलभूत अंतर नहीं है। यहाँ तक कि उनका स्याद्वाद भी औपनिषदिक मान्यताओं से बहिर्भूत नहीं है। अतः आगे हम जैनधर्म के सिद्धांत पक्ष को लेते हैं।

सिद्धांत पक्ष—समूची अवैदिक परम्परा ज्ञानमार्गी या मोक्षमार्गी है। जैन भी इसके अपवाद नहीं हैं—सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः—(तत्त्वार्थ सूत्र 1/1)। अर्थात्—सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र—ये तीन मोक्षमार्ग के साधन हैं। जैन धर्म में इन्हीं को त्रिरत्न कहा जाता है।

सम्यक्-दर्शन—केवल जिनभगवान महावीर के वचनों में जिसकी अविचल श्रद्धा है वह सम्यग्दृष्टि है—जो सद्दहदि जिणुत्तं सम्माइट्ठी अविरदो सो ॥ (गोम्मटसार जीवकांड)। इस प्रकार सम्यग्दर्शन का तात्पर्य है सम्यक् श्रद्धा—तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्—(तत्वार्थसूत्र 1/2)। 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' में कहा गया है कि जिनमार्ग पर दृढ़ श्रद्धा रखने वाला व्यक्ति (सम्यग्दृष्टि) सच्चे देव, सच्चे शास्त्र, और सच्चे गुरु को छोड़ कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरुओं को नमस्कार तक नहीं करता—इत्यादि।

सम्यग् ज्ञान—जैसा ऊपर कहा गया है, जैन ज्ञानमार्गी हैं। जैनों के अनुसार एक विशेष अर्थ में आत्मा ज्ञानस्वरूप है।[128] अन्य ज्ञानमार्गियों की तरह जैनों ने भी ज्ञान के मुख्य दो भेद माने हैं—मिथ्याज्ञान (लौकिक ज्ञान) और सम्यग् ज्ञान (आत्मज्ञान)। सम्यग् ज्ञान के पांच भेद माने गए हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान एवं केवलज्ञान। इनमें से प्रथम दो परोक्ष (इंद्रिय प्रत्यक्ष एवं श्रुत) हैं, अंतिम तीन प्रत्यक्ष—(स्वसंवेद्य)। इनमें से प्रत्येकके उपभेद हैं। शास्त्रोक्त दार्शनिक चिंतन श्रुतज्ञान के अंतर्गत है, जिसका सक्षिप्त परिचय आगे दिया जा रहा है।

द्रव्य सिद्धांत—जैनाचार्यों ने सृष्टि की संरचना में द्रव्यों की संख्या छः मानी है—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इनके मुख्य दो भेद हैं—अस्तिकाय (बहुदेशव्यापी), और अनस्तिकाय (एकदेशव्यापी)। प्रथम पाँच अस्तिकाय हैं, 'काल' अनस्तिकाय है। इनका विस्तृत विवेचन यहाँ सम्भव नहीं है। अतः संक्षेप में कहना होगा कि—जीव चेतन हैं, शेष अचेतन। मात्र पुद्गल

मूर्त (पंच तन्मात्रा युक्त) है, शेष अमूर्त (सूक्ष्म) हैं। जीव और पुद्गल—ये दोनों संख्या में अनंत हैं ओर क्रियाशील भी हैं, शेष निष्क्रिय हैं। धर्म (नभ और जल में जीवों के गमनागमन में सहायक तत्त्व), अधर्म—(गतिअवरोधक, या रुकने में सहायक तत्त्व) और आकाश, एक-एक हैं, किंतु आकाश के भेद हैं—इत्यादि।

द्रव्य के लक्षण—द्रव्य के मुख्य दो लक्षण हैं—गुण और पर्याय—(गुणपर्यायवद्द्रव्यम्—तत्त्वार्थ सूत्र 5/37)। "गुण द्रव्य का नित्यांश है, जिसे द्रव्य का स्वभाव, स्वरूप एवं ध्रौव्य भी कहते हैं। 'पर्याय' सम्बन्धित वस्तु में होनेवाले परिणमन, रूपांतर या भावांतर को सम्भव बनाता है। अतः यह सम्बन्धित वस्तु का उत्पाद व्ययशील धर्म है। इसे उस वस्तु का अनित्यांश, आगंतुकधर्म, विभाग आदि कहा जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रत्येक वस्तु (द्रव्य अथवा सत्) 'उत्पादव्यय ध्रौव्ययुक्त' हैं—उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् (तत्त्वार्थ सूत्र 5/29)। अर्थात् प्रत्येक वस्तु में प्रतिक्षण उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की सत्ता रहती हैं। अर्थात् प्रत्येक वस्तु नित्य भी है और अनित्य अथवा परिणामी भी है। यथा—सोने के एक घट को तोड़कर राजमुकुट बनाया गया। इससे घट को चाहनेवाली राजकुमारी को दुःख, मुकुट चाहनेवाले राजकुमार को सुख और सोने को चाहनेवाले राजा को न दुःख हुआ न सुख।[129] घट एवं मुकुट दोनों आकारों में स्वर्ग नित्यतत्त्व हैं, घट का तोड़ा जाना व्यय है और मुकुट का बनना उत्पाद है। जैनाचार्यों के अनुसार यहाँ नित्यता का लक्षण कूटस्थ (अपरिणामी) नित्य न होकर 'तद्भावाव्यय' अर्थात् जो अपने भाव (स्वभाव) अथवा जाति को न तो वर्तमान में छोड़ता है, न भविष्य में छोड़ेगा, वह नित्य है।[130] इससे वस्तु के लतीत व वर्तमान के रूपों में एकता बनी रहती है।

संक्षेप में, 'जैन दर्शन में सत् या तत्त्व कथंचित् नित्य है, और कथंचित् अनित्य है। इसका अर्थ है परिणामी नित्य। तात्पर्य यह है कि जैसे त्रिकाल में अपनी जाति का त्याग नहीं करना प्रत्येक पदार्थ का स्वभाव है, वैसे ही उसमें रहते हुए परिणमन करना भी उसका स्वभाव है।"[131] जड़-चेतन समस्त द्रव्यों का यही स्वरूप है। द्रव्य के इस स्वरूप में निहित गुण और पर्याय का पारस्परिक सम्बन्ध शैव तंत्रों के 'शिव शक्ति' नामक तत्त्वों के मध्य स्वीकृत सम्बन्धों के समतुल्य प्रतीत होता है।

अनेकांतवाद—जैनाचार्यों की दृष्टि में—वस्तु सर्वथा नित्य है या सर्वथा अनित्य है, सर्वथा सत् है अथवा सर्वथा असत् है, इस प्रकार सोचना एकांतवाद है, जो सम्बन्धित वस्तु का पूर्णज्ञान न होकर एकदेशीय ज्ञान है। इस एकांतवाद का निराकरण करनेवाला अनेकांतवाद है। जैसा ऊपर देखा जा चुका है जैनों के अनुसार प्रत्येक वस्तु नित्यानित्य है। अतः उसके सम्पूर्ण ज्ञान के लिए उसके नित्य और अनित्य, सत् और असत्, एक और अनेक, तत् और अतत् जैसे दो प्रकार के परस्पर विरोधी धर्मों का प्रकाश में लाना आवश्यक है और यही

अनेकांतवाद का प्रतिपाद्य है। तात्पर्य यह है कि जैनाचार्यों के अनुसार प्रत्येक धर्म की सत्ता उसकी एवं अन्य की सापेक्षता में स्वीकृत है। यथा – वस्तु द्रव्यरूप से नित्य और पर्याय रूप से अनित्य है, स्वरूप की अपेक्षा से सत् और पररूप की अपेक्षा से असत् है—इत्यादि। अर्थात् मिट्टी के रूप में घट नित्य है, घट रूप में अनित्य है। घट रूप में यह सत् है, पट रूप में असत् है—इत्यादि। किसी वस्तु के विधि और निषेध रूप—दो पक्षों वाले धर्म का बिना विरोध के प्रतिपादन हेतु सात वाक्यों के रूप में जो सात परामर्श स्वीकारे गए हैं, वही सप्तभंगी नय अथवा अनेकांतवाद अथवा स्याद्वाद है। इसके प्रत्येक भंग (वाक्य) के प्रारम्भ में प्रयुक्त 'स्यात्' शब्द कदचित् (किसी अपेक्षा से) के अर्थ में प्रयुक्त है। सप्तभंगी के सात वाक्य इस प्रकार हैं—

1. स्यादास्ति घटः (शायद घट है।)
2. स्यान्नास्ति घटः (शायद घट नहीं है।)
3. स्यादस्तिनास्ति च घटः (शायद घट है भी और नहीं भी है।)
4. स्यादवक्तव्यो घटः (शायद घट वर्णनातीत है।)
5. स्यादस्ति चावक्तव्यश्च घट : (शायद घट है भी, और अवक्तव्य भी है।)
6. स्यन्नास्ति चाववतव्यश्च घट : (शायद घट नहीं है और अवक्तव्य भी है।)
7. स्यादस्तिनास्ति चाववक्तव्यश्च घट : (शायद घट है, नहीं भी है और अवक्तव्य भी है।)

ऐकांतिकी अस्ति और नास्ति के दो अंतों के मध्यवर्ती इस सापेक्षवाद अथवा अनेकांतवाद की अनेकविध व्याख्या करके जैनपंडितों ने प्रथम दृष्टि में लक्षित इसके संदेहात्मक स्वरूप का निराकरण करने का प्रयत्न किया है। उनके कथनानुसार इसके प्रत्येक वाक्य में 'ही' का भी समावेश है। इस प्रकार प्रथम वाक्य का अर्थ है—'किसी अपेक्षा से घट ही है। यही स्थिति शेष वाक्यों की भी है। अतः अनेकांतवाद न तो संशयवाद है, न संदेहवाद और न अज्ञानवाद। वह निश्चयात्मक ज्ञान का प्रतिपादक सापेक्षवाद है, जो अत्याधुनिक शोधों के अनुसार वैज्ञानिकवाद है और यह जैनधर्म की एक अनुपम उपलब्धि है—इत्यादि।

हमारे विचार से यह वैज्ञानिक है यह ठीक है, किन्तु जैसा हम आगे देखेंगे, इसका मूलाशय व्यावहारिक ज्ञान को झुठलाना है। इसे जैनों की विशेष उपलब्धि भानना भी न्यायसंगत नहीं है। क्योंकि इसके मूल में भगवतीसूत्र में दिए गए महावीर (के ये तीन वाक्य (भंग) हैं—स्यादस्ति, स्यान्नास्ति तथा स्यादवक्तव्यम्। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त (जो हमारे विचार से अनार्य विचारों का प्रतिपादक है।) की इस उक्ति में उक्त तीनों वाक्यों का प्रारूप विद्यमान है—नासदासीन्नोसदासीत्तदानीं नासीद्रजोने व्योमाऽपरोयत्। अर्थात् न असत् था

न सत् और न पवन था, न आकाश जो ऊपर स्थित है। उपनिषदों की 'तदेजति तन्नैजति'[132] 'सदसद्वरेण्यम्'[133] तथा 'न सन्नचासत्'[134] आदि उक्तियों में वस्तु के परस्पर विरोधी लक्षणों के निर्देश है। केनोपनिषद् (2/1-3) में तो स्पष्ट कहा गया है कि यदि तू ऐसा मानता है कि 'मैं अच्छी तरह जानता हूँ' तो निश्चय ही तू ब्रह्म का थोड़ा-सा ही रूप जानता है। इसका जो रूप तू जानता है वह अल्प ही है। मैं न तो यह मानता हूँ कि ब्रह्म को पूर्णतः जान गया हूँ, न यही समझता हूँ कि उसे नहीं जानता। इसलिए मैं उसे जानता भी हूँ (और नहीं भी जानता)।[135] वह विदित से परे है, और अविदित से भी परे है—(केन० उप० 1/3)। जैसा हम देख चुके हैं, संजय वेलट्ठिपुत्त के संशयवाद का कम से कम बाह्य रूप तो वही है जो उक्त सापेक्षवाद का है। अंतर इस बात का है कि उसके कथनों को सार्थकता देनेवाला कोई आचार्य उसकी परम्परा में नहीं रहा।[136] फिर बौद्ध वाङ्मय में उल्लिखित अपराविक्षेपवादियों की भाषा भी इसी प्रकार विधेयात्मक एवं निषेधात्मक कथनों से रहित थी, ताकि अन्य तार्किकों से अपनी रक्षा हो सके—इत्यादि।

इस सबके अतिरिक्त हमारा अनुभव यह है कि प्रत्येक आत्मज्ञानी ज्ञान के कम से कम दो भेद करता है—स्वसंवेद्य (पारमार्थिक) और परसंवेद्य (अथवा लौकिक)। प्रथम का ज्ञाता वह स्वयं होता है, उसे ही वह अंतिम सत्य मानता है। द्वितीय को वह सापेक्ष ज्ञान बताकर झुठलाता है। वेदांतियों और बौद्धों के पारमार्थिक या निरपेक्ष सत्य और व्यावहारिक या सांवृत्तिक सत्य से जो परिचित हैं, उन्हें इसे समझने में देर न लगेगी। अतः हमारे विचार से जैनों का उक्त सापेक्षवाद किसी दृष्टि से नया नहीं है। जहाँ तक इसके वैज्ञानिक सत्य होने और इसलिए महत्त्वपूर्ण होने का प्रश्न है, यहाँ इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि दुनिया के व्यवहार में ऐसे अनेक नाजुक क्षेत्र हैं जिनमें वैज्ञानिक सत्य नहीं, असत्य ही हमारे लिए उपकारक होता है। समूचा लोक व्यवहार कृत्रिम और सीखे हुए आचारों से ही चल रहा है, जिसके मूल में कोई वैज्ञानिक सत्य नहीं है।

तत्त्व चिंतन—उत्तराध्ययन सूत्र (28/14) में तत्त्वों की संख्या नौ मानी गई है—जीव, अजीव, बंध, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा एवं मोक्ष। पूर्वोक्त द्रव्यों के साथ इन तत्त्वों की तुलना करने से प्रकट होता है कि जीव उभय-सामान्य है, अजीव के अंतर्गत पूर्वोक्त पुदगल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल का समावेश सम्भव है। बंध आदि का सम्बन्ध संसारी जीव और उसकी मुक्ति-प्रद साधना से है। इससे ऐसा प्रतीत होता है पूर्वोक्त द्रव्य ब्रह्मांड की संरचना से सम्बन्धित हैं, और ये तत्त्व पिंड (मानव देह) की संरचना से। क्योंकि पूर्वोक्त द्रव्य इन तत्त्वों में परिगणित जीव-अजीव में सम्मिलित हैं। अतः कहा जा सकता है ब्रह्मांड और पिंड की संरचना का साम्य जैनों को भी मान्य है जो इस समूची परम्परा की एक प्रमुख विशेषता है।

डॉ० भगवानदास तिवारी[137] के अनुसार उपर्युक्त नौ तत्त्वों में से जीव-अजीव ज्ञेय हैं, आस्रव, बंध, पाप और पुण्य हेय हैं, तथा संवर, निर्जरा एवं मोक्ष उपादेय हैं। हमारे विचार से यदि मोक्ष को ध्येय कहा जाए तो योगशास्त्र के अनुरूप महावीर की धर्म देशना के चतुर्व्यूह इस प्रकार होंगे—

1. संसार—जीव (चैतन्य) और अजीव (जड़) का संयोग।
2. संसार हेतु—आस्रव, बंध एवं पाप-पुण्य।
3. मोक्ष—कर्मासवों से मुक्ति और अंततः जीव-अजीव का सम्बन्ध विच्छेद।
4. मोक्ष के उपाय—संवर और निर्जरा।

निम्नलिखित शास्त्रोक्त वचनों से जैन चिंतन में स्वीकृत उक्त चतुर्व्यूह को प्रामाणिक ठहराया जा सकता है—

बंध हेत्वभावनिर्जरायाम्। कुत्स्न कर्मक्षयो मोक्षः।[138]
आस्रवो भवहेतुः स्यात् संवरो मोक्ष कारणम्।
इतीयमार्हती दृष्टिरन्यदस्याः प्रपंचनम्॥[139]

उपर्युक्त तत्त्वों का उनके भेदोपभेदों के साथ जैन शास्त्रों में जो निरूपण किया गया है, वह तो सम्बन्धित शास्त्रों अथवा इन्हीं विषयों को लेकर लिखे गए स्वतंत्र ग्रंथों में द्रष्टव्य है। यहाँ हम उनके भेदोपभेदों को छोड़कर उनके स्वरूप एवं पारस्परिक सम्बन्धों के आधार जैन तत्त्व-चिंतन का अवलोकन संक्षेप में करेंगे।

जीव—जैनों के अनुसार जीव का लक्षण उसका चैतन्य होना है—चैतन्यो लक्षणो जीवः (षड्दर्शन समुच्चय का०, 49)। इस चैतन्य को ही उपयोग भी कहा गया है, और उसके दो लक्षण (या भेद) माने गए हैं—दर्शन अर्थात् स्वसंवेदन और ज्ञान अर्थात् परसंवेदन। जैसा पूर्व में संकेत किया गया है जैनों के अनुसार जीव असंख्य हैं, और प्रत्येक की स्वतंत्र सत्ता शाश्वत है। मेरे विचार से यही जैनों का आत्मतत्त्व है जिसका वर्णन ग्रंथों में 'नेति-नेति' के रूप में किया गया है।

जैनों ने जीवों के अनेक भेदोपभेद माने हैं किंतु मेरा आशय यहाँ उनके मनुष्यात्मा रूपी जीव तक ही सीमित है। इस जीव के उन्होंने सम्भवतः दो भेद माने हैं—मुक्त और बद्ध। अपनी शुद्ध अथवा मुक्त दशा में जीव नित्य, अमूर्त, कर्ता, भोक्ता, सिद्ध और ऊर्ध्वगामी तथा शरीर परिणामी[140] (अर्थात् छोटे शरीर में छोटा और बड़े में बड़ा) होता है। अपने इस शुद्ध या नैसर्गिक रूप में जीव अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन एवं अनंत सामर्थ्य आदि से युक्त होता है।

इसके विपरीत बद्ध जीव वह है जो, सरल भाषा में संसारी होता है। अर्थात् जो देहात्मभाव को प्राप्त होकर भौतिक सुख-समृद्धि की शोध में कार्यरत रहता है वह बद्ध जीव है। सांसारिक सुख-दुःख भोगना और जन्म-मरण के अनादिचक्र

में भटकना इसी के भाग्य में लिखा है।

अजीव—समस्त जड़ तत्त्वों की गणना अजीव के अंतर्गत होती हैं। यद्यपि जड़ द्रव्यों का विश्लेषण जैनों ने अपने ढंग से किया है, किंतु गुण और कर्म की दृष्टि से हम उन्हें सांख्य की प्रकृति, वेदांतियों की माया, बौद्धों की अविद्या, तंत्रों की शक्ति आदि के समतुल्य मान सकते हैं। मूल बात यह है कि उपर्युक्त जीव (या आत्मा) का इस अजीव (शरीर) से जो संयोग है वही संसार का मूलकारण है। जीव और अजीव का यह संयोग अनादि है—उसका तात्त्विक कारण अज्ञात है।

संक्षेप में कर्मों के अनवरत प्रवाह को आस्रव कहते हैं, कर्मों के मल से आत्मा के स्वयं प्रकाश और उसकी अनंत ज्ञानादि शक्तियों का आवरित हो जाना ही बंधन है : हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार एवं परिग्रह ये पाँच पाप हैं, और अहिंसादि इनके पाँच विपर्यय ही पुण्य हैं। कर्मत्याग द्वारा आस्रव का निरोध ही संवर है, और तप द्वारा पूर्व (संचित) कर्मों का नाश ही निर्जरा है। इस प्रकार कर्म बंधन से मुक्ति ही मोक्ष है।

कर्म और पुनर्जन्म—जैन दर्शन में कर्मों को जल, पृथिवी आदि की तरह पौद्गलिक अर्थात् भौतिक माना गया है। मिथ्यात्व, अविरति एवं कषाय आदि दोषों के संसर्ग में आने से शुद्धात्मा में पुदगलों का जो आस्रव होता है उसके फल-स्वरूप वह कर्म करता है। तात्पर्य यह है कि एक या दूसरी तृष्णा या वासना से प्रेरित होकर आत्मा जो कर्म करता है, उनका मल उसके शुद्ध स्वरूप पर आवरण डालता है। कर्म के साथ सम्वद्ध जीव ही, बद्ध जीव है जो अपने द्वारा किए गए शुभाशुभ कर्मों को भोगने के लिए जन्म और मरण के अनादिचक्र में फँसकर चौरासी लाख योनियों में भटकता है और अनेक प्रकार के दुःख भोगता है।

जैन दर्शन के अनुसार आत्मा के ज्ञान व दर्शकों को आवृत करने, और मोहादि उत्पन्न करनेवाले ये कर्म मुख्यरूप से आठ प्रकार के होते हैं—ज्ञाना-वरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, वेदनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र और अंतराय। संवर और निर्जरा द्वारा कर्मास्रव को क्रमशः रोका और नाश किया जा सकता है। कर्मास्रव का क्षय हो जाने पर जीव का पुनर्जन्म नहीं होता।

मोक्ष—जीव द्वारा बंधन में पड़ने से पूर्व की अपनी अवस्था को प्राप्त करना ही मोक्ष है। अन्य ज्ञानमार्गियों की तरह जैनों में भी मोक्ष के दो भेद मान्य प्रतीत होते हैं। एक है कर्म-बंधन से मुक्ति—बन्धहेत्वभावनिर्जरायाम्। कृत्स्न-कर्मक्षयो मोक्षः।। और दूसरी है; चैतन्य की जड़ (देह) से आत्यन्तिकी मुक्ति—आत्यन्तिको वियोगस्तु देहादिमोक्ष उच्यते—(षड्दर्शन समुच्चय 5/52)। अर्थात् एक है जीवित अवस्था की मुक्ति और दूसरी है मृत्यु के बाद की मुक्ति। अन्य ज्ञानमार्गी इन्हें क्रमशः जीवन्मुक्ति एवं विदेह मुक्ति कहते हैं।

परलोक—जैनों के अनुसार मुक्तात्मा उपनिषदों के ब्रह्म जैसी किसी सत्ता

में अपने नाम-रूप को खोकर आत्यंतिकी रूप में लय नहीं होता, उसका पृथक् अस्तित्व शाश्वत रहता है । अतः जैन दर्शन में जहाँ एक ओर पुण्यात्माओं के लिए स्वर्ग या देवलोक और पापात्माओं के लिए नरक है, वहीं दूसरी ओर मुक्तात्माओं के लिए तीनों लोकों के ऊपर लोकाग्र हैं, जहाँ मुक्तात्माएँ शाश्वत रूप से निवास करती है, और निरतिशय आनंद का अनुभव करती हैं ।

संन्यास एवं तप—'मोक्षमार्ग' मूलतः वैयक्तिक उद्धार का साधना-मार्ग होता है । सांसारिक जीवन इनकी दृष्टि में बंधनकारक होता है—भोगी भमइ संसारे, अभोगी विप्पमुच्चई— (महावीर वाणी, गाथा 94) । अतः विवेकशील व्यक्ति को चाहिए कि वह धन, पुत्र, जाति, परिग्रह तथा आंतरिक विषाद को त्यागकर प्रव्रज्या ले ले—

> चिच्चा वित्तं च पुत्तें य णाइयो य परिग्गहं ।
> चिच्चा ण अंतगं सोयं निरवेक्खो परिव्वए ।।
>
> म० वा०, गाथा 205

इस प्रकार का सर्वस्वत्याग यद्यपि कठिन है, किंतु हितकर यही है (वही, गाथा 425) । सच्चा त्याग उसका ही होता है, जिसे भोगों की सामग्री सुलभ होती है, फिर भी वह उससे मुँह फेर लेता है (वही गाथा, 448) ।

इस सर्वस्यत्याग के बाद उसका द्वितीय कर्तव्य योग्य गुरु की शरण में जाना होता है । 'जो शिष्य गुरु की आज्ञा का पालन करते हुए उसके निकट रहता है और गुरु के संकेत अथवा भाव को समझकर कार्य करता है वही 'विनीत' होता है—(वही, गाथा 294) । यही वह विनय है जो धर्म का मूल है—'एवंधम्मस्त विणओ मूलं'—तथा मोक्ष का फल है—'परमो से मोक्खो'—(गाथा 293) ।

जैसे वन में मृग (या सिंह) अकेला ही विचरण करता है, वैसे ही साधक को संयम और तप के साथ अकेला ही विचरण करना चाहिए—(गाथा 106) । क्योंकि व्यक्ति को अपना उद्धार स्वप्रयत्न (पुरुषार्थ) द्वारा स्वयं ही, बिना किसी दूसरे की सहायता के, करना होता है— (गाथा 202, 321) । आत्म-साधना में अन्य व्यक्ति सहायक हो ही नहीं सकता । अतः तुम स्वयं ही तुम्हारे शत्रु एवं मित्र हो—(गाथा 314) !

तप द्वारा कर्मरज को धोकर व्यक्ति शाश्वत सिद्ध होता है, तवसा धुयकम्भंसे सिद्धे हवइ सासए—(गाथा 186) । इस तप में ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ तप है—तवेसु वा उत्तमं बंभचेरं— (गाथा 409) । आत्मा का दमन करो, पंचेन्द्रिय, क्रोध, मान, माया, लोभ और सर्वाधिक दुर्जेय आत्मा को जीतने वाला ही सर्वजित होता है—(गाथा 315, 3·9) । किसी प्राणी की हिंसा मत करो—माइवाइज्ज किंचण (गाथा 365) । प्राणियों के प्रति आत्मतुल्य भाव रक्खो - आयातुले पयासु (गाथा 366) । सदैव सत्य बोलो क्योंकि सत्य ही भगवान है—तं सच्चं भयवं (गाथा 389) इत्यादि ।

जैनों की साधना में कायक्लेश का विशेष महत्त्व है। महावीर वाणी की एक (गाथा 437) में कहा गया गया है कि स्वयं को कृश करो, स्वयं को जीर्ण करो—कसेहि अप्पाणं जरेहि अप्पाणं। आगे (गाथा 438) कहा गया है कि स्वयं को या आत्मा को अकेला समझकर अमोहभाव से शरीर को क्षीण करो। तदुपरान्त जैनों को मान्य चार ध्यानों में से दो—धर्मध्यान एवं शुक्ल ध्यान, और साधक की ऊर्ध्वगामी आत्मा के चौदह विकासात्मक सोपान आदि तत्त्व उनकी साधना में एक या दूसरे प्रकार के योग की स्वीकृति के द्योतक हैं। किंतु जैनों का योग विषयक साहित्य और जैन संतों का तांत्रिक योग परवर्ती हैं।

सम्यक् चरित्र— जैसा पूर्वापर विवरण से प्रकट है, जैन धर्म मूलतः यतिधर्म अथवा निवृत्तिमूलक धर्म रहा है। किंतु साथ ही गृही उपासकों का भी एक वर्ग उसका अनुयायी पार्श्व के जीवनकाल से ही रहता आया है। अतः उसकी आचार-मीमांसा के दो भाग हैं—(1) श्रमणाचार और (2) श्रावकाचार।

श्रमणाचार— श्रमण, भिक्षु, मुनि, निर्ग्रन्थ, अनगार, संयत, विरत आदि शब्द जैन संन्यासियों के लिए प्रयुक्त और एकार्थी हैं। इनकी आचार संहिता विस्तृत तो है ही, किसी सदाचार के कितने भेदोपभेद हैं और उसके पालन में किन-किन कारणों से शिथिलता आ सकती है तथा उससे कैसे बचा जा सकता है— इत्यादि की सूक्ष्म विवेचना के कारण जटिल भी हो गई है। हम यहाँ इस आचार संहिता के कुछ शीर्षक ही दे सकते हैं जो इस प्रकार हैं—पाँच महाव्रत, बारह अनुप्रेक्षाएँ, तीन गुप्ति, पाँच समिति, ग्यारह प्रतिमाएँ, दशधा धर्म, बारह व्रत (उनके दोष व निषेध), पाँच अतिचार विवर्जन, दान, दया, बारह तप और बाईस परीषह का पालन करते हुए साधक क्रमशः तेरह गुण स्थानों (ऊर्ध्वगति के सूचक सोपानों) को पार करके चौदहवें गुणस्थान पर पहुँचकर कृतकृत्य हो जाता है।[141] यदा-कदा 'प्रायोपवेशन' (अनशन करके मृत्यु-प्राप्ति) को भी अच्छा समझा जाता था।

श्रावकाचार—जिन्हें पहले उपासक कहा जाता था, बाद में श्रावक (श्रोता) कहा गया। इसके अतिरिक्त देशविरत, सागार, श्राद्ध, देशसंयत आदि शब्दों का प्रयोग भी गृही उपासकों के लिए किया गया है। गृहस्थों के लिए सर्वप्रथम तो अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह नामक पाँच महाव्रतों का अणुव्रतों (अर्थात् यत्किंचित छूट-छाट के साथ) के रूप में अपनाने का विधान है। तीन गुण व्रत, चार भावनाएँ, चार शिक्षाव्रत, ग्यारह प्रतिमाएँ, मैत्री आदि चार भावनाएँ और संलेखना (स्वेच्छापूर्वक मृत्यु का वरण) का भी इनकी आचार-मीमांसा में समावेश हैं। तदुपरान्त सद्गुरु, सत्शास्त्र, सच्चे देव में श्रद्धा, मद्य मांस आदि का त्याग, सूर्यास्त के बाद अन्न-जल ग्रहण न करना, जिनदर्शन, जिनपूजा, जिनाभिषेक, तीर्थयात्रा, जिनमन्दिर एवं चैत्यालय का निर्माण आदि भी इनके सदाचारों में परिगणित हैं।

यहाँ इतना ध्यातव्य होगा कि जैनों के चौबीस तीर्थंकरों में से मात्र ऋषभदेव

ही एक ऐसे व्यक्ति हैं जिन्होंने अपने संन्यास लेने से पूर्व एक राजा के रूप में अर्थोपार्जन और विवाह (काम) विषयक सामाजिक महत्त्व के कुछ सुधार किये थे। संन्यास के बाद तो उन्होंने भी, जैसा हम देख चुके हैं, सबको मृत्यु का ही मार्ग दिखाया।[112] अन्य तीर्थंकर प्रवृत्तिमूलक धर्म का उपदेश करने से संभवतः इसलिए दूर रहे कि उनकी मान्यतानुसार स्वयं कर्म करना तो बंधनकारक है ही, किसी को कर्म करने की सलाह देना या अर्थ व कामविषयक किसी के कार्य का अनुमोदन करना भी बंधन कर्ता होता है। कुल मिलाकर देखने पर स्थिति यही सामने आती है कि जैनधर्म में प्रवृत्ति को इस हेतु से मान्यता दी गई कि एक तो गृही लोग संन्यासियों को दान देते रहें, दूसरे स्वयं भी अणुव्रतों का पालन करके महाव्रतों के पालन के योग्य, अर्थात् संन्यासी बनने के योग्य, बनते रहें, और इस प्रकार द्विविध उपायों से निवृत्ति को जीवनदान मिलता रहे। उपर्युक्त समस्त श्रावकाचारों की परिपक्वता संसार के त्याग में है। प्रत्येक जैन गृहस्थ का संकल्प होना चाहिए कि 'वह धन्य दिन कब आयेगा कि जब मैं व्रती बनूँगा।'

अब क्योंकि किसी को कर्म करने का आदेश या उपदेश करके या किसी के कृतकर्म का अनुमोदन करके जैन तीर्थंकर स्वयं को बंधन में डालने का दायित्व (Risk) नहीं लेना चाहते थे, अतः उन्होंने श्रावकों के प्रति उन्हें संन्यास की ओर प्रेरित करने वाले कुछ व्रतों के पालन का उपदेश देकर सामाजिक व्यवहारों में अपने निर्णय स्वयं लेने के लिए स्वतंत्र छोड़ दिया। इस स्थिति का स्वाभाविक परिणाम यही हुआ होगा कि जिनदीक्षा लेने के बावजूद गृही लोग अपने सामाजिक एवं व्यावहारिक जीवन में अपने-अपने लोकधर्म का पालन करते रहें। यह हम कह चुके हैं कि तत्कालीन मगध जनपद के लोकधर्मों में यक्षपूजा, वृक्षपूजा,नागपूजा, भूतों व पिशाचों की पूजा, मंत्र-तंत्र इत्यादि का समावेश था। आगे जैन पुराणकारों द्वारा जब धर्म को प्रवृत्तिमूलक रूप देने का प्रयत्न किया गया तो स्थिति यह रही होगी कि एक ओर तो वे अपने गृही अनुयायियों को अपने-अपने लोकधर्म को त्यागने का आदेश नहीं दे सकते, दूसरी ओर उनके एक भी तीर्थंकर का उपदेश एवं जीवन ऐसा नहीं है जिसका पालन करने वाला आजीवन गृहस्थ बना रहे और उसके इस आचरण का उनके उपदेश से कोई विरोध भी न हो। इस स्थिति का स्वाभाविक परिणाम यह निकला कि निवृत्ति के साथ प्रवृत्ति को अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व देने के उद्देश्य से जैनपंडितों द्वारा मध्यकाल (11वीं से 18वीं सदी) में लिखे गये अपने पौराणिक एवं कथा साहित्य में एक ओर तो यक्ष, नाग, गन्धर्व, किन्नर, विद्याधर, राक्षस, भूत, पिशाच और अन्यान्य सैकड़ों देवी-देवताओं को एक या दूसरे रूप में महावीर के लौकिक या अलौकिक जीवन से सम्बद्ध किया गया, दूसरी ओर प्रवृत्तिमार्गियों, विशेष रूप से वैदिकों के वाङ्मय मे उपलब्ध कला, ज्योतिष, संगीत, काव्यशास्त्र, अर्थशास्त्र, छंदशास्त्र, अलंकार शास्त्र, कामशास्त्र, आयुर्वेद, ज्योतिष आदि अर्थात् उपयोगी एवं ललित कलाओं के ज्ञान को अपने साहित्य में स्थान दिया गया।

तांत्रिक योग, मंत्र, तंत्र को भी अपनाया गया। न केवल अम्बिका चक्रेश्वरी, महादेवी, सरस्वती आदि देवियाँ अपनाई गईं, तीर्थंकरों के साथ उनके रक्षकों के रूप में यक्षों, उनकी शक्तियों के रूप में शासन देवियों और उनके वाहनों के रूप में पशुओं की भी संगति बिठाई गई। हिन्दू पुराणों, रामायण, महाभारत आदि से भी उन्हें जो उपयोगी लगा अपनाया। राम, कृष्ण, बलदेव, हनुमान, सुग्रीव, इन्द्र, रावण, जरासंध, प्रह्लाद आदि को भी अपने रंग-रूप में अपनाया।

अब यदि उक्त सामग्री को जैनों की मूलभूत अवधारणाओं के परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो निश्चय ही इसे मिथ्यादृष्टि या मिथ्याज्ञान ही कहा जाएगा। आधुनिक जैन पंडित इसे जैनों की उदार मनोवृत्ति का प्रमाण बताते हैं, किंतु हमारे विचार से परम्परागत अपरिग्रही जीवन के स्थान पर अथवा उसके वाचिक महत्त्व के साथ-साथ, परिग्रही जीवन अपनाने और उसे सार्थकता प्रदान करने के लिए यह सब अपरिहार्य था।

वेद, ब्राह्मण एवं यज्ञादि का विरोध—कर्मनिष्ठों से ज्ञाननिष्ठों का शाश्वत विरोध है। ज्ञानमार्गी अपने इस विरोध को मुख्यत: दो रूपों में व्यक्त करते हैं- एक तो वेद, ब्राह्मण एवं याज्ञिक कर्म की निंदा करके, दूसरे अपने मत के अनुरूप उनकी व्याखया करके। जैनों ने दोनों पद्धतियों को अपनाया है, किंतु द्वितीय विकल्प को कुछ अधिक मात्रा में स्वीकारा हैं, अत: उनका विरोध उतना उग्र नहीं जितना बौद्धों का है। जो हो, ब्राह्मणों के कर्मकांड पर प्रहार करने में श्रमणों का मुख्य निशान याज्ञिक हिंसा रही है। महावीर वाणी (गाथा 145) में कहा गया है कि कुछ लोग शस्त्र विद्या सीखकर जीव हिंसा करते हैं, तो कुछ मंत्रादि का उच्चारण करते हुए यज्ञ जैसे अनुष्ठानों में।[143] कर्म बन्धनकारक हैं, कर्म बंधन में पड़कर आदमी जन्म-मरण के अनादि भवचक्र में भटकता है, और नाना प्रकार के दु:ख भोगता है। कर्मों से प्राप्त लौकिक सुख, दु:ख परिणामी हैं और कर्मार्जित स्वर्गादि सुखदलोक अनित्य है, आदि इनकी धारणाएँ औपनिषदिक विचारों के सुसंगत हैं। महावीर वाणी में संकलित एक गाथा (196) में कहा गया कि—

वेया अहीया न भवंति ताणं भुत्ता दिया निन्ति तमं तमेणं। अर्थात् पठित वेद मनुष्य को त्राण नहीं दिला सकते, और जिमाये गये ब्राह्मण अंधकार से अंधकार में ही ले जाते हैं।

विदित है कि वेद, यज्ञ, ब्राह्मण, द्विज, आर्य एवं ऋषि-महर्षि आदि शब्द और उनके अर्थ वैदिक परम्परा से सम्बद्ध रहे हैं। जैनों ने इनकी अपने पक्ष में नई व्याख्याएँ की हैं। 'आचारांग' सूत्रों में 'वेदवं' (वेदवान्) और 'वेदवि' (वेदविद्) शब्दों का प्रयोग हुआ है। चूर्णिकार की व्याख्यानुसार—'वेतिज्जई जेण स वेदो तं वेदयति इति वेदवि।'[144] तथा 'वेदवी तित्थगर एव कित्तयति विवेगं, दुवालसंगं वा प्रवचननं वेदो तं जे वेदयति स वेदवी।[145] तात्पर्य स्पष्ट है कि जिससे वेदन 'ज्ञान' हो वह वेद है, उसका ज्ञाता ही वेदज्ञ है, तीर्थंकरों के

प्रवचन ही वेद हैं, और उनके ज्ञाता वेदज्ञ हैं। यही दृष्टिकोण अन्य ग्रंथों में भी अपनाया गया है (दे० वसुदेव हिण्डी: पृ० 183-93 आदि)।

आचारांग सूत्र (1/3) के 'नियागपडिवन्न' (नियाग प्रतिपन्न) पद में प्रयुक्त हुए 'नियाग' शब्द का अर्थ यों तो 'यज्ञ' है। किंतु वृत्तिकार ने उसकी व्याख्या इस प्रकार की है— यजनं याग: नियतो निश्चितो वा याग: नियागो मोक्षमार्ग: संगतार्थत्वाद् धातो:—सम्यग्ज्ञानदर्शन चारित्रात्मतया गतं संगतम् इति तं नियागं सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रात्मकं मोक्षमार्गं प्रतिपन्न: ।[146] तात्पर्य स्पष्ट है कि जिसमें सम्यक्ज्ञान दर्शनचारित्र की संगति है वही, अर्थात् जिनोक्त त्रिरत्न का मार्ग ही, मोक्षमार्ग या नियाग (यज्ञ) है।

'आचारांग' में प्रयुक्त 'माहण' (अर्थात् ब्राह्मण) शब्द की व्याख्या में निर्युक्तिकार का विचार है कि ऋषभ देव के प्रव्रज्याभले लेने और श्रावण धर्म की उत्पत्ति के बाद क्रमश: क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र अस्तित्व में आए। शेष बचे श्रावक धर्मप्रिय लोगों ने 'मा हणो, मा हणो' (मत हनो, मत हनो) के उद्घोष के रूप में 'अहिंसा' का उद्घोष किया, अत: वे 'माहण' ही 'ब्राह्मण' कहे गए।[147] 'महावीर वाणी' की एक गाथा (337) में कहा गया है कि मनुष्य समता से श्रमण और ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण कहा जाता है—समयाण समणो होइ बंभचेरेण बंभणो। एक अन्य गाथा (334) में कहा गया है, जो गृहस्थों के संसर्ग में नहीं रहता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं—असंसत्तं गिहत्थेसु तं वयं बूम माहणं ।। एक गाथा (339) में आया है कि इस प्रकार के (अर्थात् तप, त्याग इन्द्रियनिग्रह) आदि पवित्र गुणों से जो युक्त है उसे हम द्विजोत्तम कहते हैं—'एवं गुणं समाउत्ता जे भवन्ति दिउत्तमा। ''कल्प-सूत्र' के अनुसार महावीर पहले ऋषभदत्त की पत्नी देवीनन्दा के गर्भ में आए थे, किन्तु अर्हत् नीच और ब्राह्मण कुल में जन्म नहीं लेते, इसलिए उस गर्भ को शक्र ने त्रिशला के गर्भ में स्थानान्तरित किया था।

'आचारांग' के उक्त (1/3) सूत्र में प्रयुक्त 'आरिय' एवं 'अणरिय' शब्दों की व्याख्या में कहा गया है कि– जो सम्यक् आचारसम्पन्न हैं—अहिंसा का सर्वांगीण आचरण करने वाले हैं वे 'आरिय' अर्थात् आर्य हैं, और जो ऐसे नहीं हैं वे 'अणारिय' अर्थात् अनार्य हैं।[148] इन व्याख्याओं द्वारा अपने आगम ग्रंथों को असली वेद, अपने श्रमणों को असली ब्राह्मण, एवं अपने मोक्षमार्ग को असली यज्ञ बताकर स्वयं को आर्य सिद्ध करने की जैनों की मनोकामना प्रत्यक्ष है। आर्यों का पूर्ण पर्याय बनने की दृष्टि से ही उन्होंने मगध जनपद को मध्यदेश आर्यप्रदेश अभिधान भी दिए।

ध्यातव्य होगा कि महावीर स्वामी का ज्ञातृवंश वैशाली के लिच्छवियों की एक शाखा रूप था। मनु ने लिच्छवियों को व्रात्य बताया है। विशेषण के रूप में प्रयुक्त 'व्रात्य' शब्द के वैदिक परम्परा में मुख्य दो अर्थ किए गए। एक था उत्सेधजीवी अर्थात् उत्पीड़न द्वारा, या लूटमार द्वारा, वृत्ति कमाने वाला समुदाय,[149] दूसरा था—सावित्रीपरिभ्रष्टान्, व्रात्यानीति विनिदिशेत् (मनु०

10/20), अर्थात् उपनयन संस्कार विहीन। व्रात्य परम्परा में भी इस शब्द के दो अर्थ किए गए। एक तो यह कि संस्कारित या संस्कृत होने का अर्थ है कृत्रिम अथवा विकृत होना और असंस्कृत का अर्थ हैं मूलभूत (Original)। स्वाभाविक है कि कृत्रिम की अपेक्षा से अकृत्रिम (व्रात्य) अधिक पवित्र होना चाहिए।[150] दूसरा यह कि अहिंसादि पाँच यमों को 'व्रत' कहते हैं और इनका पालन करने वाला 'व्रती' ही व्रात्य है, जो परमपवित्र होता है। जैन, बौद्धादि योगियों ने यही दृष्टिकोण अपनाया लगता है जिसका अभिप्राय यह है कि 'व्रात्य' शब्द का वह अर्थ नहीं है, जो ब्राह्मण करते हैं और ब्राहमण का अर्थ वह है जो हम बताते हैं।

वर्णाश्रम विरोध— महावीर वाणी (गाथा 338) में कहा गया है कि व्यक्ति कर्म से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र होता है—

कम्मुणा बंभणो होइ कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा॥

एक अन्य उक्ति (दे० गाथा 356) में कहा गया है, कि व्यक्ति को बुढ़ापा आने से पूर्व ही अर्थात् स्वस्थ युवावस्था में ही संन्यास लेकर धर्माचरण कर लेना चाहिए। अर्थात् आश्रम-व्यवस्था का आश्रमी संन्यास अनुपयुक्त है। अत्याश्रमी संन्यास ही उपादेय है।

सम्प्रदायवाद— जैसा हम अब तक देखते आ रहे हैं 'सम्प्रदायवाद' इस समूची परम्परा का एक प्रमुख लक्षण है, और इस प्रवृत्ति के पोषक तत्त्वों में, ईश्वरत्व प्राप्ति की अवधारणा, संघों की स्थापना, राजाश्रय लेना, धनिकों से दान स्वीकारना, दूसरों के धर्म के प्रति असहिष्णु होना, वाद-विवाद आयोजित करना इत्यादि की गणना की जा सकती है। जैन धर्म भी इस युग-सापेक्ष प्रवृत्ति से अछूता न था। एक या दूसरे रूप में उक्त समस्त प्रवृत्तियाँ उसमें प्रारम्भ से ही लक्षित होती हैं, जिनका संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जा रहा है।

ईश्वरत्व प्राप्ति—चार्वाकों और बौद्धादिकों की तरह जैन भी सृष्टिकर्ता ईश्वर की पारलौकिक सत्ता नहीं स्वीकारते। इस विषय में उनके तर्क अन्य निरीश्वरवादियों जैसे ही हैं। मेरे विचार से सर्वशक्तिमान एक ईश्वर की पारलौकिक सत्ता मानने से नित्य नये-नये ईश्वरों की उत्पत्ति बाधित हो जाएगी, इसलिए ऐसा न मानना ही इनके लिए हितकर है। अन्यथा दार्शनिक दलीलों को तो किधर भी घुमाया जा सकता है। जो हो, योगीन्द्रकृत 'परमात्मा प्रकाश' एवं 'योगसार' में कुंदकुंद कृत मोक्षपाहुड़ा के आधार पर व्यक्तियों (या आत्माओं) के तीन भेद किए गए हैं। जो शरीर और आत्मा में अभेद मानता है, वह बहिरात्मा है, जो आत्मा और शरीर के पार्थक्य को मानता है, वह अन्तरात्मा है और जो देहभाव से मुक्त है, वह परमात्मा है।[151] यह मुक्त जीव ही परमात्मा है, जो अनन्तज्ञान अनन्तवीर्य, अनन्तदर्शन और अनन्तसुख के

'अनन्तचतुष्ट्य' से युक्त होता है। अन्यत्र भी कहा गया है कि 'सर्वज्ञ, राग-द्वेष-जित, यथास्थितार्थवादी और सामर्थ्यवान सिद्ध पुरुष ही अर्हत् है, और वही त्रैलोक्य पूजित ईश्वर है—

सर्वज्ञो जितरागादि दोष वस्त्रैलोंक्यपूजितः ।
यथास्थितार्थवादी च देवोऽर्हत् परमेश्वरः ।।[152]

कुल मिलाकर देखने पर तात्पर्य यह निकलता है कि वह मुक्त जीव अथवा सिद्ध पुरुष वीतराग है, सर्वज्ञ है, और हितोपदेशी है, वस्तुतः ईश्वर है । कोई भी व्यक्ति अपने तपोवल से इस ईश्वरत्व को प्राप्त कर सकता है और धर्मोपदेशक अथवा गुरु बन सकता है । किंतु ध्यान रहे कि – "महावीर अंतिम तीर्थंकर हैं, उनके बाद अब किसी तीर्थंकर का प्रादुर्भाव न होगा ।" जैनशास्त्रों की इस प्रकार की घोषणा महावीर के ईश्रत्व को सुरक्षित और सर्वमान्य बनाने में उपकारक सिद्ध हुई ।

संघीय व्यवस्था—इतना हम कह चुके हैं कि पार्श्वनाथ ने अपने अनुयायियों का जो चतुर्विध वर्गीकरण किया था, महावीर स्वामी ने उसी वर्गीकरण के आधार पर चतुर्विध संघ की व्यवस्था की । 'कल्पसूत्र' आदि ग्रंथों के अनुसार महावीर के ग्यारह शिष्य 'गणधर' थे, जिन्होंने नौ गणों में धर्मोपदेश दिया था । प्रो० जैकोबी के अनुसार "जैन संघ में एक गणधर आचार्य को चरण अथवा समस्त शिष्य-प्रशिष्य समुदाय को 'गण' कहते हैं, 'कुल' एक आचार्य की शिष्य-परम्परा की संज्ञा होती है । और 'शाखा' का तात्पर्य उन सब परम्पराओं से है जिनका उद्गम एक आचार्य से होता है ।"[153] श्रमणों अथवा परिव्राजक (घुमक्कड़) संन्यासियों के समूहों की गणतंत्रीय व्यवस्था महावीर की पूर्ववर्ती तो थी ही, जैनेतर सम्प्रदायों में भी स्वीकृत रही होगी । क्योंकि प्राचीन बौद्ध-ग्रंथों में पूरण कस्सप, मक्खलि गोसाल आदि बुद्ध के पूर्ववर्ती आजीवकाचार्यों को 'संधिनो' (संघ-प्रमुख), 'गणिनो' (गण-प्रमुख) और गणाचरिया (गाणाचार्य) आदि कहा गया है[154]—"समण ब्राह्मण संधिनो, गणिनो गणाचरिया ञाता यसस्सिनोतित्थकरा साधुसम्मता बहुजनस्स ।।" अतः जैनधर्म की संघ-व्यवस्था से सम्बन्धित प्रो० जैकोबी का उक्त विधान तथ्यपरक प्रतीत होता है ।

यहाँ इतना अविस्मरणीय होगा कि तत्कालीन एतद्देशीय राजनीतिक व्यवस्था में लिच्छवियों, मल्लों आदि जातियों के राज्य गणतंत्रीय अथवा प्रजातंत्रीय व्यवस्था वाले राज्य थे ।[155] अतः कहना होगा जिस प्रकार की राजनीतिक व्यवस्था से ये जातियाँ अनुशासित थीं उसी व्यवस्था को महावीरादि तत्कालीन धर्मोपदेशकों ने अपने-अपने परिव्राजक संघों में अपनाया । इससे सम्बन्धित क्षेत्र और सम्बन्धित मानव-समुदाय में राजनीतिक और धार्मिक स्वरूपों की दो समानान्तर व्यवस्थाएँ अस्तित्व में आईं । राजनीतिक संघीय व्यवस्था का लक्ष्य था प्रजाजनों के तन पर शासन करना और धार्मिक संघीय व्यवस्था का लक्ष्य

था लोगों के मन पर शासन करना—इस प्रकार दोनों का लक्ष्य प्रकारान्तर से समान था। प्रथम का प्रभाव क्षेत्र केवल परिग्रही जीवन था, द्वितीय का परिग्रही एवं अपरिग्रही दोनों प्रकार का जीवन। प्रथम की अपेक्षा द्वितीय अधिक प्रभावशाली, स्थायी एवं महत्त्वपूर्ण है। दोनों परस्पर उपकारक भी हो सकती हैं, अवरोधक भी। यदि प्रथम द्वारा हिंसा का आधार न लिया जाए तो सभी स्थितियों में द्वितीय का फूलना-फलना निश्चित है इत्यादि। जो हो, यहाँ ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि जनता पर एकचक्री शाश्वत शासन स्थापित करने का जैसा स्वप्न भगवान बुद्ध ने देखा था, वैसा ही महावीर ने भी देखा हो तो आश्चर्य नहीं। इतिहास को देखते हुए यही कहा जाएगा कि इन दोनों महानुभावों को अपने-अपने स्वप्न साकार करने में आशातीत सफलता मिली। यहाँ इतना संकेत कर देना और आवश्यक होगा कि उक्त संघीय या गणतंत्रीय व्यवस्था ने धार्मिक सम्प्रदायवाद को अभेद्य सुरक्षा प्रदान की।

राजाश्रय—महावीर का जन्म वैशाली के लिच्छवियों के प्रजातंत्रीय राज्य में हुआ था। इस प्रजातंत्र में सभी महत्त्वपूर्ण राजनीतिक निर्णय महासभा द्वारा लिए जाते थे। इस महासभा के सदस्यों की संख्या, 'एकप्पण जातक' तथा 'चुल्लकलिंग जातक' के अनुसार, सात हजार सात सौ सात थी। इस महासभा के सभी सदस्य 'राजा' कहलाते थे, और वे स्वयं के वंश को राजवंश कहते थे। महावीर एक ऐसे ही प्रतिष्ठित परिवार में जन्म होने से राजकुमार और राजवंशी थे। उनकी माता त्रिशला, लिच्छवियों के राजा चेटक की पुत्री (अथवा बहिन) थी। चेटक की सातों पुत्रियाँ सौवीर, अंग, वत्स, अवन्ति और मगध के प्रतिष्ठित राजघरानों में ब्याही थीं। फलतः राजवंशों से महावीर के अच्छे सम्बन्ध थे। मगध के राजा बिम्बसार, उसका पुत्र अजातशत्रु किंतु विशेष रूप से अजातशत्रु का उत्तराधिकारी उदायि जैनधर्म को प्रश्रय देने वाले कहे गए हैं। नन्दवंश भी जैनधर्म के प्रति श्रद्धालु था। चन्द्रगुप्त मौर्य की जैनधर्म के प्रति विशेष सहानुभूति थी। जैनस्रोतों के अनुसार चन्द्रगुप्त ने संन्यास लेकर भद्रबाहु के साथ दक्षिण देश की यात्रा की थी। पश्चिम में उज्जैन के राजा, अशोक के पौत्र, सम्प्रति ने जैनधर्म को प्रश्रय दिया था। दक्षिण में जैनधर्म को प्रश्रय देने वाले राजवंशों में कदम्ब, गंग, राष्ट्रकूट, चालुक्य और होयसल का यशोगान जैनधर्मग्रंथों में किया गया है। परवर्तीराजवंशों में गुजरात के सिद्धराज जयसिंह, कुमारपाल एवं उनके वंशजों के नाम विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।

उक्त राजवंशों के राजपुरुषों, राजरानियों, सेनापतियों, सामंतों एवं मंत्रियों में ऐसे अनेक व्यक्ति हुए जिन्होंने जिनालय, चैत्यालय बनवाए और अपार सम्पत्ति दान में दी।[156] अतः कहा जा सकता है कि जैन सम्प्रदाय लिच्छवियों का तो राजपोषित धर्म था ही, देश के अन्य राजाओं और सेठ-साहूकारों ने भी आर्थिक सहायता देकर उसे बढ़ावा दिया।

असहिष्णुता—सामान्यतः यह समझा जाता है कि जैन अनेकान्तवादी हैं,

अतः वे दार्शनिक चिंतन में प्रत्येक संभावना को समाहित करते हैं, और इसलिए किसी से उनका विरोध नहीं है। हमारे विचार से ऐसी उदारता से कोई सम्प्रदाय टिक ही नहीं सकता। जैनों के प्रथम रत्न 'सम्यक्-दर्शन' के विषय में हमने ऊपर जो यत्किंचित लिखा है, उससे प्रकट है कि सच्चा ज्ञान, सच्चे देव, सद्गुरु और सच्चे शास्त्र वे ही हैं जो तीर्थंकर प्ररूपित धर्म से सम्बद्ध हैं, एतदतिरिक्त जो कुछ है वह मिथ्या है। प्रत्येक अनुयायी की इस विषय में अडिग श्रद्धा होनी चाहिए। जैनों ने जिन 363 मिथ्या दृष्टियों का उल्लेख किया है उनमें जैनों की सम्यक् दृष्टि को छोड़ शेष सबका समावेश है, और उन्हें अयोग्य बताया गया है। 'सूत्रकृतांग' के प्रारम्भ में कुछ जैनेतर मतों का सांकेतिक उल्लेख है। टीकाकारों के अनुसार इनमें बौद्ध, बार्हस्पत्य, चार्वाक, वेदान्ती, सांख्य, अदृष्टवादी, आजीविक आदि का समावेश है। इन सभी को वहाँ असंगत करार दिया गया है। तदुपरांत जैनाचारसंहिता में जो पाँच अतिचार मान्य हैं उनमें से 'शंका' का तात्पर्य है सद्धर्म (जैन धर्म) पर शंका न करना और 'अन्य दृष्टि प्रशंसा' तथा 'अन्य दृष्टि संस्तव' का तात्पर्य है दूसरों के भ्रामक विश्वासों तथा मिथ्या दृष्टि की प्रशंसा या स्तुति न करना, ग्यारह प्रतिमाओं में से प्रथम दर्शन प्रतिमा का तात्पर्य भी रत्नत्रय के मोक्षमार्ग होने में अटल श्रद्धा रखना है।

वाद-विवाद—तत्कालीन सम्प्रदायवाद का प्रमुख आधार दार्शनिक मतवाद था। जब प्रत्येक व्यक्ति को अपना मत प्रवर्तित करने की छूट दी गई हो, तो वाद-विवाद को टाला नहीं जा सकता। जैसा हम कह चुके हैं इन वाद-विवादों की एक पूर्वशर्त यह होती थी कि पराजित पक्ष को विजेता पक्ष का मत अंगीकार कर लेता होता था। इन वाद-विवादों में प्रतिपक्ष से ऐसे गढ़े-गढ़ाए प्रश्न पूछे जाते थे कि उनका ऐकान्तिक विधेयात्मक अथवा निषेधात्मक उत्तर देने पर अर्थात् निर्णायक 'हाँ' अथवा 'ना' में उत्तर देने की—दोनों स्थितियों में परास्त किया जा सके। महावीर ने इस स्थिति का सामना न किया हो, यह सम्भव नहीं है। सूत्रकृतांग (2/6) में बौद्ध, वैदिक, वेदान्ती (एक दण्डी) एवं हस्तितापस आदि प्रतिपक्षियों के साथ जैनों के वाद-विवाद के उल्लेख हैं। महावीर और गोसालक के वाद-विवाद का निरूपण 'भगवती सूत्रों' में विस्तार से किया गया है। इन वाद-विवाद में वादी और प्रतिवादी न केवल गाली-गलौज पर उतर आते थे, तंत्र-मंत्र का प्रयोग कर प्रतिपक्ष को पराजित करने में भी अनौचित्य न मानते थे। 'भगवतीसूत्रम्' के अनुसार महावीर द्वारा गोसाल पर छोड़ी गई तेजोलेश्या से सात दिन बाद उसकी मृत्यु हो गई। निगण्ठों की ओर से अभय नामक (तार्किक) विद्वान को बुद्ध से शास्त्रार्थ करने के लिए भेजा गया था, जिसने परास्त होकर बौद्धधर्म स्वीकार कर लिया।[157] बौद्धग्रंथों में अन्य भी ऐसे अनेक निगण्ठों के उल्लेख हैं, जो बुद्ध से परास्त होकर बौद्ध हो गए। 'ज्ञाताधर्म कथा' के एक कथानक के अनुसार षष्टितंत्र, सांख्य और चारों वेदों का ज्ञाता शुक्र नामक परिव्राजक अपने प्रश्नों के संतोषप्रद उत्तर पाकर महावीर

का शिष्य हो गया। ये वाद-विवाद दूसरे मतावलम्बियों से ही हों यह आवश्यक नहीं था। पार्श्व के प्रसिद्ध शिष्य केशीकुमार और महावीर के गणधर इन्द्रभूति के मध्य हुए विवाद का हम उल्लेख कर चुके हैं। स्थूलभद्र और भद्रबाहु का मतभेद इतना था कि श्वेताम्बर और दिगम्बरों को अलग-अलग हो जाना पड़ा इत्यादि।

आंतरिक सम्प्रदायवाद उपर्युक्त विवेचना में हमने दार्शनिक मतवाद को सम्प्रदायवाद का प्रमुख आधार बताया है, किंतु जैन सम्प्रदाय की आन्तरिक स्थिति इसका अपवाद है। जैसा हम संकेत कर चुके हैं, जैनदर्शन को व्यवस्थित रूप देने का श्रेय कुंदकुंद, उमास्वाति, समंतभद्र वादिराज प्रभृति आचार्यों को है और उसका वर्तमान स्वरूप तो दसवीं से अठारहवीं शताब्दी के मध्य का प्रतीत होता है। जो हो, तीर्थंकरों के उपदेशों में तो, जैसा कि हम देख चुके हैं, अहिंसादि चार अथवा पाँच व्रतों की आचारमीमांसा ही मुख्य थी। दार्शनिक चिंतन यदि उनका रहा भी होगा, जैसा कि संभव है, तो कुछ इस प्रकार का ही कि सृष्टि के 'जड़-चेतन गुण-दोषमय' सभी पदार्थों में जीव है, अतः साधक को अपनी प्रत्येक क्रिया अथवा हलन-चलन में इसका ध्यान रखकर जीव-हिंसा से प्रयत्नपूर्वक बचना चाहिए। कर्म बन्धनकारक हैं, किंतु इस जन्म में कर्मों को त्याग कर, और पूर्वजन्मों के कर्मों को तपस्या द्वारा निर्बीज करके उनसे मुक्त हुआ जा सकता है इत्यादि। बौद्धवाङ्मय में निगण्ठनाथपुत्त के उपदेशों को प्रायः इसी रूप में अंकित किया गया है।

अतः जैनधर्म में दार्शनिक मतवाद और उन पर आधारित उपसम्प्रदायों के पनपने की संभावना नहींवत् थी। दूसरी ओर यह घोषित कर दिया गया था कि महावीर अंतिम तीर्थंकर हैं, अब नए तीर्थंकरों का प्रादुर्भाव नही होगा। इस प्रतिकूल परिस्थिति और रोकथाम के बावजूद नए-नए सम्प्रदाय रचने की पारम्परिक प्रकृति का त्याग सम्भव न हुआ। पार्श्व के अनुयायियों ने महावीर के पाँचवें व्रत (ब्रह्मचर्य) को तो अपना लिया, किन्तु अचेलक रहना नहीं स्वीकारा। आगे चलकर महावीर विवाहित और ससंतान थे या नहीं? अर्हत् भोजन करते हैं या नहीं? वर्धमान को गर्भावस्था में देवनन्दा के गर्भ से त्रिशला के गर्भ में बदला गया या नहीं? साधु वस्त्र पहन सकते हैं या नहीं, स्त्री को मोक्ष मिल सकता है या नहीं? महावीर की मूर्तियों को सजाया जाना चाहिए या नहीं? और महावीर प्ररूपित आगम अब शेष हैं या नहीं? आदि प्रश्नों का एक पक्ष (श्वेताम्बरों) का उत्तर था—'हाँ' और दूसरे पक्ष (दिगम्बरों) का उत्तर था—'ना'। फिर भी क्योंकि दोनों में दार्शनिक चिंतन और व्रतों के सम्बन्ध में सम्मति थी, अतः भद्रबाहु तक दोनों की गणधर परम्परा एक रही। किंतु भद्रबाहु ने स्थूलभद्र द्वारा संकलित आगमों को जब आप्रामाणिक घोषित कर दिया तब दोनों का पार्थक्य निश्चित हो गया।

कहानी यहीं पर पूरी नहीं हुई। 'ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में मुनियों

के समुदाय कुल, गण और शाखाओं में विभक्त थे, जिनमें मुनियों का ही प्राबल्य था, पर धीरे-धीरे गृहस्थ श्रावकों के (बढ़ते हुए) प्रभाव के कारण (श्वेताम्बरों और दिगम्बरों—दोनों में) नए-नए नाम वाले संघ, गण, गच्छ एवं अन्वयों का उदय होने लगा, तथा कई गच्छ परम्पराएँ चल पड़ी थीं।"[158] तात्पर्य यह है कि महावीर ने कुल, गण, शाखा, संघ आदि के रूप में जो व्यवस्था की थी उस पर बहुत काल तक श्रमणों का प्रभुत्व रहा, और साथ ही यह भी सम्भव है कि उसका क्रियान्वयन मुख्तत: श्रमण संघों में रहा। किन्तु जब जैन धर्मानुयायी व्यापारी बन गए और अपरिग्रही जीवन की तुलना में परिग्रही जीवन को अधिक महत्त्व देने लगे तब न केवल श्वेताम्बरों में अपितु दिगम्बरों में भी समान्तर रूप में एक के बाद एक नए-नए उपसम्प्रदाय पनपे।

डॉ० मोहनलाल मेहता ने श्वेताम्बरों और दिगम्बरों के तीन-तीन सम्प्रदायों का उल्लेख किया है—(1) मूर्तिपूजक मंदिरों में मूर्ति की पूजा करते हैं। (2) स्थानकवासी स्थानकों में आगमों की प्रतिष्ठा करते हैं। (3) तेरापंथी जो मूर्ति-पूजा का समर्थन नहीं करते। (4) बीसपंथी—मूर्तिपूजा में फल-फूल का प्रयोग करते हैं। (5) तेरहपंथी—निर्जीव पदार्थों द्वारा मूर्तिपूजा करते हैं और (6/ तारण पंथी—ग्रंथ पूजा करते हैं। इनमें से प्रथम तीन श्वेताम्बरी हैं, अंतिम तीन दिगम्बरी। इतना ही नहीं, श्वेताम्बरों में गच्छों की संख्या 84 मानी जाती है। डॉ० भगवानदास तिवारी ने श्वेताम्बर और दिगम्बर का भेद किए बिना गच्छों के कुछ नाम इस प्रकार दिए हैं—मूलसंघ, काष्ठासंघ, तेरा पंथ, यापनीय संघ, नंदिसंघ, मयूरसंघ, गौड़संघ, निर्ग्रंथ संघ, कूर्चक संघ, वीर-सेणाचार्य संघ, पुन्नाट संघ, किन्नर संघ, बलात्कार संघ, सेनान्वय, तपागच्छ, सरस्वती गच्छ, बागड़ गच्छ और लाट बाकड़गच्छ।[159] कुछ अन्य गच्छों के नाम इस प्रकार हैं—चन्द्रगच्छ, नागेन्द्रगच्छ, राजगच्छ, चैत्रगच्छ, पूर्णतल्लगच्छ, वृद्धगच्छ, धर्मघोषगच्छ और हर्षपुरीय गच्छ।[160] इन साम्प्रदायिक संगठनों के मूल में आचार-विचार का पार्थक्य उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना कि इनके प्रवर्तकों का अपना व्यक्तिगत महत्त्व प्रस्थापित करने का मोह।

एक ओर मानवमात्र ही नहीं, जीवमात्र के कल्याण की बातें और दूसरी ओर नगण्य बातों को लेकर अपने ही लोगों की घेराबाँधी में जो असंगति है वह शोचनीय है।

समीक्षा— जैनों के आचार-विचार से सम्बन्धित आवश्यक समीक्षात्मक टिप्पणियाँ, प्रासंगिकता के अनुसार यथास्थान दी जा चुकी हैं, अत: यहाँ सामूहिक जीवन की सुरक्षा, समृद्धि, वृद्धि एवं प्रगति की अवरोधक कतिपय व्यवस्थाओं को ही लक्ष्य किया जाएगा।

गृहस्थों के लिए विधेय 'ब्रह्मचर्य' नामक अणुव्रत के दोषों और उनके निषेधों में प्रथम है-- 'पर विवाह करण दोष।' इसका तात्पर्य है—"दूसरों के विवाह में मन, वचन और शरीर से सम्मति न देना।" कहना न होगा कि इस विधान का

अनुपालन करने पर संतति प्रवाह का सातत्य बना नहीं रह सकता। गृहस्थ के 'विवाह' नामक अपरिहार्य संस्कार की यह अक्षम्य उपेक्षा ही वह कारण है जिसके फलस्वरूप अधिकांश जैनों का विवाह संस्कार उन ब्राह्मणों द्वारा सम्पन्न होता है, जिनकी अन्यथा सर्वत्र निंदा की गई है।

गृहस्थों के लिए विधेय व्रतों में से दो हैं—दिग्व्रत और देशव्रत। चारों दिशाओं में अपने आने-जाने की सीमा निर्धारित कर लेना 'दिग्व्रत' है, और अपने व्यवहार एवं व्यापार आदि के लिए देश या राज्य की सीमा निर्धारित करना 'देशव्रत' है। दोनों ही व्रत कूपमंडूकता के पोषक और प्रगति के बाधक हैं।

गृहस्थों के लिए विधेय ग्यारह प्रतिमाओं में से एक हैं—'आरम्भ का त्याग' जिसका तात्पर्य है जीवन निर्वाह के साधन, यथा—भोजन पकाना आदि का त्याग। जैनों का यह आदर्श गृहस्थ अपने और अपने आश्रितों (भिक्षुओं) के प्राणों की रक्षा कैसे कर सकता है? हम नहीं सोच सकते।

हिंसा से बचने के लिए खेती एवं पशु-पालन जैसे सभी उत्पादनमूलक एवं श्रममूलक धंधों को त्यागकर, असत्य भाषण, सूद और शोषण से अनुप्राणित व्यापार को सम्यक् जीविका बताना कितना सुसंगत है? सोचा जा सकता है। यदि उत्पादक उद्योगों को सम्भालने वाला दूसरा समाज न हो तो केवल व्यापार से कौन-सी सामाजिक व्यवस्था टिक सकती हैं?

एक ओर जड़-अजड़ समस्त पदार्थों को विविध प्रकार के जीवों से इस प्रकार अभिभूत मानना कि श्वास लेने में भी हिंसा होती है, अतः उनकी रक्षा का ध्यान रखना आवश्यक है। दूसरी ओर मनुष्यों (उपासक और भिक्षु दोनों) को अनशन करके प्राणत्याग देने की (आत्महत्या) की छूट है। सच है कि—'व्यावहारिक जीवन में इनमें (जैनों में) मनुष्य जीवन के प्रति उतनी रक्षा का भाव नहीं देखा जाता, जितनी पशु, जीवाणु और वनस्पति एवं बीजों के प्रति—(हिंदू सभ्यता, पृ० 246)। सम्भवतः इन्हीं एवं ऐसी ही कतिपय अन्य असंगतियों के कारण आज व्यवहार में जैन होने का अर्थ है—महावीर स्वामी को ईश्वर मानना, कुछ व्रतों का पालन, तीर्थों की यात्रा आदि, शेष व्यवहारों में समवर्ती धर्म एवं समाज से सुसंगत हो लेना।

बौद्धधर्म

पूर्व परम्परा—गौतम बुद्ध की 'धर्म देशना' (धर्मोपदेश) का ही प्रचलित नाम 'बौद्ध धर्म' है। गौतम बुद्ध ही इसके प्रस्तोता हैं अथवा इसकी कोई पूर्व परम्परा भी है? इस विषय में, बौद्धवाङ्मय में कोई स्पष्ट मंतव्य नहीं पाया जाता। इतना ही नहीं, बुद्ध को सर्वज्ञ एवं अनौपपादिक (अयोनिज) सिद्ध करने के मोह में उपलब्ध सांकेतिक संदर्भों को निरर्थक बनाने का उपक्रम भी किया गया है। वर्तमान स्थिति यह है कि एक ओर संयुक्त निकाय के 'नगरसुत्त' में बुद्ध का यह विधान हैं कि "मैंने किसी नवीन धर्म नगर का निर्माण नहीं किया, केवल प्राचीन

ध्वंसावशेष नगर का पुनरुद्धार ही किया है।" दूसरी ओर विनयपिटक के महावग्ग (1/1/8) में उन्होंने यह भी कहा है कि "मैंने सर्वप्रथम यह अद्वितीय धर्मचक्र चलाया, जिसे पहले कभी किसी श्रमण ने या ब्राह्मण ने, देवता ने या मार ने या ब्रह्मा ने या किसी अन्य ने इस लोक में नहीं चलाया।" एक ओर वे 'आदिबुद्ध' माने गए हैं, दूसरी ओर विपश्यी, शिखी, विश्वभू, क्रकुच्छन्द, कनकमुनि और कश्यप को छः पूर्व बुद्धों के रूप में मानकर उन्हें सातवाँ और मैत्रेय को भविष्यत् बुद्ध के रूप में आठवाँ बुद्ध माना गया है। इतना ही नहीं (जैनों व वैष्णवों की तरह) उन्हें चौबीसवाँ बुद्धावतार भी बताया गया है। उनसे पूर्व विभिन्न युगों में तेईस बुद्ध हो चुके थे, वे तो अंतिम बुद्ध थे।[161] कहना न होगा कि पूर्व बुद्धों की इन अवधारणाओं को अनैतिहासिक करार देना ही इतिहाससम्मत होगा। किंतु दूसरी ओर इस आधार पर यह मान लेना भी अनैतिहासिक ही होगा कि बुद्ध की 'धम्मरेसना' कोई अभूतपूर्व उपलब्धि थी। तात्पर्य केवल इतना ही होगा कि उन्होंने धर्मोपदेशकों की अपनी पूर्व परम्परा को स्वीकारा है।

वस्तुस्थिति के परिचायक कुछ महत्त्वपूर्ण संदर्भ इस प्रकार हैं--

(1) 'मज्झिम निकाय' (2/1/6) में बुद्ध को अंगिरस गोत्रीय कहा गया है--

पदुमं यथा कोकनदं सुगन्धं पातो सिया फुल्लमवीतं गन्धं।
अंगीरसं पस्स विरोचमानं तपन्तमादिच्चमिवन्तलिक्खे॥

अर्थात् 'जिस प्रकार लाल कमल प्रकाशित सूर्य को देखकर अत्यन्त सुगंधमय एवं विकसित हो जाता है, उसी प्रकार (तू) तपते हुए आदित्य की तरह सुशोभित एवं विकसित आंगिरस बुद्ध को देख।' किंतु बुद्ध ने मगध के तत्कालीन राजा बिम्बिसार को दिए अपने परिचय में स्वयं के गोत्र का नाम 'आदित्य' और जाति का नाम 'शाक्य' बताया था--आदिच्चा नाम गोत्तेन साकिया नाम जातिया॥ (सुत्तनिपात 27/19)। डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी के अनुसार शाक्यों का 'गौतम' गोत्र था, जैसे मल्लों का वसिष्ठ। बुद्ध को आंगिरस कहा गया है, जो गौतम गोत्र का उपभेद था।[162] मेरे विचार से आंगिरस, आदित्य और गौतम तीनों ऐसे गोत्र हैं, जो प्रमुख रूप में अनार्य जातियों से सम्बद्ध रहे हैं।

(2) 'ललितविस्तर' नामक ग्रंथ में 'विश्वामित्र' को शुद्धोदन 'शाक्य' का कुल पुरोहित कहा गया है। गौतम बुद्ध का नामकरण उन्हीं के द्वारा किया गया था। गौतम प्रारम्भ में उन्हीं के पास पढ़ने के लिए भेजे गए थे। आंध्र, पुन्ड्र आदि दैत्य विश्वामित्र के पुत्र (शिष्य) कहे गए हैं, यह हम देख चुके हैं।

(3) 'महाजनक जातक' में जनक को बुद्ध पूर्व ज्ञानी पुरुष बताया गया है।

(4) जैनों के 'ऋषिभाषित' ग्रंथ (दे० अध्ययन 29, 31) में, जैसा हम कह चुके हैं, पार्श्व महावीर के अतिरिक्त असित देवल, रामपुत्र, अंगिरस, याज्ञ-

वल्क्य और शाक्यपुत्र (बुद्ध) को 'अर्हत् ऋषि' कहा गया है। इनमें से असित देवल गौतम बुद्ध के भविष्यवक्ता थे। (उद्दक) रामपुत्त से गौतम ने 'नैवसंज्ञा नासंज्ञायतन' नामक योग की अष्टम भूमिका का ज्ञान प्राप्त किया था। आंगिरस उनका अपना गोत्र था।

(5) अपनी प्रव्रज्या से पूर्व बुद्ध ने भरंडु कालाम नामक सांख्य योगी के सान्निध्य में ध्यान का अभ्यास किया था—(दे० अंगुत्तर नि० 3/3/3/4)। 'बुद्धचरित' एवं ललितविस्तर' के अनुसार प्रव्रज्या के बाद बुद्ध ने सर्वप्रथम आराड़ कालाम नामक सांख्याचार्य से 'आकिंचन्यायतन' नाम की 'अरूपसमापत्ति' की शिक्षा ली थी। 'बुद्धचरित' में कहा गया है कि कालाम ने जिस सिद्धांत का उपदेश (गौतम के प्रति) किया था उससे कपिल, जैगीषव्य, जनक और वृद्ध पराशर ने मोक्षलाभ किया था।

(6) शाक्यों की उत्पत्ति के विषय में पौराणिक आख्यान है कि अयोध्या के राजा इक्ष्वाकु ने अपने चार राजकुमारों और चार राजकुमारियों को निष्कासित कर दिया था, जिन्होंने परस्पर (सपिंड) शादियाँ कर लीं। इन्हीं की प्रजाएँ 'शाक्य' कही गईं। 'दशरथ जातक' में सीता को राम की बहिन और बाद में पत्नी बताया गया है। अंत में कहा गया है कि मैं (बोधिसत्त्व गौतम) ही राम था और यशोधरा ही सीता थी। कहना न होगा कि बुद्ध की पत्नी यशोधरा और उनकी माता महामायादेवी दोनों देवदह के कोलिय वंश की थीं। इस प्रकार गौतम और यशोधरा की शादी सगोत्र थी। सपिंड एवं सगोत्र विवाह अनार्य थे।

(7) आधारभूत ग्रंथों एवं अधिकारी विद्वानों के मंतव्यों के आधार पर, इस अनुशीलन के प्रथम अध्याय में, व्रात्य, दस्यु एवं असुर जातियों का जो विस्तृत परिचय दिया गया है उससे भी यही फलित होता है कि गौतम बुद्ध व्रात्य परम्परा की तत्कालीन 'वृषल' जाति के क्षत्रिय थे और अनार्य परम्परा से सम्बद्ध थे।

उपर्युक्त समस्त संदर्भों की समीक्षा के बाद यह निष्कर्ष निकालना असंगत न होगा कि बुद्ध वस्तुतः विश्वामित्र, आंगिरस याज्ञवल्क्य, जनक, कपिल आदि की अध्यात्मवादी परम्परा की 'वृषल' जाति के क्षत्रिय (राजन्यबंधु) थे। बुद्ध के धर्म-दर्शन के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए मेरे विचार से यही एक मात्र उपर्युक्त भूमिका है।

बुद्ध का जीवन चरित

गौतम बुद्ध का जन्म वर्तमान बिहार प्रदेश की उत्तर-पश्चिम दिशा में (वर्तमान नेपाल के अंतर्गत) स्थित शाक्यों की राजधानी कपिलवस्तु के निकट 'लुम्बिनी' नामक उद्यान (शालवन) में दो शाल वृक्षों के नीचे शुद्धोदन 'राजा' की पत्नी मायादेवी के गर्भ से लगभग 563 ई०पू० में हुआ था।[163] यहाँ (लुम्बिनीवन की

जगह) अशोक का एक स्तम्भ मिला है, जिस पर लिखा है— "हिद बुधे ज ते शाक्यमुनिति हिद भगवा जातेति।" अर्थात् यहीं शाक्यमुनि बुद्ध उत्पन्न हुए थे, यहीं भगवान उत्पन्न हुए थे।

इतिहासकारों के अनुसार उस समय शाक्यों का यह (कपिलवस्तु) जनपद कोसल-राज्य के अधीन अर्ध स्वतंत्र गणराज्य था जिसका शासन कुलीन लोगों की बनी 'सभा' द्वारा किया जाता था। इस सभा का प्रत्येक सदस्य 'राजा' और इसका अध्यक्ष 'महाराजा' कहा जाता था। गौतम बुद्ध के पिता शुद्धोदन ऐसे ही एक 'राजा' थे जो वस्तुतः एक समृद्ध किसान थे। तत्कालीन कपिलवस्तु गणतंत्र की सभा के अध्यक्ष अथवा 'महाराजा' का नाम 'महानाम' था।

बुद्ध के जन्म के पाँचवें दिन कुल पुरोहित विश्वामित्र द्वारा उनका नामकरण संस्कार किया गया। उनका बचपन का नाम गौतम था 'समणो खलु भो गोतमो सक्यकुल पब्बजितो।' उनके जन्म के सात दिन बाद उनकी माता का देहांत हो गया, अतः उनका पालन-पोषण उनकी सौतेली माँ, महाप्रजापति जो मायादेवी की बहिन और शुद्धोदन की पत्नी थी, ने किया।

बालक गौतम के भविष्य के विषय में असित देवत (अथवा कालदेवल) और कौन्डिन्य प्रभृति सात दैवज्ञ ब्राह्मणों ने बताया था कि वह (गौतम) एक चक्रवर्ती राजा के 32 लक्षणों से युक्त होने के कारण यदि गृहस्थ रहा तो चक्रवर्ती राजा होगा, यदि प्रव्रजित हुआ तो बुद्ध होगा—इमेहि लक्खणेहि समन्नागतो अगार अज्झावसमानो राजा होति चक्कवत्ती, पब्बज्जमानो बुद्धो—(सुत्तनिपात 3/7)। वैराग्य प्रेरक कारणों के विषय में पूछे जाने पर उक्त ब्राह्मणों ने बताया था कि— वृद्ध, रोगी, मृतक और प्रव्रजित पुरुषों को देखकर इसे वैराग्य उत्पन्न होगा।

इनकी प्रारम्भिक शिक्षा के विषय में 'ललितविस्तर' में कहा गया है कि इन्हें जब आचार्य विश्वामित्र की कुमारों की 'लिपिशाला' में भेजा गया तो आचार्य इनके असह्य तेज से धराशायी हो गए। उन्हें उठाकर शुभांग नामक देवपुत्र ने कहा—"यह कुमार मनुष्य के सभी शास्त्र, संख्या, लिपि, गणना, धातुतंत्र और अप्रमेय लौकिक शिल्प योग में अनेक कल्प कोटियों के पूर्व ही शिक्षित है।"[164]

16 वर्ष की अवस्था में, देवदह के कोलिय दंडपाणि की पुत्री भद्राकापिलायिनी (गोपा, यशोधरा) के साथ इनका विवाह हो गया। पुत्रजन्म की सूचना मिलने पर इन्होंने कहा था—"राहु जातो, बन्धनं जातन्ति।" अर्थात् राहु पैदा हुआ है, बंधन पैदा हुआ है, अर्थात् प्रव्रज्या के मार्ग में एक और रोड़ा खड़ा हो गया है।

कपिलवस्तु में भरंडु कालाम नामक एक योगी (सांख्य योगी) का आश्रम था। प्रव्रज्या से पूर्व सिद्धार्थ गौतम ने अपने ग्राम के इसी भरंडु आश्रम में उससे संन्यास धर्म की महिमा जानी और समाधि की दीक्षा ली थी।[165] ललितविस्तर एवं बुद्धचरित आदि ग्रंथों के अनुसार, जैसी कि भविष्यवाणी की गई थी, गौतम

बुद्ध ने जराजीर्ण, व्याधिग्रस्त, मृत एवं प्रव्रजित व्यक्तियों को अलग-अलग अवसरों पर देखा और निश्चय किया कि जन्म, जरा, रोग एवं मृत्यु युक्त सांसारिक जीवन दु:खमय है, और इसके विपरीत समस्त प्रकार की चिंताओं से मुक्त प्रव्रजित जीवन सुखमय है। अत: उन्होंने एक रात्रि को समस्त स्वजनों को गाढ़ निद्रा में सोता हुआ छोड़कर चुपके से गृह त्याग दिया। उनके इस गृहत्याग को 'महाभिनिष्क्रमण' कहा गया है।

गौतम बुद्ध के गृहपरित्याग में वृद्ध, रोगी, मृतक एवं प्रव्रजित व्यक्तियों के दर्शन को आधुनिक विद्वान पर्याप्त कारण नहीं मानते। प्रथम तो यह कि बुद्ध ने उन्तीस वर्ष की अवस्था में संन्यास लिया था, तब तक उन्होंने वृद्ध, रोगी, मृतक एवं परिव्रजित व्यक्तियों को न देखा हो यह विश्वसनीय नहीं है। दूसरे, ऐसी घटनाओं से उत्पन्न वैराग्य श्मशान वैराग्य जैसा अचिर ही हो सकता है, यदि अन्य कोई गम्भीर कारण न हो। 'सुत्तनिपात' के 'अत्तदंड सुत्त' में बुद्ध ने अपने गृहत्याग के विषय में कहा है—

अत्तदंडा भयं जातं जनं पस्सथ मेधकं।
संवेगं कित्तयिस्सामि यथा संविजितं मया॥
फन्दमानं पजं दिस्वा मच्छे अप्पोदके यथा।
उपञ्ञमञ्ञेहि व्यारुद्धे दिस्वा मं भयमाविसे॥
समन्तमसरो लोको दिसा सब्बा समेरिता।
इच्छ भवनमत्तनो नाद्दसासिं अनोसितं॥
ओसाने त्वेव व्यारुद्धे दिस्वा में अरती अह॥

इस कथन में से बुद्ध के प्रव्रजित होने के छोटे-मोटे तीन कारण निष्पन्न होते हैं—

1. अस्त्रधारण करने में भय लगना;
2. उथले जल में जिस प्रकार मछलियाँ तड़फड़ाती हैं उसी प्रकार आपसी वैरभाव से तड़फड़ाती जनता को देखकर बुद्ध के अत:करण में भय उत्पन्न होना। और—
3. अपने चतुर्दिक् संसार का असार लगने लगना। "ऐसा प्रतीत होता था मानो मेरे चारों और दिशाएँ कम्पायमान हो उठी हों। उसमें आश्रय स्थान शोधने पर, वह मुझे कहीं हाथ न लगा। (प्रारम्भ से) अंत तक समस्त जनता को एक-दूसरे के विरुद्ध देखकर मेरा मन उद्वेग को प्राप्त हुआ।"

यह कहना आवश्यक होगा कि शाक्य और कोलिय दोनों पड़ोसी गणतंत्र थे, दोनों कोसल के राजा (प्रसेनजित) के अधीन थे। रोहिणी नदी के पानी के बँटवारे को लेकर दोनों में आये दिन युद्ध होते रहते थे। ध्यातव्य होगा कि तत्कालीन पूर्वी प्रदेशों में दो प्रकार की शासन प्रणाली थी—गणतंत्र और राज-

तंत्र। गणतंत्र में तो राजा (निरंकुश शासक) का स्थान ही न था, राजतंत्र में भी राजा प्रभुसत्तायुक्त नहीं होता था। अतः दो प्रजाओं के आंतरिक संघर्ष को प्रभावशाली ढंग से दबाने में वह समर्थ नहीं होता था। तात्त्विक रूप से देखा जाय तो यह वैराट् (बिना राजा की प्रजा का) प्रदेश था। शाक्य गणतंत्र और कोलिय गणतंत्र—दो जातियों के गणतंत्र थे। अत: अपनी जाति का झगड़ा तो सभा या परिषद या समिति के द्वारा सुलझा लिया जाता था, किंतु दूसरी जाति के साथ उत्पन्न विवाद में युद्ध अनिवार्य हो जाता था।[166] बाँध-छोड़ की नीति से जात्याभिमान को ठेस लगती थी। यह हम कह चुके हैं कि गौतम बुद्ध की माता, मौसी और पत्नी-तीनों देवदह के कोलिय वंश की थीं। अत: कोलिय उनके निकट-तम सम्बन्धी थे।

डॉ० भरतसिंह उपाध्याय लिखते हैं कि 'किसी अवसर पर कोलियों के विरुद्ध शस्त्र धारण से गौतम ने साफ इंकार कर दिया। इससे कठिन प्रसंग आ उपस्थित हुआ। इसका नतीजा यह होने वाला था कि शुद्धोदन के सारे कुटुम्ब का शाक्य देश से निष्कासन किया जाता। इस विपत्ति से मुक्त होने के लिए एक ही रास्ता था कि गौतम परिव्राजक हो जाते और उन्होंने उसी रास्ते को स्वीकार किया।......कुटुम्ब को बचाने के लिए दूसरा रास्ता नहीं होने से उन्होंने —(महाप्रजापति एवं शुद्धोदन ने रोते-रोते गौतम को आज्ञा दी।[167]

डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल[168] प्रभृति अनेक विद्वानों ने यह भी प्रतिपादित किया है कि बुद्ध का लक्ष्य सीधे व सरल धर्म का प्रचार मात्र न था, बल्कि धर्म का चक्रवर्ती शासन स्थापित करना था। वैशाली के तीर्थंकर महावीर—जिनके आगे तत्कालीन राजे महाराजे भी सिर झुकाते थे—का उदाहरण इस शाक्यपुत्र के समक्ष था। "महावीर ने सिद्ध कर दिया था कि ज्ञान और उच्छेद (त्याग) का बल राजबल से कहीं उच्च और श्रेष्ठ है। इस तरह जब वैशाली के एक राजकुमार ने इतना बड़ा सम्मान प्राप्त कर लिच्छवि कुल का गौरव बढ़ा दिया तब स्वभावत: शाक्यकुल का सिद्धार्थ गौतम---जिसका कुल लिच्छवियों से श्रेष्ठ था—अपने ज्ञानबल तथा त्याग के द्वारा शाक्यकुल को श्रेष्ठ प्रमाणित कर देने के लिए कटिबद्ध हो, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं।"[169]

उपर्युक्त वस्तुस्थिति की तार्किक समीक्षा से यही फलित होगा कि गौतम बुद्ध एक संवेदनशील और महत्त्वाकांक्षी युवक थे। अपने व्यावहारिक जीवन में वे जहाँ चतुर्दिक् असुरक्षा की भावना से पीड़ित थे, वहीं दूसरी ओर चक्रवर्ती शासक (राजाओं का भी राजा) बनने की महत्त्वाकांक्षा, अथवा अदम्य लालसा, से युक्त थे। तत्कालीन परिस्थिति में उनकी इस विडम्बना का एक ही समाधान था, और वह यह कि योग साधना द्वारा ऋद्धि सिद्धि का बल प्राप्त करके लोगों के मन, बुद्धि एवं आत्मा पर शाश्वत शासन (धर्माज्ञा का अनुशासन) स्थापित करके अपने स्वप्न को साकार किया जा सकता है। इसी लक्ष्य की प्राप्ति के उद्देश्य से उन्होंने संन्यास लिया हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

गृहत्याग करके गौतम ने कोसल देश में पहुँचकर 'अनोमा' नदी के तट पर राजकुमार के वस्त्र त्याग दिये और काषाय वस्त्र पहनकर तथा केशों को काटकर प्रव्रज्या ले ली तत्पश्चात् वे उस क्षेत्र के तत्कालीन प्रसिद्ध तपस्वी 'आराड़ कालाम' के आश्रम पर पहुँचे। उनसे इन्होंने 'अकिंचन्यायतन' नाम की रूप समापत्ति की शिक्षा प्राप्त की। अश्वघोष ने बुद्धचरित[170] में आराड़ कालाम के उपदेश का सारांश दिया है, जो सांख्य दर्शन से साम्य रखता था। गौतम बुद्ध को कालाम के ज्ञान से पूर्ण संतोष न मिला, तब वे राजगृह गए। यहाँ मगधराज बिम्बिसार से उनकी भेंट हुई। यहीं उद्रक रामपुत्र का आश्रम था। गौतम ने उनसे 'नैव संज्ञानासंज्ञायतन' का ज्ञान प्राप्त किया, किंतु इससे भी उन्हें संतोष न हुआ। तब उन्हें ऐसा लगा कि बिना कठोर तपश्चर्या के आर्य ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः यहाँ से चलकर वे उरुवेला पहुँचे, जहाँ उन्हें, कौंडिण्या, वाप्य, भद्रिक, महानाम एवं अश्वजित् नामक पंचवर्गीय (पाँच के गुट में घूमने वाले) भिक्षु मिले। ये लोग उन सात दैवज्ञ ब्राह्मणों में से थे, जिन्होंने बुद्ध के परिव्राजक होने की भविष्यवाणी की थी।

उरुवेल के सेनानी नामक ग्राम में नैरंजना नदी के तटवर्ती रमणीय वन प्रदेश में बुद्ध ने प्रधान (तपश्चर्या) का अभ्यास किया। किंतु इस घोर तप से उन्हें कायाक्लेश, रोग और आत्मक्लेश के अतिरिक्त कुछ न मिला। तब उन्होंने सामान्य आहार ग्रहण करना प्रारम्भ कर दिया। इस पर गौतम को पथभ्रष्ट हुआ करार देकर पंचवर्गीय भिक्षु उन्हें छोड़कर ऋषिपतन चले गए। तत्पश्चात् एक घटना यह घटित हुई कि सेनानी ग्राम के कृषकपति की कन्या सुजाता ने, वटमूल में ध्यानमग्न सिद्धार्थ को वट वृक्ष का देवता समझकर, अपनी मनौती के अनुसार पकाया गया 'पायस' (खीर) का भोजन सोने के थाल में अर्पित किया। जिसमें से लिए गए 49 ग्रास गौतम बुद्ध के लिए सात सप्ताह का भोजन सिद्ध हुए, इससे उनमें एक अद्भुत शक्ति तथा स्फूर्ति का संचार हुआ।

अब उन्होंने इस भीष्म प्रतिज्ञा से आसन लगाया कि 'चाहे मेरा चर्म, हड्डी, नसें ही क्यों न शेष रहें, मेरा मांस-रक्त ही क्यों न सूख जाएँ, बिना सम्बोधि प्राप्त किये मैं इस आसन को न छोड़ूँगा।' इसी समय अपने विविध शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित 'मार' (कामदेव) ने अपने अनुचरों की सेना सहित समाधिस्थ गौतम बुद्ध पर आक्रमण किया। किंतु उन्होंने मार को पहचान लिया और तृष्णा, अरति तथा राग नामक उसकी दुहिताओं तथा विभ्रम, हर्ष और दर्प नामक उसके पुत्रों सहित उसे परास्त कर दिया। अपनी इस मार विजय के बाद गौतम बुद्ध 'मारजित्' और 'लोकजित्' कहे गए।

तत्पश्चात् इसी स्थान पर गौतम बुद्ध ने रात्रि के प्रथम याम में अपने पूर्व-जन्मों का ज्ञान प्राप्त किया, द्वितीय (या मध्यम) याम में दिव्यचक्षु प्राप्त किया और अंतिम याम में प्रतीत्यसमुत्पाद का ज्ञान प्राप्त किया। यही उनके द्वारा

प्राप्त 'अभिसम्बोधि' है, जो उनकी शोध का लक्ष्य था। यह 'त्रैविद्यता' ही बुद्ध की सर्वज्ञता है, और इसी अर्थ में वे सच्चे 'त्रैविद्य' (तेविज्ज) हैं। इसके बाद भगवान बुद्ध ने बोधिवृक्ष, अजपाल वटवृक्ष, मुचलिन्द नामक वृक्ष, राजायतन नामक वृक्ष एवं पुनःअजपाल वटवृक्ष के नीचे क्रमशः एक-एक सप्ताह तक विमुक्ति के सुख का अनुभव किया। इसी बीच उन्होंने तपस्सु एवं भल्लिक नामक दो बनजारों को उपासक बनाया। ये ही दो व्यक्ति सर्वप्रथम और दो वचनों से—बुद्धं शरणं गच्छामि और धर्मं शरणं गच्छामि—दीक्षित होने वाले हुए।

तदुपरांत ध्यानावस्थित बुद्ध के मन में वितर्क पैदा हुआ कि 'मैंने गम्भीर, दुर्द्धर्ष, दुर्ज्ञेय, शान्त, उत्तम, तर्क से अप्राप्य, निपुण पंडितों के द्वारा जानने योग्य इस धर्म को पा लिया है। आलयरत (कामसुखनिमग्न) जनता के लिए इदम्प्रत्ययता रूप प्रतीत्यसमुत्पाद अथवा निर्वाण दुर्बोध है। यदि मैं धर्म का उपदेश करूँ और लोग न समझें तो परिश्रम एवं आभासमात्र होगा।[171] उन्होंने आगे सोचा कि 'मुझे कठिनाई से प्राप्त हुए धर्म को प्रकाशित करना व्यर्थ है। रागद्वेष से अभिभूत (लोगों के लिए) यह धर्म सुबोध नहीं है। प्रतिस्रोतगामी, सूक्ष्म, गंभीर, दुर्बोध, अणु (धर्म) को रागरक्त एवं तमः स्कंध से आवृत (लोग) नहीं देखेंगे।[172]

धर्मोपदेश के प्रति भगवान बुद्ध के अनौत्सुक्य को देखकर सहांपति ब्रह्मा प्रकट हुए और उन्होंने प्रार्थना की कि—"भगवान! धर्म उपदेश करें, सुगत! धर्म उपदेश करें, (संसार में) अल्प मतवाले प्राणी भी हैं जो धर्म न सुनने के कारण विनष्ट हो जाएँगे; अर्थात् जगत् में विचरण करके धर्म का प्रचार करें, जानने वाले भी मिलेंगे।"

ब्रह्मा की उक्त प्रार्थना को स्वीकार कर तथागत ने "अपना निर्वाण प्रवेश लोकानुकम्पावश स्थगित कर दिया।"[173] और धर्मोपदेश करने का निश्चय किया। डॉ० नलिनाक्षदत्त के अनुसार धर्मोपदेश करने के प्रति बुद्ध के अनौत्सुक्य और ब्रह्मा द्वारा उनके संशय के निवारण-सम्बन्धी उक्त आख्यान का तात्पर्य इतना ही है कि, "बुद्ध ने (स्वयं ही) यह निर्णय किया कि वे अतर्क्य निर्वाण के विषय में मौन धारण करेंगे और केवल मार्ग की देशना (उपदेश) करेंगे।"[174] यह सच है कि महावीर की तरह बुद्ध ने भी आचार मीमांसा के उपदेश को ही विशेष महत्त्व दिया है, किंतु हमारे विचार से उक्त आख्यान का तात्पर्य यह जताना भी है कि "हम तो आप्तकाम हैं, अतः हमारा धर्मोपदेश का कार्य किसी अतृप्त लालसा का उपक्रम न माना जाए। हमारी इस प्रवृत्ति में ईश्वराज्ञा का पालन और लोकहित साधन ही मुख्य कारण हैं।"

जो हो, भगवान बुद्ध ने जब अपने ज्ञानोपदेश के अधिकारी व्यक्तियों के विषय में विचार किया तो आराड़ कालाम और उद्रक रामपुत्र उन्हें योग्य पात्र लगे, किंतु वे उस समय इस दुनिया में न थे। तब दूसरा विचार उन्होंने कौंडिन्यादि अपने पुराने साथियों, पंचवर्गीय भिक्षुओं, के विषय में किया तो ध्यान-

चक्षुओं से देखा कि वे इस समय वाराणसी के पास ऋषिपत्तन (सारनाथ) में हैं। अतः गौतम बुद्ध ने उरुबेला से बनारस की ओर प्रस्थान किया। मार्ग में उन्हें 'उपक' नामक आजीवक मिला, जिसे उपदेश देने का गौतम बुद्ध का प्रयत्न निष्फल रहा। जब वे ऋषिपत्तन के मृगदाव वन में पहुँचकर पंचवर्गीय भिक्षुओं से मिले तो पहले तो उन्हें भी बुद्ध के बुद्धत्वलाभ में संदेह हुआ, किन्तु बाद में वे उनके व्यक्तित्व से अभिभूत हुए।

ऋषिपत्तन-मृगदाव (सारनाथ) में भगवान बुद्ध ने कौडिन्यादि पंचवर्गीय भिक्षुओं को मध्यम प्रतिपदा, चार आर्य सत्य और आर्य अष्टांगिक मार्ग—जिस पर आगे प्रकाश डाला जाएगा– का जो उपदेश दिया वही प्रथम 'धर्मचक्र प्रवर्तन' कहा गया है।

ध्यातव्य होगा कि बुद्ध ने 29 वर्ष की अवस्था में प्रव्रज्या ली थी, छः वर्ष तक तप किया था, अतः उन्हें 35 वर्ष की अवस्था में सम्यक् सम्बोधि प्राप्त हुई थी। 80 वर्ष की अवस्था में मल्ल गणतंत्र की राजधानी कुशीनगर में दो शाल वृक्षों के नीचे, 483 ई० पूर्व की बैसाखी पूर्णिमा के दिन उन्होंने महापरिनिर्वाण में प्रवेश किया, अर्थात् देह त्याग दिया। बोधिप्राप्ति से महापरिनिर्वाण की प्राप्ति तक अर्थात् जीवन के 45 वर्षों तक, प्रत्येक वर्ष के चातुर्मास को छोड़कर भगवान बुद्ध मगध, कोसल एवं उनके आसपास के क्षेत्रों में सतत भ्रमणशील रहकर धर्मोपदेश करते रहे। इस प्रकार उनकी जीवनचर्या पूर्वोक्त चरकाचार्यों से किसी प्रकार भिन्न नहीं कही जा सकती।

गौतम बुद्ध की उपर्युक्त संक्षिप्त जीवनी को हमने यद्यपि देव, गंधर्व, यक्ष, नाग, शक्र (इन्द्र), अप्सरा, तुषित लोक, प्रातिहार्य प्राकट्य आदि से समन्वित अतिमानवीय तत्त्वों एवं अप्रतीतिकर घटनाओं से यथासंभव असम्पृक्त रखने का प्रयत्न किया है, तथापि इसके सर्वांशतः ऐतिहासिक होने का दावा नहीं किया जा सकता। कुल मिलाकर देखने पर यही प्रतीतिकर लगता है कि बौद्ध लेखकों ने शास्ता के जीवन को उनकी धर्मदेशना के अनुरूप नाट्यात्मक रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। यथा—बुद्ध को आगे चलकर 'धर्मचक्री' बनना है, इसलिए बालपन से उनमें चक्रवर्ती के लक्षणों की कल्पना की गई है। वृद्ध, रोगी और मृतक का दर्शन 'दुःख' नामक 'आर्य सत्य' का नाटकीय रूप है। प्रव्रजित, (संन्यासी) व्यक्ति का दर्शन प्रव्रज्या का ही नाटकीय रूपक है। विश्वामित्र, आराड़ कालाम एवं उद्रक रामपुत्र के ज्ञान की अपूर्णता की घोषणा और स्वप्रयत्न द्वारा बोधिप्राप्ति का निश्चय, योग साध्य स्वसंवेद्य ज्ञान की तुलना में पुस्तकीय एवं श्रुत ज्ञान की व्यर्थता का ही रूपक है, उरुबेला की तपस्या की व्यर्थता श्रावस्ती के आजीवक एवं वैशाली के निग्रंथों की तपस्या की अनुपयुक्तता का प्रतिपादक रूपक है, अन्यथा बोधिप्राप्ति के अवसर पर स्वयं बुद्ध द्वारा चार प्रकार के ध्यानों की यौगिक साधना का निरूपण किया गया है, 'काम विजय' आप्तकाम होने या तृष्णा के क्षय का ही रूपक है। कृच्छ्र साधना को त्यागकर

भोजन ग्रहण करना 'मध्यम प्रतिपदा' के अनुरूप है। धर्मोपदेश हेतु सहांपति ब्रह्मा की प्रार्थना का आयोजन सम्प्रदाय प्रवर्तन के कर्म को निष्काम कर्म की संज्ञा देने का उपक्रम मात्र है। यक्ष, नाग, स्वर्ग, नरक, नदियों, वृक्षों, तीर्थस्थलों की महत्ता आदि तत्कालीन लोकधर्म को निम्नस्तर पर अपनी मान्यता देने का उपक्रम है—इत्यादि। सुजाता और उसके पायस ग्रहण के आख्यान को कुछ विद्वान गौतम बुद्ध द्वारा उस वाममार्गी तांत्रिक साधना की स्वीकृति का द्योतक मानते हैं, जो सुख पूर्ण, सरल और शीघ्र सिद्धिप्रद कही जाती है। मैं इस विचार को असंगत नहीं मानता। अतः यह कहा जा सकता है कि 'ललितविस्तर' एवं 'बुद्धचरित' आदि ग्रंथों में निरूपित बुद्ध का जीवन काल्पनिक अधिक और ऐतिहासिक कम है। वस्तुतः वह सिद्धार्थ (गौतम बुद्ध) का जीवन चरित्र न होकर महायानियों के किसी भी बोधिसत्त्व के लिए अनुकरणीय आदर्श जीवन की रूपरेखा है।

बुद्ध का प्रचार क्षेत्र—पालि त्रिपिटकों में बुद्ध भगवान की चारिकाओं—धर्म के प्रचार हेतु की गई पदयात्राओं—के जो वर्णन मिलते हैं, उनके अनुसार पहले पाँच वर्षों में वे बनारस, राजगृह, कपिलवस्तु, श्रावस्ती एवं वैशाली गए थे। राहुल सांकृत्यायन के अनुसार बुद्ध का धर्मोपदेश विशेषतः कासी से कुरुक्षेत्र और हिमालय से विन्ध्याचल के बीच के प्रदेश में ही हुआ। बुद्ध के इसी कार्य-क्षेत्र को पालि त्रिपिटकों में 'मज्झिमैसु जनदेसु' अर्थात् मध्यदेश कहा गया है। कुल मिलकार उनकी पदयात्राओं के स्थान पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार राज्य की सीमा में पड़ते हैं।

साहित्य संकलन—रहस्यमार्गी योग साधकों की इस परम्परा का गूढ़ ज्ञान या तो गुरुमुखैकगम्य अर्थात् मौखिक होता था, या फिर साधक के स्वप्रयत्न से प्राप्त स्वसंवेद्य होता था। लिखित, पठित एवं श्रुत ज्ञान इनकी साधना में अनुपयोगी माना जाता था। सत्य, अहिंसा आदि की जिस सामान्य आचार-मीमांसा का ये उपदेश देते थे उसे भी लिखित रूप में रखना 'परिग्रह' माना जाता था। अतः समूचा धर्मोपदेश मौखिक ही रहता था। बौद्ध भी इस परम्परा के अपवाद नहीं थे।

बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद, उनके धर्मोपदेश को सुरक्षित रखने के उद्देश्य से जो धर्म संगतियाँ बुलाई गईं उनमें धर्म (बुद्ध वाणी) एवं विनय (संघ के नियम) आदि का संगायन ही किया गया, उन्हें लिपिवद्ध करने का प्रयत्न नहीं किया गया। इस संगायन में भी न तो बुद्ध द्वारा प्रयुक्त भाषा का कोई महत्त्व था, न शब्दों का; अर्थात् उनके उपदेशों के 'तात्पर्य' या 'अर्थ' की सुरक्षा ही पर्याप्त समझी गई।

बुद्ध के परिनिर्वाण के तीन या चार माह बाद जो प्रथम संगति बुलाई गई उसमें सुत्त (या धर्म) और विनय का ही संगायन हुआ था। इससे प्रकट है कि प्रारम्भ में बुद्ध के उपदेश के ये ही दो विभाग थे। तृतीय संगति में 'अभिधर्म' का भी संगायन किया गया, और इस प्रकार बुद्ध के उपदेश को सुत्तपिटक,

विनयपिटक एवं अभिधम्म पिटक नामक त्रिपिटकों में विभक्त किया गया। 'त्रिपिटक' बौद्ध वाङ्मय के प्राचीनतम प्रामाणिक ग्रंथ माने गये हैं। इन्हें तृतीय संगति के बाद अशोक के पुत्र महेन्द्र द्वारा लंका में ले जाया गया और वहाँ के राजा वट्टगामणि के शासनकाल (70 ई० पू० से 20 ई० पू० के मध्य) में लिपिबद्ध कराया गया; अर्थात् बुद्ध के परिनिर्वाण के 400 वर्ष बाद त्रिपिटकों को सर्वप्रथम लिपिबद्ध किया गया। इस स्थिति में इनमें बुद्ध का उपदेश क्या है ? और कितना है ? तथा अन्यों का योगदान कितना है ? इसका कोई निश्चय आज नहीं किया जा सकता। त्रिपिटकों में जो साहित्य संकलित है, और पालि, गाथा, संस्कृत, चीनी, तिब्बती आदि भाषाओं में जो साहित्य पाया गया है उसके विवरण के लिए यहाँ स्थान का अभाव है।[175]

प्रभाव निरूपण-- भगवान बुद्ध की सर्वज्ञता एवं उनके ईश्वरत्व में श्रद्धावान लेखक उन पर किसी का प्रभाव सिद्ध करने के पक्ष में नहीं देखे जाते ! बौद्ध वाङ्मय में भी कुछ इसी प्रकार की युक्ति-प्रयुक्ति अपनाई गई हैं। यथा— सिद्धार्थ गौतम बालक के रूप में जब विश्वामित्र की 'लिपिशाला' में प्रविष्ट हुए तो उन्होंने पाया कि गौतम पहले से ही सब कुछ जानता है। विश्वामित्र की लिपि-शाला में पढ़ने जाना तो गौतम द्वारा लोकव्यवहार का निर्वाह मात्र था। आध्यात्मिक ज्ञान एवं साधना के क्षेत्र में भी आराड़ कालाम एवं उदक राम-पुत्त के ज्ञान व साधना को उन्होंने अपूर्ण घोषित कर दिया। जातक कथाएँ यह सिद्ध करती हैं कि बोधिसत्व के रूप में गौतम ने सैकड़ों बार विभिन्न योनियों में, विभिन्न स्थिति-परिस्थितियों में जन्म लेकर लौकिक एवं पारलौकिक समस्त ज्ञान को आत्मसात कर लिया था। बोधिप्राप्ति के रूप में अद्‌भुत तीन विद्यायों में से प्रथम इन्हीं के पूर्वजन्मों की स्मृति रूप है। इस प्रकार उनका समस्त ज्ञान स्व-अर्जित है, उन्हें किसी अन्य से कुछ ग्रहण करने की आवश्यकता ही नहीं थी, उन्होंने तो धर्म की पुनर्स्थापना हेतु तुषित नामक स्वर्ग से, स्वेच्छा से, अवतरित होकर श्वेत हाथी के रूप में मायादेवी के गर्भ में प्रवेश किया था, और उनकी बाईं कुक्षि से जन्मे थे—अत: वे अनौपपादिक थे, सामान्य मनुष्य नहीं। ऐसी मान्यताएँ मुख्य रूप से महायानियों की हैं।

कहना न होगा कि इस प्रकार की अवधारणाओं से प्रभावित होने पर सत्य को नहीं पाया जा सकता। सत्य को तभी पाया जा सकता है कि जब यह मान लिया जाए कि गौतम सिद्धार्थ एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे, और एक सामान्य व्यक्ति के रूप में ही जन्मे थे। अपने उद्यम (तप-त्याग) से वे बाद में चाहे भगवान बनें, चाहे और कुछ। हम यहाँ इसी तथ्य को स्वीकार करके उन पर पड़े उपनिषद, सांख्य, योग आदि के प्रभाव का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करेंगे।

उपनिषदों का प्रभाव—जैसा हम कह चुके हैं सामान्य रूप से यही माना जाता रहा है कि सरल, सुलभ आचारमीमांसामूलक जैन एवं बौद्ध धर्मों का प्रादुर्भाव गूढ़ चिंतनपरक उपनिषद धर्म की प्रतिक्रिया में हुआ था। अतः वे

उपनिषद् धर्म से असम्पृक्त अथवा उसके विरोधी हैं। बौद्धों के विषय में तो एक विशेष धारणा यह भी है कि जहाँ एक ओर उपनिषद् आत्मवाद का प्रतिपादन करते हैं, वहाँ बुद्ध अनात्मवादी हैं। अर्थात् उन्होंने शाश्वत आत्मा में विश्वास को ही समस्त बुराइयों का कारण मानकर उसका खंडन और एतद्विरुद्ध अनात्मवाद का प्रतिपादन किया है।[176] किंतु जैसा आगे स्पष्ट हो जाएगा, बुद्ध उसी अर्थ में अनात्मवादी हैं, जिस अर्थ में शंकराचार्य मायावादी हैं। तात्पर्य यह है कि उपनिषदों के आत्मवाद और बुद्ध के अनात्मवाद में कुछ अंतर अवश्य है, किंतु वैसा विरोध नहीं है जैसा इन दो शब्दों के अभिधेयार्थ में लक्षित है। अत: मेरे विचार से उपनिषदों से उनके प्रभावित होने में कोई वैचारिक असंगति नहीं है। इतना ही नहीं, निवृत्ति मार्ग की भूमिका उभयत्र है, अत: दोनों के आचार-विचारगत वैशिष्ट्यमूलक यत्किंचित् अंतर के बावजूद दोनों में साम्य का पाया जाना जितना प्रकृत है उतना विरोध एवं वैषम्य नहीं।

मेरे विचार से बुद्ध के उपदेशों पर उपनिषदों का व्यापक प्रभाव है, किंतु यहाँ इसकी विस्तृत समीक्षा सम्भव नहीं है, अत: कतिपय प्रमुख विषयों में लक्षित साम्य अथवा ऐक्य को ही लक्षित किया जाएगा—

बृ० उप० (2/3/1) में, परस्पर विरोधी लक्षणों से युक्त, ब्रह्म के दो रूप बताए गए हैं--मूर्त और अमूर्त। प्रथम को मूर्तिमान, मर्त्य, स्थित एवं सत् और द्वितीय को एतद्विपरीत, अमूर्तिमान, अमृत, अस्थित एवं त्यत् कहा गया है—'द्व वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च मर्त्यं चामृतं च स्थितं च यच्च सच्च त्यच्च।' आगे मूर्त एवं अमूर्त के पृथक्-पृथक् निरूपण में जो कुछ कहा गया है उसका सारांश यह है कि प्राण और आकाश अमूर्त हैं, एतदतिरिक्त जो कुछ भी है वह सब मूर्त है— (दे० बृ० उप० 2/3/2-4)। आगे कहा गया है कि प्राण और देह के अंतर्गत जो आकाश है वह अमूर्त और अमृत हैं— प्राणश्च यश्चायमन्तरात्मन्नाकाश एतदमृतम्॥ (बृ० उप० 2/3/5) प्राण और आकाश से भिन्न जो कुछ है वह सब मूर्त एवं मर्त्य है (दे० बृ० उप० 2/3/3-4)। यद्यपि प्रस्तुत प्रसंग में ऐसा स्पष्ट कथन नहीं है, किंतु अनुमेय है कि मूर्त एवं अमूर्त में कार्य-कारण सम्बन्ध है। अर्थात् मूर्त का लय अमूर्त में होता है।

बुद्ध के उपदेशों में धर्मों के दो भेद किए गए हैं—संस्कृत धर्म और असंस्कृत धर्म। 'संस्कृत का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ हैं -- सम् = सम्भूय:, अन्योन्यमपेक्ष्य कृता: जनिता इति संस्कृता:। अर्थात्—आपस में मिलकर, एक-दूसरे की सहायता से उत्पन्न होने वाले धर्म। संस्कृत धर्म हेतु प्रत्यय से उत्पन्न होते हैं। अतएव वे अस्थायी, अनित्य, गतिशील तथा आस्रव (रागादिमलों) से संयुक्त होते हैं। इसके विपरीत उन धर्मों को असंस्कृत कहते हैं जो हेतु प्रत्यय से उत्पन्न नहीं होते, अतएव वे स्थायी, नित्य, गतिहीन तथा अनास्रव होते हैं।'[177] संस्कृत और असंस्कृत धर्मों का विस्तृत विवेचन यहाँ अनावश्यक है। संक्षेप में, असंस्कृत धर्म दो हैं— निरोध (या निर्वाण) और आकाश, शेष जो कुछ भी है वह सब संस्कृत

धर्मों के अंतर्गत परिगणित है।

प्रकट है कि बृ॰ उप॰ के अनुसार अमूर्त ब्रह्म हैं—प्राण एवं आकाश, और बुद्ध के असंस्कृत धर्म हैं –निरोध तथा आकाश। 'आकाश' उभय सामान्य है।

छा॰ उप॰ (1/9/1) में कहा गया है कि ये समस्त भूत आकाश से ही उत्पन्न होते हैं। आकाश में ही लय को प्राप्त होते हैं, आकाश ही इनसे बड़ा है, अत: आकाश ही इनका आश्रय है। आकाश को ही सर्वाश्रय सिद्ध करने वाले भगवान बुद्ध के दो सम्वाद इस प्रकार हैं—

"अयं आनंद महा पठवी उदके पतिट्ठिता। उदकं वातो पयिट्ठितं, वातो आकासट्ठो होति।"

पृथ्वी भो गौतम कुत्र प्रतिष्ठिता। पृथ्वी ब्राह्मण अब्भमंडले प्रतिष्ठिता। अब्भमण्डलं भो गौतम कुत्र प्रतिष्ठितं। वायो प्रतिष्ठितं। वायो भो गौतम कुत्र प्रतिष्ठितं। अति सरसि महाब्राह्मग अतिसरसि महाब्राह्मण। आकाशं ब्राह्मण अतिष्ठितं अनालंबन इति विस्तर:।[178]

तात्पर्य स्पष्ट है कि पृथ्वी जल पर प्रतिष्ठित है, जल वायु पर, और वायु आकाश पर। आकाश किस पर प्रतिष्ठित है? यह अतिप्रश्न है, क्योंकि आकाश स्व प्रतिष्ठित और स्वावलम्बित है। उक्त द्वितीय सम्वाद बृ॰ उप॰ के याज्ञवल्क्य-गार्गी सम्वाद की स्मृति को पुनर्जीवित कर देता है। 'उदान' (पाटिलिगामिय वग्ग) में संस्कृत धर्मों का व्युपशम असंस्कृत धर्मों में होने की बात कही गई है। इससे संस्कृत और असंस्कृत धर्मों के मध्य कार्य-कारण सम्बन्ध निर्धारित होता है। इससे प्रकट है कि बुद्ध आकाशवादी उपनिषत्कारों[179] से प्रभावित हैं और यह आकाशवाद 'असद्वाद' से बहुत दूर या विपरीत नहीं है।

छान्दोग्योपनिषद् (7/23/1 तथा 7/24/1) में आया है कि—'नाल्पे सुखमस्ति।' 'यदल्पं तन्मर्त्यम्।' अर्थात् अल्प (अनित्य) में सुख नहीं है। जो अल्प है वह मर्त्य हैं। भगवान बुद्ध का कथन है कि– यदनिच्चं तं दुक्खं यंदुच्खं तदनत्ता (संयुत्त नि॰ 21/2) अर्थात् जो अनित्य है वह (सब) दु:ख है, और जो दु:ख है वह (सब) अनात्म (आत्मा-रहित) हैं। कहना न होगा कि अनित्य पदार्थों के विषय में दोनों के मन्तव्य में कोई अंतर नहीं है।

उपनिषत्कारों के कथन हैं कि आत्मा अथवा ब्रह्मभाव जन्म, जरा, रोग एवं मृत्यु के दु:खों से रहित है– न पश्यो मृत्यं पश्यति न रोगम् नोत दु:खतां (छा॰ उप॰ 7/26/2), न तस्य रोगो न जरा न मृत्यु—(श्वेता॰ उप॰ 2/12) बुद्ध भगवान कहते हैं इदं खो पन भिक्खवे दुक्ख अरिय सच्चं। जाति पि दुक्खा, जरापि दुक्खा, मरणाम्पि दुक्खं··· इत्यादि। कहना अनावश्यक है कि उपनिषत्कारों व भगवान बुद्ध दोनों का लक्ष्य इन्हीं दु:खों से मुक्ति पाना था।[180]

उपनिषदों का मोक्ष और बौद्धों का निर्वाण - दोनों, जीवात्मा की, जन्म से पूर्व की उस स्थिति के द्योतक हैं कि जव उसका नामरूपात्मक अस्तित्व नहीं था अथवा अज्ञात था। उपनिषदों के अनुसार जैसे निरंतर बहती हुई नदियाँ अपने-

अपने नाम व रूप को खोकर समुद्र में विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार (मरकर) विद्वान अपने नाम-रूप से मुक्त होकर परात्पर दिव्य पुरुष को प्राप्त हो जाता है—(दे० मुंडक उप० 3/2/8, प्रश्न० 6/5)। इस स्थिति में जीवात्मा की अपनी स्वतंत्र सत्ता नहीं रहती—न प्रेत्य संज्ञास्तीति—(बृ० उप० 2/4/12)। और तब उसका पुनरावर्तन नहीं होता—न च पुनरावर्तते—(छा० उप० 8/15/11)। बौद्धों (हीनयानो) के निर्वाण में भी साधक के नाम-रूप का अशेष-क्षय हो जाता है—एत्थ नामं च रूपं च असेसमुरुज्झति—(संयुत्त०)। उसी प्रकार जैसे कि दीपक की ज्वाला बुझकर आकाश में अदृश्य हो जाती है। और तब उपादानरहित होने पर उसका पुनर्जन्म नहीं होता—अनुपादा पुब्भवो न होति (उदान 30), ना परं इत्थत्ता या ति पजानाति (दीघ० सामञ्ञफलसुत्तं)।[181] बौद्धों के निर्वाण के दो रूप—सोपधिशेष निर्वाण और निरुपधिशेष निर्वाण क्रमशः उपनिषदों की जीवन्मुक्ति एवं विदेहमुक्ति के समान हैं। छा०उप० (7/26/1) में जिसे आत्मा का तिरोभाव और मुंडक० उप० (3/2/7) में जिसे पंद्रह (15) कलाओं का तिरोभाव कहा गया है वह बौद्धों के निरोधस्वरूप निर्वाण के समतुल्य है।

छा० उप० (5/10/9) के अनुसार सुवर्ण चोर, मद्यप, गुरुपत्नीगामी, एवं ब्रह्मघाती—ये चार और पाँचवें इनका जो साथ दे वे पतित होते हैं। यह पाँचवाँ यदि मृषावादी हो तो बुद्धोपदिष्ट अहिंसा, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, सत्य भाषण एवं मद्य निषेध पंचशील का प्रारूप हमें उक्त कथन में मिल जाता है।

भगवान बुद्ध ने अपनी तत्त्वमीमांसा स्कंध, आयतन एवं धातु नामक तीन विभागों में प्रस्तुत की है। आयतन छः हैं—पाँच इंद्रियाँ और मन। रूपगंधादि इंद्रियों के पाँच विषय और मन के विषय धर्म को मिलाकर आयतनों की संख्या बारह भी कही गई है। जो हो, उक्त छः आयतनों को बुद्ध ने सदोष एवं अनित्य बताया है। छा० उप० (1/2/1-7) तथा बृ० उप० (1/3/1-7) में निरूपित आख्यान में प्राण, वाक्, चक्षु, श्रोत्र एवं मन को असुरों द्वारा पापविद्ध कहा गया है। बुद्धोपदिष्ट जिस काया आयतन का उक्त आख्यान में समावेश नहीं है, वह बृ० उप० (3/2/3-9) में मिल जाता है। तदुपरांत बृ० उप० (2/4/1) में भी बुद्धोपदिष्ट षडायतन मिल जाते हैं। साथ ही उपनिषदों के पंचकोष और बुद्ध के पंचस्कंध भी कुछ साम्यमूलक भूमिका लिए हुए हैं।

मज्झिम निकाय में प्रतीत्य समुत्पाद के द्वादश अंगों में, अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति एवं जरामरण की गणना की गई है। छा० उप० के अध्याय सात तथा बृ० उप० (6/2/2-4) में निरूपित धूम्रयान का गतिक्रम, पुनर्जन्म, मंथन क्रिया, संतानोत्पत्ति विज्ञान, बृ० उप० (6/2) में वर्णित पंचाग्नियों में से योषाग्नि का वर्णन तथा ऐत० उप० (2/1) में निरूपित पुरुष के तीन जन्म का विश्लेषण करके उक्त द्वादश अंगों को बड़ी सरलता से अलग किया जा सकता है।

'तृष्णा' की उत्पत्ति के विषय में भगवान बुद्ध ने कहा था—भिक्षुओ ! तीन के एकत्रित होने पर गर्भधारण होता है —(1) माता-पिता एकत्रित होते हैं, (2) माता ऋतुमती होती है, और (3) गंधर्म उपस्थित होता है।—माता के गर्भ में विज्ञान प्रवेश करता है। – तब माता गर्भ को नौ या दश मास के बाद जनती है। उसे अपने लोहित दूध से पोषती है। तब वह बालक खिलौने से खेलता है। और बड़ा होने पर वह रूपरसगंधादि पाँच विषयभोगों का सेवन करता है। उनसे रागबद्ध होकर वह तीन प्रकार की वेदना का अनुभव करता है, उसका अभिनंदन करता है। उनके द्वारा किए गए वेदना के अभिनंदन से तृष्णा उत्पन्न होती है।[182] कहना न होगा कि उपनिषत्कारों ने इसे ही 'संतानोत्पत्ति-विज्ञान' (दे० बृ० उप० 6/4)। नाम देकर प्रस्तुत किया है।

कठोपनिषद् (1/26, 28) में नचिकेता कहता है, हे यमराज ! ये (भौतिक) सुख (भोग) कल रहेंगे या नहीं ? इस प्रकार के हैं और सम्पूर्ण इंद्रियों के तेज को जीर्ण करनेवाले हैं। यह सारा जीवन भी अत्यल्प ही है। ऐसा कौन जराग्रस्त विवेकी मनुष्य होगा जो शारीरिक वर्ण के राग से प्राप्त सुखों को (अस्थिर) देखकर भी अतिदीर्घ जीवन में सुख मानेगा—(चाहेगा) ! नचिकेता की इन उक्तियों में बुद्ध के 'सर्वं क्षणिकं' एवं 'सर्वं दुक्खं दुक्खं' का तात्पर्य स्पष्टतः लक्षित है।

कठ उप० (25/15) में कहा गया है—न तत्र सूर्यो भाति न चंद्र तारकं नेमा विद्युतो भांति कुतऽयमग्निः।' यही बात उदान (सुत्त, 10) में कही गई है न तत्थ सुक्का जोतन्ति आदिच्चो नप्पकासति। न नत्थ चंद्रमा भाति तमो तत्थ न विज्जति। बृ० उप० (4/3/6) में कहा गया है कि—आत्मैवास्य ज्योतिर्भवतोत्यात्मनैवायं ज्योतिषास्ते पकल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीति; अर्थात् 'उस समय आत्मा ही उसकी ज्योति होती है, आत्मा की ज्योति से ही वह आता, जाता और कर्म करता है।' बृ० उप० का यह कथन बुद्ध के इस कथन के समतुल्य है कि भिक्षुओ ! आत्मदीप होकर विहरो, आत्मशरण, अनन्य शरण होकर विहरो – अत्तदीपा विहरथ अत्तसरणा अनञ्ञसरणां (संयुक्त, 45/2/3)

संक्षेप में, जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, तथ्य यही है कि उपनिषत्कारों एवं बुद्ध की धर्मदेशना में निवृत्ति मार्गी सामान्य भूमिका है, अतः उनमें संन्यास, ब्रह्मचर्य, अनित्यतावाद, दुःखवाद, नैष्कर्म्य, पुनर्जन्मवाद, गुरुवाद, तपस्या, अनीश्वरवाद, विमुक्ति जैसे अनेक विषयों में समान विचारों का होना स्वाभाविक है। डॉ० गोविदचंद्र पांडेय, डॉ० भरतसिंह उपाध्याय, डॉ० राधाकृष्णन प्रभृति ने बुद्ध पर उपनिषदों के प्रभाव को अनेक रूपों में सिद्ध करने के प्रयत्न किए हैं। प्रस्तुत लेखक इस विषय में आचार्य कुमारिल के इस वक्तव्य को एक प्रामाणिक मंतव्य के रूप में स्वीकारता है -- विज्ञानमात्रक्षणभंग नैरात्म्यवादानामः उपनिषत्प्रभवत्वं विषयेष्वात्यन्तिकं रागं विनिवर्ययितुमित्युपपन्नं सर्वेषां प्रामाण्यम्॥ (तंत्र वार्तिक)। अर्थात् विज्ञानवाद, क्षणभंगवाद और अनात्मवाद

उपनिषदों से उत्पन्न हुए हैं, और उनका उद्देश्य रागवृत्ति की निवृत्ति ही है।

सांख्य का प्रभाव—सांख्य और बुद्ध के तत्त्व चिंतन में लक्षित वैषम्य और सांख्याचार्य अराड़ कालाम के ज्ञान को बुद्ध द्वारा अकृत्स्न अर्थात् अपूर्ण बताने आदि को आधार बनाकर बुद्ध के ईश्वत्व एवं सर्वज्ञत्व में आस्था रखनेवाले आधुनिक विद्वान् यह प्रतिपादित करते हैं कि बुद्ध के चिंतन एवं साधना मार्ग पर सांख्य के प्रभाव की सम्भावना नहींवत् है। किंतु अश्वघोष (प्रथम शती) द्वारा प्रणीत 'सौंदरनंद' एवं 'बुद्धचरित' के अध्ययन से एक दूसरा ही चित्र उभर कर सामने आता है। 'सौंदरनंद' (1/5) के अनुसार सांख्यप्रणेता कपिल का आश्रम हिमालय के पार्श्व में स्थित था। इक्ष्वाकुवंशी कुछ राजकुमार वहाँ आकर बस गए (वही, 1/18)। जिन्होंने कपिल गौतम को अपना उपाध्याय बनाया, और उसके गोत्र के आधार पर वे भी 'गौतम' कहे गए—

तेषां मुनिरुपाध्यायो गौतमः कपिलोऽभवत्।
गुरुगोत्रादतः कौत्सास्ते भवन्ति स्म गौतमाः ॥वही 1/22

यह क्षेत्र शाकवृक्षों से भरपूर था अतः वे इक्ष्वाकुवंशी राजकुमार 'शाक्य' कहे गए—(वही 1/24)। उनके द्वारा यहाँ पर बसाए गए नगर को गुरु के नाम के आधार पर 'कपिलवस्तु' कहा गया—(वही, 1/57)। शाक्य जाति के, इक्ष्वाकुवंशी एवं गौतम तोत्रीय इन्हीं क्षत्रियों के वंश में आगे चलकर शुद्धोदन तथा उनके पुत्र सिद्धार्थ का आविर्भाव हुआ। अर्थात् कपिल गौतम मुनि ही शाक्य जाति के आदिगुरु थे, और सिद्धार्थ इसी परम्परा से सम्बद्ध थे।

'बुद्धचरित' (12/67/में सांख्य प्रणेता कपिल मुनि को 'प्रतिबद्ध' कहा गया है– सशिष्यः कपिलश्चेह प्रतिबुद्धरिति स्मृतः ॥ इस ग्रंथ में अराड़ कालाम को बुद्ध का प्रथम गुरु बताया गया है और कहा गया है कि अराड़ कालाम ने बुद्ध के प्रति जो उपदेश किया था उसी का अनुसरण करके कपिल, जैगीषव्य, जनक एवं बुद्ध पाराशर जैसे सांख्याचार्यों ने मोक्ष-लाभ किया था। इससे प्रकट है कि अराड़-कालाम सांख्याचार्य थे। इन्होंने बुद्ध के प्रति जो उपदेश किया था वह बुद्ध चरित के 'अराड़दर्शनो नाम' नामक बारहवें सर्ग में दिया गया है। यह 'अराड़ दर्शन' है तो सांख्य के अनुरूप, किंतु एक तो अश्वघोष ने अपने इस संकलन के स्रोत का उल्लेख नहीं किया है, दूसरे इसमें पंचभूत, अहंकार, बुद्धि तथा अव्यक्त की प्रकृति, और विषयों, इंद्रियों एवं मन को विकार कहा गया है जबकि सांख्य कारिकाओं के अनुसार मात्र —'अव्यक्त' ही प्रकृति है, और शेष विकार है। इस प्रकार अराड़ के उपदेश और वर्तमान सांख्यकारिकाओं के मंतव्यों में कुछ अंतर भी पाया जाता है। अतः अराड़ दर्शन की प्रामाणिकता में संदेह किया जाता है। किंतु इस विषय में कोई संदेह नहीं है कि सांख्यमत बुद्ध के आविर्भाव से बहुत पहले का है। उसकी एक सुदीर्घ परम्परा, रही है। उपदेष्टा भेद से उसके मूलभूत उपदेश में, कुछ सुधार भी होते रहे होंगे। अतः सम्भव है

कि ईश्वरकृष्ण (तृतीय शती) कृत 'सांख्य कारिका' के पूर्व उसका वही अथवा वैसा ही रूप रहा हो जैसा कि 'बुद्ध चरित' में निरूपित है।

उपर्युक्त तथा अन्य स्रोतों से उपलब्ध सामग्री के अवलोकन से यही प्रतीत होता है कि कपिल और बुद्ध के प्रादुर्भाव तथा उनके उपदेशों के प्रचार का न केवल क्षेत्र एक ही है, अपितु दोनों की परम्परा भी एक ही है। अतः दोनों का चिंतनगत वैषम्य उनके वैशिष्ट्य का प्रतिपादक है, परम्परा भेद का द्योतक नहीं। दोनों के ज्ञानमार्गी, मोक्षमार्गी, निवृत्तिमार्गी होने में संदेह नहीं है। इस स्थिति में बुद्ध का सांख्य से प्रभावित होना जितना स्वाभाविक है, उससे अप्रभावित रहना उतना ही अस्वाभाविक है।

सांख्य (कारिका 55) के अनुसार जरामरणकृत दुःखों को चेतन पुरुष उस समय तक प्राप्त होता है, जब तक कि लिंग शरीर से निवृत्त नहीं हो जाता—'तत्र जरामरणकृतं दुःखं प्राप्नोति चेतनः पुरुषः। लिंगस्याविनिवृत्तेस्तस्माद् दुःखं स्वभावन।' सांख्य (सूत्र 6/7) के अनुसार ये दुःख सर्वव्यापी या सर्वसामान्य हैं—न कुत्रापि कोऽपि सुखीति। और इन दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति ही विवेकशील व्यक्ति के जीवन का लक्ष्य है – अत्यंत दुःख निवृत्याकृतकृत्यता—(सांख्य प्रवचन सूत्र 6/5)। जैसा हम आगे देखेंगे बुद्ध के अनुसार भी जीवन का लक्ष्य इन्हीं दुःखों से निवृत्त होकर कृतकृत्यता प्राप्त करना है। अतः दोनों में लक्ष्य की एकता लक्षित होती है।

संशय और विपर्यय से रहित, विशुद्ध, अपरिशेष केवलज्ञान की उत्पत्ति जिस तत्त्वाभ्यास से होती है, उसके स्वरूप के विषय में कहा गया है कि—

एवं तत्त्वाभ्यासान्नस्मि न मे नाहम् इत्यपरिशेषम्।
अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्॥ सां० का० 64

अर्थात् 'नास्मि न में नाहम्' के तत्त्वाभ्यास द्वारा अपरिशेष, संशय और विपर्यय से रहित विशुद्ध केवलज्ञान की उत्पत्ति होती है।

वाचस्पति मिश्र (की सांख्य तत्त्व कौमुदी) के अनुसार उक्त कथन में प्रयुक्त 'नास्मि' का तात्पर्य है कि साधक यह अनुभव करे कि उसके अंदर कोई भी बाह्य या आध्यात्मिक व्यापार नहीं है। 'न मे' का अर्थ है कि साधक यह अनुभव करे कि उसके अंदर स्वामिता नहीं है, और 'नाहम्' का तात्पर्य है (अपने) कर्तृत्व का निषेध।[183] अर्थात् 'न मैं कुछ हूँ, और न मेरा कोई है' इस तत्त्वाभ्यास से व्यक्ति को केवलज्ञान प्राप्त होता है।

बुद्ध भी कहते हैं 'भिक्षुओ' जितना भी रूप है, जितनी भी वेदना है, जितनी भी संज्ञा है, जितने भी संस्कार है, जितना भी विज्ञान है, चाहे अतीत का हो, चाहे वर्तमान का और चाहे भविष्य का, चाहे अंदर का हो, चाहे बाहर का, चाहे स्थूल हो, चाहे सुक्ष्म, चाहे बुरा हो चाहे भला, चाहे दूर हो, चाहे निकट - वह न मेरा है, न वह मैं हूँ, और न वह मेरी आत्मा है।[184] नेतं मम, ने सोहमस्मि

न मे सो अत्ताति— (दीघ० 21/5)।

प्रकट है दोनों के अनुसार साधक का 'अहंता ममता शून्य' होना आवश्यक है।

याकोबी एवं कीथ प्रभृति विद्वानों ने बुद्ध के प्रतीत्यसमुत्पाद को सांख्य के तत्त्व परिणामवाद से व्युत्पन्न सिद्ध करने के प्रयत्न किये हैं। डॉ० भरतसिंह उपाध्याय के अनुसार जो 'परिणामिनित्यत्वं' का भाव सांख्य के विकासवाद में निहित है, वही नित्य समुत्पन्न और नित्य निरुद्ध होने वाले बौद्ध के धर्मों में भी है।[185] कर्न (दे० मैनुअल आफ इण्डियन बुद्धिज्म, पृ० 47 का पादटिप्पण—6) ने बौद्धों की अविद्या की तुलना सांख्य के प्रधान से और क्रमश: संस्कारों की समता बुद्धि से, विज्ञान की समता अहंकार से, नाम रूप की समता तन्मात्राओं से, षडायतन की समता इंद्रियों से, और प्रतीत्यसमुत्पाद की समता सांख्य के प्रत्ययसंघ से दिखाने का प्रयास किया है। ऐसा ही प्रयत्न जैकोबी द्वारा भी किया गया है, जिसके अनुसार सांख्य के गुण बुद्ध के धर्म के, प्रकृति बुद्ध की अविद्या के, महत् बुद्ध के संस्कार के, बुद्धिबुद्ध के विज्ञान के, अहंकार बुद्ध के 'नाम रूप' के और सांख्य की ग्यारह इंद्रियाँ, पाँच तन्मात्रा तथा स्पर्श को बुद्ध के षडायतन के अनुरूप हैं।[186] कर्न एवं जैकोबी के उक्त मन्तव्यों से सर्वांशत: सहमत न होकर-भी हम बुद्ध पर पड़े सांख्य के प्रभाव को नकार नहीं सकते। तदुपरांत अनीश्वर-वाद, अहिंसा, यज्ञ विरोध, कर्म त्याग, वेद निंदा, सर्वस्व त्याग, तप, योगसाधना गुरुवाद इत्यादि ऐसे अनेक विषय हैं जिनके सम्बन्धित दोनों के विचारों में अविरोध पाया जाता है।

प्रयोग का प्रभाव— योग साधना का महत्त्व एवं अभ्यास भारतीय अध्यात्म क्षेत्र में प्राचीन काल से ही स्वीकृत प्रतीत होता है। ऋग्वेद (10/136/2), सामवेद (2/8/12), शुक्ल यजुर्वेद (3/35) एवं अथर्ववेद (4/35/2 तथा व्रात्यकांड) में उल्लिखित तपश्चर्याएँ योग साधना की सूचक हैं। तत्पश्चात् बृ० उप० (4/14, 3/5, 4/4, 1/2/6, 3/8/10), छा० उप० (3/17/4, 8/6/1-6), कठ० उप० (1/2/12, 1/3/13, 2/3/16), प्रश्न उप० (3/5-7) आदि में उल्लिखित तप, ब्रह्मचर्य, इंद्रिय निग्रह, समाधि एवं ध्यान आदि निश्चित रूप से योग साधना के द्योतक हैं। इस प्रकार इस परम्परा की प्राचीनता असंदिग्ध है। संभवत: इसीलिए महर्षि पतंजलि (ईसा पूर्व 350 के आस-पास) ने स्वरचित योगसूत्रों को 'योगानुशासन' की संज्ञा दी है—अथयोगा-नुशासनम्। अर्थात् पातंजल योगसूत्र परम्परागत योग साधना को एक सुनिश्चित व्यवस्था प्रदान करने का उपक्रम मात्र है।

योग साधना के द्योतक उल्लेख चाहे वेदों में मिलें, चाहें ब्राह्मण ग्रंथों और चाहे स्मृतियों में, इस विषय में संदेह करना व्यर्थ है कि मूलत: यह अनार्य साधनापद्धति है। सांख्य दर्शन से इसका मुख्य अंतर इतना ही है कि जहाँ सांख्य में दर्शन मुख्य और साधना गौण है, वहाँ इसमें साधना मुख्य और दर्शन गौण है।

कुछ विद्वान् सांख्य के निरीश्वरवादी और योग के ईश्वरवादी होने की चर्चा करते हैं, किंतु हमारे विचार से सांख्य का योगीश्वर ही योग दर्शन का ईश्वर है, और इन दोनों शब्दों का सयुक्तिक अर्थ 'गुरु' होना चाहिए। पारलौकिक ईश्वर को तो न सांख्य मानता है, न योग। जो हो, इस विषय में कोई विसंवाद नहीं है कि योग साधना बुद्धपूर्व है और बुद्ध स्वयं एक योगी थे। अतः उससे उनका प्रभावित होना स्वाभाविक था।

योगसूत्र (2/15) के व्यासभाष्य में कहा गया है कि - यथा चिकित्सा शास्त्रं चतुर्व्यूहं - रोगो, रोग हेतुः, आरोग्यं, भैषज्यमिति शास्त्रं चतुर्व्यूहमेव तद् यथा—संसार, संसार हेतु, मोक्षो, मोक्षोपाय इति। अर्थात् जिस प्रकार चिकित्सा-शास्त्र में चार व्यूह हैं —रोग, रोग का हेतु, आरोग्य और रोग की दवा, उसी प्रकार योगशास्त्र में भी चार व्यूह हैं— संसार, संसार का हेतु, मोक्ष और मोक्ष (प्राप्ति) का उपाय। योगसूत्र के इस भाष्य में जिसे संसार कहा गया है, भगवान बुद्ध ने उसे 'दुःख' कहा है। 'व्यूह' विशेषण लगाकर बुद्ध ने उक्त चतुर्व्यूह को चतुरार्यसत्य की संज्ञा दी है। उनके ये चार आर्य सत्य हैं—दुःख (कार्य), दुःख समुदाय (कारण), दुःख निरोध एवं दुःखनिरोध गामिनी प्रतिपद्।

योगसूत्र (2/15) में कहा गया है कि प्रकृति विरुद्ध होने से क्लेश संस्कार से, तमोगुणादि की वृत्तियों से जो कुछ होता है विवेकशील योगीजन उस सब को दुःख ही मानते हैं—'दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।' सूत्रकार का यह विचार बुद्ध के 'सर्वं दुःखम् दुःखम्' का ही पूर्व रूप है।

योगसूत्र (1/5) में कहा गया है कि अंतःकरण की वृत्तियों के पाँच भेद हैं और वे क्लिष्ट तथा अक्लिष्ट - दो प्रकार की हैं। क्लिष्ट वे हैं जो क्लेश की कारण हैं और कर्माशय प्रचय में जो क्षेत्रीभूत हो गई हैं, और अक्लिष्ट वे हैं जो ज्ञान की कारण हैं तथा क्लेश करने वाली नहीं हैं। योगसूत्रों की क्लिष्ट और अक्लिष्ट चित्रवृत्तियों के लक्षणों की भगवान बुद्ध द्वारा उपदिष्ट अकुशलचित्त एवं कुशलचित्त से समता पाई जाती है।

योगसूत्र (2/5) में कहा गया है कि - अनित्य में नित्य, अपवित्र में पवित्र, दुःख में सुख और अनात्म में आत्मा की भावना करना ही अविद्या है—अनित्याशुचिदुःखानात्मसुनित्य शुचिसुखात्माख्यातिरविद्या। सांख्य के अनुसार प्रकृति (परिणामी नित्य) और पुरुष (अपरिणामी नित्य) के विवेक की अख्याति को अविद्या कहा गया है। भगवान बुद्ध के प्रतीत्यसमुत्पाद के द्वादश अंगों में अविद्या प्रथम है। जिसे उन्होंने चतुरार्यसत्य से सम्बन्धित अज्ञान की पर्यायवाची बताया है—'आवुसो ! जो यह दुःख के विषय में अज्ञान, दुःख समुदाय के विषय में अज्ञान, दुःख निरोध के विषय में अज्ञान, दुःख निरोध गामिनी प्रतिपद के विषय में अज्ञान है, इसे आवुसो (अविद्या) कहा जाता है— (मज्झिम० 1/1/9)[187] बुद्ध की यह अविद्या नाना योनियों में व्यक्ति के संसरण का कारण है।[188] और दुर्विज्ञेयारम्भा अथवा अनादि है।[189] अपने इस स्वरूप में वह पतंजलि की अविद्या

के समान लक्षणवाली है।

योगसूत्र (1/33) में कहा गया है कि सुखीजनों के प्रति मैत्री दु:खीजनों के प्रति करुणा, पुण्यात्माओं के प्रति मुदिता और पापात्माओं के प्रति उपेक्षा की भावना करने से चित्त की प्रसन्नता सिद्ध होती है। बुद्ध के उपदेशों में मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा को चार 'ब्रह्मविहार'—ब्रह्मा की सलोकता (सहव्यता) की प्राप्ति के मार्ग कहा गया है। दोनों दर्शनों में इनकी भावना का स्वरूप एक जैसा ही है।

पातंजल योग के सत्य, अहिंसादि पाँच यमों और शौच, संतोष आदि पाँच नियमों का समावेश बुद्धोपदिष्ट दश, शील, आर्य अष्टांगिक मार्ग एवं बोधिपक्षीय धर्मों में हुआ सरलता से देखा जा सकता है। कतिपय विद्वान् मानते हैं कि पातंजल योग के 'ईश्वरप्रणिधान' रूप नियम का समावेश निरीश्वरवादी बुद्ध की धर्मदेशना में नहीं हुआ है, किंतु हमारे विचार से 'बुद्धं शरणं गच्छामि' और ईश्वरप्रणिधान में कोई अंतर नहीं है। योगसूत्रों के प्राणायाम और बुद्धोपदिष्ट 'आनापानसति' में कोई तात्त्विक अंतर नहीं है।

पातंजल योग में समाधि के दो भेद माने गए हैं- संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात बुद्धोपदिष्ट योग में भी दो प्रकार की समाधियाँ मानी गई हैं—उपचार समाधि और अपर्ण समाधि। पातंजल योगसूत्रों में संप्रज्ञात समाधि के चार भेद माने गए हैं—सवितर्क, वितर्कविकल, सविचार. विकल सानंद और आनंद विकल अस्मिता मात्र— (दे० योगसूत्र 1/17 तथा उसका व्यासभाष्य) बौद्धयोग में जो चार प्रकार के ध्यान हैं, वे योगसूत्रों की संप्रज्ञात समाधि के इन चार भेदों से मिलते-जुलते हैं। योगसूत्र (1/20) में श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा को संप्रज्ञात समाधि के साधन कहा गया है। बौद्धयोग में इन्हें पाँच इंद्रियों (वल) की संज्ञा दी गई है।

व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद इत्यादि (दे० योगसूत्र 1/30) और उनसे उत्पन्न होने वाले दुःख, दौर्मनस्य इत्यादि (दे० 1/31) योग साधना के जो अंतराय (विघ्न) पातंजल योगसूत्रों में मान्य हैं, वे बौद्धयोग में भी मान्य हैं। किंतु यहाँ उन्हें पाँच नीवरण, दस संयोजन आदि के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि चार आर्यसत्यों के रूप में बुद्ध के चिंतन की जो रूपरेखा है, वह पातंजल योग के चतुर्व्यूहों के अनुरूप है, और दार्शनिक चिंतन में यत्किंचित वैशिष्ट्य होने पर भी, दोनों की योग साधना में पर्याप्त साम्य लक्षित होता है।

आजीवकों एवं निर्ग्रन्थों का प्रभाव— बुद्ध की धर्म देशना पर उपनिषद्, सांख्य एवं योग के उपर्युक्त प्रभाव निरूपण का उद्देश्य उनके पारम्परिक सम्बन्धों का निर्देश करना मात्र है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि बुद्ध पर केवल इन्हीं का प्रभाव है, अन्य का नहीं। इस तथ्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती कि देश

और काल की दृष्टि से बुद्ध के निकटतम धर्माचार्य आजीवक एवं निग्रंथ हैं, जिनका उल्लेख मज्झिम निकाय (1/3/10) तथा दीघनिकाय के सामञ्ञफल सुत्त में हुआ है। ये हैं—पूर्ण काश्यप, मक्खलि गोसाल, अजिल केशकम्बल, प्रकुद्ध कात्यायन, महावीर स्वामी और संजय वेलट्ठि पुत्र। इनके उपदेशों का जो स्वरूप आज उपलब्ध है, जिसे हम देख चुके हैं, उससे इतना निश्चित है कि ये सभी शास्त्रोक्त शुभाशुभ कर्मों में अनास्थाशील और वेद, वर्ण, ब्राह्मण तथा यज्ञ विरोधी थे। बुद्ध की स्थिति भी यही है। इतना ही नहीं पूर्णकाश्यप के अक्रिया-वाद, अजित केशकम्बल द्वारा मान्य चार महाभूत और उनके अनित्य तथा अनात्म होने की धारणा, मक्खलि गोसाल का नियतिवाद एवं नैष्कर्म्य आदि को बुद्ध के उपदेशों में खोज निकालने के लिए अधिक परिश्रम नहीं करना पड़ेगा। हमारे आगे के विवरण से इस विषय में प्रकाश पड़ सकेगा। बुद्ध ने उरुवेला में की गई अपनी कठोर तपस्या का जो वर्णन किया है—(दे० बोधिराजकुमार सुत्त, मज्झिम० 2/4/5), उसमें जैनों की कायाक्लेशमयी तपस्या के अनेक तत्त्व विद्यमान हैं। संजय वेलट्ठि पुत्र के अनिश्चिततावाद और जैनों के स्याद्वाद में जो निकट का सम्बन्ध है, उसे लक्षित किया जा चुका है, यहाँ इतना उल्लेख्य है कि बुद्ध के विभज्जवाद की आधार भूमि भी वही है। ध्यातव्य होगा कि बुद्ध चिंतन के 'बृहस्पति' अथवा उनके 'धर्म सेनापति' कहे गए सारिपुत्र मूलतः संजय वेलट्ठि पुत्र के प्रमुख शिष्यों में अग्रगण्य थे।

बौद्ध चिंतन की रूप-रेखा

द्विविध ज्ञान—जैसा हम देख चुके हैं, अभिसम्बोधि लाभ के बाद बुद्ध के मन में यह वितर्क उत्पन्न हुआ था कि—"मुझे यह गंभीर दुक्खलोक्य, दुर्बोध, शांत, उत्तम, अतर्क गोचर, सूक्ष्म एवं पंडितवेद्य धर्म प्राप्त हुआ है। आलयरत जनता के लिए इदम्प्रत्ययतारूप प्रतीत्यसमुत्पाद अथवा निर्वाण दुर्बोध है। यदि मैं धर्म का उपदेश करूँ और लोग न समझें तो परिश्रम (व्यर्थ) और आभासमात्र होगा।[190] और तब उन्हें ये गाथाएँ सूझीं—

किच्छेन मे अधिगतं हलंदानि पकासितुं।
राजदोसपरेतेहि नामं धम्मो सुसुम्बुधौ॥
पतिसोतगामि निपुणं गम्भरं दुद्दसं अणुं।
रागस्ता न दक्खन्ति तमोखन्धेन आवुटा'ति॥[191]

अर्थात्, मुझे कठिनाई से प्राप्त हुए (धर्म) को प्रकाशित करना व्यर्थ है। राग-द्वेष से अभिभूत (लोगों के लिए) यह धर्म सुबोध नहीं है। प्रति स्रोतगामी, सूक्ष्म, गंभीर, दुर्बोध अणु (धर्म) को रागरक्त एवं तमः स्कंध से आवृत्त लोग नहीं देखेंगे।

इन कथनों से स्पष्ट है कि बुद्ध द्वारा प्राप्त या अनुभूत अभिसम्बोधि अत्यंत

गूढ़ अथवा रहस्यात्मक होने से न तो सामान्यजनों को बोधगम्य है, और न प्रतिस्रोतगामी (प्रवाह को उसके मूल स्रोत की ओर, उल्टी दिशा में, मोड़ने वाली) होने से उनके किसी काम की ही है। अर्थात् संसार के प्रवाह को निरुद्ध करने वाली होने से यह संसारियों के लिए अनुपयुक्त है। इस स्थिति में उनसे यह अपेक्षा नहीं की जा सकती कि वे स्वानुभूत अभिसम्बोधि को सामान्यजनों के मध्य प्रकट करें।

दूसरी ओर जिस धर्म का उन्होंने उपदेश दिया है, उसके सम्बन्ध में उनका पहला दावा तो यह है—"ऐहि पस्सिक, पच्चतं वेदि तब्बं।' अर्थात् आओ और देखो, इस धर्म की परीक्षा करो। यह सबके लिए अनुभवगम्य है। बोधिसत्त्व के प्रति कहा गया है कि उसे सदा युक्तिशरण होना चाहिए, पुद्गलशरण नहीं।" अर्थात् उसे सदैव बुद्धिगम्य एवं तर्कसंगत बात को ही स्वीकारना चाहिए। कालामों से भी बुद्ध ने कहा ही था कि—"जब तुम स्वयं ही यह जानो कि ये बातें अच्छी हैं, अदोष हैं, विज्ञों द्वारा अनिन्दित हैं, ये ग्रहण करने पर हित और सुख के लिए होंगी तो कालामो ! तुम इन्हें स्वीकार करो।"[192] मुझमें श्रद्धा रखकर, या अन्य किसी कारण से नहीं। इस सबका का तात्पर्य यह हुआ कि बुद्ध द्वारा उपदिष्ट धर्म सबके लिए बुद्धिगम्य एवं तर्कसंगत है। दूसरे उन्होंने यह भी घोषित किया है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र एवं श्रमण में से जो कोई तथागत द्वारा उपदिष्ट स्मृति प्रस्थानों की भावना करेगा वही निर्वाण का साक्षात्कार करेगा।[193] अर्थात् जाति या वर्ण की पात्रता इसके लिए आवश्यक नहीं है। प्रकट है कि अंगुलिमाल डाकू और आम्रपाली वेश्या भी बुद्धोपदिष्ट धर्म का पालन करके भवपार हो गए।

उपर्युक्त स्थिति का सारांश यह हुआ कि एक ओर तो बुद्ध द्वारा साक्षात्कृत अभिसम्बोधि है, जो उन्हीं के शब्दों में गम्भीर, दुखलोक्य, दुर्बोध, अतर्क्य, सूक्ष्म एवं पंडितवेद्य है और राग-द्वेष से अभिभूत सामान्यजन उसके अधिकारी (उपयुक्त पात्र) नहीं हैं। दूसरी ओर उनके द्वारा उपदिष्ट, धर्म (ज्ञान) इतना सरल, सुबोध, प्रत्यक्ष फल देने वाला, तर्कसंगत एवं सुलभ है कि उसे अपनाकर अपात्र एवं कुपात्र समझे गए व्यक्ति भी भवपार हो सकते हैं—हे गौतम ! पहले हम ऐसा जानते थे, कहाँ इम्भ (नीच), काले, ब्रह्मा के पैर से उत्पन्न (शूद्र) मंडक श्रमण, और कहाँ धर्म का जानना।"[194] प्रकट है कि बुद्ध द्वारा अनुभूत धर्म और उपदिष्ट धर्म (या ज्ञान) परस्पर विरोधी लक्षणों से युक्त होने से एक ही नहीं हो सकते। किंतु इनके विरोधी लक्षण इनकी असम्बद्धता के द्योतक नहीं हैं, क्योंकि दोनों के विषय अलग-अलग हैं। अतः परिणाम में वे एक-दूसरे के पूरक हैं। बुद्ध ने इन्हें क्रमशः अव्याकृत एवं व्याकृत कहा है। आगे इन दोनों से सम्बन्धित विषयों एवं वादों का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है, उससे स्थिति अधिक स्पष्ट हो सकेगी।

अव्याकृत विषय और निरपेक्षवाद—भगवान बुद्ध ने, जैसा कि पूर्व में संकेत

किया गया है, अपने उपदेश के मुख्य दो भाग किए हैं— अव्याकृत और व्याकृत। अव्याकृत का एक अर्थ है अनिर्वचनीय। किंतु उससे वस्तुस्थिति की सम्यक् व्याख्या नहीं होती। अव्याकृत से सम्बन्धित प्रसंग इस प्रकार है, कि एक बार मालुंक्यपुत्र ने बुद्ध से दश मेंडक प्रश्न किए और आग्रह किया कि वे उनका ठीक-ठीक उत्तर दें। प्रश्न ये हैं।[195] (1) क्या लोक शाश्वत है ? (2) क्या लोक अशाश्वत है ? (3) क्या लोक सांत है ? (4) क्या लोक अनंत है ? (5) क्या जीव और शरीर एक हैं ? (6) क्या जीव दूसरा और शरीर दूसरा है ? (7) क्या मरने के बाद तथागत (मुक्त पुरुष) रहते हैं ? (8) क्या मरने के बाद तथागत नहीं रहते ? (9) क्या मरने के बाद तथागत होते भी हैं और नहीं भी होते ? और (10) क्या मरने के बाद तथागत न होते हैं, न नहीं होते हैं ?

भगवान बुद्ध ने उक्त प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं दिया, अर्थात् मौन बने रहे, और प्रश्नकर्ता निराश होकर लौट गया। उसके चले जाने पर जब आनंद ने पूछा कि भन्ते ! आपने उसके प्रश्नों का उत्तर क्यों नहीं दिया ? तो बुद्ध ने कहा—आनंद ! यदि मैं उसको किसी भी प्रकार उत्तर देता तो इन श्रमण ब्राह्मणों (अपने समकालीन विचारकों) के ही शाश्वतवाद, अशाश्वतवाद, उच्छेद-वाद का उपदेश करता, किंतु ये तो हीन कोटियाँ हैं, हीन, ग्राम्य और पृथग्जनों के योग्य। इसलिए तथागत ने व्याकृत नहीं किया।"[196] इसका तात्पर्य यह हुआ कि अप्रत्यक्ष विषयों से सम्बन्धित प्रश्नों के उत्तर ऐकांतिक ('हाँ' अथवा 'ना') रूप में देने पर या तो शाश्वतवाद होगा या अशाश्वतवाद, या फिर उच्छेदवाद और ये तीनों उन्हें अग्राह्य हैं।[197] यदि अशाश्वत और उच्छेद में साम्य हो, जैसा कि प्रतीत होता है, तो इन्हें शाश्वत और अशाश्वत के दो अंतों के रूप में लिया जा सकता है।

जो हो, उपर्युक्त के समान ही एक प्रसंग महायानियों के ग्रंथ 'दीघनिकाय' पोट्ठपाद सुत्त (1/9) में भी पाया जाता है। जिसमें पोट्ठवाद परिव्राजक ने उक्त सूची में ये चार प्रश्न और शामिल किए हैं— (1) क्या लोक शाश्वत और अशाश्वत है ? (2) क्या लोक न शाश्वत है, न अशाश्वत है ? (3) क्या लोक सान्त और अनंत (दोनों) है ? और (4) क्या लोक न सान्त है, न अनंत है ? कहना न होगा ये प्रश्न उपर्युक्त सूची के 'लोक की नित्यता' और 'अंत' से सम्बन्धित दो-दो विकल्पों वाले प्रश्नों को, मरणोपरांत तथागत की स्थिति के जैसे ही, चार-चार विकल्पों वाले बनने वाले हैं। इस वार्तालाप में भी तथागत ने इन सभी चौदह प्रश्नों को अव्याकृत ही बताया है, किंतु इस प्रसंग में उन्होंने इन प्रश्नों को अव्याकृत रखने का उपयुक्त कारण बताया है। उनके कथनानुसार "इन चौदह प्रश्नों, जिनमें प्रत्येक प्रश्न 'यही सत्य है और अन्य मिथ्या है' इस दृष्टि से देखा जाता है, को मैंने अव्याकृत बतलाया है। ये प्रश्न (वस्तुतः इनके उत्तर) न तो अर्थयुक्त हैं, न धर्मयुक्त, न ब्रह्मचर्य के लिए उपयुक्त, न निर्वेद के लिए हैं, न विराग, दुःख निरोध, शांति, अभिज्ञा, परमार्थ सम्बोधि और निर्वाण

के लिए। इसलिए मैंने इन्हें अव्याकृत कहा है।''[198] उनके कहने का तात्पर्य यही है कि लोक शाश्वत है-- ऐसा मत अपनाने पर, लोक अशाश्वत है— ऐसा मत अपनाने पर, अथवा उक्त प्रश्नों के सकारात्मक या नकारात्मक उत्तरों से निष्पन्न कोई भी मत अपनाने पर, दुःख का अंत नहीं होने वाला, अर्थात् वह दुःख यथावत् ही रहेगा, और मैं दुःख के निरोध का उपदेश करता हूँ।[199]

अपने वक्तव्य को सुसंगत बनाने के लिए प्रस्तुत संदर्भ में बुद्ध ने अथवा उनके अनुयायियों ने जो काल्पनिक आख्यान दिए हैं—वे, और उक्त वक्तव्यों से विद्वानों ने जो यह निष्कर्ष निकाला है कि बुद्ध ने अपनी साधना में परमार्थ चिंतन को उपकारक नहीं माना—हमारे विचार से यथार्थ नहीं है। किंतु इस विषय में यहाँ इससे अधिक कुछ कहने का अवकाश नहीं है।

हमारे विचार से वस्तुस्थिति यह है कि लोक-व्यवहार और उसमें व्यवहृत भाषा द्वैतभावयुक्त हैं। फलतः वस्तुविषयक लौकिक ज्ञान हमें दो परस्पर विरोधी विकल्पों में से एक को स्वीकार, और फलतः दूसरे को अस्वीकार करने के रूप में प्राप्त होता है। यथा—लोक व्यवहार में किसी वस्तु को हम या तो नित्य कहेंगे या अनित्य। उसे नित्य कहने का अर्थ है कि वह अनित्य नहीं है और अनित्य कहने का अर्थ है कि वह नित्य नहीं है। किंतु आत्मज्ञानियों की सामान्य धारणा यह है कि नित्यता और अनित्यता परस्पर सापेक्ष धर्म हैं। अर्थात् नित्यता की प्रतीति अनित्यता की प्रतीति पर और अनित्यता की प्रतीति नित्यता की प्रतीति पर निर्भर है। अतः इस प्रकार का ज्ञान सापेक्ष ज्ञान है, जो व्यावहारिक तो है, पारमार्थिक नहीं है। आत्मज्ञान, या पारमार्थिक ज्ञान, तो निरपेक्ष ज्ञान होता है।

अब आत्मज्ञानियों के इस निरपेक्ष ज्ञान को 'सापेक्ष शब्द समूह वाली भाषा में कैसे व्यक्त किया जाए?' की स्पष्टता से पूर्व ध्यातव्य होगा कि मूल रूप में तो विकल्पों की संख्या दो ही होती है। यथा - सत्-असत्, अस्ति-नास्ति, एक-अनेक, लघु-गुरु —इत्यादि। किंतु तृतीय विकल्प इन दो के योग से बना लिया जाता है, यथा— सदसत् और चौथा विकल्प दोनों के निषेधात्मक रूपों के योग से बना लिया जाता है यथा—न सत् न असत्। जैनों ने, जैसा हम देख चुके हैं, 'अवक्तव्य' को भी एक विकल्प मानकर अपनी सप्तभंगी तैयार की है। इस प्रकार विकल्पों की मूल संख्या या कम से कम संख्या, दो है, अधिक से अधिक संख्या उतनी है, जितनी तर्क-शास्त्री की अकल दौड़ सकती हो। इस स्थिति में आत्मज्ञानियों के अनुसार उनके निरपेक्ष ज्ञान को व्यक्त करने का एक ही उपाय है, और वह है समस्त विकल्पों का निषेध। यथा—

प्रश्न	उत्तर
क्या यह घट है ?	नहीं कह सकते ।
क्या यह घट नहीं है ?	नहीं कह सकते ।
क्या यह घट है और नहीं है ?	नहीं कह सकते ।
क्या यह घट न है और न नहीं है ?	नहीं कह सकते ।
तो क्या कह सकते हैं ?	यही कि उक्त विकल्पों द्वारा उसे व्यक्त नहीं किया जा सकता, अतः वह अवक्तव्य है ।

मेरे विचार से यह 'अवक्तव्य ही भगवान बुद्ध का 'अव्याकृत' है । जो स्वसंवेद्य, निरपेक्ष, निर्विशेष, अनौपदेशिक इत्यादि कहा जाने वाला ज्ञान है । 'मौन' द्वारा उपदिष्ट होने की बात इसी से सम्बन्धित है । यह साधना मार्ग की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि है । अतः साधना के क्रियात्मक रूप में इसकी उपयोगिता का प्रश्न नहीं उठता—इत्यादि ।

जैसा ऊपर कहा गया है, मूलभूत विकल्प तो दो ही हैं, उन्हीं के उभय एवं अनुभव से उनकी संख्या को तीन, चार या इससे अधिक भी किया जा सकता है । किंतु इस संख्यावृद्धि से, मेरे विचार से, तात्पर्य में कोई विशेष अंतर नहीं आता । दो विकल्पों को निषेध करने पर तीसरा वाक्य, तीन का निषेध करने पर चौथा वाक्य– इत्यादि, अर्थात् जितने विकल्प माने गए हों उन सबका निषेध करने पर, अंतिम वाक्य अवक्तव्य होगा ।

ध्यातव्य है कि क्या लोक शाश्वत है ? इस प्रश्न का 'हाँ' अथवा 'ना' में उत्तर देने पर दूसरे प्रश्न—क्या लोक अशाश्वत है ? का उत्तर देना आवश्यक नहीं रहता । अतः 'हाँ' में उत्तर देना अस्तिवाद है, और 'ना' में उत्तर देना 'नास्तिवाद' है– दोनों ऐकांतिकी अथवा एकांशवाद हैं । उक्त विकल्पों को नकारते जाने के बाद जैसे अवक्तव्य निष्पन्न होता है, वैसे ही 'यदि' अथवा 'कथंचित्' (किसी अपेक्षा से) जैसी शर्त लगाकर उनके उत्तर देते जाने से सापेक्ष-वाद निष्पन्न होता है जैसाकि जैनों के स्याद्वाद से स्पष्ट है । अर्थात् विकल्पों को नकारने से अवक्तव्य अथवा निरपेक्षवाद प्रतिपादित होता है, और 'यदि' या कथंचित् जैसी शर्त के साथ उनके उत्तर देने से 'वक्तव्य' अथवा सापेक्षवाद प्रतिपादित होता है । जैसा मैं समझ पाया हूँ इन आत्मज्ञानियों द्वारा सार्वत्रिक 'नहीं, नहीं' वाले निरपेक्षवाद का प्रयोग अपार्थिव विषय या सत्ता की 'गूढ़ता' प्रतिपादित करने के लिए और सापेक्षवाद का प्रयोग जागतिक ज्ञान तथा वस्तु-सृष्टि को झुठलाने के लिए किया जाता है ।

बाह्य दृष्टि से निरपेक्षवाद और सापेक्षवाद परस्पर विरोधी लगते हैं, किंतु दोनों के विचारणीय विषय अलग-अलग हैं ।[200] अतः परिणाम में ये दोनों परस्पर

पूरक हैं। दोनों का इतिहास भी नासदीय सूक्त के 'नासदासीन्नोसदासीन' कथन से प्रारम्भ होनेवाला और उपनिषदों के 'सदसद्वरेण्यम्' (मुंडक 2/2/1) 'न सन्नचासत्' (श्वेता 4/18) जैसे वाक्यों में लक्षित नहीं होना चाहिए जिसका उल्लेख हम जैनों के स्याद्वाद के निरूपण में कर चुके हैं।

जहाँ तक बुद्ध का अपना प्रश्न है 'अव्याकृत' विषयक अपने विचारों के लिए उन्हें संजय वेलट्ठि पुत्र का ऋणी मानने में कोई विचार-विरोध आड़े नहीं आता। इतना ही नहीं, बुद्ध द्वारा अव्याकृत कहे गए चार विषय—(लोक शाश्वत है? लोक सान्त है? जीव और देह एक हैं? और मरणोपरांत तथागत रहते हैं?) और उनसे सम्बन्धित दश या चौदह प्रश्न, संजय की उस अवधारणा के सुसंगत हैं, जिसके अनुसार परलोक, देवता, कर्मफल एवं मरणोपरांत तथागत की स्थिति से सम्बन्धित प्रश्नों के 'अस्ति, नास्ति, अस्ति-नास्ति, और न अस्ति न नास्ति' इन चार कोटियों में, उत्तर देना उसने उचित नहीं माना। दूसरे, यह कि बौद्ध आख्यानों के अनुसार संजय स्वयं यद्यपि बौद्ध नहीं बना था, किंतु बौद्ध संघ के धर्म सेनापति आर्य सारिपुत्र और ऋद्धिमानों में अग्रगण्य मौद्गल्लायन धर्मांतर से पूर्व संजय के माने हुए शिष्य थे। तदुपरांत जैसा हम कह चुके हैं, राहुल सांकृत्यायन[201] ने जैनों के स्याद्वाद को संजय के अनिश्चयतावाद का ही रूपांतर सिद्ध किया है। जैन साहित्य[202] में संजय और मौद्गल्लायन को जैन मुनि बताया भी गया है। इस स्थिति से यह निष्कर्ष निकालना असंगत न होगा कि जैन एवं बौद्ध दोनों ने संजय के विचारों को अपने-अपने ढंग से अपनाया है।

व्याकृत विषय और सापेक्षवाद—'दीघ निकाय' के पोट्ठपाद सुत्त के पूर्वोक्त प्रसंग में बुद्ध का आगे का कथन है कि, "यह दुःख है, यह दुःख समुदय है, यह दुःख निरोध है, और यह दुःख निरोध का मार्ग है—इन चार आर्यसत्यों को मैंने व्याकृत किया है। ये सार्थक हैं, धर्म के लिए उपयोगी हैं, आदि ब्रह्मचर्य के उपयुक्त हैं, ये निर्वेद, विराग, निरोध, उपशम, अभिज्ञा, परमार्थ सम्बोधि और निर्वाण के लिए हैं। इसलिए मैंने इन्हें व्याकृत किया है।"[203] प्रकट है कि ये ही विषय बुद्ध की धर्म देशना के प्रमुख अंग हैं और ये सभी वस्तु जगत् या क्रिया जगत् से सम्बन्धित अथवा प्रत्यक्ष हैं।

यह हम देख चुके हैं कि बुद्ध ने मालुंक्यपुत्र के प्रश्नों के 'ठीक-ठाक' ('हाँ' अथवा 'ना' में) उत्तर इसलिए नहीं दिए कि ऐसा करने पर अन्य उपदेश की तरह वे भी शाश्वतवाद, अशाश्वतवाद या उच्छेदवाद में से ही किसी का उपदेश करते, जो उन्हें इष्ट न था। ध्यातव्य होगा कि मालुंक्य के प्रश्न पारमार्थिक परोक्षमूलक थे। किंतु संयुक्त निकाय (जिल्द 2, पृ० 17) के एक प्रसंग में उन्होंने लौकिक वस्तुओं के विषय में भी कुछ ऐसा ही मंतव्य व्यक्त किया है। वे कहते हैं, "कात्यायन,[204] यह संसार द्वैत पर आश्रय लेने का अभ्यस्त है—(1) 'यह है' इस पर, और (2) 'यह नहीं है'—इस पर। किंतु जो ज्ञानी पुरुष इस संसार की वस्तुओं की उत्पत्ति के विधान को ज्ञान और दर्शनपूर्वक समझता है,

उसके लिए न तो है —'यह है' और न—'यह नहीं है'। अर्थात् लौकिक वस्तुओं की उत्पत्ति के विधान (हेतु प्रत्ययवाद) को ज्ञान और दर्शनपूर्वक समझ लेने वाले ज्ञानी (बुद्ध) उनके विषय में ऐकांतिक रूप से 'अस्ति' या 'नास्ति' नहीं कहते।

मज्झिम निकाय (सूत्र 99) में बुद्ध कहते हैं, 'माणवक, (मैं विभज्जवादी हूँ एकांशवादी नहीं)।" और सयुक्तनिकाय (12/47) में बुद्ध कहते हैं कि, 'सब्बं अत्थीति खो ब्राह्मण अयं एको अन्ते।········ सब्बं नत्थीति खो ब्राह्मण अयं दुतियो अन्तो। एते ते ब्राह्मण उभौ अन्ते अनुपगम्म मज्झेन तथागतो धम्मं देते·········।" अर्थात् सब (या सर्वांशतः) है, ऐसा कहना एक अंत है। सब (सर्वांशतः ?) नहीं है, ऐसा कहना, दूसरा अंत है। इन दोनों अंतों को छोड़कर तथागत मध्यममार्ग (अंशतः है, और अंशतः नहीं है।)[205] का उपदेश देते हैं। इन उद्धरणों से दो बातें प्रकाश में आती हैं—(1) कि बुद्ध का विभज्यवाद एकांशवाद का विरोधी है, और (2) कम से कम प्रस्तुत संदर्भ में विभज्यवाद और मध्यममार्ग पर्यायवाची हैं।

इस विभज्यवाद के स्वरूप को समझने के लिए उल्लेख्य है कि बौद्ध वाङ्मय में प्रश्नों की जो चार कोटियाँ बताई गई हैं, उनमें से एक है—विभज्य व्याकरणीय। इस विभज्य व्याकरणीय नामक प्रश्न का उत्तर ऐकांतिकी 'हाँ' अथवा 'ना' के रूप न होकर प्रश्न में निहित सम्भावनाओं के अनुसार उसका विभाग करके दिया जाता है। यथा—प्रश्न—क्या मृत्यु के बाद प्रत्येक प्राणी जन्म लेता है ? उत्तर—क्लेश से विमुक्त प्राणी जन्म नहीं लेता, क्लेशयुक्त प्राणी जन्म लेता है।[206] माणवक ने प्रश्न किया—"भगवान ! मैंने सुना है कि गृहस्थ ही आराधक होता है, प्रव्रजित नहीं।" बुद्ध का उत्तर था—"माणवक ! गृहस्थ भी **यदि**, मिथ्यावादी है तो निर्वाण मार्ग का आराधक नहीं हो सकता, और त्यागी भी यदि मिथ्यावादी हैं **तो** निर्वाण मार्ग की आराधना नहीं कर सकता। **दोनों** यदि सम्यक् प्रतिसम्पन्न हैं **तो** दोनों आराधक हो सकते हैं।"[207] ये दोनों उत्तर विभज्जवाद के उदाहरण हैं।

यह हम कह चुके हैं कि 'यदि', 'कथंचित्' जैसी शर्तें लगाकर प्रश्नों का उत्तर देना सापेक्षवाद का लक्षण है। एक (जैन) भिक्षु को कैसी भाषा का प्रयोग करना चाहिए ? इसके उत्तर में सूत्रकृतांग (1/14/22) में कहा गया है कि भिक्षु विभज्जवाद का प्रयोग करें—"भिक्खू विभज्जवायं व वियागरेज्जा।" इससे प्रकट है कि जैनाचार्यों की दृष्टि में विभज्जवाद और अनेकांतवाद समानार्थी हैं—दोनों में इतना अंतर लक्षित होता है कि प्रथम में अस्ति और नास्ति के दो ही विकल्प होते हैं, द्वितीय में सात।

ध्यातव्य यह है कि किसी प्रश्न को विभाजित करके उत्तर देना तभी सम्भव है कि जब प्रश्न में उल्लिखित विषय, अथवा वस्तु, को परस्पर विरोधी दो अथवा दो से अधिक लक्षणों या सम्भावनाओं से युक्त माना जाए, और उसके उत्तर में

उन सभी विकल्पों या वैकल्पिक सम्भावनाओं के समावेश की चेष्टा की जाए। इस स्थिति के फलस्वरूप उत्तर के प्रत्येक अंश का कथ्य अपनी सार्थकता के लिए अन्य विरोधी अंश या अंशों पर अवलम्बित रहेगा। अर्थात् उत्तर का कोई भी एक अंश स्वतंत्र रूप में सार्थक नहीं हो सकता। उत्तर खंडों की यह पारस्परिक सापेक्षता विभज्यवाद और सापेक्षवाद में समान रूप से रहती है, अतः ये दोनों समानधर्मी हैं।

धर्म (पदार्थ) मीमांसा

बौद्ध वाङ्मय में 'धर्म' शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया गया है। यहाँ धर्म से अभिप्राय भूत और चित्त के (उन) सूक्ष्म तत्त्वों से है, जिनका पृथक्करण और नहीं हो सकता। बौद्धों के अनुसार वस्तु जगत् की रचना इन्हीं धर्मों के 'आघात-प्रतिघात' से होती है; अर्थात नाम रूपात्मक जगत् के समस्त पदार्थ स्वतंत्र एवं सत्तात्मक न होकर सापेक्ष और धर्मों के संघात मात्र होते हैं।

प्राचीन बौद्धों की धर्म मीमांसा बड़ी सूक्ष्म, विस्तृत एवं जटिल है, जिसका विवेचन यहाँ सम्भव नहीं है। अत्यन्त संक्षेप में यह कि प्राचीन बौद्धों ने धर्मों का दो प्रकार से विभाजन किया है—विषयीगत और विषयगत। मेरे विचार से इन्हें क्रमशः पिंड एवं ब्रह्मांड की रचनाओं से सम्बद्ध करके भी देखा जा सकता है।

विषयीगत—इस विभाजन में कुल पैंतीस धर्म हैं, जिन्हें तीन उपभेदों के अंतर्गत व्यवस्थित किया गया है– पांच स्कंध, बारह आयतन और अठारह धातु। इनका विशेष परिचय बौद्धधर्म एवं दर्शन पर लिखे गए स्वतंत्र ग्रंथों में अवलोक्य है।

विषयगत—मोटे तौर पर इनके दो भेद किए गए हैं असंस्कृत धर्म और संस्कृत धर्म।

असंस्कृत धर्म—स्थविरवादियों ने एकमात्र निर्वाण को, सर्वास्तिवादियों ने आकाश और (द्विविध) निरोध – (प्रति संख्या निरोध और अप्रतिसंख्या निरोध) को तो योगाचारियों ने आकाश, द्विविध निरोध, अचल, संज्ञा और तथता को, असंस्कृत (अकृत्रिम, मूलभूत, अपरिणामी) धर्म माना है। इन सभी असंस्कृत धर्मों को अज्ञात, अभूत, अकृत एवं असंस्कृत कहा गया है—अत्थि अजातं, अभूतं, असंखतं—('उदान'—पाटिल-गामिय वग्गो) आकाश, द्विविध निरोध एवं निर्वाण का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

जैसा हम देख चुके हैं 'अभिधर्मकोश' एवं 'मिलिंद प्रश्न' आदि के विधानों के अनुसार आकाश, पृथ्वी आदि महाभूतों का आश्रय अथवा लय स्थान माना गया है।[208] अभिधर्मकोश (1/5) में आकाश को 'अनावृत्तिः' कहा गया है।[209]

संक्षेप में प्रज्ञा द्वारा उत्पन्न सास्रव धर्मों का पृथक्-पृथक् वियोग प्रतिसंख्या

निरोध है—प्रतिसंख्या निरोधी यो विसंयोगः । पृथक्-पृथक्---(अभिधर्म कोश 1/6) और उत्पाद का अत्यंत विघ्नभूत निरोध अप्रतिसंख्या निरोध है, जिसकी प्राप्ति साक्षात्कार से न होकर प्रत्यय वैकल्प से होती है ।

ध्यातव्य होगा कि निरोध और निर्वाण पर्याय रूप हैं । बौद्धों ने निर्वाण का अर्थ किया है—'बुझना' । आकाश, निरोध एवं निर्वाण 'भाव' के द्योतक हैं, अथवा 'अभाव' के इस विषय में मतभेद पाया जाता है । हमारे विचार से इनके भाव रूप होने की सम्भावना अधिक है । 'उदान' के 'पाटिलिगामिय वग्गो' में इसका निरूपण उपनिषदों के 'ब्रह्मलोक' के समतुल्य रूप में किया गया है । यथा – "भिक्षुओ ! वह एक आयतन है, जहाँ न तो पृथ्वी, न जल, न तेज, न वायु, न आकाशवनञ्चायतन है: न विज्ञानाञ्चायतन, न आकिञ्चनायतन, न नैवसंज्ञानसंज्ञायतन है । वहाँ न तो यह लोक है, न परलोक है, और न चंद्र-सूर्य हैं । मैं उसे न तो अगति कहता हूँ न गति, न स्थिति और न च्युति कहता हूँ, उसे उत्पत्ति भी नहीं कहता । वह न तो कहीं ठहरा है, न प्रवर्तित होता है और न उसका कोई आधार है । यही दुःखों का अंत है ।[210]

बौद्ध वाङ्मय में निर्वाण से सम्बन्धित—निब्बाणं परमं सुखं (मज्झिम० 2/3/5), निब्बानं इति तं ब्रूमि जरामच्चुपरिक्खयं—(सुत्तनिपात 65/3), निब्बु तस्स भिक्षुनो अनुपादा पुनब्भवो न होति (उदान 30), तण्हाय विप्पहानेन निब्बार्णं इति वुचति (सुत्तनिपात), जैसी अनेक उक्तियाँ हैं, जिनकी तुलना उपनिषदों की मोक्ष विषयक उक्तियों से सरलता से की जा सकती है—कुछेक हम पीछे भी देख चुके हैं ।

'संयुक्त निकाय' के एक प्रसंग में बुद्ध ने कहा है कि भिक्षुओ, चक्षु, श्रोत्र, प्राण, जिह्वा और शरीर का आश्रय मन है । मन का आश्रय सम्यक् स्मृति है, सम्यक् स्मृति का आश्रय विमुक्ति है, विमुक्ति का आश्रय निर्वाण है । परंतु यदि तुम पूछो कि निर्वाण का आश्रय क्या है ? तो यह अतिप्रश्न है, जिसका उत्तर नहीं दिया जा सकता । यह ब्रह्मचर्य का जीवन निर्वाण में प्रवेश के लिए, निर्वाण तक जाने के लिए एवं निर्वाण में परिपूर्णता प्राप्त करने के लिए है ।"[211] विशाख से यह पूछे जाने पर कि "आर्य ! निर्वाण का प्रतिभाग (सपक्षी) क्या है ?" धम्मदिन्ना ने कहा--"आवुसं विशाख ! तुम प्रश्न का अतिक्रमण कर गए । ······· ब्रह्मचर्य निर्वाण पर्यंत है, निर्वाण परायण है, निर्वाण पर्यावसान है ।"[212]

जैसा हम देख चुके हैं बृ० उप० के याज्ञवल्क्य-गार्गी सम्वाद में गार्गी ने—"ब्रह्मलोक किसमें ओतप्रोत है ?" इस प्रश्न को अतिप्रश्न कहा है, और यही दृष्टि, उसी उपनिषद् के याज्ञवल्क्य-शाकल्य सम्वाद में, 'समान वायु' (आत्मा अथवा औपनिषदिक पुरुष) के सम्बन्ध में अपनाई गई है । अर्थात् ब्रह्मलोक याज्ञवल्क्य के अनुसार सृष्टि का आदि कारण है, उससे भिन्न उसका कोई अन्य कारण नहीं है, वही सृष्टि का अधिष्ठान है । 'बौद्धों का निर्वाण' के विषय में ऐसा ही

मंतव्य पाया जाता है।

संस्कृत धर्म—जैसा हम देख चुके हैं, हेतु प्रत्यय से उत्पन्न होने वाले सभी धर्म संस्कृत (संस्कारित, कृत्रिम, सापेक्षभावयुक्त) कहे गए हैं। राजगृह के अश्वजित् का यह कथन—

ये धम्मा हेतुप्पभवा तेसं हेतुं तथागतो आह।
तेसं च यो निरोधो एवं वादी महासमणो ॥[213]

अर्थात् जो धर्म हेतु से उत्पन्न होने वाले हैं, उनके हेतु एवं निरोध का तथागत ने उपदेश दिया है—हमारे विचार से संस्कृत धर्मों के ही विशेष संदर्भ में है।

अब क्योंकि ये (संस्कृत धर्म) हेतु एवं प्रत्ययों से समुद्भूत होते हैं, अतः इनकी अपनी स्वतंत्र या निरपेक्ष सत्ता नहीं होती। यही इनका अनात्म (स्वरूपशून्य) होना है। दूसरे 'जातस्यहि ध्रुवो मृत्युः' के सिद्धांतानुसार क्योंकि ये समुदय (उत्पन्न होने वाले) धर्म हैं, अतः इनका निरोध (विनाश) भी स्वाभाविक है—यं किञ्चि समुदयधम्मं सब्बं तं निरोध धम्मंति– (विनय पिटक, महावग्ग)। इस प्रकार से सब उत्पाद—व्ययशील होने से अनित्य हैं, और अनित्य होने से दुःख हैं—'यदनिच्चं तं दुक्खं। कुल मिलाकर इनके तीन लक्षण हैं—उत्पत्ति, व्यय एवं स्थित्यन्यथात्व। अन्यत्र इनके चार लक्षण भी बताए गए हैं—उत्पाद, स्थिति, व्यय एवं निरोध।[214]

रूप, चित्त, चैतसिक एवं चित्तविप्रयुक्त—इन चार विभागों के अंतर्गत स्थविरवादियों ने संस्कृत धर्मों की संख्या एक सौ सत्तर मानी है, सर्वास्तिवादियों ने पिचहत्तर और योगाचारियों ने सौ। ऊपर जिन पाँच स्कंध, बारह आयतन एवं अठारह धातुओं का उल्लेख किया गया है, वे भी संस्कृत धर्मों के गुण-धर्मों से युक्त हैं। अतः समस्त स्कंध, धातु और आयतन, समासतः सभी भूत और भौतिक चित्त और चैत्त धर्मों में अनित्यता, दुःखात्मकता और परतंत्रता व्यापक है। इन सभी में अनित्य, दुःख और अनात्म के लक्षण देखने चाहिए।[215]

अत्यंत संक्षेप में ये ही तथागत द्वारा कहे गए हेतु से उत्पन्न होने वाले (संस्कृत) धर्म एवं उनके लक्षण हैं। तथागत द्वारा कहे गए इनके हेतु एवं निरोध के सम्बन्ध में उनका यह कथन अवलोक्य है– अत्थि भिक्खवे ! अजातं, अभूतं, अकतं, असंखतं नो चे तं भिक्खवे ! अभविस्स अजातं अभूतं अकतं असंखतं न यिध जातस्स भूतस्स कतस्स संखतस्स निस्सरणं पञ्ञायेध। यस्मा च भिक्खवे अत्थि अजातं अभूतं असंखतं तस्मा जातस्स भूतस्स संखतस्स निस्सरणं पञ्ञायतीति—('उदान'—पाटिलि गामिय वग्गो)।

अर्थात् भिक्षुओ ! अजात, अभूत, अकृत (एवं) असंस्कृत (निर्वाणादि) है। भिक्षुओ ! यदि वह अजात अभूत अकृत और असंस्कृत नही होता तो जात, भूत, कृत और संस्कृत—(संसार) का व्युपशम (अंत) नहीं हो सकता। भिक्षुओ !

क्योंकि वह अजात, अभूत, अकृत और असंस्कृत है, इसलिए जात-भूतकृत एवं संस्कृत का व्युपशम जाना जाता है।[216]

इस वक्तव्य से प्रकट है कि असंस्कृत धर्म संस्कृत धर्मों के अधिष्ठानस्वरूप हैं। अब यदि हम इस सर्वमान्य तर्क का प्रयोग करें कि कारण नित्य और कार्य अनित्य होता है, तथा कार्य का लय अपने कारण से भिन्न किसी अन्य पदार्थ में नहीं होता, तो निश्चय ही असंस्कृत धर्म संस्कृत धर्मों के कारण रूपसिद्ध होते हैं। किंतु ऐसा निष्कर्ष निकालने में हम बुद्ध द्वारा निर्धारित 'अव्याकृत' की सीमा का यत्किंचित् उल्लंघन अवश्य करेंगे। क्योंकि उन्होंने 'कार्य' (संस्कृत धर्म) को ही व्याकृत किया है, कारण को नहीं।

अनीश्वरवाद—सामान्यतः यह माना जाता है कि बुद्ध ने सभी धर्मों को प्रतीत्यसमुत्पन्न अर्थात् क्षण-क्षण परिवर्तित माना है, अतः उनके चिंतन में विश्व के स्रष्टा, भर्त्ता, हर्त्ता एक नित्यचेतन ईश्वर की गुंजाइश ही नहीं है।[217] अतः वे अनीश्वरवादी हैं।

दूसरी ओर पाथिकसुत्त (दीघ० 3/1 हिंदी अनु०, पृ० 223) में बुद्ध ने ईश्वर के कर्त्तापन की श्रेष्ठता में विश्वास रखने वाले भार्गव गोत्र के परिव्राजक से एतद्विषयक अपने संलाप में कहा है कि—प्रलय के बाद जब पुनर्सृष्टि होती है तब अन्य श्रेष्ठ लोक में जिसकी आयु (पुण्य) क्षीण हो गई हो ऐसा व्यक्ति सर्वप्रथम देवलोक में जन्म लेता है। बहुत समय अकेला रहने से वह ऊब जाता है और सोचता है – अहो ! दूसरे प्राणी भी यहाँ आवें। इसी बीच अन्य लोक से च्युत प्राणी यहाँ (ब्रह्म विमान में) जन्म लेते हैं। तब जो पहले जन्मा था उसके मन में होता है कि 'मैं ब्रह्मा, महाब्रह्मा, विजेता, अ-विजित, सर्वज्ञ, यज्ञवर्ती, ईश्वर, कर्त्ता, निर्माता, श्रेष्ठ स्वामी और भूत तथा भविष्य के प्राणियों का पिता हूँ। जो प्राणी बाद में जन्म लेते हैं वे भी उसके पूर्वजन्म के विषय में ऐसे ही विचार रखने लग जाते हैं। और इसी सृष्टि रचना क्रम में जो मर्त्य लोक में जन्म लेते हैं वे उसे ब्रह्मा, ईश्वर, कर्त्ता, नित्य, ध्रुव, शाश्वत तथा स्वयं को अनित्य, अध्रुव, अल्पायु एवं मर्त्य मान लेते हैं इत्यादि।

इसी प्रकार भगवान बुद्ध ने 'केवट्ट सुत्त' (दीर्घ० 1/11, हिंदी अनुवाद, पृ० 79-80) में ब्रह्मा की सर्वज्ञता का भी उपहास किया है। पृथ्वी आदि चार महाभूत कहाँ जाकर बिल्कुल निरुद्ध हो जाते हैं ? एक बौद्धभिक्षु के इस प्रश्न के उत्तर में ब्रह्मा कहता है– "हे भिक्षु ! ये देवता ऐसा मानते हैं कि मुझसे कुछ भी अज्ञात एवं अदृष्ट नहीं है। वास्तत में मैं नहीं जानता कि चार महाभूत कहाँ जाकर निरुद्ध हो जाते हैं। अपने इस प्रश्न के समाधान के लिए तुम बुद्ध को छोड़कर बाहर व्यर्थ ही भटक रहे हो।"

इन आख्यानों से यह फलित होता है कि बौद्धों ने ईश्वर, ब्रह्मा एवं देवताओं के अस्तित्व को नहीं नकारा है। उनके कहने का भाव यही प्रतीत होता है कि ईश्वर या ब्रह्मा मर्त्यलोक की अपेक्षा उच्च स्तरीय लोक के प्राणी हैं, जो

मनुष्य की अपेक्षा दीर्घजीवी एवं कुछ अधिक सुख-सुविधा व शक्तिसम्पन्न भले हों, अजर, अमर, कर्त्ता, भर्त्ता, हर्त्ता एवं सर्वज्ञ आदि नहीं हैं।

मध्यम प्रतिपदा—बुद्ध की धर्म देशना एवं साधना मार्ग को सामान्यतः मध्यममार्ग की संज्ञा दी जाती है—'मज्झेन तथागतो धम्मं देसेति।' 'मध्यम' का अर्थ है दो अंतों (अथवा अतियों) के मध्य की स्थिति। बुद्ध देशना के अनेक पहलुओं की व्याख्या मध्यम स्थिति के मन्तव्य के रूप में की गई है, किंतु हम यहाँ उनके साधना मार्ग एवं तत्त्वचिंतन की इस दृष्टि से की गई व्याख्याओं को ही लेंगे।

वाराणसी के ऋषिपतन मृगदाव में पंचवर्गीय भिक्षुओं के प्रति दिए गए अपने प्रथम उपदेश में बुद्ध ने कहा था—भिक्षुओ, ये दो अतियाँ प्रव्रजित के द्वारा सेवन करने योग्य नहीं हैं। कौन-से दो अंत ? एक है 'कामसुखल्लिकानुयोग' अर्थात् काम सुख (विषय सुख) में तल्लीन हो जाना। जो हीन है, ग्राम्य है, पृथग्जनोचित है, अनार्य है और अनर्थयुक्त है। दूसरा है—'अत्तकिलमथानुयोग' अर्थात् अतिशय काया क्लेश। वह भी दुःख है, अनार्य है और अनर्थपूर्ण है।[218]

इन दोनों अंतों (में से किसी का भी) सेवन करने से मनुष्य भवचक्र से मुक्ति नहीं पा सकता। उसके उद्धार का मार्ग दोनों अंतों के मध्य का मार्ग है। बुद्ध ने इसी का प्रतिपादन किया है, जो नेत्रोन्मीलक, ज्ञानोत्पादक एवं चित्त को शांति देनेवाला और उपशम, अभिज्ञा, ज्ञान एवं निर्वाण की प्राप्ति कराने वाला है। अतः इसी का पालन प्रव्रजित के लिए हितकर है। इसी का अपरनाम आर्य अष्टांगिक मार्ग है।[219]

बुद्ध के उक्त वक्तव्य का सामान्यतः यह तात्पर्य लिया जाता है कि उन्होंने अतिशय भोग-विलास एवं अतिशय काया-क्लेश युक्त तप-त्याग का निषेध करते हुए संयमित आहार-विहार युक्त जीवन को आदर्श जीवन बताया है। किंतु हम यह देख चुके हैं कि बुद्ध स्वयं योग साधक थे, उनके द्वारा उपदिष्ट साधना मार्ग स्पष्टतः ब्रह्मचर्य, निर्वेद, विराग, निरोध एवं निर्वाण का मार्ग है, जो सामान्य जीवन का पर्याय कदापि नहीं हो सकता। उनके कृच्छ्राचार निरोध का तात्पर्य इतना ही है कि अन्य धर्माचार्यों द्वारा उपदिष्ट साधना मार्ग अपने लक्ष्य की प्राप्ति में उपकारक न होने से कष्टप्रद है, त्याज्य है। इसके विपरीत उनके अपने द्वारा उपदिष्ट साधन मार्ग लक्ष्य प्राप्ति में उपकारक होने से कष्टप्रद नहीं कहा जा सकता, वह तो पुरुषार्थ है, उद्योग है। उसमें होने वाला कष्ट तो सुख के लिए किया जा रहा उद्योग है इत्यादि।

तत्त्व चिंतन के क्षेत्र में प्रवर्तित परस्पर विरोधी जिन दो मन्तव्यों को अतिवादी होने की संज्ञा दी गई है, वे हैं—शाश्वतवाद और उच्छेदवाद। भगवान बुद्ध के कथनानुसार शाश्वतवादी मानता है कि—"यह जो मेरा आत्मा वेदक और वेदन (अनुभव) करने योग्य है, जो जहाँ-तहाँ अपने शुभाशुभ कर्मों के विपाक को अनुभव करता है, यह मेरा आत्मा नित्य, ध्रुव, शाश्वत, अपरिवर्तनशील

है और अनंत वर्षों तक वैसा ही रहेगा। हे भिक्षुओ ! यह भावना बिल्कुल बाल-धर्म है अयं भिक्खवे केवलो परिपूरो बाल धम्मो – (सब्बासव सत्तन्तसुत्त:, मज्झिम० 1/1/2)। उल्लेख्य होगा कि कतिपय विद्वान यह मानते हैं कि बुद्ध के इस कथन में आत्माविषयक औपनिषदिक विचारों का खंडन किया गया है। किंतु हमारे विचार से उनकी यह धारणा निर्मूल है, क्योंकि कर्त्तृत्व-भोक्तृत्व युक्त अहं प्रत्यय 'आत्मा' अर्थात् सविशेष या अपने स्वतंत्र अस्तित्व वाला शाश्वत आत्मा या तो जैनों का 'जीव' हो सकता है, या फिर कर्मकांडी ब्राह्मणों का 'आत्मा' हो सकता है। उपनिषदों का आत्मा न तो सविशेष है, न कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व युक्त है— अस्तु।

उच्छेदवादियों की धारणा के विषय में कहा गया है— भिक्षुओ ! एक श्रमण-ब्राह्मण उच्छेदवादी हैं, जो सत् (विद्यमान), सत्त्व (जीव) का उच्छेद, विनाश का प्रज्ञापन करते हैं"— (ब्रह्मजाल सुत्त, दीघ० 1/1) ये सम्भवत: ऐसे लोग हैं, जो मानते हैं कि—"रूप आत्मा है, वेदना आत्मा है, संज्ञा आत्मा है, संस्कार आत्मा है, विज्ञान आत्मा है। जबकि ये सभी धर्म अनित्य हैं, संस्कृत हैं, प्रतीत्यसमुत्पन्न हैं, क्षयधर्म हैं, व्ययधर्म हैं, निरोधधर्म हैं (महानिदान सूत्र, दीघनिकाय)। अर्थात् अनित्य हैं, अनात्म हैं, दुःख हैं—इत्यादि। बुद्ध द्वारा निर्दिष्ट ये अच्छेदवादी सम्भवत: चार्वाक हैं, और उनके देहात्मभाव को ही बुद्ध ने आत्मवाद कहा है।

एक अन्य उक्ति में कहा गया है कि भिक्षुओ ! कोई-कोई देवता और मनुष्य भव में रमने वाले हैं, भव में रत हैं, भव में प्रसन्न हैं। भव-निरोध के उपदेश में उनका चित्त नहीं लगता, नहीं प्रसन्न होता। कोई-कोई अधिक दौड़ लगाते हैं, वे भव से ही घृणा, लज्जा और जुगुप्सा करते हुए विभव (उच्छेद) चाहते हैं। वे कहते हैं—यह आत्मा शरीर छूटने पर उच्छिन्न हो जाता है, विनष्ट हो जाता है, नहीं रहता है, यही शांत है, यही उत्तम है, यही यथार्थ है— (दिट्ठिगत सुत्त, इतिवुत्तक)।

इसी प्रसंग में 'सम्यग्दर्शी' के विषय में कहा गया है कि, भिक्षुओ ! यहाँ कोई सम्यग्दर्शी आँखवाला ही देखता है। यहाँ भिक्षु (साधक) भूत (पंचस्कंध) को भूत के रूप में देखता है, भूत को भूत (अनात्म, जड़, अनित्य) के रूप में देखकर निर्वेद, विराग और निरोध के मार्ग के अभ्यास में लग जाता है।"[220] अर्थात् निर्वेद, विराग और निरोध के मार्ग के अभ्यास के लिए साधक भूत को भूत (अनात्म) के रूप में देखता है। हमारे विचार से बुद्ध के अनात्मवाद का तात्पर्य दृष्ट-नष्ट सृष्टि को आत्मा से रहित बताना मात्र है।[221]

कुल मिलाकर देखने पर तात्पर्य यह निकलता है कि पारमार्थिक सत्ता, अथवा आत्मा के अस्तित्व एवं अनस्तित्व के सम्बन्ध में बुद्ध सर्वांशत: (अथवा ऐकांतिक रूप से) 'है' अथवा 'नहीं है' कहने के पक्ष में नही हैं। सम्भवत: इसी-लिए बुद्ध के तत्कालीन आलोचक उन्हें 'अप्रज्ञप्तिक' (स्पष्ट शब्दों में 'हाँ' अथवा

अथवा 'ना' नहीं कहने वाला)[222] होने का आरोप लगाते थे। किंतु जैसा हम देखते आ रहे हैं कि इस परम्परा के तत्कालीन तत्त्वचिंतकों की यह एक सामान्य विशेषता है। इसे ही मध्यम प्रतिपदा, निर्विकल्प, स्वसंवेद्य, निर्विशेषवाद, अनिर्वचनीयता, अव्याकृत आदि कहा गया है।

ध्यातव्य है कि पारमार्थिक सत्य के विषय में निर्णायक ढंग से 'है' अथवा 'नहीं है' न कहने पर भी उन्होंने अकुशल कर्मों के त्याग एवं कुशल कर्मों के पालन को उचित ठहराया है। इस विषय में उनके विचारों का सारांश है कि—यदि यह सच है कि आत्मा पर शुभाशुभ कर्मों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, तो ऐसी स्थिति में शुभ कर्म करने वाले की कोई हानि नहीं होती, किंतु यदि यह सच है कि शुभाशुभ कर्मों का आत्मा पर प्रभाव पड़ता है, तो उस स्थिति में शुभ कर्म करने वाले को लाभ और अशुभ कर्म करने वाले की हानि निश्चित है। अतः दोनों स्थितियों में शुभ कर्म करना ही उत्तम है।[223]

बुद्ध के धार्मिक विचार

बुद्ध के मूलभूत धार्मिक विचार क्या थे ? यह अनेक कारणों से विवादास्पद है। किंतु एक तो वाराणसी के ऋषिपतन मृगदाव (सारनाथ) में कौण्डिन्यादि पंचवर्गीय भिक्षुओं को सम्बोधित करके दिए गए चार आर्यसत्य एवं मध्यम प्रतिपदा के उपदेश को बौद्ध वाङ्मय में सर्वत्र बुद्ध का प्रथम 'धर्म चक्र प्रवर्त्तन' कहा गया है। दूसरे जैसा हम देख चुके हैं, बुद्ध ने पोट्ठपाद से कहा था कि धर्म, ब्रह्मचर्य, एकांत, निर्वेद, विराग, निरोध, उपशम, अभिज्ञा, परमार्थ, सम्बोधि एवं निर्वाण के लिए उपयोगी होने के कारण मैंने चार आर्यसत्यों को व्याकृत किया है।[224] तीसरे, संयुक्त निकाय में कहा गया है कि "चार आर्य सत्यों का उसने ज्ञान प्राप्त किया, स्वयं बोध प्राप्त करके दूसरों को उनका बोध कराया था, इसलिए वह बुद्ध था— इमेसं खो भिक्खवे चतुन्न अरियसच्चानं यथाभूतं अभिसम्बुद्धता तथागतो अरहं सम्मा सम्बुद्धेति बुच्चतीति।[225] उदान अट्ठकथा (1/1) के कथनानुसार भी चार आर्यसत्यों का ज्ञान ही वस्तुतः धर्म ज्ञान है। तदुपरांत गवेषी विद्वानों के मंतव्यों से भी यही निष्पन्न होता है कि चार 'आर्य सत्य' और उनसे सम्बद्ध 'द्वादश निदान' (प्रतीत्यसमुत्पाद) तथा मध्यमप्रतिपदा (आर्य अष्टांगिक मार्ग) आदि को बुद्ध के मूलभूत धार्मिक विचारों के रूप में स्वीकारा जा सकता है। यहाँ इसी मान्यता के अनुसार बुद्ध के धार्मिक विचारों को संक्षेप में प्रस्तुत किया जाएगा।

चार आर्यसत्य—यहाँ 'आर्य' शब्द का अर्थ है— 'अर्हत्'। और इस प्रकार आर्यसत्य का अर्थ है—ऐसा सत्य जिसे अर्हत् लोग ही भली भाँति जान सकते हैं। ऐसे सत्यों की संख्या यों तो अनंत हो सकती है, किंतु उनमें चार महत्त्वपूर्ण हैं। ये हैं—(1) दुःख, (2) दुःख समुदय (3) दुःखनिरोध और (4) दुःखनिरोध गामिनी प्रतिपद।

बुद्ध का कथन है कि दुःख आर्यसत्य परिज्ञेय है, अतः उसे उन्होंने जाना। दुःख समुदय आर्यसत्य को उन्होंने छोड़ने योग्य (पहातब्बन्ति) समझा और उसे छोड़ दिया—(पहीनन्ति), दुःख निरोध आर्यसत्य को साक्षात्करणीय (सच्छिकातब्बन्ति) जाना और उसका साक्षात्कार कर लिया—(सच्छिकतन्ति) एवं दुःख निरोध गामिनी प्रतिपदा रूप आर्यसत्य को भावनीय (भावेतब्बन्ति) जाना और उसकी सम्यक् रूप से उन्होंने भावना की।"[226] कहना न होगा कि चिकित्सा-शास्त्र, योगशास्त्र, सांख्य एवं जैनों के पूर्वोक्त चतुर्व्यूहों में ज्ञेय, हेय, ध्येय एवं उपादेय होने के जो लक्षण निहित हैं वे बुद्ध के उक्त चार सत्यों में भी सुरक्षित हैं।

बुद्धोपदिष्ट चार आर्यसत्यों में कौन-से धर्म अंतर्भूत हैं, इस पर परवर्ती काल के अभिधर्म के आचार्यों ने अनेक धारणाएँ और व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं।[227] "विनय और निकायों में पहले सत्य के अंदर दुःख को व्यापक अर्थ में ग्रहण किया गया है, दूसरे सत्य में प्रतीत्यसमुत्पाद अथवा निदानों का उल्लेख किया गया है, तीसरे सत्य में निर्वाण अथवा निरोध का और चौथे में नाना बोधिपाक्षिक धर्मों का, विशेषतः अष्टांगमार्ग का।"[228]

दुःख—इसकी व्याख्या करते हुए तथागत ने कहा था—"भिक्षुओ! दुःख प्रथम आर्यसत्य है। जन्म भी दुःख है, बुढ़ापा भी दुःख है, मरण भी दुःख है, शोक, परिवेदना, दौर्मनस्य (उदासीनता), उपायास (हैरानी-परेशानी) भी दुःख है। अप्रिय का मिलन दुःख है। प्रिय से बिछुड़ना भी दुःख है। इप्सित का न मिलना भी दुःख है। संक्षेप में यह कि राग के द्वारा उत्पन्न पाँचों स्कंध - (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान) भी दुःख है।[229] प्रकट है कि बौद्धों के अनुसार 'पीड़ा' नामक प्रतिकूल संवेदन मात्र ही 'दुःख' नहीं है। वस्तुतः जो कुछ अनित्य है उस सबकी संज्ञा दुःख है, जो अनात्म—(परतंत्र, स्वरूपशून्य, सापेक्ष) है—सब्बे धम्मा अनत्ता यदनिच्चं तं दुक्खं य दुक्खं तदनत्ता··· ॥ (संयुत्त० 21/2)। जैसा हम देख चुके हैं चिकित्साशास्त्र के 'रोग' की जगह योगशास्त्र ने 'संसार' को रखा है, बुद्ध ने उसी जगह 'दुःख' को रखा है। इस प्रकार बुद्ध का दुःख नामक आर्यसत्य नाशोत्पादशील कार्यरूप जगत का, किंतु विशेष रूप से भव (व्यक्ति के पुनर्जन्म) का पर्याय हैं।

दुःख समुदय—'समुदय' का अर्थ है—'कारण'। अर्थात् दुःख कार्यरूप है और कोई भी कार्य बिना कारण के नहीं होता, अतः दुःख रूप कार्य का जो कारण है, वही दुःख समुदय है। तथागत का कथन है—भिक्षुओ! दुःख समुदय (द्वितीय) आर्यसत्य है। दुःख का वास्तविक हेतु तृष्णा है, जो पुनर्भव (पुनर्जन्म) को करने वाली विषयासक्ति और राग से युक्त है, उन विषयों का अभिनन्दन करने वाली है, वहाँ-वहाँ (उन विषयों में) रमण करने वाली है। वह तीन प्रकार की है—कामतृष्णा, भवतृष्णा और विभव तृष्णा।[230]

बुद्ध के अनुसार तृष्णा ही विश्व के समस्त विद्रोहों एवं विरोधों की जननी

है। इसी के कारण राजा राजा से, क्षत्रिय क्षत्रिय से, ब्राह्मण ब्राह्मण से, माता पुत्र से, और पुत्र माता से लड़ता है। समस्त पापकर्मों का निदान यही तृष्णा है।[231]

'तृष्णा' की उत्पत्ति विषयक बुद्ध के विचारों को हम पीछे (दे० उपनिषदों का प्रभाव शीर्षक) उद्धृत कर चुके हैं। इस सबसे यह प्रकट है कि उपनिषत्कार जिसे 'कामना' अथवा सन्तानोत्पत्ति की इच्छा कहते हैं, बुद्ध की तृष्णा उसी का रूपांतर है।

ध्यातव्य यह है कि द्वादशांग प्रतीत्यसमुत्पाद के रूप में जिस भवचक्र का निरूपण किया गया है, उसके अनुसार अविद्या के प्रत्यय (हेतु) से संस्कार, संस्कार के प्रत्यय से विज्ञान, विज्ञान के प्रत्यय से नामरूप, नामरूप के प्रत्यय से षडायतन, षडायतन के प्रत्यय से स्पर्श-स्पर्श के प्रत्यय से वेदना, वेदना के प्रत्यय से तृष्णा, तृष्णा के प्रत्यय से उपादान, उपादान के प्रत्यय से भव, भव के प्रत्यय से जाति (जन्म) और जाति के प्रत्यय से जरा-मरण, शोक, परिवेदन, दुःख, दौर्मनस्य, आयास (हैरानी) आदि के दुःख स्कंध की उत्पत्ति बताई गई है।[232] अर्थात् द्वादश निदानों का यह भवचक्र ही दुःख समुदय अथवा पुनर्जन्म का कारण है।

उक्त द्वादश निदानों के भवचक्र की अनेक विध व्याख्याएँ पाई जाती हैं। कतिपय विद्वान, प्रथम दो निदानों को पूर्वजन्म से, तृतीय से दशवें तक के निदानों को वर्तमान जन्म से और अंतिम दो को पुनर्जन्म (भविष्य के जन्म) से सम्बद्ध करके इन्हें तीन जन्मों की कारण-कार्य श्रृंखला के रूप में व्याख्यायित करते हैं।[233] कहीं-कहीं इन्हें दो जन्मों की तो कहीं केवल एक ही जन्म की कारण-कार्य श्रृखला बताया गया है। जो हो, स्मरणीय यह होगा कि अविद्या से लेकर जन्म-मरण तक के द्वादश निदान एक गोलाकार परिधि में हैं, अतः इनका चक्र या भवचक्र अनादि है। अर्थात् जन्म-मरण के बाद अविद्या पुनः आ जाती है, और फिर वही क्रम पुनः प्रारम्भ हो जाता है। अतः इनमें प्रथम और अंतिम का क्रम वस्तुतः नहीं है। द्वादशांगों का प्रत्येक अंग अपने परवर्ती अंग का प्रत्यय है, और अपने पूर्ववर्ती प्रत्यय का कार्य है।

अब क्योंकि कारण के (प्रत्यय के) उपशांत, निष्क्रिय, विनष्ट अथवा निर्बीज हो जाने पर कार्य समाप्त हो जाता है · इस सर्वमान्य सिद्धांत के अनुसार कार्य रूप दुःख (या पुनर्जन्म) को समाप्त करना है तो उसके कारण रूप (दुःख समुदय), उक्त द्वादश निदानों के भवचक्र को निष्क्रिय, उपशांत अथवा निरुद्ध करना आवश्यक है। जिसका विचार चतुर्थ आर्यसत्य के अंतर्गत किया गया है।

दुःख निरोध—यह तृतीय आर्यसत्य है और इसका अर्थ है दुःख का आत्यन्तिक अभाव। तथागत का कथन है - भिक्षुओ! दुःख निरोध (तृतीय) आर्यसत्य है। उस तृष्णा से अशेप (सम्पूर्ण) वैराग्य का नाम है। उस तृष्णा का त्याग, प्रतिसर्ग, युक्ति तथा अनालय यही है।[234] अर्थात् द्वितीय आर्यसत्य

का निरोध ही दुःख निरोध है। इस तृष्णा निरोध का ही अपर नाम निर्वाण (या जीवन्मुक्ति) है, जिसके विषय में हम पहले ही बहुत कुछ कह चुके हैं।

दुःख निरोध गामिनी प्रतिपद—'प्रतिपद' का अर्थ है मार्ग अथवा साधना मार्ग। इस प्रकार दुःख निरोध गामिनी प्रतिपद नामक चतुर्थ आर्यसत्य का तत्पर्य है दुःख निरोध की प्राप्ति का साधना मार्ग। तथागत का कथन है—भिक्षुओ ! दुःख निरोध मार्ग (चतुर्थ) आर्यसत्य है। यही आर्य अष्टांगिक मार्ग है—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्मान्ति, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि, यह मध्यमा (सम्यक्) प्रतिपत् तथागत ने साक्षात् की है।"[235]

आर्य अष्टांगिक मार्ग के उक्त आठ अंगों को प्रज्ञा, शील एवं समाधि नामक साधनत्रय का विस्तृत रूप बताया गया है। उक्त अंगों में से प्रथम दो 'प्रज्ञा' के अंतर्गत हैं, तीसरे से पाँचवें तक के मध्यवर्ती तीन अंग 'शील' के और अंतिम तीन 'समाधि' के अंतर्गत माने जाते है। जैसा हम देख चुके हैं, भवचक्र के मूल में 'अविद्या' है। 'अविद्या' का उच्छेद विद्या अथवा प्रज्ञा द्वारा ही संभव है। 'शील' के आचरण द्वारा शरीरशुद्धि और 'समाधि' के अभ्यास द्वारा चित्तशुद्धि हो जाने पर ही प्रज्ञा का उदय संभव होता है। अर्थात् आचार शुद्धि और विचार शुद्धि के बाद उत्पन्न हुई प्रज्ञा से अविद्यामूलक भवचक्र का उच्छेद होता है। इस प्रकार चतुर्थ आर्यसत्य (आर्य अष्टांगिक मार्ग) द्वितीय आर्यसत्य (प्रतीत्यसमुत्पाद के द्वादश निदानों) का प्रतिपक्षी सिद्ध होता है। इस स्थिति का संक्षिप्त परिचय निम्नांकित है—

प्रतीत्यसमुत्पाद एवं आर्य अष्टांगिक मार्ग—सम्यक् सम्बोधि की प्राप्ति के रूप में भगवान बुद्ध ने जिन तीन विद्याओं का साक्षात्कार किया था उनमें से अंतिम थी—'प्रतीत्यसमुत्पाद'। रात्रि के अंतिम प्रहर में किए गए चिंतन द्वारा उन्होंने जाना कि—इमस्मि सति इदं होति इमस्म उप्पादा इमं उप्पज्जति इमस्मिं असति इदं न होति, इमाम निरोधास्म इंद निरुज्झति॥ अर्थात्—इसके होने पर यह होता है, इसके उत्पाद से यह उत्पन्न होता है, इसके न होने पर यह नहीं होता, इसके निरोध से यह निरुद्ध होता है।

इसका तात्पर्य यह है कि किसी भी वस्तु (अथवा घटना) या अस्तित्व एवं अनस्तित्व अथवा उत्पाद एवं निरोध उसके प्रत्ययस्वरूप अन्य पूर्ववर्ती वस्तु (या घटना) के अस्तित्व एवं अनस्तित्व अथवा उत्पाद एवं निरोध पर निर्भर है। अर्थात् एक ओर प्रत्येक की सत्ता अन्य की सत्ता पर निर्भर अथवा सापेक्ष है, दूसरी ओर वह क्षयशील है अथवा नश्वर है। अर्थात् जो कुछ भी समुदय धर्म है—(प्रत्यय से उत्पन्न होने वाला है)—वह सब निरोध धर्म है—(नश्वर है)—यं किञ्चि समुदय धम्मं तं सब्बं तं निरोध धम्मंति।[236]

प्रतीत्यसमुत्पाद के अविद्यादि द्वादश निदानों के पूर्वापर क्रम में निर्दिष्ट कारण-कार्य सम्बन्ध से दुःख समुदय एवं निरोध का ज्ञान होता है। अर्थात्

अविद्या के प्रत्यय से संस्कार का समुदय, संस्कार के प्रत्यय से विज्ञान का समुदाय······इत्यादि, इस अनुलोम क्रम से द्वादशांगों का विचार करने से दुःख के समुदय का ज्ञान होता है, और अविद्या के निरोध से विज्ञान का निरोध··· इत्यादि इस प्रतिलोम क्रम से द्वादशांगों का विचार करने से दुःख स्कंध के निरोध का ज्ञान होता है। दुःख समुदय एवं दुःख निरोध का ज्ञापक यही द्वादशांग प्रतीत्य समुत्पाद है। भगवान बुद्ध के कथनानुसार जो प्रतीत्यसमुत्पाद को देखता है, वह धर्म को देखता है और जो धर्म को देखता है वह प्रतीत्यसमुत्पाद को देखता है—यो पटिच्चसमुत्पादं पस्सति सो धम्मं पस्सति, यो धम्मं पस्सति सो पटिच्च समुत्पादं पस्सति······।[237] अर्थात् प्रतीत्यसमुत्पाद बुद्ध की धर्म देशना का मुख्याधार है।

जैसा हम ऊपर संकेत कर चुके हैं, उक्त प्रतीत्यसमुत्पाद के प्रतिलोम चिंतन में निर्दिष्ट 'दुःख निरोध' अथवा जाति निरोध ही वस्तुतः निर्वाण है, जो साधक का चरम लक्ष्य है। इस निरोध तक साधक को ले जाने वाली पगडंडी (साधना-मार्ग) ही दुःख निरोध गामिनी प्रतिपद हैं। उसी का अपर नाम आर्य अष्टांगिक मार्ग है, जो चतुर्थ आर्यसत्य के अंतर्गत है। इस प्रकार दुःख समुदय रूप द्वादशांगों के निरोधक आर्य अष्टांगिक मार्ग का परस्पर प्रतिपक्षी होना स्वाभाविक है। भवचक्र के द्वादश निदानों में से किस निदान का निरोध आर्य अष्टांगिक मार्ग के किस अंग से होता है? इस विषय की सम्यक् समीक्षा के बाद डॉ० भरतसिंह उपाध्याय[238] का निष्कर्ष है कि "सम्यक् दृष्टि से अविद्या का, सम्यक् संकल्प से संस्कार का, सम्यक् वाणी से विज्ञान का, सम्यक् कर्मान्त से नामरूप और षडायतन का, सम्यक् आजीव से स्पर्श का, सम्यक् व्यायाम से वेदना का, सम्यक् स्मृति से तृष्णा एवं उपादान का, और सम्यक् समाधि से भव और जाति का निरोध सम्पादित होता है। जाति का निरोध ही दुःख निरोध अथवा निर्वाण है।

भिक्षु धर्म अथवा निवृत्ति मार्ग—बुद्ध के धर्मोपदेश में व्यक्ति के जीवन का चरम लक्ष्य निर्वाण (बुझ जाना) माना गया है। निर्वाण, मोक्ष, परागति, दुःख की आत्यंतिक निवृत्ति या पुनर्जन्म से छुटकारा आदि एकांत साधना द्वारा वैयक्तिक उपलब्धि के अलग-अलग नाम हैं। अतः इन्हें जीवन का चरम लक्ष्य मानने वाला कोई भी धर्म निवृत्ति या संन्यास धर्म ही हो सकता है। बुद्धोपदिष्ट धर्म भी मूलतः इसी श्रेणी में आता है। प्रजापति गौतमी से भगवान बुद्ध ने स्पष्ट शब्दों में कहा था—"हे गौतमी! जिन धर्मों को तू जाने कि ये सराग के लिए हैं, विराग के लिए नहीं हैं; संयोग के लिए हैं, वियोग के लिए नहीं हैं; संग्रह करने के लिए हैं, असंग्रह के लिए नहीं हैं; इच्छाओं को बढ़ाने के लिए हैं, इच्छाओं को कम करने के लिए नहीं हैं। असंतोष के लिए हैं, संतोष के लिए नहीं हैं; भीड़ के लिए हैं, एकांत के लिए नहीं हैं; अनुद्योगिता के लिए हैं, उद्योगिता के लिए नहीं हैं इत्यादि; तो हे गौतमी! तू सोलहो आने (निश्चय-पूर्वक) जानना कि वह न धर्म है, न विनय है, न शास्ता का शासन है, किंतु

इनसे जो विपरीत धर्म हैं, अर्थात् जो विराग के लिए हैं, उद्योगिता के लिए हैं, उन्हें जानना कि ये सोलहो आने तथागत के धर्म हैं, विनय है, शासन है—(पजावती पब्बज्जा सुत्त, अंगुत्तर॰ 8/2/1/3)।

राध के प्रति उपदेश करते हुए भी बुद्ध ने यही कहा था कि राध ! सम्यक् दृष्टि निर्वेद के लिए है, निर्वेद विराग के लिए है, विराग विमुक्ति के लिए और विमुक्ति निर्वाण के लिए—(संयुत्त निकाय, जिल्द 2, पृ॰ 189)।

उक्त दोनों कथन बुद्धोपदिष्ट धर्म की मूलभूत निवृत्ति परायण प्रकृति का प्रतिपादन करने में सक्षम हैं। ध्यातव्य यह होगा कि निवृत्तिमूलक धर्म बौद्ध संघ की भिक्षु परिषद् एवं भिक्षुणी परिषद् द्वारा मुख्य रूप से अनुपालनीय था। इन दोनों परिषदों के लिए अलग-अलग विनय (नियमों) की व्यवस्था थी, जिसका निरूपण यहाँ संभव नहीं है।

संक्षेप में इस विषय में इतना ही कहा जा सकता है कि एक तो भिक्षुओं के लिए दश विरतियों[239] (शीलों) का विधान था। ये हैं—हिंसा न करना, असत्य न बोलना, चोरी न करना, व्यभिचार न करना, मादक द्रव्यों का सेवन न करना, असमय भोजन न करना, माला एवं सुगंधित द्रव्यों का सेवन न करना, नाच-गान न देखना न सुनना, स्वर्ण एवं रजत स्वीकार न करना और मूल्यवान शय्या अथवा आसन का प्रयोग न करना। दूसरे, करुणा, मुदिता, मैत्री एवं उपेक्षा नामक चार ब्रह्म विहारों की भावना करना। तीसरे, समाधि के लिए चार प्रकार के ध्यानों का अभ्यास करना। और चौथे, 37 (सैंतीस) बोधि पक्षीय धर्मों का पालन करना।

भिक्षुचर्या में सर्वाधिक महत्त्व सैंतीस बोधिपक्षीय धर्मों के अनुपालन का है। अपने महापरिनिर्वाण के समय बुद्ध ने भिक्षुओं को बुलाकर कहा था—"भिक्षुओ ! वे कौन-से धर्म हैं जिन्हें स्वयं जानकर, स्वयं साक्षात्कार कर, अभिज्ञानकर, मैंने तुम्हें बताया है और जिन्हें अच्छी तरह सीखकर तुम्हें आगे बढ़ाना है ? वे हैं—चार स्मृति प्रस्थान, चार सम्यक् प्रधान, चार ऋद्धिपाद, पाँच इंद्रिय (शक्तियाँ), पाँच बल, सात बोध्यंग और आर्य अष्टांगिक मार्ग।[240] बौद्धधर्म वस्तुतः बोधिधर्म या ज्ञानमार्ग है, और ये सैंतीस धर्म उसी बोधि की प्राप्ति में उपकारक होने से बोधि पक्षीय धर्म कहे गए हैं। इनका विस्तृत विवरण यहाँ सम्भव नहीं है। आगे निवृत्ति धर्म का वर्णन करते समय इनमें से कुछेक का निरूपण सम्भव हो सकेगा। यहाँ तो इनके महत्त्व के विषय में इतना ही उल्लेख्य है कि बुद्ध जब-जब यह कहते थे कि —"धर्म ही मनुष्यों में श्रेष्ठ है, इस जन्म में भी और परजन्म में भी"[241] तब-तब उनका संकेत इन्हीं धर्मों के प्रति होता था। अपने एक संलाप में बुद्ध ने आनंद से पूछा था—"आनंद ! इन (सैंतीस बोधि-पक्षीय) धर्मों के विषय में क्या दो भिक्षुओं में भी मतभेद दीखता है ?" आनंद ने उत्तर दिया—"नहीं भंते ! इन धर्मों (के सम्बन्ध) में मैं दो भिक्षुओं का भी मत-भेद नहीं देखता।"[242] डॉ॰ भरतसिंह उपाध्याय का विचार है कि बुद्ध के जीवन-

काल से लेकर आज तक कभी दो बौद्ध साधकों, चाहे वे बौद्धधर्म की (हीनयानी, महायानी) किसी शाखा के मानने वाले हों, इस सम्बन्ध (बोधि पक्षीय धर्मों के विषय) में कोई विवाद नहीं रहा।[243] तात्पर्य यह है कि बुद्ध की देशना का जो अंश सभी बौद्ध सम्प्रदायों में सामान्य रूप से मिलता है, उक्त बोधि पक्षीय धर्म उसी के अंतर्गत हैं।

जो हो, उपर्युक्त धर्मों का (भिक्षुधर्मों का) अनुसरण करते हुए श्रावक क्रमशः स्रोतापन्न, सकृदागामी एवं अनागामी की भूमिकाओं को पार करके अर्हत् पद प्राप्त करता था।

उपासक धर्म—बुद्ध की धर्म देशना मुख्यरूप से निवृत्तिमूलक है। किंतु जैसा हम कह चुके हैं निवृत्तिमार्गियों का अस्तित्व गृहस्थाश्रमियों के दान-पुण्य पर अवलम्बित रहता है। यदि गृही लोग भिक्षुओं को दान देना बंद कर दें, तो उनका और उनके सम्प्रदाय का अस्तित्व ही खतरे में पड़ सकता है। निवृत्ति-परायण किसी सम्प्रदाय को जीवित रखने का सुरक्षित मार्ग यही है कि गृहस्थों में भी उसका प्रचार करके अनुयायियों का एक वर्ग खड़ा किया जाए, और संन्यासियों का पोषण करते रहना उसका नैतिक दायित्व ठहरा दिया जाए। जैसा हम देखते आ रहे हैं कि पार्श्व, आजीवकाचार्य, महावीर प्रभृति ने यही नीति अपनाई थी, बुद्ध भी इसके अपवाद नहीं रहे।

शाक्यराजपुत्र महानाम के पूछे जाने पर बुद्ध ने एक बौद्ध उपासक (गृहस्थ) के छः लक्षण गिनाए थे।[244] (1) त्रिशरण—(बुद्ध, धर्म एवं संघ की शरणागति), (2), पंचशील- (अहिंसा, अस्तेय, सत्य, अव्यभिचार एवं मद्य निषेध), (3) श्रद्धा- (सम्यक् सम्बुद्ध और धर्मोपदेश में अडिग श्रद्धा), (4) दान—(बौद्ध भिक्षु एवं संघ के लिए उदारतापूर्वक दान देना), (5) प्रज्ञा—(धर्मों को नाशोत्पादशील जानना, दुःख निवृत्ति के लिए प्रयत्न करना, लोभ-द्वेषादि का और त्रिरत्न में संशय का त्याग) तथा (6) श्रुत-- (अर्थात् धर्मोपदेश को सुनना और उस पर मनन करना)। इन छः नियमों का पालन उसे स्वयं तो करना ही चाहिए अन्य लोगों को भी पालन की प्रेरणा देनी चाहिए। यदि सम्भव हो तो गृहस्थ उक्त पंचशीलों के साथ-साथ भिक्षुओं के लिए वैध पंचशीलों में से प्रथम तीन का अथवा सभी का पालन करें। ये पंचशील हैं—(1) असमय (रात्रि में) भोजन न करना, (2) माला एवं सुगंधित द्रव्यों का सेवन न करना, (3) भूमि पर बिछौना करके सोना, (4) नाच-गान में भाग न लेना और (5) सोने-चाँदी काम में न लाना।[245]

उपासक को उपोसथ के दिन अर्थात् अष्टमी, चतुर्दशी एवं पूर्णिमा के दिनों आठ शीलों के पालन की प्रतिज्ञा करनी चाहिए और इन दिनों में उसे विहार में रहना चाहिए।[246] उपासकों के लिए तीर्थयात्रा का भी विधान है। ये तीर्थ चार हैं—कपिलवस्तु, बोधगया, सारनाथ और कुशीनारा। तात्पर्य यह है कि उपासक को भद्रदृष्टि एवं भद्रशील होना चाहिए, कायिक, वाचिक एवं मानसिक

दुश्चरित से दूर रहकर सुचरित्र होना चाहिए।

'दीघ निकाय' के 'सिंगाल सुत्त' में उपासक धर्म का विशेष निरूपण हुआ है, जिसमें वैयक्तिक चारित्रिक शुचिता के उपरांत कुछ ऐसी महत्त्वपूर्ण बातों का भी समावेश हुआ है जो सामूहिक (सामाजिक) जीवन के सम्बन्ध निर्वाह से सीधा सम्बन्ध रखती हैं। इस उपदेश के अनुसार प्राणातिपात, अदत्तादान, काम-मिथ्याचार एवं मृषावाद—ये चार कर्म क्लेश हैं, जिनका व्यक्ति को त्याग करना चाहिए। छंद, दोष, भय और मोह ये चार स्थानों से पाप न करना चाहिए। मद्यपान, विकालचर्या, समज्याभिचरण, द्यूत, पापमित्रता और आलस्य… ये छः भोगों के अपायमुख हैं, जिनका सेवन न करना चाहिए।

सिंगाल गृहपति अपनी पैतृक परम्परानुसार प्रातः स्नान करके छः दिशाओं को नमस्कार करता था। बुद्ध ने उसे इसके बदले इन छः नवीन सत्करणी दिशाओं का उपदेश दिया…

माता-पिता—यह सोचकर कि माता-पिता ने हमारा पालन-पोषाण किया, अन्य करणीय कृत्य किए, कुल परम्परा को बनाए रखा, दायज्ज (विरासत) दी, श्राद्ध दान दिया, उपासक इन सभी कार्यों को अपने माता पिता के प्रति करे। माता-पिता अपनी संतानों को पाप से निवारित करें, पुण्यपथ पर आरूढ़ करें, शिल्प शिक्षा दें, योग्य पति अथवा पत्नी ढूंढ़ दें, विरासत का अधिकार दें।[247]

आचार्य - आचार्य की सेवा के लिए उत्थान (तत्परता), उपस्थान (उपस्थिति), शुश्रूषा, परिचर्या एवं शिल्प ग्रहण आवश्यक हैं। आचार्य, शिष्य को विनीत बनाता है, सुशिक्षा देता है, शिल्प सिखाता है, मित्रो व साथियों में उसकी प्रशंसा करता है, आपत्तियों से बचाता है।

भार्या— पत्नी की सेवा उसके सम्मान से, अपमान न करने से, मिथ्याचार न करने से, ऐश्वर्य एवं अलंकार प्रदान करने से करनी चाहिए। पत्नी द्वारा कर्मान्त भले प्रकार के होते हैं, परिजन वश में रहते हैं, वह स्वयं अनाचारिणी होती है, अर्जित सम्पत्ति की रक्षा करती है और समस्त कार्यों में निरालस तथा दक्ष होती है।

मित्र—मित्रों की सेवा दान (उपाहार), प्रिय वचन, अर्थचर्या (लाभ कराना), समानात्मकता तथा अविसंवादनता द्वारा करनी चाहिए। क्योंकि वे प्रमाद की स्थिति में रक्षा करते हैं, संकट काल में शरण देते हैं, प्रमत्त की सम्पत्ति की रक्षा करते हैं, आपातकाल में साथ देते हैं इत्यादि।

स्वामी और सेवक—स्वामी को अपने दास कर्मकर की सेवा उसे उसकी शक्ति के अनुरूप काम देकर, उचित भोजन-वेतन देकर, रोगी होने पर उसकी सेवा-शुश्रूषा करके, उत्तम वस्तुओं में भी उसे कुछ भाग देकर, और समय पर अवकाश देकर करनी चाहिए। सेवक को स्वामी से पहले जागना चाहिए, वह प्रदत्त वस्तु ही ग्रहण करे, कार्य को व्यवस्थित ढंग से करे और स्वामी की कीर्ति का विस्तार करे।

गृहस्थ और भिक्षु—गृहस्थों द्वारा साधु ब्राह्मणों अर्थात् भिक्षुओं की सेवा मनसा, वाचा, कर्मणा, मैत्री भाव द्वारा तथा उनके लिए घर के द्वार खुले रखकर और उन्हें खाद्य पदार्थों का दान देकर करनी चाहिए। क्योंकि ये श्रमण ब्राह्मण गृहस्थों को पाप कर्मों से बचाते हैं, उन्हें कल्याण पथ दिखाते हैं, कल्याण प्रदान करते हैं, विद्या प्रदान करते हैं और स्वर्ग पथ बतलाते हैं।

बौद्ध वाङ्मय में निरूपित उक्त उपासक धर्म या प्रवृत्ति धर्म के विषय में प्रथम तो हमें यह समझ लेना चाहिए कि इसके सम्यक् परिपालन से उपासक को यश एवं स्वर्ग की ही प्राप्ति हो सकती है—

> तेस दिवा च रत्तो च सदा पुञ्ञं पवड्ढति।
> सग्गं च कमतिट्ठानं कम्मं कत्वान भद्दकं ।।[248]

'मोक्ष' या निर्वाण, जो बुद्ध के अनुसार व्यक्ति के जीवन का सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य है, गृहस्थ को सर्वथा अप्राप्य है। बुद्ध का स्पष्ट विधान है, 'हे गौतम, क्या कोई (ऐसा) गृहस्थ है जो गृहस्थ के संयोजनों (बंधनों) को बिना छोड़े काया को छोड़ने पर दु:ख का अंत करने वाला हुआ हो?' 'नहीं वत्स! ऐसा कोई गृहस्थ नहीं।' 'हे गौतम! क्या कोई ऐसा गृहस्थ है जो गृहस्थ के संयोजनों को बिना छोड़े काया छोड़ने पर स्वर्ग को प्राप्त हुआ हो?' 'वत्स, एक ही नहीं सौ··· दो सौ·· अनेक गृहस्थ हैं, जो गृहस्थ के संयोजनों को बिना छोड़े मरने पर स्वर्गगामी होते हैं।'[249] प्रकट है कि निर्वाण केवल भिक्षुओं अथवा साधकों को ही प्राप्य है। अतः बुद्ध का मंतव्य है कि—'स्थपतियो! गृहवास बाधापूर्ण और रागादि मल के आगमन का मार्ग है, प्रव्रज्या ही खुली जगह है।'[250] अर्थात् संन्यास की तुलना में गृहस्थ का स्तर निम्न है।

गृहस्थों के लिए उपयुक्त पूर्वोक्त पंचशीलों, जिन्हें पंचशिक्षापद एवं पंच विरति भी कहा गया है, के निम्नलिखित दश उद्देश्य बताए गए हैं—(1) संघ की भलाई, (2) संघ की सुविधा, (3) दुष्ट व्यक्तियों का निग्रह, (4) शीलवान भिक्षुओं का सुखपूर्वक विहार, (5) आश्रमों का संयमन, (6) श्रद्धावानों में अधिक श्रद्धा की प्रेरणा, (7) अश्रद्धावानों में श्रद्धा की जागृति, (8) भावी जन्मों के आस्रवों का प्रतिघात, (9) सद्धर्म की स्थिति तथा (10) विनय पर अनुग्रह।[251]

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि उपासक धर्म के सम्यक् परिपालन से जहाँ एक ओर भिक्षु संघ, बौद्ध विहार आदि को पोषण एवं रक्षण मिलता है, वहीं दूसरी ओर अकुशल कर्मों के त्याग और कुशल कर्मों में श्रद्धा दृढ़ होने से उपासक काम-भोगों से शनै:-शनैः विरक्त होकर श्रमण (भिक्षु) होने की योग्यता प्राप्त करता है। अतः बौद्ध अवधारणानुसार उपासक धर्म (प्रवृत्ति) अपने-आप में लक्ष्य न होकर भिक्षु धर्म (निवृत्ति) को पोषण, सुरक्षा एवं सातत्य प्रदान करने का साधन मात्र है।

जो हो, अवलोक्य यह है कि व्रात्यों का निवृत्ति धर्म मुख्यतः व्रतमूलक था। सत्य, अहिंसा, अस्तेय इत्यादि जिन वैयक्तिक सदाचारों को उपनिषत्कारों ने 'व्रत' कहा है, उन्हीं को यत्किंचित संशोधन के साथ पातंजल योग 'यम-नियम' कहता है, जैनधर्म उन्हें अणुव्रत एवं महाव्रत कहता है और बौद्धधर्म उन्हें 'शील' अथवा 'विरति' कहता है। सामान्यतः इन व्रतों की संख्या दश होती है, मनु आदि स्मृतियों में इन्हें धर्म के दश सर्वसामान्य लक्षण कहा गया है। यह हम देख चुके हैं कि जैनों ने गृहस्थों के लिए पंच अणुव्रतों और संन्यासियों के लिए पंच महाव्रतों के पालन का उपदेश दिया है। सम्भव है कि जैनधर्म में प्रवृत्ति-मूलक धर्म का स्वरूप मूलतः पंच अणुव्रतों के पालन तक ही सीमित रहा हो, और व्यापार तथा छोटे-मोटे उद्योग द्वारा जीविकोपार्जन की धार्मिक मान्यता परवर्ती काल में दी गई हो। क्योंकि वृत्ति का त्याग अथवा किसी निश्चित व्यवस्था द्वारा वृत्ति नियमन की उपेक्षा इस परम्परा के धर्मों की एक सामान्य विशेषता रही है। यही बात बौद्धधर्म के विषय में भी कही जा सकती है। अर्थात् प्रारम्भ में बौद्धधर्म में प्रवृत्तिमूलक धर्म का उपदेश सम्भवतः पंचशीलों के पालन तक ही सीमित रहा होगा। बौद्धवाङ्मय में प्रवृत्तिमूलक धर्म का आज जो अपेक्षाकृत कुछ विस्तृत विवरण मिलता है वह मेरे विचार से बुद्ध के पर्याप्त वाद का होना चाहिए। मेरे इस अनुमान का आधार अशोक के शिलालेख हैं। इन शिलालेखों में निवृत्तिमूलक बौद्धधर्म के चार आर्यसत्य, आर्य अष्टांगिक मार्ग एवं बोधिपक्षीय धर्मों का उल्लेख तक नहीं है। इनमें अशोक ने स्पष्ट संकेत किया है कि मूलभूत बुद्ध देशना के ध्यान और 'विनय' नामक मुख्य दो अंगों में मैंने केवल 'विनय' को महत्त्व दिया है, और बहुत-से विनय (नियमों) का उपदेश स्वयं अपनी ओर से दिया है। इन शिलालेखों, अशोक द्वारा आयोजित तृतीय सगति में मोग्गलिपुत्र तिष्य की भूमिका एवं अशोक द्वारा अपनाई गई धर्म प्रेरित राजनीति आदि के अवलोकन से इस विषय में संदेह नहीं रहता कि निवृत्तिमूलक मूलभूत बौद्धधर्म को इस युग में प्रवृत्तिमूलक स्वरूप प्रदान किया गया।

जादुई चमत्कार एवं मंत्र — पिंडोल भारद्वाज नामक किसी भिक्षु ने राजगृह के किसी श्रेष्ठी द्वारा लम्बे बाँस पर लटकाए गए चंदन के कीमती पात्र को ऋद्धि प्रातिहार्य (योगबल के चमत्कार) से उड़कर हस्तगत किया था। भगवान बुद्ध ने उसके इस कार्य की भर्त्सना की और भिक्षुओं के लिए इस प्रकार के चमत्कार प्रदर्शन पर प्रतिबंध लगा दिया। इस एकमात्र घटना को प्रमाण देकर विद्वान लोग वह सिद्ध करते हैं कि बुद्ध चमत्कार प्रदर्शन के विरोधी थे। किंतु तथ्य यह है कि उन्होंने उक्त प्रतिबंध भिक्षुओं पर ही लगाया था स्वयं पर नहीं।

महावग्ग (1/3) के एक आख्यान के अनुसार उरबेल में काश्यप गोत्रीय तीन जटिलक संन्यासी अपने एक हजार शिष्यों के साथ रहते थे। उनकी अग्निशाला में एक भयंकर नाग रहता था। बुद्ध ने अपने योगबल से उस नाग को वशीभूत करके एक पिटारी में बंद कर दिया। उनके इस चमत्कार से प्रभावित

काश्यप बंधु अपने शिष्यों सहित उनके शिष्य हो गए। बुद्ध ने कुछ दिन और वहीं ठहरकर काश्यप बंधुओं को इस तरह के पंद्रह बड़े-बड़े चमत्कार दिखलाए।

दीघ निकाय (3/2) में दी गई न्यग्रोध परिव्राजक की कथा के अनुसार बुद्ध आकाशमार्ग से उड़कर गृध्रकूट पर्वत पर वापस चले गए। दीघ निकाय (3/9) के 'आटानाटीय सुत्त' में बुद्ध और यक्ष का सम्वाद है। जिसमें यक्ष देवता बुद्ध को आश्वासन देते हैं कि जो कोई उनके नाम का स्मरण करेगा उसे उनके वंशधर (भूत, प्रेत, यक्षादि) कष्ट नहीं देंगे। दीघ० (1/11) के केवट्ठसुत्त के अनुसार बुद्ध ने केवट्ठ को ऋद्धिप्रातिहार्य, आदेशना प्रातिहार्य और अनुशानी प्रातिहार्य का उपदेश किया था। इसमें गांधारी विद्या और चिंतामणि विद्या का भी उल्लेख है, जो तांत्रिक पद्धति की विद्याएँ हैं।[252] सारिपुत्र और मौद्गल्यायन को पापेच्छु कहने वाला कोकालिय नामक भिक्षु बुद्ध द्वारा शापित होने से कुष्ट-रोगी होकर सड-सड़कर मरा।[253] संप्रबुद्ध शाक्य ने जैसे ही बुद्ध पर प्रहार करने का प्रयत्न किया वैसे ही तुरंत मर गया—(धम्मपद, अट्ठकथा 3/44) बुद्ध की हत्या के लिए नियुक्त देवदत्त के धनुर्धरों एवं मदमत्त नालागिरी नामक खूनी हाथी, का बुद्ध के निकट पहुँचते ही हृदय परिवर्तन हो गया।[254] सुनक्षत्र नामक भिक्षु ने बुद्ध से कोरभट्टक नामक अचेत संन्यासी की प्रशंसा की। इस पर बुद्ध ने शाप दिया कि जिसे तू इतना महान पुरुष मानता है, वह अपने सारे व्रतों से च्युत होकर काम वासना के पंक में मग्न हो जाएगा। और ऐसा ही हुआ। जातकों में भी बुद्ध के जीवन के ऐसे अनेक प्रसंगों का उल्लेख है जब उन्हें अपनी दिव्य शक्तियों का प्रदर्शन करना पड़ा है।

इतना ही नहीं, भर्ग देश में मौद्गल्यायन के पेट में दर्द हुआ था, जिसे मार (भूत-प्रेत) का प्रकोप कहा गया और मंत्र द्वारा दूर किया गया। ये वे ही मौद्-गल्यायन हैं, जो इन मंत्रों के सर्वश्रेष्ठ ज्ञाता थे। (अंगुत्तर०, भाग 1, पृ० 19)। पाँच सौ भिक्षुओं को लेकर भागे हुए देवदत्त को वश में करने के लिए इन्हें ही भेजा गया था, और देवदत्त मुँह से खून की उल्टी कर मर गया था—(चुल्लवग्ग 7/2/8)। बुद्ध को ललकारने वाले अन्य भी ऐसे प्रतिद्वंद्वियों के उल्लेख मिलते हैं, जो बुद्ध का सामना करने पर या तो मूक हो जाते हैं, या स्वयंमव वशीभूत हो जाते हैं या फिर मृत्यु को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार बौद्ध वाङ्मय और स्वयं बुद्ध का जीवन जादू, टोना, मंत्र, चमत्कार, ऋद्धि-सिद्धि प्रदर्शन आदि के प्रसंगों से परिपूर्ण देखे जाते हैं। शांतरक्षित (705-762 ई०) ने तो तत्त्वसंग्रह (पृ० 905) में कहा भी है कि— तथागत द्वारा उपदिष्ट मंत्रों एवं योग से प्रत्यक्ष परिणाम यथा—वुद्धि, स्वास्थ्य, विभुता (ऐश्वर्य) आदि की प्राप्ति होती है—तदुक्त-मंत्रयोगादिनियमाद्विधि वत्कृतात् प्रज्ञारोग्यविभुत्वादि दृष्टधर्मोभिजायते।

अन्य अनार्यतत्त्व—जैसा हम देख चुके हैं, बुद्ध के जीवन चरित्र में शालवृक्ष, बोधिवृक्ष, अश्वत्थवृक्ष और अनेक वटवृक्षों का उनको विशेष नाम देकर उल्लेख किया गया है। इससे इन वृक्षों के प्रति श्रद्धाभाव व्यक्त होता है। अंगुत्तर

निकाय (भाग 2, पृ० 72) में बुद्ध कहते हैं—"भिक्षुओ ! आप लोग नागों के राजकुलों की पूजा करें, इससे आप उनके दंश से मुक्त रह सकेंगे।" बौद्ध जातकों में दुग्ध, खीर, मत्स्य, मांस, सुरा द्वारा नाग बलि सम्पन्न किए जाने के उल्लेख हैं—(जातक०, भाग 1, पृ० 498)। पंचुपोसथ जातक (490) में आया है कि मगध राज्य के प्रत्यन्त ग्राम के मुखिया का एक वृषभ जब सर्पदंश से मर गया तो सभी ग्रामवासी रोते हुए उसके पास आए और उसे उन्होंने पुष्पमालाओं से अलंकृत करके दफनाया। इस घटना से वृषभ पूजा का संकेत ग्रहण किया जा सकता है। उपर्युक्त 'आटानाटीय सुत्त' में चार दिशाओं के रक्षक चार महाराजों या दिक्पालों—धृतराष्ट्र, विरूढ़, विरूपाक्ष एवं वैश्रवण (अथवा कुबेर)—द्वारा प्रस्तावित और बुद्ध द्वारा अनुमोदित 'आटानाटीय सुत्त' यक्षपूजा का स्पष्ट समर्थन करती हैं। वैसे भी निम्नस्तर की बौद्धधर्मी प्रजा में यक्षपूजा प्रचलित थी ही। बौद्धवाङ्मय में लगभग बत्तीस यक्षों और अनेक यक्षिणियों के उल्लेख हैं। यक्षपूजा यक्षचैत्यों में प्रस्थापित मूर्तियों की पूजा के रूप में थी और यक्षों द्वारा किए जाने वाले अनिष्टों से बचने की भय की भावना से अनुप्राणित थी। वृक्षपूजा के मूल में भी वृक्षों पर बसने वाले भूत, प्रेत, यक्ष, पिशाच आदि के भय की भावना ही थी।

मृत्यु के बाद स्वयं बुद्ध के अस्थि-अवशेषों को सुरक्षित रखने के लिए चैत्यों का निर्माण किया गया, कालांतर में उनकी स्वयं की मूर्तियाँ निर्मित की गईं और उनकी पूजा प्रारम्भ हो गई—इत्यादि। संक्षेप में बौद्धवाङ्मय में वे समस्त धार्मिक तत्त्व विद्यमान हैं जो अथर्ववेद में पाए जाते हैं, और जो ऋग्वैदिक आर्य-मान्यताओं के सुसंगत नहीं हैं।

वैदिक धर्म का विरोध—प्रकट ही है आर्य प्रजाति द्वारा अनुसरित धर्म का ही अपर नाम वैदिक धर्म है। इस धर्म में यज्ञ मुख्य धार्मिक कर्म था, वेद धार्मिक ग्रंथ थे, यज्ञानुष्ठान कराने वाले पुरोहित, वेदज्ञ ब्राह्मण अथवा ऋषि, धर्मनेता थे और 'वृत्ति' को सर्व सुलभ एवं नियमित बनाने वाली वर्ण व्यवस्था ही सामाजिक (या धार्मिक) व्यवस्था थी। बौद्धवाङ्मय में इन सभी प्रवृत्तियों को निरर्थक सिद्ध किया गया है।

(1) यज्ञ विरोध—दीघ निकाय (कूटदंत्त सुत्र 1/5) के एक आख्यान के अनुसार बुद्ध जब 'खाणुमत' नामक ग्राम में पहुँचे तब वहाँ का कूटदंत्त नामक वेदज्ञ ब्राह्मण एक महायज्ञ की तैयारी कर चुका था। इस यज्ञ में 700 बैल, 700 बछड़े, 700 बछियाँ, 700 बकरियाँ और 700 भेड़ें बलिकर्म के लिए लाई गई थीं। बुद्ध के आगमन का पता चलने पर कुटदंत उनसे मिलने गए और प्रार्थना की—"भगवान, सुनते हैं कि आप 'सोलह परिष्कार सहित त्रिविध यज्ञ सम्पदा' जानते हैं।······ ···कृपाकर सोलह परिष्कार वाली यज्ञविधि (मुझे) बतायें।"

बुद्ध ने कूटदंत (ब्राह्मण) को 'महाविजित' राजा द्वारा किए गए उस अहिंसा

यज्ञ की विधि बताई जिसमें—अपने पूर्वजन्म में --पुरोहित का काम उन्होंने स्वयं किया था। बुद्ध ने कहा—"ब्राह्मण ! उस यज्ञ में गायें नहीं मारी गईं, बकरे-भेड़ें नहीं मारी गईं, मुर्गे-सुअर नहीं काटे गए, न नाना प्रकार के प्राणियों का ही वध किया गया। न यूप के लिए वृक्ष काटे गए, न परहिंसा के लिए दर्भ ही काटे गए। जो भी उसके (राजा महाविजित के) दास, प्रेष्य, कर्मकर थे उन्होंने भी दंडतर्जित, भयतर्जित हो, अश्रुमुख सेवा नहीं की। जिन्होंने चाहा उन्होंने किया, जिन्होंने नहीं चाहा उन्होंने नहीं किया। घी, तेल, मक्खन, दही, मधु और गुड़ से वह यज्ञ समाप्ति को प्राप्त हुआ।"

इसके बाद बुद्ध ने उसे दान यज्ञ, त्रिशरण यज्ञ, शिक्षापद यज्ञ, शील यज्ञ, समाधि यज्ञ और प्रजा यज्ञ की व्याख्या बतलाई। जिसके फलस्वरूप कूटदंत ने उपासक होना स्वीकार कर लिया और बलिकर्म के लिए एकत्रित किए गए सभी पशुओं को मुक्त कर दिया।

सुत्त निपात (3/4) के एक प्रसंग में बुद्ध का कथन है—"ब्राह्मण ! लकड़ी जलाकर शुद्धि मत मानो, यह बाहरी चीज है। कुशल लोग उसे शुद्धि नहीं बतलाते, जो कि बाहर से भीतर की शुद्धि है। ब्राह्मण, मैं दारुदाह को छोड़कर भीतर की ज्योति जलाता हूँ। नित्य अग्निवाला, नित्य एकांत चित्तवाला हो, मैं ब्रह्मचर्य का पालन करता हूँ। ब्राह्मण, तेरा अभिमान खारिभार है, क्रोध धुआँ है, मिथ्या भाषण भस्म है, जिह्वा स्रुवा है, और हृदय ज्योति का स्थान है। आत्मा (अहंता) का दमन करने पर पुरुष को ज्योति प्राप्त होती है। ब्राह्मण शील-तीर्थवाला, संतजनों द्वारा प्रशंसित, निर्मल धर्महृद है, जिसमें 'वेदगू' (वेदों का अतिक्रमण करनेवाले) नहाकर विना भीगे गात्र के पार उतरते हैं। यह ब्रह्म प्राप्ति सत्य, धर्म, संयम, ब्रह्मचर्य पर आश्रित है। सो तू ऐसे हवन करनेवालों को नमन कर, उनको मैं पुरुष-दम्य सारथी कहता हूँ।"

तीनों वेदों में पारंगत कहे गए बावरि ब्राह्मण के शिष्य—'पुण्णक' के एक प्रश्न के उत्तर में बुद्ध ने कहा—पुण्यक ! जिन किन्हीं ऋषियों, मनुष्यों, क्षत्रियों, ब्राह्मणों ने यहाँ लोक में देवताओं के पृथक्-पृथक् यज्ञ कल्पित किए हैं, उन्होंने इस जन्म की चाह रखते हुए जरा आदि से आमुक्त होकर ही किए हैं।········ वे जो आशंसन करते, स्तोम करते, अभिजल्प करते, हवन करते हैं सो लाभ के लिए कामों को ही जपते हैं। वे यज्ञ के योग से, भव के राग से रक्त हो जन्म-जरा को पार नहीं हुए हैं— ऐसा मैं कहता हूँ।[255]

यज्ञविषयक बुद्ध के उपर्युक्त विचारों का सारांश यह है कि एक तो यज्ञ में होने वाली पशु हिंसा त्याज्य है। दूसरे, यज्ञ एक सकाम कर्म है, अतः उसके फलस्वरूप इहलोक व परलोक के अनित्य सुख भले ही प्राप्य हों, जन्म-मरण के भवचक्र से मुक्ति उनके द्वारा अप्राप्य ही है। पशु हिंसा वाले यज्ञों से द्रव्ययज्ञ और द्रव्ययज्ञ से आत्मयज्ञ (अथवा ज्ञानयज्ञ या प्रज्ञायज्ञ) उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं। इस प्रज्ञा यज्ञ की व्याख्या वही हैं, जो बुद्ध द्वारा उपदिष्ट है।

वेद विरोध—अनार्य दार्शनिकों की एक यह मान्यता रही है कि वे स्वयं-जित् ज्ञान (या मत) का उपदेश करते हैं, वह योग की अंतर्मुखी साधना से सक्रिय या जागृत हुए, उनके अंतःकरण द्वारा दृष्ट ज्ञान है। दूसरे शब्दों में वह उनकी अपरोक्षानुभूति पर प्रतिष्ठित ज्ञान है। अर्थात् उनके स्वयं के द्वारा साक्षात्कृत एवं अभिज्ञात ज्ञान है। अत. उसकी प्रमाणिकता स्वतःसिद्ध है; अर्थात् उसकी प्रामाणिकता किसी अन्य (वाह्य) प्रमाण और तर्क आदि पर निर्भर नहीं है। इसके विपरीत वेदादि का ज्ञान श्रुत परम्परा द्वारा प्राप्त परोक्ष अथवा आनुश्रविक ज्ञान है; अर्थात् स्वानुभूत न होने के कारण उसकी प्रामाणिकता असंदिग्ध नहीं है। वैदिक परिज्ञान के प्रति बुद्ध का दृष्टिकोण भी इसी परम्परागत मान्यता के अनुरूप है, जैसा कि निम्नलिखित उदाहरणों से प्रकट है—

'द्रोण' के एक प्रश्न के उत्तर में बुद्ध कहते हैं—"द्रोण ! जो तेरे पूर्व के ऋषि, मंत्रकर्ता और मंत्रप्रवक्ता थे, जिनके पुराने मंत्रपद (वेद) को वर्तमान के ब्राह्मण गीत के अनुसार गाते हैं, प्रोक्त के अनुसार प्रवचन करते हैं, भाषित के अनुसार भाषण करते हैं, स्वाध्यायित के अनुसार स्वाध्याय करते हैं, वाचित के अनुसार वाचन करते हैं, जैसे कि अट्टक, वामक, वामदेव, विश्वामित्र, यमदग्नि, अंगिरा, भरद्वाज, वशिष्ठ, कश्यप एवं भृगु।"[256]

इसी विषय से सम्बन्धित बुद्ध और भरद्वाज के संवाद (दे० चंकिसुत्त मज्झिम 2/5/5) में बुद्ध कहते हैं—भरद्वाज ! एक (भी), आचार्य, एक (भी) प्राचार्य, परमाचार्य, और उसकी सात पीढ़ी तक भी, ब्राह्मणों के पूर्वज ऋषि भी, यथा अट्टक, वामक, वामदेव आदि में से एक भी ब्राह्मण ऐसा नहीं है जो कह सके कि 'मैं जानता हूँ', 'मैं देखता हूँ', 'यही सत्य है और सब झूठ है।···' भरद्वाज ! ब्राह्मणों का कथन अंधवेणु (अंधों की लकड़ी, ताँता) के समान है, पहला भी नहीं देखता, मध्य का भी नहीं देखता, और पिछला भी नहीं देखता।[257]····· और ऐसा होने पर भरद्वाज ! क्या ब्राह्मणों की श्रद्धा अमूलक नहीं हो जाती ?"

तात्पर्य स्पष्ट है कि बुद्ध के अनुसार वेदों अथवा वेदज्ञ ब्राह्मणों का ज्ञान बुद्ध के ज्ञान जैसा--सयं अभिञ्ञा सच्छकित्वा—(स्वयं के द्वारा अभिज्ञात एवं साक्षात्कृत) न होकर 'इतिह' की गतानुगतिकता मात्र है। अतः तेविज्ज सुत्त (दीघ० 1/13) में बुद्ध कहते हैं—"ये त्रैविद्य ब्राह्मण जो ब्राह्मण धर्म हैं उन्हें छोड़कर पाँच कामगुणों का उपभोग करते हुए, काम के बंधन में बँधे हुए, काया छोड़ने पर, मरने के बाद, ब्रह्मा की सलोकता प्राप्त होंगे, यह संभव नहीं है।··· त्रैविद्य ब्राह्मण गलत मार्ग में जा उलझे हैं, उलझकर विषाद को प्राप्त हैं। मानो रेतों में तैर रहे हैं। इसलिए त्रैविद्य ब्राह्मणों की विद्या वीरान कही जाती है, विपिन कही जाती है, व्यसन भी कही जाती है।"

ब्राह्मण विरोध—बौद्धवाङ्मय में दो प्रकार के ब्राह्मणों के उल्लेख हैं। एक ऐसे हैं जिन्हें ब्राह्मणत्व 'जन्मना जाति' के नियमानुसार प्राप्त है, और वे

वेदत्रयी के ज्ञाता हैं। दूसरे ऐसे हैं जिन्होंने ब्राह्मणत्व को 'कर्मणा जाति' के नियमानुसार अर्जित की है और वे 'वेदगू' अथवा 'वेदन्तगू' अर्थात् वेदों के अंत तक जाने वाले, या वेदों का अतिक्रमण करने वाले कहे गए हैं। कहना अनावश्यक होगा कि प्रथम कोटि के ब्राह्मण आर्यों की व्यवस्था के ब्राह्मण हैं, जो बुद्ध की दृष्टि में ब्राह्मण होने के अधिकारी नहीं हैं। बुद्ध कहते हैं—"माता की योनि से उत्पन्न होने के कारण किसी को मैं ब्राह्मण नहीं कहता। जो भो-वादी (ब्राह्मण एक-दूसरे को 'भो' कहकर बुलाते थे) है, वह तो संग्रही (गृहस्थ) है—(धम्मपद गाथा—396) जैसा हम ऊपर देख चुके हैं तेविज्जसुत्त (दीघ० 1/13) में त्रैविद्य (वेदत्रयी के ज्ञाता) ब्राह्मणों को पाँच काम गुणों (रूप, रस, गंधादि) के उपभोक्ता एवं बंधनग्रस्त कहा गया है। ये ही (आर्य ब्राह्मण) वे ब्राह्मण हैं जिन्हें जातकों (दे० राध जातक, सतधम्म जातक, उद्दालक जातक, रूहक जातक—इत्यादि) में सब प्रकार से अनाचारी एवं दुराचारी चित्रित किया गया है।

दूसरे ऐसे ब्राह्मण हैं जिन्हें 'वेदगू' कहा गया है, बुद्ध ने जिनको नमस्कार किया है—'ये ब्राह्मण हैं वेदगू' "सब्ब धम्मे ते मे नमो ते च मं पालयन्तु"—(मोर जातक, क्रम संख्या 159)। धम्मपद के समूचे 'ब्राह्मणवग्गो' में सच्चे ब्राह्मण के जो लक्षण दिए गए हैं, वे सभी बौद्ध भिक्षुओं, श्रमणों, अर्हतों के ही हैं। अतः बुद्ध की दृष्टि में सर्वस्व त्यागी श्रमण ही सच्चे ब्राह्मण हैं—"अकिंचनं अनादानं तमहं ब्रूमि ब्राह्मण" (धम्मपद 396)। जो सत्य से दांत, जितेंद्रिय, वेद के अंत को पहुँचा हुआ (वेदन्तगू) हैं, तथा जिसने ब्रह्मचर्य समाप्त किया है, उसे यज्ञ-उपनीत कहो— (संयुत्त० 7/1/9)।

ब्राह्मण धम्मिय सुत्त (सुत्त निपात) में प्राचीनकाल के ब्राह्मणों के विषय में कहा गया है कि—

न पसू ब्राह्मणानासुं न हिरञ्ञं न धानियं।
सञ्झाय धनधञ्ञासुं ब्रह्मं निधिमपालयुं॥
अवञ्झा ब्राह्मणा आसुं अजेय्या धम्मरक्खिता।
न ते कोचि निवारेसि कुल द्वारेसु सब्बसो॥

अर्थात्—पूर्वकालीन ब्राह्मणों के पास न पशु थे, न धन और न धान्य। स्वाध्याय, पठन-पाठन ही उनका धन था। वे लोग ब्रह्मनिधि वेद की निधि की रक्षा में लीन रहते थे। इस सदाचार का फल उन्हें प्राप्त होता था। वे अवध्य थे, अजेय थे, धर्म से संरक्षित थे। कुलीनों के द्वारों में प्रवेश करने से उन्हें कोई नहीं रोकता था।

इन अथवा ऐसी ही कतिपय अन्य उक्तियों के आधार पर यह मान लेना भ्रामक होगा कि संतोषी एवं सदाचारी 'वैदिक' ब्राह्मणों के प्रति बुद्ध या बौद्ध द्वेषभाव नहीं रखते थे। उपर्युक्त उक्तियों में वस्तुतः पूर्वकालीन ब्राह्मणों के

लक्षण बुद्ध द्वारा अपनी धारणाओं के अनुरूप कल्पित हैं और उनके आधार पर समकालीन ब्राह्मणों को योग्य पूर्वजों की अयोग्य संतानें बताने की चेष्टा की गई है। अन्यथा सब जानते हैं कि वैदिक ब्राह्मण अपने लिए और अपने यजमानों के लिए पुत्र-पौत्र और धन्य-धान्य की समृद्धि चाहने वाले थे।

देवताओं का विरोध—वैदिकों के परवर्ती देवता, ब्रह्मा अथवा प्रजापति, की सर्वज्ञता एवं ईश्वरत्व का बौद्धों ने जो मजाक उड़ाया है, उसे हम ऊपर देख चुके हैं। कुलातक जातक (क्रम संख्या 31) में वैदिक इंद्र को मद्यमानव नाम देकर अहिंसा व्रत का पालन करने वाला एक समाज सेवक चित्रित किया गया है। 'सक्कसंयुत्त' में इंद्र को सुभाषितों द्वारा असुरों पर विजय प्राप्त करते हुए दर्शाया गया है। कुल मिलाकर पालि त्रिपिटकों में वैदिक देवता कहीं तो बुद्ध या उनके शिष्यों की छोटी-मोटी शारीरिक सेवाएँ करते दिखाए गए हैं, कहीं उनसे उपदेश ग्रहण करते हुए।[258]

वर्ण व्यवस्था का विरोध– सामान्य रूप से यह समझा जाता है कि आर्यों की वर्ण-व्यवस्था समाज में ऊँच-नीच का भेद पैदा करनेवाली व्यवस्था है। बुद्ध ने इसका विरोध करके समाज को मानवतावादी व्यवस्था का आधार देने का प्रयत्न किया। बुद्ध वृषल (शूद्र या नीच) और ब्राह्मण का भेद जन्म के आधार पर नहीं, कर्म के आधार पर मानने के पक्षधर थे—

न जच्चा वसलो होदि न जच्चा होदि ब्राह्मणो।
कम्मुना वसलो होदि कम्मुना होदि ब्राह्मणो ॥[259]

अत: जाति (जन्म) मत पूछ आचरण पूछ, जैसे लकड़ी से अग्नि उत्पन्न होती है वैसे ही नीचकुल में पैदा होकर भी मुनि धृतिवान उत्तम और पाप-लज्जा से सयत होते हैं—

मा जाति पुच्छ चरणं च पुच्छ कट्ठा हवे जायति जात वेदो।
नीचा कुलीनोपि मुनिधितीमा आजनियो होति हिरीनिसेधो ॥[260]

जाति अथवा ऊँच-नीच का विचार तो आवाह विवाह में होता है, जहाँ मनुष्य कहते हैं "तू मेरे योग्य है" अथवा "तू मेरे योग्य नहीं है।" प्रधान—(पुरुषार्थ-तपस्या) मनुष्यों में भेद-भाव नहीं करता। (कण्णत्थलक सुत्त, मज्झिम॰ 2/4/10) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र या श्रमण में से जो कोई स्मृति-प्रस्थानों की भावना करेगा वही निर्वाण का साक्षात्कार करेगा— (अग्गञ्ञसुत्त, दीघ॰ 3/4)। जैसे स्वच्छ, मधुर, शीतल जल वाली और सुंदर घाटोंवाली पुष्करिणी से पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण—किसी भी दिशा से आने वाला तृषित एवं तापसंतप्त पथिक अपनी तृषा शांत कर सकता है वैसे ही किसी भी वर्ण का परिव्राजक तथागत द्वारा उपदिष्ट मैत्री, करुणा, मुदिता एवं उपेक्षा की भावना कर आध्यात्मिक शांति प्राप्त कर सकता है—(चूल अस्सपुर सुत्त, मज्झिम॰ 1/4/10)।[261]

उपर्युक्त संदर्भों से प्रकट है कि बुद्ध ने भिक्षु संघ में या साधक वृंद में ही वर्ण एवं जाति के भेद-भाव का विरोध किया है। समाज व्यवस्था के आवाह एवं विवाह में मान्य जातिवाद, गोत्रवाद आदि का उन्होंने उल्लेख मात्र किया है। दूसरे, विद्वानों से यह बात छिपी नहीं है कि भिक्षु संघ में भी वरिष्ठता, पद, अधिकार आदि के आधार पर उच्च और निम्न स्तर भेद के अनेक प्रकार के भिक्षु होते थे।[262] शाक्यवंश के क्षत्रिय स्वयं को अन्य किसी भी भिक्षु से श्रेष्ठ होने का दावा करते थे। तदुपरांत जातकों में क्षत्रियों की श्रेष्ठता और आदित्यादि कतिपय वंशों एवं कुलों की श्रेष्ठता सर्वत्र प्रतिपादित की गई है।[263] दीर्घनिकाय (3/4 अग्गञ्ञसुत्त) में क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य एवं शूद्र की उत्पत्ति का क्रमबद्ध उल्लेख किया गया है। जिस प्रकार ब्राह्मण, वृषल आदि की बौद्ध व्याख्याएँ हैं, उसी प्रकार क्षत्रिय, वैश्य, किसान आदि की भी उनकी अपनी व्याख्याएँ हैं। इससे प्रकट है कि बुद्ध एवं बौद्धों द्वारा किया गया ब्राह्मणों (आर्यों) की वर्ण-व्यवस्था का विरोध, विरोध के लिए किया गया विरोध है, अन्यथा उनके अपने अनुयायी वर्ग में इसका वैकल्पिक रूप 'जातिभेद' मान्य था।

सम्प्रदायवाद

भरत मुनि, ने शिष्ट परम्परा प्राप्त उपदेश को सम्प्रदाय कहा है, किंतु आज किसी आचार्य अथवा गुरु द्वारा संघटित धार्मिक संस्था को सम्प्रदाय कहा जाता है। जैसा पूर्ववर्ती विवेचन से प्रकट है अंतर्मुखी, वैयक्तिक, गुह्य साधनामूलक इस समूची अनार्य परम्परा में गुरु ही ईश्वर-स्थानीय होता है, उसके द्वारा उपदिष्ट मत या दर्शन अंतिम सत्य माना जाता है और वैयक्तिक स्तर की चारित्रिक शुचिता में उपयोगी व्रत, यम-नियम या विरतियों (वर्जनाओं) के रूप में एक आचार संहिता होती है और इसी सामग्री से एक नया धार्मिक संगठन खड़ा कर लिया जाता है। इनकी इस साम्प्रदायिक प्रवृत्ति के मूल में—ईश्वरत्व की प्राप्ति, वाद-विवाद, संघ की स्थापना, सम्पत्ति का संग्रह, राजाश्रय एवं पर—धर्म असहिष्णुता जैसी प्रवृत्तियाँ स्पष्ट लक्षित होती हैं। यहाँ बौद्धधर्म में अंतर्निहित, साम्प्रदायिकता की पोषक, इन्हीं प्रवृत्तियों को प्रकाशित किया जाएगा।

ईश्वरत्व की प्राप्ति

कोई भी अध्यात्मवादी चिंतक सृष्टिकर्ता और भाग्य निर्माता ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करता। यदि प्रसंगोपात उसे ईश्वर और देवताओं की सत्ता माननी ही पड़ती हो तो वह उन्हें माया संवलित ब्रह्म या मनुष्य की अपेक्षा कुछ उत्तम दर्जे के, किंतु ब्रह्मतत्त्व के अधीन, प्राणी (जीव) ही बताएगा। उन्हें अपना आराध्य व साध्य वह कभी नहीं मान सकता। दूसरे, प्रत्येक अध्यात्मवादी एक या दूसरे शब्दों में यह मानता है कि ध्यानमूलक साधना द्वारा साधक अपने

आराध्य के साथ तद्रूपता प्राप्त कर सकता है। अर्थात् वह वही हो जाता है, जिसका वह ध्यान करता है।

जैसा हम देख चुके हैं मूलभूत बौद्ध चिंतन अनीश्वरवादी है, और उसकी साधना का अंतिम लक्ष्य है – 'निर्वाण'। इसके दो भेद हैं – सोपधिशेष और निरुपधिशेष। 'सोपधिशेष' निर्वाण प्राप्त साधक की बौद्ध संज्ञा 'अर्हत्' थी। 'अर्हत्' वेदांतियों के 'जीवन्मुक्त' के समतुल्य है। इससे ऐसा प्रतीत होता है मानो बुद्ध की देशना में साधक को ईश्वरत्व लाभ का अवकाश नहीं था। किंतु पातंजलयोग और सांख्य दर्शन के निरूपण में हम यह भली भाँति स्पष्ट कर चुके हैं कि गुरुपद प्राप्ति और ईश्वरत्व प्राप्ति पर्याय रूप हैं। भगवान बुद्ध स्वयं 'अर्हत्' ही थे।

दूसरे, यह कि बुद्ध ने यद्यपि दीक्षा प्राप्त अनेक शिष्यों को अर्हतत्व प्रदान किया था, उन्हें अपनी-अपनी क्षेत्रीय भाषाओं में सद्धर्म का उपदेश देने, अनेक पर्यायों से बुद्ध वचनों की व्याख्या करने, और नये शिष्यों को प्रव्रज्या एवं उपसम्पदा की दीक्षा देने की भी छूट दी, तथापि न तो उन्होंने अपने जीवन काल में किसी को नया सम्प्रदाय खड़ा करने की छूट दी, न कोई नया मत स्थापित करने की, और न मरते समय उन्होंने अपना कोई उत्तराधिकारी ही नियुक्त किया। इस प्रकार उन्होंने अपनी परम्परा में किसी अन्य के बुद्धत्व लाभ की संभावना न रहने देने की भरपूर चेष्टा की। किंतु उनके इस प्रयत्न का प्रभाव अल्पकालिक ही सिद्ध हुआ। बुद्धोपदिष्ट सद्धर्म में संघ भेद के लक्षण तो बुद्ध के जीवनकाल में ही दिखाई देने लग गए थे, किंतु नित्य नये-नये सम्प्रदायों की स्थापना का मार्ग प्रशस्त करने का श्रेय प्रमुख रूप से महायानियों को है। इन्होंने प्रस्थापित किया कि प्रत्येक प्राणी 'प्रसुप्त बुद्ध' है, और प्रत्येक साधक 'बोधिसत्त्व' (बुद्ध बनने का अधिकारी) है। बुद्धत्व लाभ करने वाला प्रत्येक व्यक्ति शास्ता, गुरु, धर्मोपदेशक, या 'धर्मचक्री' – (नये सम्प्रदाय का प्रवर्तक) बनने का अधिकारी है। महायानियों की इस मान्यता के फलस्वरूप परवर्ती बौद्ध परम्परा में एक के बाद एक नये-नये 'पुरुषोत्तम' अवतरित हुए, जिन्होंने अपने-अपने 'उपाय कौशल' से एक के बाद एक नये-नये 'यान' प्रवर्तित किए—

सर्वेहि तेहि पुरुषोत्तमेहि प्रकाशिता धर्म बहू विशुद्धाः।
दृष्टांतकैः कारणहेतुभिश्च उपायकौशल्यशतैरनेकी॥
(लंकावतार सूत्र)

इस प्रकार मूल में साधकों को ईश्वरत्व लाभ की सुविधा यदि न थी तो बाद में कर ली गई।

वाद-विवाद

जैसा पहले संकेत किया जा चुका है वाद-विवाद तत्कालीन और एतद्देशीय तत्त्वचिंतन की प्राणवायु थे। किसी दार्शनिक मत का उदय और अस्त, यदि

सर्वांशत: नहीं तो अधिकांशत: समकालीन वादियों के साथ होने वाले वाद-विवाद में उसके प्रवर्तक की विजय और पराजय पर निर्भर थे।

तर्क एवं वाद-विवाद के सम्बन्ध में बौद्धों की परस्पर विरोधी दो अवधारणाएँ मिलती हैं। एक तो यह कि—बुद्ध के अनुसार बोधिसत्त्व को युक्तिशरण होना चाहिए, पुद्गलशरण नहीं। अर्थात् तथ्य का निर्णय उसे युक्ति की सहायता से करना चाहिए, वैयक्तिक कथनों के आधार पर नहीं। कालामों को उन्होंने सलाह दी थी कि उन्हें किसी धर्म (उपदेश) को वक्ता के गौरवादि से प्रभावित होकर नहीं, प्रत्युत यह निश्चय करके ही अपनाना चाहिए कि वह कुशल है, अनिंदित है, ग्रहण करने पर उसका फल सुखद एवं हितकर होगा—(दे०अंगुत्तर निकाय)। 'ललितविस्तर सूत्र' में कहा गया है कि बुद्ध कुतार्किकों को परास्त करने वाले तार्किक शिरोमणि थे – 'स वादिशूर: कुगणिप्रतापक:।' दीघनिकाय (3/2) के 'उदम्बरिक सिंहनादसुत्त' के अनुसार निग्रोध (या न्यग्रोध) नामक परिव्राजक ने कहा था कि—"शून्यागार में रहते-रहते गौतम की बुद्धि मारी गई है, इसलिए वह सभा से मुँह चुराता है।" अवसर उपस्थित होने पर बुद्ध ने वादविवाद में निग्रोध को करारी शिकस्त तो दी ही, यह स्पष्ट भी किया कि – 'किसी के भी साथ वादविवाद करते हुए मैं भ्रांति या घबड़ाहट में पड़ जाऊँ—इसकी कोई संभावना नहीं है।.........जब मेरी रुग्णावस्था के कारण मुझे शय्या पर डालकर भी यहाँ लाओगे तो हे सारिपुत्र! मेरी प्रज्ञा शक्ति में किसी प्रकार की कमी नहीं आएगी।' निग्रोध के अतिरिक्त सच्चक (चूलसच्चकसुत्तन्त, मज्झिम० 1/4/5), उपालि—(उपालिसुत्तन्त, मज्झिम० 2/1/6), दीर्घनख (मज्झिम० 2/3/4), राजकुमार अभय (मज्झिम० 2/1/8) एवं महालि (दीघ० महालिसुत्त 1/6), वाग्युद्ध में, स्वयं को अपराजेय समझने वाले, या समझे जाने वाले वाग्वीर थे। इन सभी ने वाद विवाद में बुद्ध से परास्त होने पर बौद्धधर्म स्वीकार किया था। परास्त हो जाने पर सच्चक ने कहा था—"हे गौतम! मतवाले हाथी से भी भिड़कर बच निकलने वाला व्यक्ति आपसे भिड़कर कभी नहीं बच सकता।" इत्यादि।

उक्त समग्र स्थिति के पर्यवलोकन से प्रकट होता है कि तत्त्वानुसंधान में बुद्ध ने न केवल बुद्धिवाद का समर्थन किया था, अपितु वे स्वयं भी एक अपराजेय तार्किक थे और अन्य मतावलम्बियों को वाद-विवाद में परास्त करके अपने मत का प्रचार करने की तत्कालीन प्रथा को उन्होंने अपनाया था। 62 मिथ्यादृष्टियों के खंडन का प्रतिपादक दीघनिकाय का 'ब्रह्मजाल सुत्त' वस्तुत: बुद्ध द्वारा निर्मित ऐसा तर्कजाल है, जिसमें से छोटी-छोटी मछलियाँ (सूक्ष्म विचारक या कुशल तार्किक) भी बचकर नहीं निकल सकतीं।

दूसरी ओर, बुद्ध ने कहा था कि उनके द्वारा साक्षात्कृत धर्म 'अतक्कावचरा' (तर्क द्वारा अगम्य) है—(दे० ब्रह्मजालसुत्तं, दी०)। सद्धर्म तर्कगम्य नहीं है केवल तथागती प्रज्ञा द्वारा ही इसका साक्षात्कार हो सकता है—अतर्कोऽतर्का-

वचरस्तथागतविज्ञेयः शारिपुत्र ! सद्धर्मं।[264] अर्थात् सद्धर्म प्रत्यात्मवेदनीय है। सम्पूर्ण विवाद तो तर्क को बढ़ानेवाले हैं - 'सब्बं तं तक्कवड्ढनं।' अस्ति-नास्ति और शुद्धि-अशुद्धि विषयक विवादों से दुःखनिवृत्ति संभव नहीं है—

अस्तीति नास्तीति विवाद एष शुद्धी अशुद्धीति अयं विवादः।
विवादप्राप्त्या न दुखं निरुध्यते स्मृतेरूपस्थान कथं कथेत्वा।[265]

तर्कशील वादियों के प्रति बुद्ध का कथन था—तुम्हारे साथ विवाद करने को यहाँ कोई नहीं है—(दे० पसूर सुत्त, सुत्तनिपात) तात्पर्य यह है कि बौद्धिक वाद-विवादों को त्यागकर ही सत्य को पाया जा सकता है।

विद्वज्जन प्रायः उपर्युक्त प्रथम मन्तव्य की उक्तियों का सहारा लेकर बुद्ध को बुद्धिवाद का समर्थक और द्वितीय उक्तियों का सहारा लेकर शुष्कतर्क या कुतार्किकों का विरोधी सिद्ध कर देते हैं। हमारे विचार से विद्वानों के इस प्रकार के मन्तव्य बुद्ध-मन्तव्य के सुसंगत नहीं हैं। क्योंकि उपर्युक्त द्वितीय मन्तव्य में स्पष्टतः लक्षित तर्क विरोध को कुतर्क का विरोध बताना भ्रामक है।

तर्क एवं वाद-विवाद विषयक बौद्धों के उपर्युक्त परस्पर विरोधाभासी मन्तव्यों के सम्यक् समाधान हेतु प्रथम तो इस तथ्य को लक्ष्य में रखना होगा कि अन्य अध्यात्मवादियों की तरह बुद्ध ने भी स्वानुभूत बोधि को प्रत्यात्मवेदनीय, अकथनीय (अव्याकृत) आदि कहकर तर्क द्वारा अगम्य बताया है। अर्थात् उनके द्वारा साक्षात्कृत धर्म तर्क या वाद-विवाद का विषय ही नहीं बन सकता।[66] इनके द्वारा उपदिष्ट मत का सारांश इतना ही है कि जागतिक पदार्थ उत्पाद-व्ययशील हैं, और व्यक्ति को सत्य, अहिंसा, अस्तेय आदि व्रतों का पालन करना चाहिए। इस प्रकार इनके मत का अव्यक्त भाग तर्क का विषय नहीं हो सकता और व्यक्त भाग का खंडन नहीं हो सकता। इस स्थिति में तर्क या वाद-विवाद का विषय और खंडन का पात्र प्रतिपक्षी का मत ही रहेगा— (विशेष के लिए दे० दीघनि० 1/4, और 3/11)।

हमारे विचार से तो यही कारण है कि निग्रोध के साथ हुए वाद-विवाद में जब निग्रोध ने वाद का प्रारम्भ करने के लिए बुद्ध से कहा कि आप पहले अपने मत की व्याख्या करें, तो बुद्ध ने उत्तर दिया—"दूसरे मतावलम्बी के लिए बिना अभ्यास के मेरा मत समझना कठिन है, अतः निग्रोध, आओ मुझसे अपने ही मत के विषय में प्रश्न पूछो।"[267] सोणदत्त के साथ भी विवाद का प्रारम्भ बुद्ध ने उससे उसके ही धर्म के विषय में प्रश्न पूछकर किया था, (दे० सोणदण्डसुत्तः, दीघ० 1/4)।

उपर्युक्त स्थिति से दो बातें प्रकट होती हैं—एक यह कि इस प्रकार के वाद-विवाद में विजयी बनने के लिए यह आवश्यक है कि वाद का विषय प्रतिपक्षी का ही मत बनाया जाए, अपना नहीं। दूसरी यह कि कथित बुद्धिवाद का सदुपयोग दूसरे या प्रतिपक्षी के मत के खण्डन करने तक ही परिसीमित है, अपने

मत की कसौटी करने के लिए नहीं। यही कारण है कि गंगरा पुष्करिणी के तटवर्ती तैर्थिकों ने बुद्ध के शिष्य वज्जिदेश के महित नामक गृहपति को स्पष्ट सुना दी थी - तेरा गौतम तो सिर्फ वाद का खण्डन ही करता है, कुछ प्रतिपादित तो करता नहीं -- (अंगुत्तर० 10/2/5/4)। कालामों के प्रति बुद्ध का जो कथन है वह परिस्थिति सापेक्ष है, क्योंकि कालामों ने बुद्ध से प्रश्न किया था—"भगवन्! यहाँ जो श्रमण या भिक्षु आते हैं, सभी अपने-अपने धर्मों (उपदेशों) को बड़ा बतलाते हैं, और दूसरे के धर्मों की निन्दा करते हैं। हम किसका धर्म अपनावें ?" तत्कालीन धर्मोपदेशकों पर सामूहिक रूप में किए गए इस आक्षेप से बच निकलने का एक ही मार्ग था, जिसे बुद्ध ने अपनाया। अन्यथा जहाँ तक उनके अपने मत का प्रश्न है उनकी स्पष्ट घोषणा है कि उसे तो केवल श्रद्धा द्वारा ही पाया जा सकता है—"ब्रह्मा! अमृत का द्वार उनके लिए खुला है, जो श्रद्धापूर्वक सुनेंगे"—(महापदान सुत्त दीघ०)।[268] और इस श्रद्धा का तात्पर्य शास्ता और उसके उपदेश में शिष्य की अडिग आस्था से भिन्न नहीं है।

उपालि गृहपति के साथ विवाद प्रारम्भ करने के लिए बुद्ध ने यह पूर्वशर्त रखी थी—"गृहपति! यदि तू सत्य में स्थिर होकर मंत्रणा करे, तो हम दोनों का संलाप हो - (उपालि सुत्त, मज्झिम० 2/1/6)। इस 'सत्य में स्थिर होने' का तात्पर्य मेरे विचार से 'अति प्रश्न' विषयक व्यवस्था, या निर्णय, से है जिसका स्वरूप इस प्रकार है "भिक्षुओ! चक्षु, श्रोत, घ्राण, जिह्वा और शरीर का आश्रय मन है, मन का आश्रय योनिशः (या सम्यक् स्मृति है), सम्यक् स्मृति का आश्रय विमुक्ति है, और विमुक्ति का आश्रय है—'निर्वाण'। परन्तु यदि तुम पूछो कि निर्वाण का आश्रय क्या है ? तो यह एक अतिप्रश्न है, जिसका उत्तर नहीं दिया जा सकता।[269] राध को भी बुद्ध ने यही समझाया कि "राध, सम्यक् दृष्टि निर्वेद के लिए, निर्वेद विराग के लिए, विराग विमुक्ति के लिए और विमुक्ति निर्वाण के लिए है। परंतु यदि तुम पूछो कि निर्वाण किसके लिए है ? तो तुम प्रश्न का अतिक्रमण करते हो और उसका उत्तर नहीं दिया जाएगा।"[270] उपासक विशाख ने भिक्षुणी धम्मदिन्ना से जब पूछा— "आर्ये! निर्वाण का प्रतिभाग (आश्रय, सपक्षी) क्या है ?" तो धम्मदिन्ना ने कहा—"आवुस विशाख! तुम प्रश्न का अतिक्रमण कर गए" - (चूलवेदल्लसुत्तंत, मज्झिम० 1/5/4)। इससे प्रकट है कि बौद्ध चिंतन में निर्वाण, उपनिषदों के ब्रह्म या ब्रह्मलोक की ही तरह, सर्वाश्रय है, सबका अंतिम लयस्थान, या अधिष्ठान है, उससे परे कुछ नहीं है, वही अंतिम सत्य है। अत उसका आश्रय क्या है ? यह प्रश्न नहीं उठाया जा सकता।

उक्त 'अतिप्रश्न' विषयक व्यवस्था का एक उद्देश्य तो—उसका लय किसमें होता है ? फिर उसका लय किसमें होता है ? इस प्रकार की अनन्त काल तक चलने वाली प्रश्नावली का अन्त लाना अर्थात् उक्त वाद-विवाद को 'अनवस्था दोष' से मुक्त करना था। दूसरी ओर इसका परिणाम यह था कि वादी के एक

बार यह कहने पर कि "त्रिमुक्ति का प्रतिभाग निर्वाण है ।" प्रतिवादी यदि यह प्रश्न नहीं करता कि निर्वाण का प्रतिभाग क्या है ? तो वह परास्त हो गया और यदि वह यह प्रश्न करने का हठ करता है तो उसकी गर्दन उड़ा दी जाएगी । जैसा कि बृहदारण्यकोपनिषद् के क्रमशः याज्ञवल्क्य-गार्गी संवाद और याज्ञवल्क्य-शाकल्य संवाद से प्रकट है। स्वयं भगवान बुद्ध कहते हैं, "कश्यप ! जो इस प्रकार······न जानकर कहे कि 'मैं जानता हूँ ।' और न देखकर कहे कि 'मैं देखता हूँ ।' उसका सिर गिर जाए ।"[271] प्रकट है कि इस व्यवस्था के अंतर्गत योजित वाद-विवाद में विजय उसकी होगी जिसका विधान अतिप्रश्न की मर्यादा (सीमा) निर्धारित करेगा ।

उपालि के साथ की गई उपर्युक्त पूर्वशर्त में 'सत्य में स्थिर होने' का तात्पर्य उपर्युक्त स्थिति-परिस्थिति के परिप्रेक्ष्य में, यही हो सकता है कि जिसे हम सर्वाश्रय (अंतिम सत्य) करार दें वह तुम्हें भी स्वीकार्य होगा । क्योंकि हम, द्रष्टा या आत्मदर्शी होने के नाते, दृष्ट और ज्ञात का ही कथन करते हैं, आनुश्रविक का नहीं ।

उल्लेख्य होगा कि श्रावस्ती की जैनधर्मावलम्बिनी चार नारियाँ शास्त्रार्थ में दिग्विजय करने निकली थीं । उनकी प्रतिज्ञा थी कि जो गृही हमें परास्त कर देगा, उसी से हमारा विवाह होगा, और यदि कोई संन्यासी परास्त कर देगा तो हम उसकी शिष्या हो जाएँगी । यत्र तत्र दिग्विजय करती हुई वे श्रावस्ती पहुँचीं जहाँ उन्हें सारिपुत्र ने परास्त किया, और कहा कि—"मेरी शिष्या क्या बनोगी, मेरे शास्ता की शिष्या बनो ।"[272] इससे प्रकट है कि इन वाद-विवादों में गृहस्थ, संन्यासी, नर-नारी सभी भाग लेने के अधिकारी होते थे । और पराजित व्यक्ति को विजेता की शरणागति स्वीकारनी होती थी ।

जैसा अन्यत्र भी संकेत किया जा चुका है, ये वाद-विवाद किसी राजा या बड़े अधिकारी की परिषद, कूटागार अथवा अर्थधर्म में निपुण ब्राह्मणों या भिक्षुओं की सभा में आयोजित किए जाते थे ।

बाह्य तौर पर तत्कालीन वाद-विवादों का उद्देश्य तत्त्वानुसंधान प्रतीत होता है, किंतु यह एक भ्रामक प्रतीति है । युगीन परिवेश और धर्म का चक्रवर्ती शासन स्थापित करने के बुद्ध के लक्ष्य के परिप्रेक्ष्य में समीक्षा करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि ये वाद-विवाद बुद्ध के अभीप्सित 'धर्मराज्य' की व्यवस्था में, राजतंत्र के चक्रवर्ती राजाओं के दिग्विजय के अभियानों के विकल्प स्वरूप अपनाये गए वाग्युद्ध थे; अर्थात् जैसे कोई राजा दिग्विजय के अभियान पर निकलकर आसपास के राजाओं को सैनिक युद्ध में परास्त करके अपने राज्य का विस्तार करता और चक्रवर्ती शासक बनने का गौरव लेता था, वैसे ही सम्प्रदाय प्रवर्तक आचार्य दिग्विजय के अभियान पर निकलते थे और निकटवर्ती धर्माचार्यों को वाग्युद्ध में परास्त करके, अपने अधीन बना करके, अपने धर्मराज्य (सम्प्रदाय) का विस्तार करते थे और उसके फलस्वरूप दिग्विजयी 'धर्मचक्री' होने का गौरव

लेते थे। इस प्रकार राजनीतिक राज्य और धर्मराज्य दो समानान्तर शासन प्रजा पर लाद दिए जाते थे।

संघ

दीघनिकाय के सामञ्ञफलसुत्त में, जैसा हम देख चुके हैं, पूरणकस्सप प्रभृति परिव्राजकाचार्यों को 'संघिनो, गणिनो' (अर्थात् 'संघ' के संस्थापक एवं 'गण' के संस्थापक) कहा गया है। संघ एवं गण शब्द तत्कालीन एतद्देशीय 'प्रजातंत्रीय राज्यों' के लिए भी प्रयुक्त होते थे, जैसा कि पाणिनि (अष्टाध्यायी : 3/3/86), कौटिल्य (अर्थशास्त्र 11, पृष्ठ 377) आदि के साक्ष्यों से सिद्ध है। उल्लेख्य होगा कि संघ और गण दोनों शब्द पर्याय रूप थे—संघोद्धौ गण प्रशंसयो: (पाणिनि-3/3/86)। मज्झिम निकाय (1/4/5/35) में भी आया है—इमेसम पि हि भो गौतम ! संघानम् गणानम् सेयथिदम् वज्जिनम् मल्लानम्—अर्थात् हे गौतम ! यह बात संघों और गणों के सम्बन्ध में है, जैसे वज्जि और मल्ल। इससे प्रकट है कि संघ एवं गण शब्द एक ओर परिव्राजकों के धार्मिक संगठनों के लिए तो दूसरी ओर प्रजातंत्रीय (वस्तुत: सामंती) राजनीतिक व्यवस्था वाले राज्यों के लिए प्रयुक्त होते थे। महावीर स्वामी के जैनसंघ की चतुर्विध व्यवस्था का उल्लेख हम कर चुके हैं। भगवान बुद्ध के संघ में भी चार परिषदें थीं - भिक्षु परिषद्, भिक्षुणी परिषद्, उपासक परिषद् एवं उपासिका परिषद्। इस प्रकार बौद्धसंघ का संगठन पूर्व परम्पराओं के अनुरूप ही था।

धार्मिक स्तर पर उक्त चारों परिषदों में सामञ्जस्य किस रूप में स्थापित किया गया था, एकदम स्पष्ट नहीं है। इतना निश्चित है कि प्रथम दो परिषदें भिक्षुओं की थीं, अंतिम दो गृहस्थों की। भिक्षु संघ एवं भिक्षुणी संघ यद्यपि अलग-अलग थे, तथापि संगठन विषयक महत्त्वपूर्ण बातों में भिक्षुणी संघ अपने निकटवर्ती भिक्षु संघ के अधीन रहता था। बौद्धवाङ्मय में इन्हीं दो प्रमुख संघों, किंतु विशेष रूप से भिक्षु संघ का विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है। इससे प्रकट है कि धर्म-नियन्ता के रूप में भिक्षु संघ ही था। उपासक एवं उपासिका अपने सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन में प्रजातंत्रीय संघ व्यवस्था से और धार्मिक जीवन में धार्मिक संघ (या भिक्षु संघ) की व्यवस्था से अनुशासित होते होंगे। इस प्रकार जिन्हें इतिहासकार प्रजातंत्र या स्वाधीन गणराज्य की संज्ञा देते हैं, वे पूर्वी प्रदेश वस्तुत: राजनीतिक एवं धार्मिक संघों के दुहरे शासन में पिसने वाले प्रजाजन थे।

इस संभावना को हम स्पष्ट कर चुके हैं कि बुद्ध ने समसामयिक राजनीतिक कारणों से गृह त्याग किया था। ज्योतिषियों ने गौतम बुद्ध के विषय में भविष्यवाणी की थी कि—"ऐसे लक्षणों वाला यदि गृही हो तो चक्रवर्ती राजा होगा और यदि प्रव्रजित हुआ तो बुद्ध होगा।"[273] इसका तात्पर्य यह हुआ कि गृहस्थों में जो महत्त्व एवं स्थान चक्रवर्ती राजा बनने का है परिव्राजकों में वही महत्त्व एवं स्थान बुद्धत्व लाभ का है; अर्थात् गृहस्थों के मध्य चक्रवर्ती राजा की जो भूमिका

है भिक्षुकों के मध्य वही भूमिका 'बुद्ध' की है। अतः बुद्ध का धर्मचक्र प्रवर्तन, चक्रवर्ती राजा के दिग्विजय के अभियान का ही समानान्तर रूपान्तर है। 'चक्र' शब्द, प्राचीन मान्यताओं के अनुसार, भूतलपर्यन्त व्याप्त राज्य का द्योतक है और 'रथ चक्र' इसका प्रतीक है।[274] अतः बुद्ध के अभूतपूर्व (अनुत्तर) धर्मचक्र प्रवर्तन का तात्पर्य है—धर्म के चक्रवर्ती साम्राज्य की स्थापना का प्रारम्भ।

भगवान बुद्ध के लिए पालि साहित्य में 'धम्मराज' 'शास्ताधम्मचक्की' आदि विशेषण प्रयुक्त हुए हैं जिनका तात्पर्य स्पष्ट है कि वे धर्मराज्य के विधिवत् अभिषिक्त 'धर्मराज' या चक्रवर्ती राजा हैं। मज्झिम निकाय (2/5/2) में 'सेल' नामक ब्राह्मण के यह पूछने पर कि– आप जब अपने को धर्म का राजा कहते हैं, और कहते हैं कि मैं धर्म का चक्र चला रहा हूँ, तब इस राज्य का सेनापति कौन है ? बुद्ध ने तत्काल उत्तर दिया—"तथागत का अनुजात सारिपुत्र ठीक से धर्म अनुचालित कर रहा है।" यही बात सुत्तनिपात (33/10) में इन शब्दों में कही गई है—

माया पवत्तितं चक्कं धम्मचक्क अनुत्तर।
सारिपुत्रो अनुवत्तेति अनुजातो तथागतं ॥

इससे प्रकट है कि बुद्ध धर्मराज थे, और उनके इस धार्मिक राज्य (संघ) का धर्म सेनापति था—'सारिपुत्र'।

तदपुरांत मगधराज अजातशत्रु के सहयोग से देवदत्त द्वारा बुद्ध को बदनाम करने, यहाँ तक कि जान से मार डालने के षड्यंत्र, देवदत्त की संदिग्ध मृत्यु, बुद्ध के प्रिय शिष्य मोद्गल्लायन की हत्या, तत्कालीन क्षेत्रीय राजाओं और धनाढ्यों के साथ बुद्ध का सतत सम्पर्क तथा उन्हें अपने धर्म में दीक्षित करने का प्रयत्न, बौद्धेतर सम्प्रदायों के अनुयायियों का सतत धर्मान्तर कराते रहने की प्रक्रिया, सैकड़ों की संख्याओं में भिक्षु दल को अपने साथ रखना, भिक्षुओं को अरण्यवास त्यागकर बस्ती के निकट (विहारों एवं संघारामों में) रहने की छूट, भिक्षु संघ पर अपना आधिपत्य बनाये रखने की उत्कट लालसा, समकालीन महाजनों द्वारा विरोध करने पर दासों और ऋणियों (कर्जदारों) को, मगधराज बिम्बिसार द्वारा विरोध करने पर सैनिकों को. और शुद्धोधन द्वारा विरोध करने पर 15 साल से कम उम्र वाले बालकों को, प्रव्रज्या देने पर रोक लगाना, बिम्बिसार की सलाह पर भिक्षुओं के लिए 'उपोसथ' का विधान – इत्यादि और इनसे सम्बन्धित गति-विधियों से स्पष्ट लक्षित होता है कि बुद्ध की धर्म देशना मात्र 'निर्वाणगामिनी प्रतिपद' के उपदेश तक ही सीमित न होकर राजनीतिक उद्देश्यों से भी अनुप्रेरित थी। इस संदर्भ में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है – 'भिक्षु, संघ जिसकी रचना प्रणाली एवं कार्य प्रणाली में तत्कालीन 'संघीय प्रणाली' का अनुकरण किया गया था।

भगवान बुद्ध का जन्म प्रजातंत्री राज्य (संघ) में हुआ था, और उनका शेष जीवन प्रजातंत्री समाजों में ही व्यतीत हुआ था। अतः संघीय कार्यप्रणाली से

उनका सुपरिचित एवं प्रभावित होना स्वाभाविक था। किंतु इस विषय में वे वैशाली के वज्जिसंघ से विशेष प्रभावित प्रतीत होते हैं। रंग-बिरंगे वस्त्रालंकारों से सुसज्जित लिच्छवि कुमारों का परिचय बुद्ध ने इन शब्दों में कराया था—भिक्षुओ ! यदि तुममें से किसी ने तावत् त्रिंश कोटि देवताओं को न देखा हो, तो वह इन लिच्छवियों को देख ले। मगधराज अजातशत्रु के मंत्री वर्षकार ने जब बुद्ध से यह जानना चाहा कि वज्जियों (लिच्छवियों एवं विदेहों) के संघ पर इस समय आक्रमण करके विजयी हुआ जा सकता है अथवा नहीं ? तब आनन्द को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा—"आनंद जब तक वज्जिलोग सन्निपात बहुल हैं, (अर्थात् पूरी, भरी, जल्दी-जल्दी सभाएँ करते हैं), जब तक वे एकमत होकर मिलते हैं, मिलकर उन्नति करते हैं और एकमत होकर कार्य करते हैं, जब तक वे अप्रज्ञप्त को प्रज्ञप्त और प्रज्ञप्त को अप्रज्ञप्त नहीं करते (अर्थात् जब तक वे परम्परागत नियमों एवं स्थापित संस्थाओं के अनुकूल आचरण करते हैं), जब तक वे बड़े-बूढ़ों का सम्मान और उनकी आज्ञाओं का अनुसरण करते हैं, जब तक वे कुल स्त्रियों और कुल कुमारियों का बलात् अपहरण नहीं करते, जब तक वे अपने चैत्यों की पूजा और सहायता करते हैं तथा जब तक वे अपने अर्हतों का रक्षण और पालन करते हैं, तब तक उनकी वृद्धि ही होगी, परिहाणि नहीं। ये सात अपरिहाणीय धर्म वज्जियों की उन्नति एवं समृद्धि के मूल कारण है।"[275]

तत्पश्चात् बुद्ध ने भिक्षुओं को एकत्रित किया और कहा—भिक्षुओ, मैं तुम्हें बताऊँगा कि किसी समाज के कल्याण के लिए सात बातें आवश्यक हैं और तब उन्होंने अपने भिक्षु संघ के संगठन के संदर्भ में उपर्युक्त सात अपरिहाणीय धर्मों का इस रूप में उपदेश दिया कि—(1) जब तक भिक्षु सन्निपात बहुल हैं, (2) जब तक वे एकमत होकर चलते हैं, साथ मिलकर उन्नति करते हैं और एकमत हो संघ के नियमों का पालन करते हैं, (3) जब तक वे अप्रज्ञप्त को प्रज्ञप्त और प्रज्ञप्त को अप्रज्ञप्त नहीं करते—(परम्परागत व्यवस्था को भंग करके नई व्यवस्था नहीं अपनाते) (4) जब तक वे संघ के समस्त वृद्धों का सम्मान करते रहेंगे और उनकी बातें सुनना अपना कर्तव्य मानेंगे, (5) जब तक वे विषय-वासनाओं के मोह में नहीं पड़ेंगे, (6) जब तक वे एकाकी जीवन में ही सुख मानेंगे और (7) जब तक वे सब इस प्रकार अपने मनों को संस्कृत करेंगे···, तब तक कभी यह नहीं मानना चाहिए कि भिक्षुओं का पतन होगा, अपितु यही समझना चाहिए कि निरंतर उनकी उन्नति होती रहेगी।[276]

प्रकट है कि बुद्ध ने अपने धार्मिक संघ को चिरस्थायी बनाने के लिए उसकी व्यवस्था में उन सात अपरिहाणीय धर्मों को अपनाया जिन्हें अपनाने से वज्जियों का राजनीतिक संघ अपने प्रबल शत्रुओं के लिए भी अपराजेय बना हुआ था; अर्थात् बुद्ध के भिक्षु संघों की व्यवस्था उस राजनीतिक व्यवस्था का रूपांतर थी जिससे वज्जियों, विदेहों और लिच्छवियों का संघ अनुशासित था। इस व्यवस्था पर उन्हें सम्भवतः इतना विश्वास था कि उन्होंने अपना कोई उत्तराधिकारी

नियुक्त नहीं किया । इस व्यवस्था के फलस्वरूप व्यक्तियों द्वारा प्रवर्तित उदय-अस्त होते रहने वाले मत-पंथ स्थायित्व को प्राप्त हुए । मेरे विचार से मनुष्यों के भौतिक जीवन पर शासन करने वाले राजनीतिक राजाओं, राजवंशों एवं राज्यों की तुलना में मनुष्यों के मन एवं हृदय पर शासन करने की कामना से चलाए गए ये धर्मराज्य (सम्प्रदाय) अधिक विस्तृत, स्थायी एवं प्रभावशाली सिद्ध हुए ।

सम्पत्ति का संग्रह

बौद्धधर्म मूलतः निवृत्तिमूलक है, अतः उसमें सर्वत्र अर्थ के उपार्जन, संग्रह, रक्षण, क्षय आदि को दुःखप्रद एवं दोषपूर्ण बताकर उसके सर्वथा त्याग अथवा दान को हितकर बताया गया है । किंतु ये सब बातें गृहस्थों और संन्यस्त साधकों (भिक्षुओं) के लिए हैं, संघ के लिए नहीं । पुण्य की इच्छा से दान करनेवालों के लिए स्वयं भगवान बुद्ध ने संघ को सर्वश्रेष्ठ बताया था—(दे० सुत्तनिपात 33) संघाराम, विहार, चैत्य, उद्यान जैसी अचल सम्पत्ति और बड़ी मात्रा में अन्न, औषधि, वस्त्र (चीवर-साटी) आदि के दान संघ को ही दिए जाते थे । इस प्रकार संघ चल-अचल अपरिमित सम्पत्ति का स्वामी बन सकता था । अतः वैयक्तिक स्तर पर नहीं, संघीय स्तर पर सम्पत्ति का संग्रह किया जाता था ।

एतद्देशीय तत्कालीन राजघरानों और श्रेष्ठियों से भिक्षु संघ को दान स्वरूप मिलने वाली अपरिमित सम्पत्ति के जो उल्लेख बौद्ध परम्परा में सुरक्षित हैं, उनमें से कुछेक का उल्लेख यहाँ प्रासंगिक होगा—

(1) मगध नरेश बिम्बिसार ने वेणुवन संघ को दान में दिया था, (2) राजगृह के श्रेष्ठी ने आठ विहार बनवाए और उन्हें 'अतीतानागत' (त्रिकाल) एवं चतुर्दिक् भिक्षु संघ को अर्पित किया, (3) श्रावस्ती के श्रेष्ठी सुदत्त (अनाथपिंडक) ने राजकुमार जेत से उनका जेतवन (उद्यान) उतनी मुद्रा (18 करोड़ कार्षापण) देकर क्रय किया था जितनी से उस उद्यान की सारी भूमि ढँक जाए, और उसे संघ को दान कर दिया, (4) बौद्ध वाङ्मय में 'मिगार माता' का विरुद पानेवाली श्रावस्ती की विशाखा बौद्ध संघ को दान देने वालों में अद्वितीय महिला थी । उसने भिक्षुओं के लिए आठ प्रकार के 'सदाव्रत' खोले थे और 29 करोड़ मुद्राओं की लागत से निर्मित ऊपर-नीचे एक हजार कमरों वाला 'पूर्वाराम' विहार संघ को दान में दिया था, (5) वैशाली की अम्बपाली (वेश्या) और वालिका भी विशाखा जैसी ही दानवीर महिलाएँ थीं, (6) महातीर्थ नामक ग्राम (नगर ?) के श्रेष्ठी पिप्पलिमाणवक अपार सम्पत्ति के स्वामी थे । भगवान बुद्ध ने जब यह सुना कि वह प्रव्रज्या लेने आ रहा है, तो वे राजगृह में भिक्षु संघ को छोड़कर तीन कोस (लगभग 10 कि० मी०) पैदल चलकर उसकी अगवानी के लिए आए और वहीं बहुपुत्रक 'वटवृक्ष' के नीचे तत्क्षण उसे प्रव्रज्या दी, (7) अंगदेश की चम्पानगरी का सोणकोटिविंश नामक श्रेष्ठीपुत्र बीस करोड़

मुद्राओं का धनी था। प्रव्रज्या लेने पर जब उसे पैदल चलना पड़ा तो उसके पैर में छाले पड़ गए। इससे दुःखी होकर जब उसने पुनः गृहस्थ में जाने की इच्छा प्रकट की तो भगवान बुद्ध ने उसे ढाढ़स बँधाया और जूते पहनने की अनुमति दे दी, जो अभी तक किसी को नहीं थी। तदुपरांत वैशाली का 'कुबेर' मेढक भद्र-कुटुम्ब बुद्ध का शिष्य बना था, वाराणसी का श्रेष्ठी पुत्र यश और उसके पाँच साथी सभी अत्यन्त धनी व्यक्ति थे। श्रावस्ती में न्यग्रोधाराम विहार, कोशाम्बी में घोसिताराम विहार एवं कपिलवस्तु के विहार भी आलीशान विहार थे।[277] भगवान बुद्ध धनिकों का आदर करते थे।

तदनंतर 'दिव्यदान' (पृ० 140) के उल्लेख के अनुसार अशोक ने चौरासी हजार स्तूपों का निर्माण कराया था। कालांतर में जब बौद्धविहारों में रहने वाले भिक्षुओं का निर्वाह केवल भिक्षा से होना सम्भव न रहा, तब आरामिकों की व्यवस्था अपनाई गई। ये आरामिक वस्तुतः भिक्षु संघ अथवा सम्बन्धित विहार के बंधुआ मजदूर होते थे; अर्थात् विहार के नाम पर जो जमीन होती थी ये लोग उसमें खेती करते थे और लगान के रूप में उपज को भिक्षु संघ या विहार को दे देते थे। विहार की मरम्मत इन्हें ही करनी पड़ती थी—बेगार के रूप में। इस सम्बन्ध का प्रथम उल्लेख 'महावग्ग' में मिलता है।

पक्षपात की सीमा तक बौद्ध धर्म की प्रशंसा और ब्राह्मण धर्म की निंदा करने वाले बौद्ध धर्मावलम्बी डॉ० धर्मानंद दामोदर कोसाम्बी लिखते हैं कि इन आरामिकों और बौद्ध भिक्षुओं के सम्बन्ध, शोषित व शोषक के थे। अतः उनमें विग्रह स्वाभाविक बना। आरामिकों के विद्रोह को दबाने के लिए राजाश्रय भी लिया जाता और झूठ का भी। राजा द्वारा आरामिकों की हिंसा करा दी जाती। इस प्रकार अपरिग्रह, सत्य और अहिंसा तीनों यामों का भंग हुआ। आरामिकों तथा अन्य प्रजाजनों के कर के रूप में बलपूर्वक वसूल किया जानेवाला धन अपहृत था, दान नहीं, इससे 'अस्तेय' का भंग हुआ।[278] कुछ भिक्षुओं द्वारा ब्रह्मचर्य-भंग के उदाहरण तो पूर्व परम्परा में ही मिल जाते हैं, सम्भवतः इसीलिए कोसाम्बीजी ने उसका यहाँ उल्लेख आवश्यक नहीं माना है। डॉ० कोसाम्बी आगे लिखते हैं कि—श्रमण जब संघाराम एवं मंदिरों के सहारे धनाढ्य बने और राजा की सहायता लेकर सामान्य जनों से संघारामों के लिए एवं मंदिरों के लिए कर वसूल करने लगे, तब लोगों में वे भी अप्रिय बने हों तो इसमें आश्चर्य नहीं। मात्र यज्ञयाग में पशुहत्या करना ही हिंसा है, परंतु इस प्रकार लोगों के पास से बलपूर्वक कर वसूल करने में हिंसा नहीं है, ऐसी श्रमणों की दृढ़ मान्यता होनी चाहिए।[279]

जो हो, मेरे विचार से संघ के नाम पर चल-अचल अपरिमित सम्पत्ति का संग्रह करके बौद्धों ने अपने-अपने सम्प्रदायों को आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न, सुरक्षित एवं दीर्घजीवी बनाने का सफल प्रयास किया। आज भी प्रत्येक सम्प्रदाय किसी न किसी रूप में इस नीति या उपाय को अपनाता है।

राजाश्रय

हम यह देख चुके हैं कि बौद्ध संघ का उद्देश्य मात्र धार्मिक न होकर राजनीतिक भी रहा होना चाहिए। सम्भवतः भिक्षु संघ के लिए राजाओं की ओर से मिलने वाले दान के अतिरिक्त यह भी एक कारण रहा होगा, जिसके फलस्वरूप अपने धर्म प्रचार के 45 वर्षों तक भगवान बुद्ध अपने समकालीन राजाओं के सतत सम्पर्क में रहते थे। न केवल किसी धार्मिक जिज्ञासा के समाधान के लिए प्रत्युत राजनीतिक समस्याओं पर विचार-विमर्श के लिए भी वे बुद्ध भगवान से मिलने आते थे। यहाँ तक कि अजातशत्रु के मंत्री वर्षकार ने वज्जियों को पराजित करने का रहस्य उन्हीं से जाना था। विम्बसार के कहने पर उन्होंने सैनिकों को प्रव्रज्या देने पर रोक लगा दी थी। कुल मिलाकर संघीय व्यवस्था पर निर्भर इस धर्म (सम्प्रदाय) की रीढ़ राजाश्रय ही था।

बौद्ध परम्परा के उल्लेखों के अनुसार मगध नरेश विम्बसार और बाद में उनके पुत्र अजातशत्रु, प्रमुख ब्राह्मणाचार्य पौष्करसाति, कोशल नरेश प्रसेनजित्- कोशाम्बी के राजा उदयन और उनकी रानियाँ और लिच्छवियों के सेनापति सिंह— ये सभी बुद्ध भगवान का विश्वास करते थे, उनका सम्मान करते थे, उनकी पूजा करते थे। भिक्षु संघों को उक्त राजाओं एवं राजघरानों की ओर से समय-समय पर पर्याप्त सहायता मिलती रहती थी। विम्बसार ने तो अपने समूचे राज्य के सभी अस्सी हजार गाँवों के ग्रामाध्यक्षों को आमंत्रित करके बुद्ध द्वारा उपदिष्ट कराया और उन्होंने बौद्धधर्म अपनाया। इस प्रकार उन्होंने आर्थिक सहायता के अतिरिक्त बुद्ध के प्रचार अभियान में भी अपना सक्रिय योग दिया।

कालांतर में चक्रवर्ती सम्राट अशोक ने बौद्ध-धर्म के प्रचार में कोई कोर-कसर नहीं रहने दी। उसने न केवल अपने तन, मन और धन से अपितु यहाँ तक कि राजकीय शक्ति का प्रयोग करके भी बौद्धधर्म का प्रचार किया। सच पूछा जाए तो अशोक की दृष्टि में बौद्धधर्म का प्रचार उसके अपने राज्य के विस्तार का पर्याय था। मेरे विचार से तो भगवान बुद्ध ने धर्मचक्री (धर्म का चक्रवर्ती सम्राट) होने का स्वप्न देखा था, अशोक ने उसे न केवल साकार किया, भोगा भी था। मेरी सूझ-बूझ यदि मुझे धोखा न दे रही हो तो कहूँगा कि अशोक का साम्राज्य उसकी सेनाओं द्वारा विजित क्षेत्र के रूप में राजनीतिक न होकर उसके राजकर्मचारियों द्वारा किए गए धर्म प्रचार के फलस्वरूप बौद्धधर्म को स्वीकार करनेवाले क्षेत्र के रूप में था। तदनंतर ग्रीक राजा मेनांडर, कनिष्क, गुप्त राजवंश, हर्षवर्धन, प्रारम्भिक हैयय वंशीय राजा, दक्षिण के पल्लव, वाकाटक, चालुक्य (वादामी के चालुक्य), सातवाहन, पूर्व में बिहार के पालवंश और बंगाल के सेनवंश आदि के राजाओं एवं राजवंशों ने बौद्धधर्म एवं संघ को जीवित रखने के लिए बहुत कुछ किया।

कहा जाता है कि राजाश्रय न मिलने पर बौद्धधर्म का पतन हो गया, वह नष्ट, भ्रष्ट हो गया या इस देश से अदृश्य हो गया। किंतु मेरे विचार से इस

तथाकथित 'पतन' का तात्पर्य इतना ही होना चाहिए कि उसकी संघीय व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई, अन्यथा बौद्धधर्म अपनी जन्मभूमि से न तो अतीत में कभी अदृश्य हुआ है न आज।

परधर्म असहिष्णुता

साम्प्रदायिकता एवं परधर्म असहिष्णुता का प्रमुख लक्षण इस बात पर पैर गाड़ देना है कि—"मेरे द्वारा प्रवर्तित मत अथवा पंथ सर्वश्रेष्ठ, अनुपम, अद्वितीय, अभूतपूर्व आदि तो है ही, साथ ही समस्त प्राणियों के दु:ख-दारिद्र्य को तत्काल दूर करने वाला सौर्वकालिक, सर्वदेशीय, एकमात्र अमोघ उपाय है, भूत, वर्तमान और भविष्य का कोई अन्य मत अथवा पंथ इससे उत्तम होना तो दूर रहा इसके समतुल्य भी नहीं हो सकता, अत: सब मत-पंथों को त्यागकर मेरा मत अपनाओ, जो ऐसा नहीं करता वह अज्ञानी है, अल्पज्ञ है, बालबुद्धि है, धूर्त है, पापात्मा है, पाखंडी है और यहाँ तक आत्मघाती है, अत: उसकी बात कान धरने योग्य नहीं है—इत्यादि।

गुरु को परमेश्वर पद प्रदान करने वाले उपनिषद् एवं जैनादि के साहित्य में अपने मत, पंथ अथवा सम्प्रदाय की सुरक्षा हेतु जो नीति अपनाई गई है वह कुछ इस प्रकार की है कि अन्य मत अथवा पंथ की मान्यताओं के खण्डन में हम जो कुछ कह रहे हैं वह सब तर्कसंगत है, अंधश्रद्धा से अलिप्त है, इसलिए वह मान्य होना चाहिए। हमारा जो मत है वह तर्क की पहुँच से परे है, उसे तो केवल प्रगाढ़ श्रद्धा से ग्रहण किया जा सकता है, अत: शंका, संदेह, अविश्वास जैसे निकृष्ट भावों को सर्वथा त्याग कर हम पर या हमारे वक्तव्य पर अडिग श्रद्धा रखकर हमारी बौद्धिक शरणागति स्वीकार करें। एक या दूसरे रूप में सभी सम्प्रदायों में यह नीति अपनाई जाती है।

कोसल प्रदेश की चारिका करते समय भगवान बुद्ध जब केसपुत्त निगम पहुँचे तो वहाँ के कालाम जाति के क्षत्रियों ने उनसे आपबीती इन शब्दों में कही—"भगवन ! यहाँ जो श्रमण या भिक्षु आते हैं, वे सभी अपने-अपने धर्म को बड़ा (श्रेष्ठ या उत्तम) बतलाते हैं और दूसरों के धर्मों की निंदा करते हैं। हम किसका धर्म अपनाएँ ?" इस पर भगवान बुद्ध ने कहा—"कालामो ! न तो तुम श्रुत (परम्परा) के कारण किसी बात को मानो, न तर्क के कारण, न नय से न वक्ता के आकार (श्रेष्ठत्व) के विचार से, न अपने चिर विचारित मत के अनुकूल होने से, न वक्ता के भव्य रूप होने से और न इसलिए कि श्रमण हमारा गुरु है, अपितु हे कालामो ! जब तुम स्वयं ही जानो कि ये बातें अच्छी, अदोष, विज्ञों से अनिन्दित हैं, ये ग्रहण करने पर हित व सुख के लिए होंगी, तो कालामो ! तुम उन्हें स्वीकार करो (अंगुत्तर निकाय 3/7/5)।

विद्वानों की मान्यता है कि उक्त वक्तव्य द्वारा भगवान बुद्ध ने परम्परागत विश्वास, शास्त्र प्रामाण्य आदि की कच्ची नींव के स्थान पर धर्म क्षेत्र में युक्ति-

वाद एवं बुद्धिवाद की सुदृढ़ नींव डाली। किंतु मेरे विचार से भगवान बुद्ध का उक्त कथन स्थिति-परिस्थिति सापेक्ष एक अपवादस्वरूप वक्तव्य है। वास्तविकता उनके इन वक्तव्यों में है –

"भिक्षुओ ! ये जो चार स्मृति प्रस्थान हैं वे प्राणियों की विशुद्धि के लिए, शोक तथा कष्ट के उपशय के लिए, दुःख तथा दौर्मनस्य के नाश के लिए, ज्ञान की प्राप्ति के लिए और निर्वाण के साक्षात्कार के लिए एकायन मार्ग है— 'एकायनं अयं भिक्खने मग्गो सत्तानं विसुद्धिया सोकपरिपद्दवानं समतिक्कमाय दुक्खदोमनस्सानं अत्थं गमाय आणस्स अधिगमाय निब्बाणस्स सच्छिकिरियाय यदिदं चत्तारो सति पट्ठानाति।"[280] 'धम्मपद' (दे० गाथा 273-275) में भगवान बुद्ध कहते हैं कि—"मार्गों में अष्टांगिक मार्ग, सत्यो में चार आर्यसत्य, धर्मों में वैराग्य और मनुष्यों में चक्षुष्यान (बुद्ध) सर्वश्रेष्ठ हैं। दर्शन (ज्ञान) की विशुद्धि के लिए यही (एकमात्र) मार्ग है, दूसरा नहीं है, इसी पर तुम आरूढ़ होओ, यही मार को मूर्छित करने वाला है। इस मार्ग पर आरूढ़ होकर तुम दुःखों का अन्त कर दोगे। शल्य-समान का निवारण स्वरूप निर्वाण जानकर मैंने इसका उपदेश किया है। अन्य उक्ति (दे० वही, गाथा 246-47) में कहा गया कि जो जीवहिंसा करता है, झूठ बोलता है, चोरी करता है, परदारा गमन करता है, शराब पीता है, वह इस संसार में अपनी ही जड़ खोदता है; अर्थात् जो बुद्धोपदिष्ट पंचशीलों का पालन नहीं करता वह आत्मघाती है इत्यादि।

दूसरे यह कि 'सत्रक निपात सुत्त' (अंगुत्तर निकाय) में व्यक्ति के पतन के जो सात कारण गिनाए गए हैं वे इस प्रकार हैं—(1) भिक्षुओं के दर्शन का त्याग, (2) सद्धर्म (बौद्धधर्म) में प्रमाद, (3) पंचशीलों का अभ्यास न करना, (3) अश्रद्धावान होना, (5) भिक्षुओं की निंदा करना, (6) छिद्रान्वेषी होना और (7) बौद्धेतर साधुओं को दान देना।

प्रारम्भ में अजातशत्रु भगवान बुद्ध के शत्रु देवदत्त का पक्षधर था, किंतु वह उनसे अपने सामान्य सम्बन्ध बनाए रखता था। भगवान बुद्ध ने एक बार उसे उपदेश दिया, किंतु वह उनसे दीक्षा न लेकर उठकर चल दिया। तव उसकी निंदा करते हुए बुद्ध ने कहा—"राजा का संस्कार अच्छा नहीं है, वह पितृहन्ता है, नहीं तो आज इस उपदेश से विरज (निर्मल) चक्षु प्राप्त कर लेता।"[281] एक अन्य उल्लेख के अनुसार वाद-विवाद में बुद्ध से परास्त हुए न्यग्रोध तथा उसके तीन हजार शिष्यों ने बौद्धधर्म की महिमा सुनने के बाद भी जब बुद्ध से दीक्षा नहीं ली, तब वे आकाशमार्ग से गृध्रकूट पर्वत की ओर यह कहते हुए चले गए कि—"ये सभी मार से ग्रस्त हैं, इनके सामने धर्म का उपदेश करना व्यर्थ है।"[282] धर्मोपदेश के प्रति अनुत्सुक बुद्ध से धर्मोपदेश करने के लिए की गई अपनी प्रार्थना में सहंपति ब्रह्मा ने कहा—"भगवान ! मगध देश में अब तक मलिन पुरुषों द्वारा उपदिष्ट धर्म प्रचलित हैं। इन लोगों के लिए आप अमृत द्वार का उद्घाटन करें, निर्मल बुद्धि से ज्ञात अपने धर्म का उपदेश करें।"[283] इत्यादि।

कहना न होगा कि उक्त समस्त संदर्भ स्वयं भगवान बुद्ध अथवा उनके अनुयायियों के साम्प्रदायिक आग्रह के द्योतक हैं। तदुपरांत वैदिक धर्म, 62 मिथ्या दृष्टियों, आजीवक, चार्वाक ,सांख्य एवं जैनादि के मतों का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से किया गया जो खण्डन प्राचीन बौद्ध वाङ्मय में सुरक्षित है उसके मूल में शुद्ध सत्यान्वेषी दृष्टि की अपेक्षा साम्प्रदायिक आग्रह प्रबल है।

वास्तविकता यही प्रतीत होती है कि तत्कालीन मान्यतानुसार नया मत अथवा पंथ प्रवर्तित करने के लिए किसी व्यक्ति को केवल उसी स्थिति में योग्य माना जाता होगा कि जब वह (वाद, वितण्डा, जल्प का सहारा लेकर) अपने पूर्ववर्ती एवं समवर्ती समस्त मतों का खण्डन कर सकने में स्वयं को सक्षम सिद्ध कर देता हो। बुद्ध द्वारा 45 वर्षों तक किए गए धर्म प्रचार का इतिहास अन्य मतावलम्बियों को वाद-विवाद में परास्त करके अपने धर्म में दीक्षित करने की घटनाओं का संकलन प्रतीत होता है। भारतीय परम्परा के धर्म-दर्शन के वाङ्मय में दूसरे धर्म-दर्शनों की मान्यताओं का खण्डन अवश्य पाया जाता है। दूसरों के मतों के इस खण्डन में तर्क की अपेक्षा कुतर्क एवं जल्प का विशेष सहारा लिया जाता है। भाषा इतनी कटु, आक्षेपात्मक एवं निम्नस्तर की होती है कि वादी की परधर्म असहिष्णुता असह्य लगने लगती है। बौद्ध परम्परा इस स्थिति का अपवाद नहीं है, अग्रगण्य है। अन्य मत पंथों की तो बात ही छोड़िए स्वयं बौद्ध परम्परा का ही प्रत्येक परवर्ती 'यान' अथवा आचार्य अपने पूर्ववर्ती एवं समवर्ती यान अथवा आचार्य की मान्यताओं का खण्डन करने में तनिक भी आगा-पीछा नहीं सोचता।

समीक्षा

एक ओर तो स्थिति यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय धर्म बनने वाला दुनिया का पहला धर्म—बौद्धधर्म है। उसका अपना ढाई हजार वर्ष का अतीत तो है ही वर्तमान में भी वह दुनिया के माने हुए धर्मों में से एक है। दुनिया की अनेक भाषाओं में उसका अपना विशाल वाङ्मय तो है ही देश-विदेश के प्रतिभासम्पन्न विद्वानों ने भी उसके विषय में इतना लिखा है कि इस समस्त सामग्री को देख पाना भी किसी के लिए संभव नहीं है। न केवल यह कि बुद्धघोष, असंग, बसुबंधु, नागार्जुन, दिङ्नाग, नागसेन जैसे दिग्गज दार्शनिक इस परम्परा में हुए, चित्र-कला, मूर्तिकला, स्थापत्यकला, नृत्य-संगीत एवं साहित्य आदि के क्षेत्रों में भी इस परम्परा का प्रदेय बेजोड़ है। भाब्रू के 'शिला लेख' (अशोक कालीन) में तो कहा ही गया है कि—'ये केंचि भगवता बुधेन भासिते सवे से सुभासिते वा'—अर्थात् भगवान बुद्ध ने जो कुछ भी कहा है वह सब सुभाषित ही कहा है। आधुनिक विद्वानों में से भी जो बुद्ध अथवा धर्म की सुधारवादी प्रवृत्ति को प्रकाशित कर आधुनिक संदर्भों में उसकी उपयोगिता सिद्ध करने पर तुल जाते हैं, वे बुद्ध और उनके सद्धर्म की प्रशंसा में अपनी पूरी शक्ति लगा देते हैं।

दूसरी ओर जो स्थिति है वह प्रथम की ठीक विरोधी है। जैनों एवं वैदिक

ब्राह्मणों के साहित्य में बुद्ध एवं उनके सद्धर्म को अक्रियावादी, अच्छेदवादी, वैनाशिक, अर्ध वैनाशिक, प्रजा विद्वेषी, नास्तिक, पाखंडी आदि बताकर जो कटु-आलोचना की गई है उसे तो विरोधियों के मन्तव्य कहकर टाला भी जा सकता है, परंतु वस्तुस्थिति यह है कि इस परम्परा का प्रत्येक यान अथवा आचार्य अपने पूर्ववर्ती यान अथवा आचार्य की मान्यताओं का खण्डन करके ही अपना मार्ग साफ करता है; किंतु इन बातों के लिए यहाँ पर्याप्त स्थान नहीं है। अतः कुछ ऐसे प्राचीन संदर्भों का ही उल्लेख हम यहाँ करेंगे जो इस धर्म के मूलभूत सिद्धांतों और व्यवहार क्षेत्र की असंगतियों एवं दुर्बलताओं को उजागर करने मे सक्षम हों।

(1) बुद्ध भगवान ने स्पष्ट कहा था कि उनका उपदेश ब्रह्मचर्य, निर्वेद, विराग, निरोध, उपशम, सम्बोधि एवं निर्वाण के लिए है। जो कुछ इसके विरुद्ध हो वह निश्चय ही बुद्धोपदिष्ट नहीं है। अर्थात् बुद्ध द्वारा उपदिष्ट सद्धर्म पूर्णरूपेण निवृत्ति मार्ग है। गृहस्थाश्रमी उपासक-उपासिकाओं का समावेश उसमें मेरे विचार से तो इसलिए ही किया गया था कि इनसे मिलने वाले दान एवं भिक्षा से वर्तमान भिक्षु-भिक्षुणियों का जीवन निर्वाह होता रहेगा और वैराग्यप्रेरक आचार-विचार के सतत प्रचार द्वारा इनमें से भिक्षु-भिक्षुणियों की नई भर्ती का सुभीता बना रहेगा।

कठिनाई से प्राप्त हुए अपने धर्म का सामान्य जनता में प्रचार किया जाए अथवा नहीं ? इस विषय में भगवान बुद्ध का प्रथम विचार तो यही था कि— "राग-द्वेष से अभिभूत (सद्‌गृहस्थों) लोगों के लिए यह धर्म सुबोध नहीं है। प्रतिस्रोतगामी—(लौकिक संतति प्रवाह के प्रतिकूल), सूक्ष्म, गंभीर, दुर्बोध (गुह्य) यह धर्म रागरक्त (गृहस्थ) तम से आवृत्त (लोकाभिमुख) लोग नहीं समझेंगे।" अर्थात् न तो प्रवृत्तिमार्गी सद्‌गृहस्थ इसके योग्य हैं और न यह उनके योग्य है। किंतु हुआ वही, जो नहीं होना चाहिए था। भगवान बुद्ध ने 'धर्मचक्री' (धर्मक्षेत्र का चक्रवर्ती सम्राट् अथवा सम्प्रदाय संस्थापक) बनने का संकल्प लेकर अपना प्रचार अभियान प्रारम्भ कर दिया।

ध्यातव्य होगा कि 'निर्वाण' (बुझना) अथवा 'मोक्ष' (आत्यंतिक मृत्यु) व्यक्ति के लिए ही होते है समाज के लिए कदापि नहीं। यदि कोई समूह या समाज निर्वाण या मोक्ष के मार्ग पर अग्रसर होने की चेष्टा करता है तो परिणाम होगा उसका 'सर्वनाश'। बुद्ध भगवान ने बिना किसी भेदभाव के आबालवृद्ध-नर नारियों को प्रव्रज्या देकर सबके लिए निर्वाण का द्वार खोल देने की जो नीति अपनाई, प्रभावित परिवारों की उसके प्रति जो प्रतिकूल प्रतिक्रिया होनी थी, वह हुई—

(क) धर्मचक्र प्रवर्त्तन के बाद राजगृह में आकर भगवान बुद्ध ने संजय (वेल-ट्ठिपुत्त के 250 शिष्यों को जब अपना शिष्य बनाया तो वहाँ हाहाकार मच गया। इन्हें देखकर जब अन्य गृहस्थों के बालक संन्यासी होने लगे तब

राजगृह के निवासी आकुल-व्याकुल होकर इधर-उधर कहने लगे कि—श्रमण गौतम (पुरुषों को) अपुत्री नारियों—को विधवा और कुलों का उच्छेद करने के लिए उत्पन्न हुआ है ।[284]

(ख) कपिलवस्तु पहुँचकर जब भगवान बुद्ध पे अपनी पत्नी यशोधरा पुत्र राहुल तथा अपनी मौसी गौतमी और उनके पुत्र नन्द को प्रव्रज्या की दीक्षा दी तब अपने कुल के सर्वनाश से दुःखी उनके पिता शुद्धोदन ने कहा था—"भगवन ! पुत्र का मोह त्वचा, मांस और हड्डियों को भेदता हुआ मज्जा तक पहुँचता है ।"[285] तब भगवान बुद्ध ने यह नियम बनाया कि माता-पिता की स्वीकृति के बिना किशोरों को प्रव्रज्या नहीं देनी चाहिए। किंतु इससे सम्भवतः इतना ही हुआ कि आत्महत्या कर लेने की धमकी देकर बालक अपने माता-पिता को प्रव्रज्या की अनुमति देने के लिए विवश करने लगे—जैसा कि सुदिन्न ने किया था ।[286] अपनी निस्संतान नवपरिणीता पत्नी को छोड़ प्रव्रज्या लेने वाले इसी सुदिन्न ने कालांतर में अपने माता-पिता के आग्रह पर बीजक संतान के लिए अपनी पत्नी के साथ पाराजिक मैथुन किया था (दे० विनय पिटकः प्रथम पाराजिक) ।

वस्तुस्थिति का एक भयावह रूप यह भी था कि बोधि राजकुमार जिस समय गर्भ में था, उसकी माता ने बुद्ध से प्रार्थना की भन्ते ! यह जो मेरी कोख में है, चाहे कुमार हो या कुमारी, यह भी भगवान की, धर्म की और भिक्षु संघ की शरण में जाता है । आज से भगवान इसे सांजलि शरणागत उपासक के रूप में स्वीकार करें ।[287] और इस प्रकार गर्भस्थ शिशु को त्रिरत्न शरणागत बना दिया गया ।

(ग) जिन परिवारों की एकमात्र संतानें (जैसे सुदिन्न) अथवा सभी संतानें (जैसे सारिचक्र ग्राम के ब्राह्मण बंगन्त और उसकी पत्नी रूपसारि की सभी संतानें), संन्यस्त हो जाती थीं, ऐसे परिवारों के जीवित रहे वृद्ध, बुद्ध और उनके संघ से, घृणा करने लगे थे ।

भिक्षु एवं भिक्षुणियों के संघों का निर्वाह राजाओं एवं श्रेष्ठियों से मिले दान तथा गृहस्थों से मिलने वाली भिक्षा से होता था। उपासकों का तो धर्म ही भिक्षुओं को दान एवं भिक्षा देना था। तत्कालीन कुछ लोगों ने इस प्रवृत्ति की भी भर्त्सना की थी—

दक्षिणगिरि के एकनाला ग्राम में भगवान बुद्ध ने अपनी बृहत् शिष्य मंडली के साथ प्रवेश किया और ऊँचे टीले पर समाधिस्थ होकर चमत्कार दिखाने का प्रयत्न किया। उस समय एकत्रित भीड़ को सम्बोधित करके ऋषि भरद्वाज ने कहा—"क्या भीड़ लगाए हुए हो ? निठल्लू होगा, जो ऋद्धि प्रातिहार्य को जीविका का साधन बनाए हुए है अन्यथा अपने पसीने से उपार्जन करके जीविका निर्वाह करता।" (दे० अंगुत्तर नि० अट्ठकथा 2-4-2 तथा सुत्तनिपात, सुत्त 4) ।

श्रावस्ती के एक ब्राह्मण के घर बुद्ध जब भिक्षा माँगने गए तब उसने उन्हें इन शब्दों में धिक्कारा—"ओ मुण्डक, वहीं ठहरो ! हे समणक वहीं ठहरो ! हे वसलक (वृषल पतित) वहीं ठहरो ।" (दे० संयुत्त नि० 1/162) ।

एक बार जब नालन्दा में अकाल पड़ा था, महावीर स्वामी अपते संघ के साथ ठहरे हुए थे, बुद्ध भगवान भी अपने बड़े संघ के साथ वहाँ पहुँच गए, तब वहाँ के मुखिया ने (महावीर द्वारा सुझाए जाने पर) बुद्ध से पूछा कि जब गृहस्थों को अपना पेट पालना ही कठिन हो रहा है, तब इस (संघ) के खिलाने-पिलाने और दान देने से तो उनकी और भी दुर्दशा होगी ।······आप उनका कुलनाश क्यों करना चाहते हो ? (दे० संयुत्त नि० 40/9 तथा बुद्धचर्या, पृ० 10) ।

बुद्धचर्या, बौद्ध भिक्षु संघ एवं बुद्ध के शिष्यों का सामान्य ज्ञान रखने वाला व्यक्ति भी इतना जानता होगा कि उस क्षेत्र के तत्कालीन राजघरानों से विपुल दान स्वीकारने के उपरांत बुद्ध ने एतद्देशीय तत्कालीन धनी व्यापारियों और किसानों अथवा उनकी संतानों को चुन-चुनकर अपना शिष्य (अथवा भिक्षु) बनाया था, और उनके उपासकों का तो धर्म ही संघ को दान और भिक्षुओं को पिण्डपात देना था । इस स्थिति के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि राजा और प्रजा के धन का एक ही सदुपयोग था, और वह था—भिक्षु संघ का पोषण । कम से कम बुद्ध का दृष्टिकोण यही था ।

बुद्ध के तत्त्व चिंतन में मुख्य हैं 'प्रतीत्यसमुत्पादवाद' जो एक या दूसरे ढंग से कार्यकारणवाद ही है—जिसके अनुसार सृष्टि कार्यरूप होने से अनित्य, दुःखमय और अनात्म है, और इसलिए संसार या सांसारिकता सर्वथा त्याज्य है—संसारे भयं इक्खतीति भिक्खू ।। (विसुद्धिमग्ग 1/7) ।

प्रकारांतर से बुद्ध के चिंतन का निष्कर्ष भी यही है कि प्रारम्भ में सृष्टि नहीं थी, अन्त (प्रलय के बाद) में भी वह नहीं रहेगी । जो आदि और अन्त में नहीं है वह मध्य में भी वैसी ही है—असत् है । जिन संस्कृत धर्मों से व्यष्टि और समष्टि का सर्जन हुआ है, वे सब असत् हैं । व्यष्टि का जिसमें लय होता है वह **निर्वाण** और समष्टि का जिसमें लय होता है वह **आकाश** ही असंस्कृत धर्म हैं, अर्थात् सत्य व नित्य हैं । अर्थात् व्यष्टि और समष्टि के अभाव की स्थिति ही सत्य है, वही प्राप्तव्य है ।

इस प्रकार के चिंतकों में भगवान बुद्ध अकेले हों सो बात नहीं है । प्रत्येक मोक्षमार्गी के चिंतन का तात्पर्य एक या दूसरे शब्दों में यही निकलेगा कि जो इस सृष्टि के पूर्व था, और इसके अन्त में अवशिष्ट रहेगा, वही सत्य है, वही हमारा आराध्य और साध्य है । अनित्य, अनात्म, दुःखमय सांसारिक जीवन से हमारा कोई लगाव नहीं है ।

विद्वानों की इस धारणा से हमारा विचार भेद नहीं है कि—दूसरों के दुःखों से द्रवीभूत होने वाले परमकारुणिक भगवान बुद्ध ने संसार के दुःखी जीवों के दुःखों को दूर करने में ही अपना जीवन बिताया । बुद्ध ने कहा भी है—"भिक्षुओ

मैं दो ही बातें सिखाता हूँ— दुःख और दुःख से विमुक्ति ।" (दे० बौ० द० तथा अ० भा० द०, पृ० 382) उन्होंने भिक्षुओं को भी यही आदेश दिया था—

"चरथ भिक्खवे चारिकं बहुजन हिताय बहुजन सुखाय लोकानुकम्पाय अत्थाय हिताय सुखाय देवमनुस्सानं। देसेथ भिक्खवे धम्मं आदि कल्याणं मज्झकल्याण परियोसान कल्याणं सात्थं सव्यंजनं केवलपरिपुण्य परिसुद्ध ब्रह्मचरियं पकासेथ ।।" (विनवपिटक, महावग्ग 1/2/5) ।

अर्थात् भिक्षुओ ! तुम बहुत लोगों के हित के लिए, सुख के लिए, लोकानुकम्पा के लिए, देव-मनुष्यों के अर्थ हित और सुख के लिए, भिक्षु चर्या करो। भिक्षुओ ! तुम इस आदि कल्याण, मध्य कल्याण, अन्त कल्याण, सार्थक, सुन्दर शब्दों से युक्त केवल परिपूर्ण, परिशुद्ध, ब्रह्मचर्या का प्रकाश फैलाओ ।

किंतु उक्त कथनों के मोहक वाच्यार्थ को ही हमें पर्याप्त नहीं मान लेना चाहिए । बुद्ध-वचन का तात्पर्य ग्रहण करने के लिए हमें उनके द्वारा निर्दिष्ट दुःख की व्याखया, दुःख के कारण, दुःख-नाश के उपाय, सुख की व्याखया, सुख के स्वरूप एवं उसकी प्राप्ति के उपाय आदि को भी ध्यान में रखना चाहिए । संक्षेप में भगवान बुद्ध ने जरा, व्याधि, मरण आदि जो दुख बताए हैं उनका मूलभूत कारण है—जन्म का होना—'जाति पि दुक्खा' 'जाति पच्चया जरामरणं'। अर्थात् जन्म लेना दुःख है, जन्म लेना ही जरा-मरण का कारण है; अर्थात् जिसका जन्म नहीं होता वह जरा, रोग, मृत्यु आदि के दुःखों से मुक्त हो सकता है, जिसका जन्म हो चुका है ऐसा कोई व्यक्ति इनसे मुक्त नहीं हो सकता, यहाँ तक कि स्वयं भगवान बुद्ध भी नहीं । उन्हें भी रोग (अतिसार) हुआ था, बुढ़ापा आया था, मृत्यु हुई थी (दे० महापरिनिब्बान सुत, दीघ नि० 2/3) । जन्म अथवा पुनर्जन्म का अर्थ है—पुत्र के रूप में पिता का ही पुनर्जन्म होता है। इसे रोका जाए—यही जन्म निरोध है, यही दुःख निरोध है । नैष्ठिक ब्रह्मचर्य इसका उपाय है—

> यो इमस्मिं धम्मविनये अप्पमत्तो विहेस्सति ।
> पहाय जाति संसारं दुक्खस्सन्तं करिस्सति ।।[288]
> एवं दुक्खन्त किरियाय ब्रह्मचरियीध विज्जति ।।[289]

तात्पर्य यह हुआ कि रोगी (शरीरधारी) रहेगा तो रोग (शरीर के धर्म) भी रहेंगे ही, किंतु जब रोगी ही न रहेगा तो रोग भी न रहेंगे ।

जरा, रोग और मृत्यु के अतिरिक्त जीवन के जितने भी दुःख हैं, उन सबका कारण है—'तृष्णा' । तृष्णा का सरल अर्थ है—इच्छा, चाहना, कामना । व्यक्ति जीवन में कुछ चाहता है, तो उसकी प्राप्ति का प्रयत्न भी करता है, यह प्रयत्न दुःखमय तो होगा ही, वस्तु प्राप्त हो गई तो क्षणिक सुख, नहीं हुई तो दुःख होगा, परिश्रम से प्राप्त वस्तु की सुरक्षा में भी दुःख होगा, उसके छिन जाने, नष्ट हो जाने आदि में भी दुःख होगा इत्यादि । अतः सुख चाहने वाले व्यक्ति

को चाहिए कि वह किसी भी प्रकार की कोई कामना न करे, जो कुछ अपने पास हो उसे भी त्याग दे। अकिंचन व्यक्ति ही निश्चिन्त और सुखी होता है—

सुसुखं वत जीवाम येसं नो नत्थि किंचिनं।
पीतिभक्खा भविस्साम देवा आभस्सरा यथा ।। (धम्मपद गाथा 200)

इस तृष्णा क्षय को ही निरोध एवं निर्वाण (बुझ जाना) कहते हैं, इसे प्राप्त कर लेने वाले भिक्षु का, उपादानरहित होने से पुनर्जन्म नहीं होता —

सब्बतो तण्हानं खया असेसविरागानिरोधो निब्बानं ।।
तस्य निब्बुतस्स भिक्खुनो अनुपादा पुनब्भवो न होति ।। उदान/30

ध्यातव्य होगा कि तृष्णा-क्षय (मन में कभी किसी प्रकार की इच्छा का जागृत ही न होना) मृत्यु के पर्याय रूप जीवन का द्योतक है। आप्तकाम, या निष्काम साधक जीवित् मृतक जीवन्मुक्त, मरजीवा—अर्थात् मुर्दे की तरह निश्चेष्ट एवं निष्क्रिय होकर जीवित रहता है।

अतः जो व्यक्ति दुःख-सुख विषयक उक्त अवधारणाओं को स्वीकारते हैं और उक्त रूप में सुखी होना चाहते हैं, उनके लिए बुद्ध का उपदेश निश्चय ही अनन्यतम है, किन्तु जो लोग अर्थ व काम से सम्बन्धित—लौकिक सुख पाकर सुखी होने की कामना करते हैं, उनके सम्बन्ध में हम ऐसा नहीं कह सकते। उनसे तो यही कहना होगा कि आर्थिक समृद्धि और प्रजा की अभिवृद्धि में बुद्ध की कोई रुचि नहीं है। किसी भी निवृत्तिमार्गी की ऐसी रुचि नहीं हो सकती, विवशता हो सकती है।

अब, जो लोग बौद्ध वाङ्मय से भव्य भावना बोधक कुछ शब्दों अथवा वाक्यों को चुनकर भगवान बुद्ध के नाम पर अपने विचारों का प्रचार करने लगते हैं, उनसे हमारा कोई विरोध नहीं है। मेरा उद्देश्य यहाँ इस तथ्य की ओर ध्यानाकर्षित करना है कि बुद्ध के समकालीन अथवा उनके परवर्तियों में से जिन लोगों ने बुद्ध-देशना के तात्पर्य को समझा है, उसके क्रियान्वयन से फलित परिणाम को देखा अथवा भोगा है, उन सबने इसकी असामाजिक प्रकृति को अपना निशाना बनाया है। यथा—

जैसा हम देख चुके हैं राजगृह के लोगों ने कहा था कि श्रमण गौतम संतति का अभाव, वैधव्य और कुलों का नाश करने उत्पन्न हुआ है।

वैरंजक ब्राह्मण सुत्त (अंगुत्तर नि० 8/1/2/1) तथा विनय पिटक (पारंजिका 1) के अनुसार निर्ग्रंथ एवं ब्राह्मण परिव्राजकों ने बुद्ध पर ये आरोप लगाये थे—(1) आप गौतम अ-रसरूप हैं। (2) निर्भोग हैं, (3) अक्रियावादी हैं, (4) उच्छेदवादी हैं, (5) जुगुप्सु हैं, (6) वैनयिक हैं, (7) तपस्वी हैं और (8) अपगर्भ हैं। भगवान बुद्ध ने अपने ढंग से इन सभी प्रश्नों के उत्तर दिये हैं, किंतु वे उस अर्थ में नहीं हैं, जिस अर्थ में ये आक्षेप लगाये गये थे। दिट्ठिवज्जसुत्त (अंगुत्तर नि०) के अनुसार (बुद्ध पर आक्षेप तो यह था कि वे सब

तपस्विमों एवं व्रतों की निन्दा करते हैं और दूसरा यह कि वे अप्रज्ञप्तिक हैं-- अर्थात् स्वयं कुछ प्रतिपादित नहीं करते। मागन्दिय सुत्तन्त (मज्झिम० 2/3/5) के अनुसार मागन्दिय नामक परिव्राजक ने बुद्ध पर यह आरोप लगाया था कि वे 'भूणहा' (भूनहू) हैं। ध्यातव्य होगा कि महाभारत (आदिपर्व 78/32-33) और मनुस्मृति (8/327) में ऋतुमती पत्नी के साथ सन्तानोत्पत्ति की कामना से सहवास न करना भ्रूणहत्या जैसा जघन्य पाप कहा गया है। नैष्ठिक ब्रह्मचर्य पालन का यही परिणाम हो सकता है।

बुद्ध के भिक्षु संघ को छोड़कर सुनक्षत्र ने कहा था--"गौतम के पास आर्य-धर्म की पराकाष्ठावाली दिव्यशक्ति (उत्तर मनुष्य धर्म) नहीं है। विमर्श से सोचे, अपनी प्रतिभा से जाने और तर्क से प्राप्त का ही वह उपदेश करता है। जिसके लिए वह धर्म का उपदेश करता है, वह अपने दुःख को ही प्राप्त होता है।" (मज्झिम० 1/2/2)। बुद्ध शिष्य वज्जिदेश के महित नामक गृहपति से तैर्थिकों ने कहा था--'तेरा गौतम तो सिर्फ वाद का खण्डन ही करता है, कुछ प्रतिपादित तो करता नहीं।' (अंगुत्तर० 10/2/5/4)। दीर्घतपस्वी निग्गंठ ने उपालि से कहा था--'श्रमण गौतम मायावी है, आवर्तनी है, आवर्त्तनि माया जानता है, जिससे दूसरे मतों के शिष्यों को अपनी ओर फेर लेता है।' उपालि सुत्त (मज्झिम० 2/2/6)। बुद्ध के साथ वाद-विवाद में उतरने वाले दिग्गज वाग्भटों के मुँह किस प्रकार बंद हो जाया करते थे या वे किस तरह धूल चाटने लगते थे और बुद्ध अजेय रहते थे से सम्बन्धित वर्णनों को पढ़ने पर तैर्थिकों और उपालि के मन्तव्य निराधार प्रतीत नहीं होते। बिम्बिसार की छोटी रानी क्षेमा को बुद्ध ऋद्धिबल से ही समझा पाए थे।

श्रमणों (जैनों एवं बौद्धों) के निवृत्तिमार्गी आचार-विचार, संशयवाद, अक्रियावाद, सम्प्रदायवाद आदि में लक्षित असामाजिक (अतिशय व्यक्तिवादी) प्रकृति को लेकर रामायण, महाभारत, पुराण, स्मृति, निबंधों, भाष्यों, राज-तरंगिणी, मृच्छकटिक, पृथ्वीराज रासो, सत्यार्थप्रकाश आदि में जो भर्त्सना की गई है, नैयायिक उदयनाचार्य, शंकराचार्य, कुमारिल आदि ने जो आक्षेप लगाये हैं, जो उपहास किया है, और आधुनिक विद्वानों में से म०म० पाण्डुरंग वामन काणे, मंगलदेवशास्त्री, दिनकर, विनयतोष भट्टाचार्य यहाँ तक कि बुद्धधर्म में आस्थाशील भदन्त, राहुल सांकृत्यायन एवं डी०डी० कोसाम्बी प्रभृति ने इस धर्म की दुर्बलताओं को जो अनावृत किया है वह सब तो वहीं देखने योग्य है। यहाँ मैं केवल इतना कहूँगा कि मृच्छकटिक (8) में श्रमण दर्शनों को अनभ्युदयकारक (लौकिक अथवा भौतिक प्रगति में निरुपयोगी) कहा गया है, और शंकराचार्य (जो स्वयं एक बौद्ध परम्परा में ही थे) ने ब्रह्मसूत्रों के अपने भाष्य में बौद्धों को वैनाशिक एवं प्रजाद्वेषी कहा है। मेरे विचार से दोनों ही कथन वस्तु-स्थिति को समझने में सहायक हैं।

प्रायः कहा जाता है कि जाति-पाँति, ऊँच-नीच, नर-नारी आदि के भेद-

भाव को ठुकरा कर भगवान बुद्ध ने धर्मक्षेत्र में सबको समान अधिकार दिया। ऐसा क्रान्तिकारी कदम उठाकर उन्होंने सबको समानता का पाठ पढ़ाया इत्यादि। इस विषय में पहले तो यह कि संन्यास-मार्ग अपनी पूर्व परम्परा से सबके लिए खुला हुआ ही था। उपनिषद् धर्म को सामान्य धर्म ही कहा गया है, जैनों ने ये सब छूट-छाट पहले से ही दे रखी थीं। अतः बुद्ध ने इस परम्परा को मान्य रखा था, कोई नया कदम नहीं उठाया था। दूसरे यह कि कुछ विचार अथवा वाक्य पढ़ने-लिखने में, सुनने-सुनाने में तो अच्छे लगते हैं, किंतु व्यवहार में लाये जाने पर उनके परिणाम विषतुल्य होते हैं। अतः इस बात को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि सामाजिक व्यवहार में किसी विचार एवं कार्य का अच्छा अथवा बुरा होना उसके शाब्दिक अथवा बाह्य रूप पर नहीं अपितु उससे फलित होने वाले अच्छे या बुरे परिणाम पर निर्भर करता है। इस बात को ध्यान में रखकर जब हम बुद्ध भगवान द्वारा बिना किसी भेदभाव के सबको भिक्षु संघ में शामिल करने को दी गई छूट पर विचार करते हैं तो प्रतीत होता है कि संघ में जो बुराइयाँ घर कर गई उनका एक कारण उसमें जैसे-तैसे लोगों को भर्ती कर लेना था। जो लोग इस भ्रम में हों कि संघ में सभी भिक्षु समान समझे जाते थे, उन्हें संघ की व्यवस्था ध्यान से पढ़नी चाहिए, और देखना चाहिए उस व्यवस्था में कितने स्तर के अधिकारी होते थे, उन्हें क्या अधिकार होते थे, उन्हें कितना सम्मान देना होता था। सामान्य भिक्षु वस्तुतः संघ का शरणागत होता था, जो चीवर और पेट-भर अन्न तो पाता था, किन्तु अनिवार्य से अनिवार्य और छोटे से छोटे कार्य भी बिना संघ की आज्ञा के नहीं कर सकता था, अर्थात् वह सोलह आने परतंत्र था। एक बंधन से छूटकर दूसरे बंधन में बँधता था।

अब रही नारी स्वातन्त्र्य की बात, इस भूल और इसके परिणाम का निर्देश भगवान बुद्ध का यह वक्तव्य है—"आनन्द ! यदि तथागत प्रवेदित धर्म (विनय) में स्त्रियाँ घर से बेघर हो प्रव्रज्या न पातीं तो यह ब्रह्मचर्य चिरस्थायी होता, सद्धर्म सहस्रवर्ष तक ठहरता। किंतु चूँकि आनन्द ! स्त्रियाँ घर से बेघर हो प्रव्रजित हुई, इसलिए अब यह ब्रह्मचर्य चिरस्थायी न होगा, सद्धर्म पाँच सौ वर्ष ही ठहरेगा।" (विनय पिटक, चुल्लवग्ग)। भिक्खुपातिमोक्ख आदि ग्रंथों में भिक्षु-भिक्षुणियों के अनैतिक सम्बन्धों, कतिपय भिक्षुओं अथवा भिक्षुणियों की चारित्रिक दुर्बलताओं के उल्लेख हैं, उनका उस सीमा में रहना ही अच्छा। यहाँ मैं इतना कहूँगा कि कोई भी नैष्ठिक संन्यासी जीवन में नारी का महत्त्व नहीं स्वीकारेगा, वह न केवल नारी-संग की, स्वयं नारी की भी निन्दा करेगा ही। बौद्ध एवं जैनों के साहित्य में नारी-निन्दा अनिवार्य है। इससे समान अधिकार या समान व्यवहार की बात बातों तक सीमित रह जाती है। प्रत्येक भिक्षुणी संघ अपने निकटवर्ती भिक्षु संघ के अधीन भी रहता था।

जहाँ तक संघ का प्रश्न है, भिक्षु संघ की रचना एवं व्यवस्था का आधार राजनीतिक संघ की रचना एवं व्यवस्था थी—यह हम देख चुके हैं। उस

व्यवस्था में राजकर्मचारियों की तरह ही अनेक स्तर के छोटे-बड़े पदाधिकारी होते थे, सबके अपने-अपने कार्यक्षेत्र निश्चित थे। सबके अपने-अपने अधिकार थे। भिक्षु केवल चातुर्मास के लिए ही नहीं, अपितु स्थायी रूप से विहारों में रहने भी लग गए थे, इससे उनकी निन्दा भी होने लगी थी—(दे० विनय पिटक, महावग्ग : महाकरबंधक)। धम्मपद (गाथा 73-74) के अनुसार सुधम्म जैसे स्थविर यह चाहने लगे थे कि—'मैं अन्य भिक्षुओं का नेता बनूँ, मठों का अधिपति बनूँ, गृहस्थ परिवारों में पूजित होऊँ, गृही और प्रव्रजित—दोनों मेरा आदेश मानें, सभी प्रकार के कार्यों में वे मेरे ही अधीन रहें।' इन संघों में सब प्रकार के लोगों के प्रवेश की छूट थी—यद्यपि कहीं-कहीं नये आगन्तुकों को 4-6 महीने के लिए परीक्षण में रखा जाता था। बुद्ध के भिक्षु संघ में जहाँ एक ओर राजकुमार, श्रेष्ठीपुत्र, ब्राह्मणपुत्र आदि थे वहीं चोर, डाकू एवं अन्य अपराधी मनोवृत्ति के लोग भी थे। 'मिलिन्दप्रश्न' में, लोगों ने संघ की शरण क्यों ली इस प्रश्न के उत्तर में नागसेन का कथन है कि—'कुछ लोगों ने इसलिए संघ की शरण ली है कि उनके दुःख का अन्त हो जाय, और वे पुनः दुःख में न पड़ें, बिना विश्व से लगाव रखे पूर्ण रूपेण चला जाना हमारा सबसे बड़ा उद्देश्य है। कुछ लोगों ने संसार का त्याग राजा के अत्याचार के भय से किया है, कुछ लोग लूटे जाने के भय से यहाँ आये हैं, कुछ ऋणों से परेशान हो यहाँ चले आये हैं और कुछ लोग केवल जीविका साधने के लिए यहाँ प्रविष्ट हो गये हैं। बुद्ध के समय में भी यही स्थिति थी।' अंगुत्तर निकाय (8/1/3/4) के अनुसार बड़ी परिषद् (शिष्य समुदाय) एकत्रित करने की अपनी सफलता का रहस्य बताते हुए हत्थ आवलक ने बुद्ध भगवान से कहा था—"भगवन्! जो दान लेकर मेरी परिषद् में आते हैं, उन्हें दान देकर अपना लेता हूँ, जो सम्मान चाहते हैं, उन्हें सम्मान प्रदान करके प्राप्त करता हूँ, जो पैसे से खरीदे जा सकते हैं, उन्हें प्रचुर धन देकर खरीद लेता हूँ और जो बराबरी का भाव रखने से प्रसन्न होते हैं, उन्हें बराबरी का व्यवहार करके परिषद् में ले लेता हूँ।" हत्थ आवलक के इस उत्तर से प्रसन्न होकर भगवान बुद्ध ने उससे कहा—'तुम अज्ञ (ज्ञानी) हो।' तत्कालीन एतद्देशीय धार्मिक संघ कितने धार्मिक थे, कितने अधार्मिक एवं कितने राजनीतिक—इसका पता उनके विशेष अध्ययन से ही चल पाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि तत्कालीन कोई भी राजा या तो दान द्वारा संघ का विश्वास जीतकर या फिर बल प्रयोग से उसे वश में करके ही राहत की श्वास ले पाता है।

अपने जीवनकाल में स्वयं भगवान बुद्ध का जीवन भी विवादों एवं विरोधों से परे नहीं था। धर्मक्षेत्र में जैन, तैर्थिक (ब्राह्मण ?), गोसालक आदि से तो उनका मतभेद ही था, वैयक्तिक शत्रुता उनसे नहीं थी। उनका प्रबलतम शत्रु था—देवदत्त। जिसने उनके जीवन काल में ही, अजातशत्रु का पीठबल पाकर, भिक्षु संघ पर अपना आधिपत्य जमाना चाहा था। यहाँ तक कि बुद्ध भगवान को मरवा डालने के तीन-तीन प्रयत्न किये गये। एक—राजगृह में बुद्ध की हत्या

के लिए राजकीय धनुर्धर नियुक्त किये गये, दो—गृध्रकूट पर्वत से शिलाखंड गिराया गया, और तीन नालागिरि नामक हाथी को मदिरा पिलाकर उनके मार्ग पर छोड़ा गया। देवदत्त की मृत्यु के बाद यह संघर्ष कुछ शान्त रहा, किंतु बुद्ध के निर्वाण के बाद महाकाश्यप ने जिस रीति-नीति से संघ पर अपना आधिपत्य सिद्ध किया, और उसके प्रभाव से जब अजातशत्रु बुद्ध के अस्थि-शेष का भागीदार बना, तब इस विषय में बौद्ध संघ पर अपना प्रभाव या परोक्ष अधिकार बनाये रखने का अजातशत्रु का स्वप्न पूरा हुआ। क्योंकि धुतवादी महाकाश्यप, देवदत्त और अजातशत्रु परस्पर सम्बद्ध थे। यह झगड़ा धार्मिक कम राजनीतिक अधिक रहा होगा।

भिक्षुणी माणविका चिंचा एवं सुंदरी नामक परिव्राजिका को हथियार बनाकर बुद्ध भगवान के चरित्र पर कीचड़ उछालने के जो प्रयत्न किये गये उनमें भी धार्मिक विद्वेष की अपेक्षा वैयक्तिक वैर भाव अधिक प्रतीत होता है। इस सबसे ऐसा लगता है कि भगवान बुद्ध का अपना जीवन और उनकी गतिविधियाँ तत्कालीन राजनीतिक परिवेश से अलिप्त न रही होंगी।

आन्तरिक सम्प्रदायवाद और विकास की संक्षिप्त रूप-रेखा

बौद्धधर्म का इतिहास वस्तुतः उसके आन्तरिक संघर्ष, सम्प्रदायवाद एवं संघ पर अपना-अपना अधिकार सिद्ध करने की आपाधापी का इतिहास है। संभवतः संघ की एकता बनाये रखने की दृष्टि से ही भगवान बुद्ध ने अपना कोई उत्तराधिकारी नियुक्त नहीं किया और व्यवस्था का पूर्ण दायित्व संघ के अधीन ही रहने दिया; अर्थात् उन्होंने संघ को सर्वोच्च माना। किंतु उनके संघ में कुछ कमजोरियाँ प्रारम्भ से ही पनप रही थीं। एक तो उन्होंने संजय वेलट्ठिपुत्र, निग्रंथ महावीर, पूरणकाश्यप, जटिलक (वैखानस), आजीवक, धुतवादी जैसे विरोधी अथवा भिन्न मतों के अनुयायियों का धर्मान्तर कराके अपने संघ का विस्तार किया था। दूसरे, उन्होने अपने मन्तव्यों को किसी एक भाषा में लिपिबद्ध करने की अनुमति नहीं दी। तीसरे, उन्होंने प्रत्येक भिक्षु को सद्धर्म का प्रचार अपनी-अपनी क्षेत्रीय भाषा में करने की छूट दी। चौथे बुद्ध वचनों की स्थिति-परिस्थिति-सापेक्ष व्याख्या करने की भी छूट दी, तदुपरान्त उन्होंने अनुपयोगी माने गये छोटे-छोटे नियमों के त्याग को भी मान्यता दे दी—इत्यादि। जाने और अनजाने किये गये इस स्थिति के दुरुपयोग के कतिपय उदाहरण उनके जीवनकाल में उनके सामने आने लगे थे, किंतु उनके असाधारण प्रभाव के फलस्वरूप स्थिति काबू में बनी रही। किंतु बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद सब कुछ वही हुआ जिसका उन्हें भय था, अथवा जिसे वे टालना चाहते थे।

बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद जो घटनाचक्र चला उसे समझने के लिए मेरे विचार से दो बातें ध्यान में रखना आवश्यक है, एक तो यह कि संघ में प्रान्तीयता की भावना जोर पकड़ चुकी थी, और दूसरी यह कि संघ का राज-

नीतिक महत्त्व स्थापित हो चुका था।

बुद्ध के महापरिनिर्वाण को अपनी मनचाही करने की छूट या मुक्ति का पर्याय मानने वाले सुभद्र जैसे भिक्षुओं की मनोकामना पूर्ण न होने देने के उद्देश्य से महाकाश्यप ने राजगृह में प्रथम संगीति बुलाई। महाकाश्यप यहाँ अपने 500 शिष्यों के साथ आये थे, सभी अर्हत् थे। वे धुतवादी या धूतंगवादी थे। उनके प्रभाव को इतने से ही समझ लेना होगा कि जब तक ये पहुँच नहीं गये, अर्थात् सात दिन तक, भगवान बुद्ध के दाह संस्कार को स्थगित रखा गया था। प्रथम संगीति इन्हीं की अध्यक्षता में हुई। इन्होंने बुद्ध के सर्वाधिक प्रिय शिष्य आनन्द पर पाँच आरोप लगाये, 'आवुस आनन्द' कहकर उन्हें अपमानित किया और आज्ञा दी कि जब तक वे अर्हत्व प्राप्त न कर लें तब तक सभाखंड में उन्हें प्रवेश नहीं करने दिया जाएगा। आनन्द ने जब रातो-रात अर्हत्त्व प्राप्त कर लिया। और अपने लिए प्रवेश खोलने की प्रार्थना की तो कहा गया कि अर्हतत्व प्राप्त व्यक्ति के लिए द्वार खोलना आवश्यक नहीं है, वे ज्योतिमार्ग से प्रवेश करें—इत्यादि। अजातशत्रु पर भी महाकाश्यप का प्रभाव कम न था, इस संगीति की सारी व्यवस्था अजातशत्रु ने की थी। महाकाश्यप के प्रभाव से वह बुद्धभक्त बना और उसने बुद्ध के अस्थि-अवशेष में अपने भाग का दावा किया। देवदत्त, अजातशत्रु और महाकाश्यप के घनिष्ठ सम्बन्ध तथा देवदत्त द्वारा बुद्ध के समक्ष प्रस्तुत किये गये भिक्षुओं के लिए कठोर नियम और महाकाश्यप के धुतंगों की समानता और समूचे घटना चक्र के अवलोकन से ऐसा प्रतीत होता है कि भिक्षु संघ पर अपना प्रभाव रखने के लिए अजातशत्रु ने देवदत्त के माध्यम से निष्फल किंतु महाकाश्यप के माध्यम से सफल प्रयत्न किया।

इस संगति में उपालि ने विनय का, और आनन्द ने सुत्त का संगायन किया। अभिधम्म का संगायन एक मत से तीसरी संगीति में हुआ था। जो हो, धुतवादी महाकाश्यप द्वारा, जिन्हें थुल्लनन्दा ने दूसरे सम्प्रदाय का व्यक्ति बताया था, जो धर्म निश्चित हुआ वही 'स्थविरवाद' के नाम से जाना गया।

प्रथम संगीति के कर्तृत्व से अनेक गुट असंतुष्ट थे। प्रान्तीयता के आधार पर एक गुट प्रजातंत्रोपासक शाक्यों का था जो संघ में किसी एक का नेतृत्व नहीं चाहते थे, दूसरा गुट राजतंत्रोपासक मागधों का था जो संघ का एक नेता हो, इसके पक्षधर थे।

बुद्ध के परिनिर्वाण के 100 साल बाद कुछ नियमों के विषय में उठे विवाद को समाप्त करने के लिए द्वितीय संगीति वैशाली में बुलाई गई। इसमें दो पक्ष एकदम स्पष्ट हो गये—एक थे, परम्परावादी यश काकण्डपुत्त और इनके साथ थे पावा एवं अवंती के भिक्षु, दूसरी ओर थे, वज्जिसंघ के भिक्षु। दोनों पक्षों ने अपने-अपने पक्ष में बहुमत प्राप्त करने के लिए जो राजनीतिक दौड़-धूप एवं दाँव-पेंच अपनाये वे मूल ग्रन्थों में अवलोक्य हैं। इस संगीति में भी यों तो एक

बार फिर अर्हतों का हाथ ऊँचा रहा, कहने के लिए संघभेद भी रुक गया किंतु असन्तोष यथावत् रहा। यह संगीति (383 ई०पू०) में अजातशत्रु के वंशज नन्दिवर्द्धन के सरक्षण में हुई। वे स्वयं प्रारम्भ में वैशाली के भिक्षुओं के पक्षधर थे, बाद में उनकी हार निश्चित जानकर तटस्थ हो गये। इस संगीति से पश्चिमी और पूर्वी भिक्षुओं का भेद स्थायी बन गया।

वैशाली की द्वितीय संगीति से असन्तुष्ट वज्जिपुत्तकों ने 30-40 साल बाद कोशाम्बी में पुनः द्वितीय संगीति आयोजित की। इसमें 10,000 (दस हजार) महासंघिकों ने भाग लिया। स्थविरवादियों के प्रति महासंघिकों का विद्रोह इस संगीति में सफल हुआ। उन्होंने अर्हत् की मान्यताओं का खण्डन किया, और उन पर अनेक आक्षेप लगाये। इसी संगीति से महासंघिकों ने अपना स्वतंत्र साहित्य सर्जित करना प्रारम्भ किया। इसी परम्परा के वैपुल्यवादियों ने घोषणा की थी कि—असली बुद्ध तो तुषित लोक में ही रहते हैं, वे न तो मनुष्यलोक में आये और न उन्होंने कोई उपदेश ही दिया है। श्रमण गौतम के रूप में जो बुद्ध अवतरित हुए वे तो असली बुद्ध की निर्माण काय (मायावी रूप) थे। हम उन्हें नहीं मानते—इत्यादि।

तीसरी संगीति अशोक के संरक्षण में राजधानी पाटलिपुत्र में बुलाई गई थी। कहा गया कि अशोक के अढलक दान के फलस्वरूप संघ में भिक्षुओं के भोजन एवं वस्त्रों की सुव्यवस्था को देख भोजनभट्ट भिक्षु संघ में घुस गये। एक बार धर्मनिष्ठ और नकली भिक्षुओं के मध्य हुए घर्षण के फलस्वरूप उपोसथ कार्य चार साल तक बन्द रहा। अशोक ने स्थिति से निपटने के लिए अपने अमात्य को भेजा। झगड़े को शान्त करने में अपने सभी प्रयत्नों को निष्फल हुआ देखकर उसने क्रोधावेश में आकर भिक्षुओं के सिर काट डालना प्रारम्भ कर दिया और तब तक यह नरसंहार करता रहा जब तक अशोक का छोटा भाई तिष्य अपना सिर कटवाने उसके समक्ष नहीं आ बैठा। इस घटना से भी स्थिति में आवश्यक सुधार नहीं हुआ। तब अशोक ने अपने गुरु (राजगुरु) मोग्गलिपुत्र तिष्य से मंत्रणा करके संघ शुद्धि के लिए तृतीय संगीति आयोजित की थी। स्वभावतः मोग्गलिपुत्र तिष्य संगीति के अध्यक्ष हुए, उन्होंने अपनी पूर्व शर्त के अनुसार संघ से समस्त सर्वास्तिवादियों को निकाल बाहर किया, जिनकी संख्या साठ हजार थी। मोग्गलिपुत्र तिष्य ने 'कथावस्तु' की रचना कर समस्त निकायों की मान्यताओं का खण्डन किया। 'अभिधम्म' का संगायन एक मत से इसी संगीति में हुआ। मोग्गलिपुत्र तिष्य स्थविरवादी थे।

ध्यातव्य होगा कि द्वितीय संगीति के समय से स्थविरवादियों और महासंघिकों के जो भेद हुए थे उनमें प्रथम के बारह और द्वितीय के छः इस प्रकार कुल 18 निकाय अशोक के समय तक विकसित हो चुके थे, उनके अवांतर भेदोपभेद अलग थे। अशोक ने अपने गुरु मोग्गलिपुत्र तिष्य की सहायता से स्थिति को अपने वश के करने में सफलता पाई। अर्थात् एतद्देशीय समकालीन

अस्त-व्यस्त भिक्षु संघ को उसने मनोवांछित ढंग से शुद्ध और संगठित करके अपने राजनीतिक उद्देश्यों के लिए उसका प्रयोग किया।

इतना उल्लेख हम अन्यत्र कर चुके हैं कि सम्राट् अशोक के राज्य विस्तार का क्षेत्र उनकी सैनिक विजय द्वारा नहीं धर्म विजय द्वारा विजित क्षेत्र के रूप में अधिक था। दूसरे उसने, उसके कर्मचारियों ने, अपने अभियानों एवं शिलालेखों द्वारा जिस धर्म का प्रचार किया था उस पर उन्होंने मोहर तो बुद्ध के नाम की ही लगाई किंतु बुद्धोपदिष्ट चार आर्यसत्य, प्रतीत्यसमुत्पादवाद, आर्य अष्टांगिक मार्ग, द्वादशनिदान, बोधिपक्षीय धर्म आदि का कोई उल्लेख नहीं है। उसमें केवल सत्य. अहिंसा, माता-पिता की सेवा एवं संयम और भावशुद्धि से सम्बन्धित कुछ अति सामान्य बातें ही हैं।

बौद्धधर्म के अनेक सम्प्रदायो में से मैं किस शाखा की सेवा के लिए उद्योग करूँ, यह निश्चय करने के लिए अपने धर्मगुरु पार्श्व की अनुमति से कनिष्क ने पाँच सौ सर्वास्तिवादी– जो अशोक द्वारा बहिष्कृत थे– भिक्षुओं की सभा काश्मीर में बुलाई। इसे ही कुछ लोग चतुर्थ संगीति भी कहते हैं। इससे अश्वघोष की 'विभाषा' नामक (भाष्य) पुस्तक पढ़ी गई, और मान्य की गई, और फलस्वरूप वैभाषिक सम्प्रदाय की स्थापना हो गई।

उक्त संगीतियों से सम्वन्धित विवरणों से ज्ञात होता है कि किसी भी संगीति में बौद्ध संघ की चारों परिषदों का प्रतिनिधित्व नहीं रहा। प्रत्येक संगीति उसके आयोजक द्वारा निर्धारित हेतु के लिए बुलाई गई। प्रारम्भिक संगीति बुलाने का कारण 'क्षुद्रानुक्षुद्र' नियमों से संबंधित विवाद बताए गए हैं, किंतु उसमें हुआ यही है कि बहुमत अथवा प्रभाव के आधार पर येन केन प्रकारेण संघ पर अपना आधिपत्य स्थापित किया जाए। महासंघिकों की कोशाम्वी की द्वितीय संगीति को छोड़ शेष सभी में राजशक्ति का हस्तक्षेप है। संगीति का मूलभूत प्रयोजन संघभेद को दूर करना था, किंतु परिणाम संघभेद में निकला।

अब तक बौद्धों में तीन यान माने जाते थे—श्रावकयान (अर्हत्यान), प्रत्येक बुद्धयान और बुद्धयान। अश्वघोष ने 'विभाषा' भाष्य में केवल बुद्धयान को महत्त्व प्रदान किया जिसके अनुयायी महायानी कहे गए। महायान के उदय ने अब तक चली आ रही परम्पराओं को अमान्य कर दिया। महायान का उदय इतना महत्त्वपूर्ण है कि उसे भगवान बुद्ध के द्वितीय धर्मचक्र प्रवर्तन से उत्पन्न हुआ माना जाता है। इनका क्रान्तिकारी कदम त्रिकाय-सिद्धांत एवं बोधिसत्त्व की कल्पना के रूप में था। एक ओर इन्होंने प्रत्येक व्यक्ति को भगवान बुद्ध बनने की राह दिखाई, दूसरी ओर अपने साहित्य का आधार परम्परागत बुद्ध वचनों को न बनाकर मेंढक प्रश्नों के समय बुद्ध द्वारा धारण किए गए 'मौन' की व्याख्या को बनाया। इन्होंने हीनयान एवं प्रत्येक बुद्धयान के साधकों के क्रमशः अर्हत्पदलाभ और बुद्धत्वलाभ को इस आधार पर अपूर्ण अथवा संकुचित स्वार्थ सिद्धि कहा और कहा कि वे वैयक्तिक उपलब्धियाँ हैं। अर्थात् हीनयान का अर्हत् और प्रत्येक

बुद्धनान का बुद्ध अपने लिए तो अर्हत्पद एवं बुद्धत्व लाभ कर सकते हैं, दूसरों को वे इनकी प्राप्ति कराने में सक्षम नहीं होते क्योंकि उनमें करुणा का अभाव रहता है। इसके विपरीत महायानी साधक बोधि और करुणा दोनों से युक्त होने के कारण दूसरों को भी बुद्धत्वलाभ करा सकता है, कराना चाहिए। इसका फलितार्थ यह है कि अर्हत् और प्रत्येकबुद्ध हुए साधकों को अपने नाम पर नया सम्प्रदाय चलाने की जो छूट नहीं थी, वह महायानियों ने अपने बोधिसत्त्वों को दे दी। इस प्रकार एक ओर बुद्ध के विषय में तो यह कहा गया कि उन्होंने जन्म से मृत्युपर्यन्त कोई धर्मोपदेश नहीं दिया—

यस्यां च रात्र्यां धिगमो यस्यां च परिनिर्वृत.।
एतस्मिन्नन्तरे नास्ति मया किंचित् प्रकाशितम् ॥

(लंकावतार सूत्र, पृ० 144)

दूसरी ओर यह कि बोधिसत्त्व तो बुद्ध के ही स्वरूप हैं, अत: बोधिसत्त्वों द्वारा उपदिष्ट विविध यान प्रकारान्तर से बुद्ध द्वारा ही उपदिष्ट हैं—

सर्वे हि तेहि पुरुषोत्तमेहि प्रकाशितां धर्म बहू विशुद्धा:।
द्रष्टान्तकै: कारणहेतुभिश्च उपायकौशल्य शतैरनेकै: ॥

(लंकावतार सूत्र)

इस स्थिति के फलस्वरूप महायानियों की अनेक परिणतियाँ हुईं। संस्कृत भाषा इन्होंने आंशिक रूप में अपना ली थी। धर्माचार्य एवं तत्त्वचिंतक इस परम्परा में ब्राह्मण अथवा श्रमण ब्राह्मण कहे जाते थे। फलत: अपने पांडित्य (अथवा तपोवल के आधार पर ब्राह्मणत्व प्राप्त होने का दावा करके) इस परम्परा के अनेक छोटे-मोटे संगठन उस धर्म में अन्तर्भुक्त हो गए, जिसे आज हम हिंदू धर्म कहते हैं।

बौद्ध परम्परा में, वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार एवं माध्यमिक नामक जो चार दार्शनिक मत विकसित हुए उनमें से प्रथम का सम्बन्ध हीनयान से, शेष तीन का महायान से माना गया है।

महायान का परवर्ती विकास दो भागों में हुआ—(1) पारमितानय और (2) मंत्रनय। यह मंत्रनय ही तान्त्रिक मंत्रयान बना जिसका परवर्ती विकास वज्रयान, सहजयान एवं कालचक्रयान आदि के रूप में हुआ। इस तांत्रिक मतों को बुद्ध के तृतीय धर्मचक्र प्रवर्तन की फलश्रुति माना गया है।

इन तांत्रिकमतों अथवा यानों में एक तो महायान के त्रिकाय सिद्धांत में एक और काया जोड़कर अर्थात् काय चतुष्टय के रूप में उसे संशोधित करके अपना लिया गया। तदनुसार शेष चिंतन में भी सुधार कर लिए गए, यथा—यदि अब तक लोक, देव, अवस्था, आनन्द आदि तीन-तीन होते थे, तो अब वे चार-चार माने गए। महायानियों की प्रज्ञा एवं करुणा को तांत्रिकों ने प्रज्ञा और उपाय संज्ञा देकर अपनाया। एक ओर उनके परम्परागत अर्थ भी कुछ

संशोधित रूप में मान्य किए। दूसरी ओर उन्हें शैव शाक्तागमों के शिव-शक्ति सामरस्य का अर्थ देकर अपनी योग साधना की तांत्रिक दर्शन की कमी दूर की। महायानियों के बोधिसत्त्व का बुद्धत्वलाभ कई जन्मों में साध्य था, इन्होंने दावा किया कि उनकी साधना से एक ही जन्म में बुद्धत्वलाभ, सम्यक् सम्बुद्धत्व लाभ अथवा भगवत्पद प्राप्ति संभव है। साथ ही यह कि अन्य साधनाएँ कष्टसाध्य हैं, जबकि हमारी साधना तो भोग द्वारा साध्य योग है। अतः वह सहज साध्य है—इत्यादि।

अब जब साधना सहज हो, सुखमय हो और इसी जन्म में ईश्वरत्व प्राप्य हो, तो कौन ऐसे सुअवसर खोना चाहेगा ? जो योगेश्वर अब तक योगीश्वर बनकर संतुष्ट हो जाते थे अब साक्षात् परब्रह्म या परमेश्वर बनने का मोह न त्याग सके। सम्प्रदाय प्रवर्तन एक व्यवसाय बन गया।

तांत्रिक यानों के बाद नवोदित सम्प्रदायों के नामों के साथ 'यान' शब्द का प्रयोग न पाकर, तथा साधना एवं चिंतन में कुछ सुधार देखकर ही संभवतः आज यह मान लिया जाता है कि—शंकर एवं कुमारिल के प्रयत्न, पौराणिक धर्म की समाहार प्रकृति, राजाश्रय की समाप्ति, तांत्रिक मतों में वाममार्ग की स्वीकृति, बौद्धाचार्यों का देश से बाहर चले जाना, मुसलमानों के आक्रमण आदि कारणों से बुद्धधर्म इस देश से लुप्त हो गया। किंतु मैं इस अवधारणा से सहमत नहीं हूँ। मध्यकालीन भक्तिकाव्य में यह धर्म किन-किन रूपों में सक्रिय रहा इस विषय पर प्रासंगिकता के अनुसार आगे विचार किया जाएगा।

निष्कर्ष

समूची व्रात्य परम्परा दार्शनिकों, मतवादियों अथवा तत्त्वचिंतकों की परम्परा है। वृत्ति का त्याग और वृत्तों का पालन उनकी धार्मिक आस्था की प्रमुख विशेषताएँ है। बौद्धधर्म भी इसका अपवाद नहीं है, वह मूलतः निवृत्तिमार्ग ही है। निवृत्तिमार्ग की सुरक्षा एवं परिपालन हेतु उसमें प्रवृत्ति का समावेश अवश्य किया गया है, किंतु उसकी घोर उपेक्षा की गई है।

बौद्धधर्म की जितनी भी उपलब्धियाँ हैं, वे मुख्यतः निवृत्यात्मक क्षेत्र की हैं, प्रवृत्यात्मक क्षेत्र में वह सदैव की तरह पिछड़ा हुआ धर्म ही रहा। भूत-प्रेत, वृक्ष, यक्ष, नाग, किंनर, देवी-देवता आदि की पूजा, मंत्रतंत्र, जादूटोना उसमें प्रारम्भ से अंत तक बने रहे।

धार्मिक संघ का आधार राजनीतिक संघ ही था। अतः एतद्देशीय तत्कालीन जनता पर एक ओर राजनीतिक संघ का, तो दूसरी ओर धार्मिक संघ का, शासन लादा गया। ब्राह्मण (धर्माचार्य) धार्मिक संघ द्वारा और क्षत्रिय (राजन्यबन्धु) राजनीतिक संघ द्वारा—इस प्रकार एक प्रजा के दो शासक बने। दोनों एक-दूसरे को अपना हथियार बनाने, अपने दबाव में रखने की पारस्परिक स्पर्धा में संलग्न रहते थे। कभी राजा धर्म का अनुगामी बनता था, तो कभी धर्म राजा का।

इस देश की जड़ों को सदियों से खोखला करने वाले सम्प्रदायवाद का इतिहास श्रमण संस्कृति का प्रदेय है। सामान्य रूप से तो देवतावाद या बहुदेवतावाद साम्प्रदायिक कहा जाता है, किंतु मेरे अध्ययन के अनुसार भारतीय अध्यात्मवाद नख-शिख साम्प्रदायिक है, वही सम्प्रदावाद का जनक एवं पोषक है।

बुद्ध के समय में कोसलदेश की सालविका नगरी में लौहित्य नामक एक ब्राह्मण रहता था। तत्कालीन एतद्देशीय धर्मों के विषय में उसका कथन था—"संसार में ऐसा कोई श्रमण या ब्राह्मण (चरकाचार्य) नहीं है जो अच्छे धर्म को··· जानकर······दूसरे को समझावे। भला दूसरा दूसरे के लिए क्या करेगा ? (नये-नये धर्म क्या हैं ?) जैसे कि एक पुराने बन्धन को काटकर, एक-दूसरे नये बंधन का डालना। इसी प्रकार मैं इसे पाप और लोभ की बात समझता हूँ—(दीघ नि० 1/12, हिंदी अनुवाद, पृ० 82)।

आचार्य बलदेव उपाध्याय लिखते हैं कि उपनिषद् युग के पीछे की शताब्दियों में वैदिक कर्मकांड तथा ज्ञानकांड (जो प्रस्तुत लेखक के अनुसार अवैदिक है) में अति तीव्र विरोध की भावना जागृत हुई। दार्शनिक क्षेत्र में संदेहवाद का इतना प्रबल साम्राज्य स्थापित हो गया कि इस काल में उत्पन्न नाना मतों का अपना कोई निश्चित सिद्धांत न होकर वितंडावाद (परमत खंडन) ही जीवन का उद्देश्य था। उस युग की तीव्र प्रवृत्ति 'अक्रियावाद' की थी, जिसके अनुसार न तो कोई कर्म है, न तो कोई क्रिया है और न कोई प्रयत्न है—नत्थि कम्मं नत्थि किरियं नत्थि विरियं (हि० सा० बृ० इति० 1, भाग। पृ० 326) जो लोग जैन, बौद्ध, वेदांत आदि को कर्मवादी या कर्मसमर्थक मानते हैं, उन्हें इतना ध्यान रखना आवश्यक है कि संन्यासमार्ग जिन कर्मों का समर्थन करता है, वे मानसिक कर्म हैं. बाह्य या लौकिक कर्म तो बंधनकारक एवं त्याज्य ही कहे गए हैं—इत्यादि। जैनों एवं बौद्धों की जिस 'करुणा' का यशोगान किया जाता है वह 'मैं सब पर करुणा करता हूँ' इतना सोचने-विचारने तक सीमित है, वास्तव में किसी पर करुणा करना तो पृथग्जनोचित 'राग' होगा, जो आत्मसाधक को सर्वथा त्याज्य है। यही स्थिति अन्य सद्भावों की है।

किसी भी निवृत्तिमार्गी धर्म को सामाजिक धर्म बनाने में जो विचार विरोध है, वही बौद्धधर्म की प्रमुख दुर्बलता है।

संदर्भ

1. मुनयो वातरशनाः पिशङ्गावसते मलाः ।।ऋ० 10/136/2,
2. दे० शतपथ ब्राह्मण 10/3/4/15, 1/7/1/5 ऐत० ब्रा० 11/2/6
3. आरण्यक का अर्थ ही वनस्थ, जंगली या वानप्रस्थ होता है। ऐत० आरण्यक (3/2/6) में कहा गया है कि किसलिए हम वेदों का अध्ययन करें ? किसलिए यज्ञ करें ? हम तो प्राण की वाक् में और वाक् की प्राण में आहुति देते हैं।

4. दे० भारतीय संस्कृति का विकास, भाग 1, पृ० 86
5. दे० जगदीश दत्त दीक्षित : ब्राह्मण तथा बौद्ध विचारधारा का तु० अ०, पृ० 109
6. दे० भारतीय संस्कृति का विकास, भाग 1, पृ० 86
7. गो० ब्रा० 1/1/9
8. अथर्ववेद 19/41/1
9. डॉ० मंगलदेव शास्त्री : भारतीय संस्कृति का विकास, भाग 2, पृ० 146 से साभार ।
10. दे० डॉ० बेनीमाधव बरुआ : ए हिस्ट्री ऑफ प्री-बुद्धिस्टिक इंडियन फिलॉसफी, पृ० 11-12
11. दे० अथर्ववेद 19/53, 19/54 (कालसूक्त)
    दे० महाभारत शांतिपर्व, अध्याय 25, 28, 32
12. दे० छान्दोग्य एवं बृ० उप०
13. 'वोचेम ब्रह्म,' ऋग्वेद 1/75/2, ब्रह्म वै मंत्र: ।। श० ब्रा० 6/1/1/5
14. अथर्ववेद 10/8/37
15. वही, 1/32/1 तथा 14/1/64
16. दे० मंगलदेव शास्त्री : भारतीय संस्कृति का विकास, भाग 1, पृ० 241-42
17. यज्ञं व्याख्यास्याम: । स त्रिभिर्वेदर्विधीयते ।। (हिरण्यकेशि श्रौतसूत्र 1/1/1,2)
18. अथर्ववेदस्तु यज्ञानुपयुक्त: शान्ति पौष्टिकाभिचारादिकर्म प्रतिपादकत्वेनात्यन्त विलक्षण एव । (प्रस्थान भेद)
19. अरण्याध्ययनादितद् आरण्यकमितीर्यते ।
    अरण्ये तदधीयीतेत्येवं वाक्य प्रवक्ष्यते ।। (तैत्ति० आर० भा०, श्लोक 6)
20. विशेष के लिए द्रष्टव्य नर्मदाशंकर मेहता : उपनिषद विचारणा, पृ० 38-43 तथा डॉ० बेनीमगधव बरुआ : प्री-बुद्धिस्टिक इंडियन फिलॉसफी (महीदास ऐतरेय)
21. दे० कठोपनिषद् एवं तैत्ति० उप० का सम्बन्ध-भाष्य ।
22. दे० प्री-बुद्धिस्टिक इंडियन फिलॉसफी, पृ० 88
23. दे० डॉ० मुंशीराम शर्मा : भक्ति का विकास, पृ० 199
24. "........... We should rather recognize in him (Ajigarta) a specimen of the un-Aryan Population of India.
    म्यूर, टेक्स्ट बुक ऑफ संस्कृत लिटरेचर
25. दे० महाभारत—शांतिपर्व अध्याय 3/8 (गीता प्रेस) एवं विष्णु पुराण 3/5
26. दे० वौल्गा से गंगा (द्वि० सं०), पृ० 134, दर्शन-दिग्दर्शन
27. पंच मा राजन्यबंधु: प्रश्नानप्राक्षीतेषां नैकंचनाशकं विवक्तुमिति, छा० उप० 5/3/5
28. अनन्तलक्ष्मी अम्बल : स्टडीज इन उपनिषद्स : न० दे० मेहता उपनिषद् विचारणा, पृ० 66

29. जात्यान्ताच्छ बंधुनि ।। सूत्र 5/4/9
30. पाणिनि कालीन भारतवर्ष, पृ॰ 92-93, 106
31. प्राण इति स ब्रह्मत्यदित्याचक्षते ।। 3/9/9
32. ततः प्राणोऽजायत स इंद्रः ।। बृ॰ उप॰ 1/5/12
33. स ब्राह्मणः केनस्याद् येन स्याद तेने दृश···।।
34. अथ य एतदक्षरं गार्गि विदित्वास्माल्लोकात्प्रेति स ब्राह्मणाः ।। बृ॰ उप॰ 3/8/10
35. जगतश्च यन्मूलं तत्परिज्ञानात्परं श्रेय इति सर्वोपनिषदां निश्चितोऽर्थः ।। तैत्ति॰ उप॰ 6/1 का शांकर भाष्य ।
36. यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवंति ।
यत्प्रयंत्यभिसंविशंति तद्विजिज्ञासस्व । तद् ब्रह्मे ति ।। तैत्ति॰ उप॰ 3/1/1
37. न ह्यकारणे कार्यस्य सम्प्रतिष्ठानामुपद्यते । तैत्ति॰ 6/1 का भाष्य
38. यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।। तैत्ति॰ उप॰ 2/4/1
39. एतस्य ब्रह्मणो नाम सत्यमिति । छा॰ उप॰ 8/3/4
नित्योऽनित्यानां चेतनश्चचेतनानाम् ।। कठ उप॰ 2/2/13
आनंदो ब्रह्मे ति व्यजानात् ।। तैत्ति॰ उप॰ 3/6/1
40. दे॰ बृ॰ उप॰ 3/8/8
41. दे॰ कठ उप॰ 1/3/15
42. दे॰ केन॰ 2/3, कठ॰ 1/2/14, 1/3/10, तैत्ति॰ 3/9, 2/4, मुंडक 1/1/6, छांदोग्य 3/14/3
43. पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः । पुरः स पक्षीभूत्वा पुरः पुरुष आविशदिति ।। (बृ॰ उप॰ 2/5/18)
44. योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मे दं सर्वम्— (बृ॰ उप॰ 2/5/1)
45. स वा अयं पुरुषो जायमानः शरीरमभिसम्पद्यमानः पाप्मभि संसृज्यते ।। बृ॰ उप॰ 4/3/8
46. छा॰ उप॰ 8/8/4 में विरोचन ने आत्मोपासना का अर्थ शरीरोपासना लिया है ।
47. क्योंकि पचाए हुए अन्न का स्थूल अंश मल बनता है, मध्यभाग रुधिर, मांस, अस्थि, मज्जा आदि बनता है और अंतिम (श्रेष्ठ) भाग से वीर्य बनता है— यह उपनिषदों की मान्यता है ।
48. दे॰ दर्शन-दिग्दर्शन (राहुल सांकृत्यायन) पृ॰ 406
49. वही, पृ॰ 684
50. उत्पत्तिं च प्रलयं चैव भूतानामागति गतिम् ।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ।। विष्णु॰ पु॰ 6/5/78
51. दे॰ बृ॰ उप॰ 3/2-9
52. तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व ।। तैत्ति॰ उप॰ 3/2

53 दे० डॉ० राजबली पांडेय : भारतीय नीति का विकास, पृ० 6

54. दे० सौंदरनंद 1/5 तथा 1/57

55. दे० बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृ० 15

56. म० भा०, शांतिपर्व (349/65) में सांख्य के वक्ता कपिल और योग के वेत्ता हिरण्यगर्भ पृथक् माने गए हैं।

57. पुंडरीकं नव द्वारं त्रिभिर्गुणभिरावृतम्।

58. तीन द्रव्यों में से प्रत्येक की संरचना में उसका अपना आधा भाग और शेष आधे भाग में शेष दो का बराबर का भाग मानना त्रिवृत्तकरण है।

59. श्वेता० उप० 1/8, और देखें छा० उप० 7/26/2, मुंडक० 3/2/9, कठ० 2/3/15, मुंडक 2/2/8, 2/1/10, श्वेता० उप० 4/16

60. सांख्यकारिका 57, और देखें — सां० का० 58

61. कुत्रापिकोऽपि सुखीति। तदपि दुःख शबलमिति दुःखपक्षे निःक्षिपन्ते विवेचकाः ।। सांख्य सूत्र 6/7-8

62. स्यात् स्वल्पः संकरः सपरिहरः सप्रत्यवमर्षः कुशलस्य नापकर्षायालम्। कस्मात् ? कुशलं हि मे बह्वन्यदस्ति यत्रायमेवायं गतः स्वर्गेऽपि अपकर्षमल्यं करिष्यति ।।

63. वाचस्पति मिश्रः सांख्यतत्त्व कौमुदी। यहाँ: बौद्धदर्शन तथा अ०मा० दर्शन, पृ० 896 से।

64. दुःख के स्वरूप एवं उसके भेदोपभेदों का विस्तृत निरूपण योगसूत्रों के भाष्यों में पाया जाता है।

65. दे०योगसूत्र 1/2 (का भाष्य), 1/6, 1/30-31, 1/33, 2/30, 32, 1/17

66. दे० योगसूत्र 1/15, 1/16

67. दे० मेरी पुस्तक 'भक्तिकाव्य के पुनर्मूल्यांकन में उपयोगी संदर्भ' में प्रस्थानत्रयी और प्रस्नभेद लेख (म० स० विश्वविद्यालय, बड़ौदा, द्वारा प्रकाशित)।

68. दे०प्रो० मैक्समुलर : हिस्ट्री आफ एन्शियन्ट संस्कृत लिटरेचर, पृ० 40, पा० टि।

69. दे० बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृ० 14-15 तथा स्टडीज इन दी ओरिजिन्स आफ बुद्धिज्म, पृ० 305-309।

70. दे० सर्वदर्शन संग्रहः 1/3।

71. दे० डॉ० सर्वानंद पाठक : चार्वाक दर्शन की शास्त्रीय समीक्षा, पृ० 35-36

72. उपरिवत् पृ० 64-67।

73. सदैव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। तद्धैक आहुर सदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायत्।

74. असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सद्जायत ।।

75. चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुषः ।। बार्हस्पत्य सूत्र 7

76. पृथिव्यप्तेजोवायुरितितत्त्वानि ।
तत्समुदाये शरीरेन्द्रिय विषय संज्ञा ॥ बार्ह सूत्र 2
77. तेभ्यश्चैतन्यम् । किण्वादिभ्यो मदशक्तिवत् ॥ बार्ह० सूत्र 3,4
78. न धर्मांश्चरेत् । एष्यत्फलत्वात् ॥ बार्हस्पत्य सूत्र 9, 10
79. लोकायतमेव शास्त्रम् । लौकिको मार्गोऽनुसरतव्य ॥ 24, 53
80. बा० सूत्र 50
81. काम एवैक: पुरुषार्थ: । अर्थ कामो पुरुषार्थौ ॥ बा० 5, 27
82. चार्वाक, जैन और चार बौद्ध दर्शन (माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक एवं वैभाषिक)
83. सर्वदर्शन संग्रह, चार्वाक दर्शन
84. दे० डॉ० सर्वानंद पाठक : चार्वाक-दर्शन की शास्त्रीय समीक्षा
85. उपरिवत्, पृ० 76-80 तथा 'रायपसंणइय-सुत्तं,' पृ० 274-76, 306-28
86. डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी : हिंदू सभ्यता, पृ० 232
87. उपरिवत्, पृ० 225
88. चुंद सुत्तं (सुत्तनिपात 5)
89. दे० सूत्र –4/4/32 5/2/9, 4/4/73, 4/4/46
90. दे० राइस डेविड्स टी० डब्ल्यू० डायलॉग्स आफ दी बुद्ध: 1/244, 1/44
91. दे० मज्झिम निकाय 2/1/29
92 दे० दीघनिकाय 1/8
93. दे० मज्झिम निकाय 1/3/7, 2/1/6, 1/4/5
94. दे० श्वेता उप० 6/2, 16, 5/5, 6/2, 11,1 3/2, 6/1, 9,12
95. विशेष के लिए द्रष्टव्य: डॉ० भरतसिंह उपा० बौ० द० तथा अन्य भा० द० पृ० 238-42
96. दे० उत्तराध्ययन सूत्र 18/23 तथा सूत्रकृतांग 2/2/79
97. डॉ० राधाकमल मुकर्जी : भारत की संस्कृति और कला, पृ० 68 पर उद्धृत
98. ये मे भो गौतम ! समण ब्राह्मण संधिनो गणिनो गणाचारिया त्राता यसस्सिनो तित्थकरा साधु सम्मता बहुजनस्स···॥ मज्झि० 1/3/10
99. सामं फल सुत्त, दीघनिकाय 1/2
100. दे० डॉ० ए० एल० बाशम : हिस्ट्री एंड डॉक्ट्रिन आफ दी आजीविकाज— अध्याय० 5
101. कल्याण विजय जी जानी : श्रमण भगवान महावीर, पृ० 264-65
102. दे० बौद्धधर्म के विकास का इति० पृ० 34
103. डॉ० मदनमोहनसिंह: बुद्धकालीन समाज और धर्म, पृ० 119-20
104. अयंमाकृत अयं या कृतेत्युपक्रम्य शांतित: काम्यकर्म प्रहाणिर्युष्माकं श्रेयसीत्युपदेष्टा मस्करीत्युच्यते ॥ (प्रदीप)
105. दे० बौद्धधर्म और विहार, पृ० 15-17

106. ललितविस्तर, अध्याय 1
107. विशेष के लिए दे० डॉ० वाशम : हिस्ट्री एंड डॉक्ट्रिन ऑफ दी आजीविकाज़
108. जैन धर्म दर्शन, पृ० 5-6
109. वही, पृ० 5
110. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग 1, प्रस्तावना, पृ० 19
111. दे० भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ० 13
112. वातोद्धता जटास्तस्य रेजुराकुल मूर्तयः ।
113. स प्रलम्बजटाभारभ्राजिष्णुः ।।
114. ककर्दवे वृषभो युक्त आसीद अवावचीत् सारथिरस्य केशी ।
115. दे० डॉ० हीरालाल जैन : भा० सं० में जैनधर्म का योगदान, पृ० 13-16
116. श्रीमद्भागवत पुराण 5/5/28-31
117. दे० भा० सं० में जै० ध० का योगदान: पृ0 13
118. दे० स्थानांग सूत्र क्रमांक 266
119. या वेद बाह्याः स्मृतयो……उत्पद्यन्ते चावन्ते च । मनु० 12/95-96
120. दे० डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, भारतीय संस्कृति के विकास में जैन वाङ्मय का अवदान, पृ० 82
121. दे० जैन साहित्य का बृहद् इति०, भाग 6, प्रस्ताविक
122. वही ।
123. बौ० द० तथा अ० भा० द०, पृ० 845 पर अद्धृत
124. उप्पजंतो कज्जं कारणमप्पा णियं तु जणयंतो ।
तम्हाइह ण विरुद्धं एकस्स व कारणं कज्जं ।। नयचक्र, 366
कार्योत्पादः क्षयो हेतोर्नियमाल्लक्षणात् पृथक् ।। आप्तमीमांसा 5
125. स न छिज्जइ न भिज्जइ न डज्झइ न हम्मइ कंचणं सव्वलोए ।
26. दे० बृ० उप० 3/8/8, केनो० 1/2, कठो० 1/3/15, मांडूक्य 1/6-7 तैत्ति० 2/4, कठो० 1/2/18, 23
127. मां० उप० 1/6
128. ज्ञानाद् भिन्यो न चाभिन्नो भिन्नाभिन्नः कथंचन । ज्ञानं पूर्वापरीभूतं सोऽयमात्मेति कीर्तितः ।।
129. घट मौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पाद स्थितिष्वयम् ।
शोक प्रमोद माध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ।। आप्तमीमांसा 59
130. द्रष्टव्य—सर्वार्थसिद्ध : ज्ञानपीठ संस्करण : अध्याय 5, सूत्र 30-31 की व्याख्या ।
131. डॉ० नेमिचंद्र शास्त्री : भा० सं० के विकास में जैन वाङ्मय का अवदान, भा० 2, पृ० 5
132. ईशो० 51
133. मुंडको० 2/2/1

134. श्वेता० 4/18
135. राहुल सांकृत्यायन ने संजय के संशयवाद और जैनों के स्याद्वाद की तुलना करके स्याद्वाद को संशयवाद का रूपांतर मात्र सिद्ध किया है। दे० दर्शन-दिग्दर्शन, पृ० 498-9
136. संजय और उसके शिष्य मोग्गल्लान को 'अमितगति श्रावकाचार' (6) में जैन मुनि कहा गया है।
137. दे० महावीर वाणी, भूमिका, पृ० 23
138. तत्त्वार्थ सूत्र 10 5-3
139. सर्वदर्शन संग्रह, पृ० 31
140. जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेह परिणामो।
भोत्ता संसारत्थो भुत्तो सो विस्स सेड्ढगई।। द्रव्य संग्रह, गाथा 2
141. विशेष के लिए द्रष्टव्य - डॉ० हीरालाल जैन : भा० सं० में जैनधर्म का योगदान, व्या० 3
डॉ० मोहनलाल मेहता : जैन धर्म दर्शन
डॉ० भगवानदास तिवारी : महावीर वाणी, भूमिका, तथा कैलाशचन्द्र शास्त्री, जैनधर्म
142. ध्यातव्य होगा कि संन्यास लेने के बाद दिए गए ऋषभ के उपदेश से जैन-धर्म की उत्पत्ति मानी जाती है, उससे पूर्व नहीं।
143. सत्थमेगे नु सिक्खंता अतिवायाण पाणिणं।
एगे मंते अहिज्जंति पाण भूयवि हेडिणो। म० वा०, गाथा 145
144. आचारांग चूर्णि, पृ० 152
145. उपरिवत्, पृ० 185
146. आचारांग वृत्ति, पृ० 38
147. दे० जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग 1, पृ० 85-86
148. दे० उपरिवत्, पृ० 101
149. व्रातेन जीवति व्रातीनः। पाणिनि 5/2/21
अनियत वृत्तय उत्सेधजीविनः संघा व्राताः।। महाभाष्य 5/2/21
150. प्रथमजत्वादन्यस्य संस्कर्तुः अभावाद संस्कृतो व्रात्यस्त्वं स्वभावत एव शुद्ध इत्यभिप्रायः।। प्रश्न० उप०, शां० भाष्य 2/11
151. और दे० कल्याण योगांक, पृ० 292
152. सर्वदर्शन संग्रह, पृ० 6
153. प्राचीन पुस्तक माला 22/288 का पाद टिप्पण (हिंदू सभ्यता, पृ० 243 पर उद्धृत)
154. समिय सुत्त, सामञ्ञफलसुत्त (दीघनिकायो)
155. प्रो० राइज डेविड्स ने 'बुद्धिस्ट इंडिया' (पृ० 22) में ग्यारह प्रजातंत्र राज्यों की नामावलि दी है।

156. दे० नेमिचन्द्र शास्त्री : भा०सं० के विकास में जैन वाङ्मय का अवदान, पृ० 90-140, हीरालाल जैन : भा० सं० में जैनधर्म का योगदान, पृ० 33-46
157. दे० मज्झिम निकाय 58
158. जैन साहित्य का बृहद् इति०, भाग 6, प्रस्ताविक, पृ० 11
(कोष्ठक के अंदर के शब्द प्रस्तुत लेखक के हैं।)
159. महावीर वाणी, भूमिका, पृ० 8
160. जैन सा० का बृहद् इति०, भाग 6, प्रस्ताविक, पृ० 17
161. दे० बुद्धवंश
162. हिंदू सभ्यता, पृ० 109
163. श्रीलंका की परम्परानुसार बुद्ध का जीवनकाल 623 ई० पू० से 543 ई० पू० था।
164. 'ललितविस्तर', अध्याय 10; आ० नरेन्द्रदेव : बौद्ध धर्म दर्शन, पृ० 135
165. दे० डॉ० हवलदार त्रिपाठी : बौद्ध धर्म और बिहार, पृ० 14 एवं 41
166. बुद्ध के उपदेशों में मांसाहार की छूट और अहिंसा के विरोधाभास को समझने में उक्त संदर्भ उपकारक हो सकता है।
167. दे० बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृ० 259-60
168. दे० हिन्दू राजतंत्रः, खण्ड । परिच्छेद 116
169. डॉ० हवलदार त्रिपाठी, बौद्धधर्म और बिहार, पृ० 13-14
170. दे० बुद्ध चरित, सर्ग 12
171. दे० विनय पिटकः महावग्ग 1
172. डॉ० गोविन्दचन्द्र पाण्डेय : बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृ० 52
173. दे० डॉ० भरतसिंह उपा० : बौद्ध दर्शन तथा भारतीय दर्शन, पृ० 271
174. दे० अर्लीमानेस्टिक बुद्धिज्म, भाग 1, पृ० 100
175. दे० डॉ० भरतसिंह उपाध्याय : पालि साहित्य का इतिहास, बौ०द० तथा अ० भा० द०।
176. बलदेव उपाध्याय : बौद्धदर्शन मीमांसा, पृ० 78-79
177. वही, पृ० 186
178. दे० दीर्घ नि० 2/107 तथा अभिधम्मकोश, पृ० 363 का पादटिप्पण 1
179. दे० प्रश्न० उप० 2/2, बृ० उप० 3/8/4, छा० उप० 7/12/1
180. न जरा न मृत्युर्नशोको ।। छा० उप० 8/4/1
निब्बानं इति तुं ब्रूमि जरामच्चुपरिक्खयं ।। सुत्तनिपात 65/3
181. विशेष के लिए द्रष्टव्य : डा० पांडेय—बौ० ध० का, इति० पृ० 94-98
डॉ० भरतसिंह उपा० : बौ०द० तथा अ०भा० द०, पृ० 498-500
182. महातंडा—संखय-सुत्तन्त, मज्झिम नि० 1/4/8
183. डॉ० भरतसिंह उपा० : बौद्ध दर्शन तथा अ०भा० द०, पृ० 896 से साभार

184. दे० उपरिवत्, पृ० 897
185. वही, पृ० 888
186. दे० बेलवेलकर : ब्रह्मसूत्र नोट्स, पृ० 78, यहाँ उपरिवत् पृ० 888 से
187. डॉ० भरतसिंह उपाध्याय : बौ० द० तथा अ० भा० द०, पृ० 392 पर उद्धृत।
188. महापरिनिव्वाण सुत्त (दीघ० 2/3)
189. पुरिमाभिक्खवे कोटि न पञ्ञायति अविज्जाय। अंगुत्तर निकाय, जिल्द 5, पृ० 113
190. मज्झिम०, जिल्द 1, पृ० 217, यहाँ बौद्धधर्म के विकास का इति०, पृ० 52 से साभार।
191. गोविन्दचंद्र पाण्डेय : बौद्धधर्म के विकास का इति०, पृ० 52 पर उद्धृत।
192. अंगुत्तर०, 3/7/5
193. अग्गञ्ञसुत्त, दीघ० 3/4
194. चंकि सुत्तंत (मज्झिम० 2/5/5)।
195. दे० मज्झिम निकाय 2/2/3 अनुवाद, पृ० 251/53
196. वही 1/3/2, (अलगद्दूयम सुत्त)
197. अस्तीति शाश्वतग्राहो नास्तीत्युच्छेद दर्शनम्। तस्मादस्तित्वनास्तित्वे नाश्रीयते विचक्षणः ॥ (माध्यमिक कारिका 15/10)
शाश्वतोच्छेद निर्मुक्तं तत्त्वं सौगतसम्मतम् ॥ (अद्वयवज्र संग्रह, पृ० 62)
198. दीघ निकाय, पोट्ठपाद सूत्र
199. दे० संयुक्त निकाय 21/5
200. निरपेक्षवाद कारण को लक्षित करता है, सापेक्षवाद कार्य की जड़ खोदता है।
201. दे० दर्शन-दिग्दर्शन, पृ० 498-99
202. दे० अमितगति श्रावकाचार (6)
203. डॉ० चंद्रधर शर्मा—सौगत सिद्धांत, सार संग्रह, पृ० 95
204. कोष्ठकों के अंदर के शब्द प्रस्तुत लेखक की धारणा के द्योतक हैं।
205. वही।
206. दे० बलदेव उपा० : बौद्ध दर्शन मीमांसा, पृ० 49-50
207. मज्झिम निकाय (सूत्र 99)। यहाँ डॉ० मोहनलाल मेहता : जैन धर्म दर्शन, पृ० 337 से
208. दे० दीघ० नि० 2/107, अभि०, पृ० 363, मिलिंद प्रश्न, पृ० 71
209. आकाशमनावृतिः
210. तु० न तत्र सूर्यो भाति न चंद्रतारकं नेमा विद्युतो भांति कुतोऽयमग्निः ॥
कठो० 2/1/15
211. डॉ० भरतसिंह उपाध्याय : बौ० द० तथा अ०भा० दर्शन, पृ० 503-4 पर

उद्धृत।

212. वही, पृ० 504

213. विनय पिटक : सहावग्ग (1/4/2)।

214. दे० गोविन्दचंद्र पांडेय : बौद्धधर्म के विकास का इति०, पृ० 82, 269

215. वहीं, पृ० 105 तथा संयुक्त नि० 21/2, मज्झिम० 28

216. डॉ० भरतसिंह उपा० : बौ०द० तथा अ०भा०द०, पृ० 502 से साभार।

217. (क) फलेन सुञ्ञं नं कम्मं फलं कम्मे न विञ्जति ॥

(ख) न हेत्व देवा ब्रह्मा संसारस्सत्थि कारको।
सुद्ध धम्मा पवत्तन्ति हेतुसम्भार पच्चयाति ॥

(ग) कम्मस्स कारको नत्थि विपाकस्स च वेदको।
शुद्धधम्मा पवत्तन्ति एवेतं सम्मदस्सनं ॥
विशुद्धिभग्ग (17/20) में बुद्धघोष द्वारा उद्धृत।

(ध) भवचक्कम विदितादिमिदं कारक वेदक रहित।
द्वादश विध सुञ्जाता सुञ्ञं सततं समितं पवत्तति ॥
(विसुद्धिमग्ग 17/273)

218. दे० धम्मचक्क पवत्तन सुत्त, संयुत्त नि० 55/2/1

219. कतमा च सा भिक्खवे मज्झिम पटिपदा तथागतेन अभिसम्बुद्धा···
अयमेव अरियो अट्ठङ्गि को मग्गो। संयुत्त० 55/2/1

220. डॉ० भरतसिंह उपा० : बौद्ध-दर्शन तथा अन्य भा० दर्शन, पृ० 441 पर से।

221. विशेष के लिए द्रष्टव्य, उपरिवत्, पृ० 413-50 तथा डॉ० गोविन्दचन्द्र पांडेय : बौ० ध० के विकास का इतिहास, पृ० 97-108, 111

222. दे० दिट्ठिवज्ज सुत्त : अंगुत्तर निकाय।

223. अपण्णक सुत्त, म० नि०

224. दीघनिकाय, पोट्ठपाद सुत्त

225. विसुद्धिमग्ग 16/21 में उद्धृत

226. धम्मचक्क पवत्तन सुत्त (संयुत्त 55/2/1), तथा विनय फिटक महावग्ग

227. दे० गोविन्दचन्द्र पांडेय : बौ० ध० के विकास का इति०, पृ० 73

228. उपरिवत्

229. विनय पिटक : महावग्ग 1/1/7

230. वही।

231. दे० मज्झिम०, महादुक्खखंध सुत्त।

232. दे० संयुत्त निकाय (निदान संयुत्त)।

233. स प्रतीत्यसमुत्पादो द्वादशांगस्त्रिकांडकः।
पूर्वापरांतयोर्द्वे द्वे मध्येऽष्टो परिपूरणाः ॥ (अभि० कोश 3/20)

234. विनय पिटक, महावग्ग 1/1/7

235. वही।

236. वही।
237. मज्झिम निकाय (महाहत्थिपदोपमसुत्त)
238. बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृ० 403-44
239. ये विरतियाँ अथवा वर्जनाएँ योग के यम-नियम, उपनिषदों एवं जैनों के व्रतों के ही रूपांतर हैं।
240. दे० महापरिनिब्बाण (सुत्तदीघ० 2/3)।
241. दे० अग्गञ्ञ सुत्त (दीघ 3/4)।
242. समगाम सुत्तन्त (मज्जिम 3/1/4)।
243. दे० बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृ० 338
244. दे० महानाम सुत्त : गणपति वग्ग, अंगुत्तर निकाय
245. दे० धम्मिक सुत्त : अंगुत्तर निकाय।
246. दे० चण्डालसुत्त : उपासक वग्ग : अंगुत्तर निकाय तथा संखित्तसुत्त : उपोसथ वग्ग : अंगुत्तर निकाय।
247. अंगुत्तर निकाय (तिकनिपात) में भी माता-पिता की सेवा-शुश्रूषा का विशेष उल्लेख है।
248. गिहि सामीचिसुत्त : अंगुत्तर निकाय
249. तेविज्ज, वच्छगोत्त सुत्त : (मज्झिम० 1/3/1)
250. थपति सुत्त : संयुक्त० 5/4/1/6
251. दसमनिपात : उपालिसुत्त : अंगुत्तर निकाय
252. दे० हवलदार त्रिपाठी : बौद्ध धर्म और बिहार, पृ० 80-81
253. सुत्तनिपात 36
254. दे० चुल्लवग्ग : 7/3/6-9, 7/3/11-12 तथा कालवाहुक जातक।
255. सुत्त निपात 5/3 (पुण्णक भाणव पुच्छा)
256. दे० द्रोणसुत्त : अंगुत्तर० 5/5/2 तथा चंकिसुत्त (मज्झिम० 2/5/5)।
257. तु० अन्धेनैव नीयमाना यथान्धा ।। मुंडक उप० 2/8
258. दे० भरतसिंह उपा० : बौ० द० तथा अ० भा० द०, पृ० 733 तथा पृ० 753-754-55 की पादटिप्पणियाँ।
259. सुत्तनिपात।
260. संयुत्त निकाय 7/1/9
261. दे० बुद्धचर्या, पृ० 288।
262. दे० आचार्य नरेन्द्र देव : बौद्ध धर्म दर्शन।
मोहनलाल महतो : जातक कालीन भारतीय संस्कृति।
263. विशेष के लिए दे० जातक कालीन भारतीय संस्कृति—चौथा परिच्छेद।
264. सद्धर्मपुण्डरीक सूत्रम् (सौगत सिद्धांत सार संग्रह, पृ० 31)।
265. समाधिराज सूत्रम्, (उपरिवत्, पृ० 32)
266. इस गुह्यादेश के विषय में तो अपने श्रद्धालु की जिज्ञासाओं का समाधान

अधिकारी गुरु प्रश्नोत्तर शैली में मौखिक रूप में ही करते थे।

267. दे० उदम्बरिक सिंहनादसुत्त : दीघनिकाय 3/2

268. 'सद्धाय तरती ओघं', सद्धा उपज्जमाना नीवरणे विक्खम्भेति', 'इध भिक्खु सद्धाय समन्नागतो होति', 'सद्धीव वित्तं पुरिसस्स सेट्ठं' जैसे कथन इसी तथ्य के पोषक हैं।

269. दे० संयुत्त निकाय : जिल्द 5, पृ० 218 (पालि टेक्स्ट सोसायटी संस्करण)।

270. दे० संयुत्त निकाय : जिल्द 2, पृ० 189 (पालि टेक्स्ट सोसायटी संस्करण)।

271. कस्सपसुत्त (संयुक्त निकाय) और दे० 'बुद्धचर्या', राहुल सांकृत्यायन, पृ० 46।

272. दे० हवलदार त्रिपाठी : बौद्ध और विहार, पृ० 66-67।

273. दे० जातकट्ठ कथा (अविदूरे निदानं 39), पृ० 43।

274. दे० राधाकमल मुकर्जी : भारत की संस्कृति और कला, पृ० 35-36, तथा 93-94।

275. दीघ निकाय महापरिनिब्बाण सुत्त 2,3

276. द्रष्टव्य : डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल : हिंदू राजतंत्र, पृ० 50-51

277. विशेष के लिए देखें डॉ० हवलदार त्रिपाठी : बौद्धधर्म और विहार

278. देखें—हिंदू संस्कृति अने अहिंसा, पृ० 91-98

279. वही, पृ० 97

280. महासति पट्ठान सुत्त (दीघ, 2/22), सतिपट्ठान सुत्तन्त (मज्झि० 1/1/10)

281. दीघ, सामञ्ञफल सुत्त

282. दीघनिकाय (3/2) उदुम्बरिक सिंहनाद सुत्त

283. विनय पिटक : महावग्ग

284. अपुत्त कताय पटिपन्नो समणो गौतमो, वेधव्या पटिपन्नो समणो गौतमो, कुलूपच्छेदाय पटिपन्नो समणो गौतमो ।। महावग्गो 1/4/2/15

285. दे० राधाकमल मुकर्जी : हिंदू सभ्यता, पृ० 255 एवं 231 तथा धम्मपद अट्ठकथा 1/88-90।

286. दे० बुद्धचर्या, पृ० 145।

287. दे० बोधिराजकुमार सुत्तन्त (मज्झिम० 2/4/5)।

288. महापरिनिब्बान सुत्त, दीघ नि० 2/3

289. बुद्धघोष : अट्ठकथा।

●●●